स्वर्णिम स्वप्न

विगत हुआ मृत, उसका केवल,
अनुभव-रस बच रहता है!
जो भविष्य के विकट क्षणों मे,
ज्योति जगाता रहता है।

चलिए, आगे बढ़िए, मुड़-मुड़,
मत पीछे की ओर देखिए!
निज पर की अभ्युन्नति के हित,
पद-पद स्वर्णिम स्वप्न देखिए!!

—उपाध्याय अमरमुनि

श्री अमर भारती

वर्ष ५ जनवरी १९६८ अक १

पढ़िए . पृष्ठों पर

★

★

प्रेरणा

श्री अखिलेश मुनि

मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

★

दिशा निर्देशन

श्री विजय मुनि 'शास्त्री'

★

सपादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०

★

व्यवस्था

रामधन बी० ए० 'प्रभाकर', 'साहित्य रत्न'

★

प्रकाशक

सोनाराम जैन

मत्री

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

★

मूल्य

आजीवन एक सो एक रुपया

वार्षिक छ रुपया

५० पैसे

मुद्रक

प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा

आवरण

प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा-३

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

सीहत्ताते णामं एगे णिक्खंते सीहत्ताते विहरइ ।
सीहत्ताते णामं एगे णिक्खंते, सियालत्ताए विहरइ ।
सियालत्ताए णामं एगे णिक्खंते, सीहत्ताए विहरइ ।
सियालत्ताए णामं एगे णिक्खंते, सियालत्ताए विहरइ ।

—स्थानांग सूत्र ४।३

कुछ साधक सिंहवृत्ति से साधना पथ पर आते है, और सिंहवृत्ति से ही आगे बढते रहते हैं ।

कुछ साधक सिंहवृत्ति से आते है, किन्तु बाद मे शृगालवृत्ति अपना लेते हैं ।

कुछ साधक शृगालवृत्ति मे आते है, किन्तु बाद मे सिंहवृत्ति से जीवन यात्रा करते जाते हैं ।

कुछ साधक शृगालवृत्ति से आते हैं, और सदा शृगालवृत्ति लिए ही चलते रहते हैं ।

●

बात नई और पुरानी

समय के गतिशील चरण अपनी धुरी पर निरतर बढते जाते हैं। क्षण, प्रहर, दिनरात, ऋतु, सवत्सर के कदमो से कालचक्र का अनन्तपथ नापा जाता है। हर चरण प्राचीनता और नवीनता का सगम स्थल बनता हुआ, युगसन्धि का महत्वपूर्ण इतिहास अपने आप मे समेटे हुए आगे से आगे बढता जा रहा है। जिधर देखो, समय की चलाचल लगी है। इस चलाचल के मध्य मे स्थित मानव सदा अचल की ओर देखता रहा है।

अचल क्या है ? जीवन और जगत् की चचल लहरो पर तैरता हुआ एक अचचल तत्व है—'चिन्तन !' 'विचार !' यह 'विचार' ही शाश्वत सत्य का उद्घाटक है। 'चिंतन' ही अचल तत्व तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त करता है। मनुष्य इसलिए तो मनुष्य है कि वह मननशील है, मन की भूमिका पर शयन करता है, और मनन, चिन्तन, निदिध्यासन के द्वारा अधकार मे प्रकाश खोजता रहता है।

प्रकाश देने वाली दिशा 'पूर्व' के नाम से पहचानी जाती है। जीवन के तमसाच्छन्न क्षणो मे विचार का प्रकाश देने वाले माध्यम, हमारे लिए पूर्व हैं, प्रकाश पुञ्ज हैं। 'पर्वदिशा' की भाति जीवन के प्रत्येक मंगल व श्रेष्ठ कर्म की आदि मे वे स्पृहणीय एव अभिनन्दनीय है।

श्री 'अमर भारती' जीवन के इसी पूर्वांचल की भूमिका पर चली है, चल रही है। विचारो का प्रकाश फैलाना, चिंतन के नये उन्मेष जगाना और सत्य एव अचल तत्व को समझने परखने के सही आयाम प्रस्तुत करना—यही श्री अमर भारती का श्रेयार्थ एव प्रेयार्थ रहा है, फलितार्थ भी रहा है।

श्री 'अमर भारती' विचार जागृति का उपक्रम लेकर प्रारभ हुई थी। आज चार साल पूरे हो रहे हैं, पाचवे साल की देहलीज पर चरण-न्यास करते हुए हम अपने ध्येय की सफलता व असफलताओ का छोटा सा रेखाचित्र अपने पाठको के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते हैं।

सफलता का मध्यबिन्दु

●

श्री 'अमर भारती' के प्रकाशन की योजना के समय और प्रकाशन के प्रारभिक क्षणो मे उसकी सैद्धान्तिक आस्था एव आशामय भविष्य पर आशकाए उठाई जा रही थी।

पहली आशका यह—कि विचार जागृति का जो सुन्दर और क्राति-कारी घोषणा पत्र लिखा गया है, वह रेस के घोडो की तरह एक तेज, दर्शनीय, किंतु अल्पकालिक दौड तो सिद्ध नही होगी? प्राय पत्र पत्रिकाएँ प्रारभ मे एक विराट् आदर्श, असीम एव सुन्दर सलौनी परिकल्पनाएं लेकर समाज के क्षितिज पर उभराते हैं, किंतु कुछ ही समय और कुछ ही कदम चलने के बाद ही उनकी दिशाए वदल जाती हैं। सुन्दर सपने छलना बन जाते हैं, आदर्श धरे रह जाते हैं और वे पत्र पत्रिकाएँ किसी सप्रदाय, राजनीति या व्यक्ति-विशेष के हाथो की कठपुतली बनकर साम्प्रदायिक उन्माद, वैचारिक कुण्ठा, अन्धविश्वास, तथा राजनैतिक गन्दगी फैलाने के साधन मात्र रह जाते हैं। प्रश्न यह था कि श्री 'अमर भारती' इस सक्रामक रोग से कैसे बच सकेगी?

दूसरा सवाल यह था कि—यदि साहस पूर्वक परिस्थितियो से सघर्ष करते रहकर डूबते-उतराते पत्रिका चलती भी रही, तो कितने दिन? विचार पत्रिकाओ की जिन्दगी कितनी होती है? और उनके विस्तार विकास की सम्भावनाए भी कितनी सीमित है? कितने पाठक होगे? कितने ग्राहक होगे? और सबसे बडा सवाल आर्थिक समस्याओ का समाधान करने वाले कितने उदार सहयोगी होगे?

हम नही समझते कि आज इन दोनो प्रश्नो का उत्तर सपादकीय कलम से देने की कुछ आवश्यकता रही है? चूकि यह स्पष्ट है कि

श्री अमर भारती विगत चार वर्षों मे अपने आदर्शों, और सिद्धान्तो की दिशा मे प्रामाणिकता के साथ निरतर प्रगति करती रही है, और सफलता के मध्यविन्दु तक अवश्य पहुँची है। समस्याए आई भी, मगर उनके साथ समझौता नही, वल्कि उनका समाधान किया गया है। और विचार पत्रिका के रूप मे दो वहुत वड़ी उपलब्धियाँ भी प्राप्त की है।

पहली यह कि समाज मे एक सीमित-सा ऐसा प्रवुद्ध वर्ग था, जो पुराने आदर्शों, सिद्धान्तो और साँस्कृतिक प्रतिमानो को नवीन दृष्टि से देखना चाहता था, और साथ ही कुछ नया चिन्तन, एव मौलिक विचारो की खुराक भी माग रहा था।

समाज के इस प्रवुद्ध पाठक वर्ग ने श्री 'अमर भारती' का स्वागत किया, चिन्तन एव विचार की शैली को पसन्द किया और वैचारिक जगत मे खटकने वाले एक वड़े अभाव की पूर्ति के रूप मे श्री 'अमर भारती' को विश्वासपूर्वक अपनाया।

दूसरी उपलब्धि इससे भी महत्वपूर्ण है। वर्तमान समाज का सैद्धान्तिक व्यक्तित्व खण्डित-सा हो रहा है। एक ओर पुराना व्यक्तित्व है, जो किसी वधीवधाई परिपाटी मे पल रहा है, अपनी कुलागत परम्पराओ को और गुरुपरम्परागत धार्मिक कृत्यो को वसीयत के रूप मे पाता है, और धरोहर के रूप मे उसकी रक्षा करता हे। कभी-कभी नये चिन्तन की किरणे उनके श्रद्धाशील मानस पर पडती हे, तो जीर्ण शीर्ण आस्थाए सिहर उठती हैं, वे जो कुछ किए जा रहे है, और जो कुछ मानते आ रहे हैं, उन आचार विचारो के सामने एक प्रश्नचिन्ह खडा हो जाता है। इसका समाधान कुछ खोजते हैं, या कुछ नही भी खोजते, पर पाते नहीं। समय उस प्रश्न-चिन्ह को धूमिल कर देता है और वे वैसे ही चलते रहते हैं। अवचेतन मन प्रश्नो और शकाओ का पुलिन्दा वन जाता है, पर चेतन मन श्रद्धा और कुलाचार के भारी वोझ मे दवा उसे कुछ भी महत्व नही देता।

पाठको के पत्र और व्यक्तिगत सम्पर्क से इस वात को हमने समझा हे कि वह प्राचीन श्रद्धाशील सरल व्यक्तित्व, जो कभी-कभी शका-ग्रस्त होकर समाधान खोजना चाहता था, श्री 'अमर भारती'

के प्रति विशेष आकर्षित हुआ है। उसके मन के अनबूझे प्रश्न जो नई हलचल से पैदा हुए थे, नये और पुराने का समन्वय करते हुए समाहित होने लगते है। नये को सुनने की, और पुराने को समझने की चेतना जागृत हो रही है।

इसके साथ ही एक आग्रहशील पुराना व्यक्तित्व भी समाज मे विद्यमान है। उस व्यक्तित्व को श्री 'अमर भारती' से समाधान नही मिल सका हो तो हमे दु ख नही, किंतु यह प्रसन्नता है कि उन परम्परावादियो को भी कभी-कभी चिन्तन के लिए मजबूर अवश्य होना पडता है।

श्री 'अमर भारती' के विचारद्रष्टा उपाध्याय श्री जी जब धर्म और दर्शन के शाश्वत मूल्यो का नवीनशैली से मूल्याकन प्रस्तुत करते है, या ऐसा समझिए कि उनकी चिर नवीन प्रतीत होने वाली वाणी जब प्राचीन और शाश्वतिक सिद्धान्तो व आदर्शों के स्वर्ण सिहासन पर जमी हुई विकृतियो की धूल को हटाकर उनके समुज्ज्वल रूप को हमारे समक्ष उपस्थित करती है, तो कुछ व्यक्ति चोक उठते हैं 'यह तो पहले कभी नही सुना, कभी नही देखा।' परन्तु भले ही वे चितन के रूढ घेरे से आगे न बढे, किन्तु एक सत्य की मौन स्वीकृति करने को तो उनकी आत्मा अवश्य मजबूर हो जाती होगी। फिर भले ही साम्प्रदायिक अभिनिवेश उन्हे सत्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार न करने दे, और वे उसके सम्बन्ध मे गलत-सलत भी लिखते रहे। मगर हमे तो यही प्रसन्नता है कि कम से कम उनकी दृष्टि ने भी सत्य को देखा तो है, आज गलत रूप मे देखा है, काल सही रूप मे भी देख सकते हैं।

दूसरी और बुद्धिवाद के प्रकाश मे एक नया व्यक्तित्व उभर रहा है, जो पुरानी मान्यताओ को, पुराने आदर्श और प्राचीन क्रिया काण्डो से सिर्फ प्राचीन होने के नाते ही नफरत करता जा रहा है। वह धर्म और दर्शन की चर्चा को सिर्फ बुझौवल समझ रहा है। आस्थाहीन, एव तर्कवादी उस व्यक्तित्व से समाज का धार्मिक क्षेत्र चिन्तित हो रहा है। पर चिन्ता मे घुलते जाने से कभी कोई समस्या हल हुई है ? नवीन मानस को स्नेह एव तर्क से समझने-समझाने का प्रयत्न होना चाहिए।

यह एक अत्यन्त शुभ चिन्ह है कि—नया रक्त, नया मानस उपाध्याय श्री जी के उदार, स्पष्ट एव सुलझे हुए चिंतन को क्रांतिकारी विचार के रूप मे देखता है। वह यहा पर दर्शन को पहेली के रूप मे नही, किन्तु जीवन की कला के रूप मे पाता है। धर्म, सस्कृति और आदर्शों के प्रति खड़े होने वाले उसके मन के अगणित प्रश्न चिन्ह उपाध्याय श्री जी की लेखिनी व वाणी से स्वय समाहित होते चले जाते हैं। समाधान पाकर नया मानस तृप्त हो रहा है। और धर्म को "सनक" समझनेवाले श्री अमर भारती जैसे धार्मिक विचार पत्र की बरावर स्वाध्याय करने लगे हैं। जो युवक कभी साधु दर्शन करने स्थानक, उपाश्रय मे नही जाते उनको मैंने अमर भारती के लेखो पर वहस करते देखा, पुरानी फाइलो का सग्रह करते देखा तो लगा श्री अमर भारती अपने उद्देश्य मे सफल हो रही है। विचारो की जागृति फैल रही है और अमरसाहित्य का एक विशेप पाठक वर्ग तैयार हो रहा है।

इस प्रकार 'श्री अमर भारती' अपनी इन दो उपलब्धियो को गौरवपूर्ण समझती है कि पुराना प्रबुद्धपाठक चिन्तन की खुराक पाकर इससे सतुष्ट है, और नयापाठक प्रबुद्ध हो रहा है। इस प्रकार श्री अमर भारती विचार जागृति के क्षेत्र मे, असाम्प्रदायिक, अवैयक्तिक और नि स्वार्थ दृष्टिकोण से निरन्तर प्रगति कर रही हे। धार्मिक चेतना की एक प्रमुख पत्रिका वन रही है। जैनेतर क्षेत्रो मे भी इसकी विचार सामग्री का अत्यधिक आकर्पण वढ रहा है। और समय-समय पर उठने वाले, आध्यात्मिक, सास्कृतिक, राष्ट्रीय एव सामाजिक प्रश्नो का सही, सतुलित समाधान उपाध्याय श्री जी की वाणी व लेखिनी द्वारा प्राप्त कर पाठक वर्ग परितोप का अनुभव कर रहा है।

इस क्षेत्र मे हमारी असफलताएँ व कमिया भी हमे ज्ञात है। पाठको के पत्रो से हम समय समय पर उनका अनुभव भी करते रहे है। कुछ पाठक इसमे नवीन विचारस्तम्भ, प्रश्नोत्तर, महिला जागृति आदि स्तम्भो की माग कर रहे है, कुछ इसके आकार व पृष्ठ सख्या को वढाने के लिए भी कहते रहते हैं। किन्ही प्रेमी पाठको की माग है कि महीने भर प्रतीक्षा के वाद एक दिन श्री अमर भारती मिल

पाती है। प्रतीक्षा करके अधीर हो जाते हैं अतः इसे पाक्षिक कर देना चाहिए। कभी-कभी अन्य विचारको के लेख भी प्रकाशन के लिए आ जाते हैं, जिन्हे सादर लौटाना पडता है। कुछ सज्जन इसमें अपने स्थानीय या व्यक्तिगत समाचार प्रकाशित करने का आग्रह भी करते हैं। इत्यादिक समस्याएँ व सुझाव हमारी फाइलो मे है। कुछ पर विचार करने की आवश्यकता भी है, पर हम अब तक उन पर सक्रिय निर्णय नही कर सके। पत्र प्रकाशन की कुछ अपनी समस्याए भी होती है। कुछ पत्र की नीति भी। कुछ जिज्ञासु पाठको को पत्र समय पर प्राप्त न होने के कारण वे शिकायत भी करते है। हमारा प्रयत्न है कि अपने पाठको को हर रूप मे सन्तुष्ट करते हुए हम विचार जागृति के महनीय अभियान मे निरन्तर सफलता पूर्वक आगे वढते रहे।

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

जो ण कुणइ अवराहे, सो णिस्संको दु जणवए भमदि।

—आचार्य कुन्दकुन्द समयसार ३०२

जो किसी प्रकार का अपराध नहीं करता, वह निर्भय होकर जनपद मे भ्रमण कर सकता है। इसी प्रकार निरपराध=निर्दोष आत्मा (पाप नही करने वाला) भी सर्वत्र निर्भय होकर विचरता है।

●
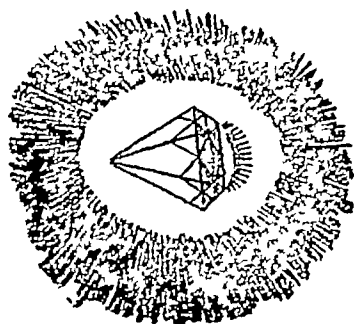
पुरानी परिभाषाएँ नये चिन्तन में

भिक्खु :

जो भिदेइ खुह खलु, सो भिक्खुभावओ होइ

—आचार्य भद्रबाहु (उत्त० नियुक्ति २७५)

जो मन की भूख (मानसिक तृष्णा) का भेदन करता है, वह वस्तुत. भिक्षु है।

●

ससारे भय इक्खतीति—भिक्खु

—आचार्य बुद्धघोष (विसुद्धिमग्गो)

· जो ससार मे भय देखता है, वह भिक्षु है।

'भिक्षु' श्रमण परम्परा का मुख्य शब्द है। भिक्षा से अजीविका करने वाला भिक्षु होता है, यह भिक्षु शब्द की एक पुरानी व्युत्पत्ति है। और परम्परागत अर्थ भी इसके साथ है। किन्तु श्रमण परम्परा ने भिक्षु के भिक्षाजीवी होने मे ही उसकी यथार्थता नही समझ ली है। भिक्षु की मानसिक पवित्रता और निराकुलता ही वस्तुत उसकी सार्थकता है। जैन एव बौद्ध परम्परा मे उसके इन्ही ऊँचे आदर्शो का चित्रण हुआ है। उसी आदर्श के अनुकूल विद्वान आचार्यों ने भिक्षु शब्द की दो व्युत्पत्तियाँ की हैं, अपनी-अपनी दृष्टि से दोनो ही एक नवीन चिंतन प्रस्तुत करती हैं।

व्यक्ति का व्यक्तित्व समूह मे समर्पित होकर समाज का रूप लेता है, जैसे कि असख्य नदी नाले जल-समूह मे विलीन होकर महासागर का रूप धारण करलेते हैं। व्यक्तिगत साधना को सृष्टि के हितो के लिए समर्पित करना ही साधना की निष्पत्ति है और इसी मे व्यक्तित्व का चरम-विकास हैं। व्यक्ति और समाज के सम्बन्धो मे एक-सूत्रता स्थापित करने वाले इस समाज-शास्त्रीय विश्लेषण को पढिए! दार्शनिक विचारक उपाध्याय श्री जी के प्रवचन मे।

व्यक्ति और समाज

उपाध्याय अमरमुनि

●

इस पृथ्वी पर मनुष्य एक सर्वाधिक विकसित एव प्रभावशाली प्राणी है। उसके विचार, चिन्तन एव मनन का ससार के वातावरण पर बहुत महत्वपूर्ण असर होता रहा है। सृष्टि के विकास-ह्रास तथा उत्थान-पतन मे उसके विचारो का बहुत बडा योग रहा है। कुछ गहराई मे जाने से लगता है, मनुष्य वैसे तो स्वय मे एक क्षुद्र इकाई है, एक सीमित सत्ता है, किन्तु सृष्टि के साथ वह शत-सहस्र रूपो मे जुडा हुआ है। परिवार के रूप मे, समाज एव राष्ट्र के रूप मे, धर्म सस्कृति और सभ्यता के रूप मे, वह एक भी 'अनेकरूपा' होकर चल रहा है, यही उसकी विशेषता है।

पार्थिव-शरीर की दृष्टि से उसका 'अस्तित्व' उसका 'अपनत्व' एक मृत्पिण्ड तक ही सीमित रह जाता है। शरीर के वैयक्तिक सुख दु ख के भोग मे वह अवश्य अपने सीमित क्षेत्र मे ही घूमता है, किन्तु सुख दु ख का स्वतन्त्र-भोग करते हुए भी वह समाज व ससार से सर्वथा निरपेक्ष रहकर नही जी सकता। उसकी भावनाओ का, विचारो और प्रवृत्तियो का यदि ठीक से विश्लेषण करे तो उसका एक व्यापक एव विराट् रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है। उसके अन्तस्तल मे छिपे हुए स्नेह और प्रेम की व्याख्या करे तो देखेगे कि

वह एक नही 'अनेकरूपा' हैं। उसका घेरा सीमित नही, असीम है। उसका अन्तर्जगत बहुत विराट् है, वह अपने आप मे सृष्टि का विराट रूप लिए हुए चल रहा है। बाहर की सृष्टि उसके अन्तर मे भी है और वह उसके साथ सम्पूर्ण रूप से बधा हुआ है।

समाज विकास की भूमिका

●

जब तक मनुष्य का चिन्तन अपने शरीर को ही देखता है, तब तक उसकी इच्छाए और प्रवृत्तियाँ केवल इस 'पिण्ड' को लेकर ही चलती है। ऐसी स्थिति मे जब कभी वह विचार करता है, तो स्वय का, और केवल स्वय का ही विचार करके रह जाता है, दृष्टि घूम फिर-कर अपने दायरे पर ही आकर केन्द्रित हो जाती है। तब शरीर के सकुचित घेरे मे बँधा रहकर वह इतना सकुचित हो जाता है कि आस-पास मे परिवार व समाज के भव्य चित्र, धर्म और सस्कृति की दिव्य परम्पराएं जो उसके अनन्त अतीत से जुडी चली आ रही हैं, उन्हे भी वह ठीक तरह देख नही पाता। मनुष्य के विकास की जो लम्बी कहानी है, उसे वह पढ नही पाता और केवल अपने पिण्ड की क्षुद्र-दृष्टि को लेकर ही जीवन के सीमित कठघरे मे बँध जाता है।

जब सकुचित दृष्टि का चश्मा हटता है, अपनी इच्छाओ और सद्भावनाओ को मानव विराट् एव व्यापक रूप देता है तो उसकी नजरो मे अनन्त अतीत उतर आता है, साथ-साथ अनन्त भविष्य की कल्पनाएं भी दौड उठती हैं, वह क्षुद्र से विराट् होता चला जाता है, सहयोग और स्नेह के सूत्र से सृष्टि को अपने साथ बाँधने लगता है। अध्यात्म की भाषा मे वह जीव से ब्रह्म की ओर, आत्मा से परमात्मतत्व की ओर अग्रसर होता है। अग्नि की जो एक क्षुद्र चिन-गारी थी, वह विराट् ज्योति के रूप मे प्रकाशमान होने लगती है। यही व्यक्ति से समाज की ओर तथा जीव से ब्रह्म की ओर बढना है। जो अपनी क्षुद्र दैहिक इच्छाओ और वासनाओ मे सीमित रहता है वह क्षुद्र-ससारी प्राणी की कोटि मे आता है, किन्तु जब वही आगे बढकर अपने स्वार्थ को, इच्छा और भावना को विश्व के स्वार्थ (लाभ) मे विलीन कर देता है, अनन्त के प्रति अपने आपको अर्पित कर देता है, हृदय के असीम स्नेह, करुणा एव दया को अनन्त प्राणियो

के प्रति अर्पित कर देता है तब वह विराट् रूप धारण कर लेता है। व्यक्ति की भूमिका मे विराट् समाज चेतना का दर्शन होने लगता है। 'स्व' के विस्तार का यह उपक्रम ही व्यक्ति को समाज के रूप मे और आत्मा को परमात्मा के रूप मे उपस्थित करता है।

भारत की एक दार्शनिक परम्परा मे ईश्वर को व्यापक माना गया है। यद्यपि दार्शनिक जगत् मे ईश्वर की सर्व व्यापकता एक गुत्थी बनी हुई है, किन्तु यदि इस गुत्थी को इस रूप मे सुलझाया जाय कि जब आत्मा मे दया और करुणा की अनन्त-धाराएँ फूटती हैं और वह सृष्टि के अनन्त जीवो को अपनी करुणा मे ओत-प्रोत देखने लग जाता है, तो आत्मा सृष्टि मे व्यापक हो जाता है, विराट् हो जाता है। उसके स्नेह और करुणा का अनन्त प्रवाह ससार मे सब ओर तटस्थ भाव से बहने लगता है। सृष्टि के अनन्तानन्त प्राणिओ मे वह उसी चैतन्य को देखता है जो स्वय उसमे भी विद्यमान है, सब मे उसी सुख और आनन्द की कामना के दर्शन करता है, जो उसके हृदय मे जग रही है। इस प्रकार वह विराट् और सर्वव्यापक रूप धारण कर लेता है। मेरे विचार मे और सिर्फ मेरे ही नही, बल्कि जैन दर्शन के विचार मे ईश्वर इसी भावात्मक रूप में सर्व व्यापक है। शब्दो का जोड-तोड कुछ और भी हो सकता है, हम सर्व व्यापक की जगह सर्वज्ञाता और सर्वद्रष्टा भी कह सकते हैं, चूँकि प्राणी मात्र मे अपने समान चैतन्य देवता के दर्शन करना, उनकी सुख दु:ख की धारणाओ को आत्म-तुल्य समझना यही तो हमारे ईश्वरत्व पाने वाले महामानवो का सर्व व्यापक, सर्वज्ञाता और सर्वद्रष्टा अनन्त चैतन्य है।

मनुष्य का विकास क्रम, या यूँ कहूँ कि उसकी मनुष्यता का विकास-क्रम यदि देखा जाय तो लगेगा कि वह किस प्रकार क्षुद्र से विराट् स्थिति तक पहुँचा है। एक असहाय शरीर ने जन्म धारण किया तो आसपास मे जो अन्य सक्षम शरीरधारी थे, वे उसे सहयोग करने लगे, उसके सुख दु ख मे भाग बँटाने लगे। इस प्रकार परस्पर मे स्नेह एव सद्भाव की कल्पना जगी और वह परिवार का एक रूप बन गया। परिवार जैसी व्यवस्था बहुत पुराने युग में नही थी, पर, जब मनुष्य आस-पास के सुख दु:ख को समझा बाटने लगा और

अपने सुख दु.ख को आस-पास के पडोसियो में बॉटने लगा तो धीरे-धीरे परिवार की कल्पना खडी हो गई। सुख दु ख मे हिस्सा बँटाने वाले अपने 'निज' हो गए और जो उससे दूर रहे, वे पराये बने रहे। इस प्रकार मनुष्य के जीवन मे सुख दु ख का विनिमय शुरू हुआ। आगे चलकर उसके जीवन मे जो भौतिक और आधिदैविक दु ख आते, उनसे भी सब सहयोग पूर्वक लडते, दु खो को दूर करने का मिल जुलकर प्रयत्न करते और जो सुख प्राप्त होता, उसे सद्भाव पूर्वक परस्पर मे बॉट लेते, मिलकर उसका उपयोग या उपभोग करते—बस व्यक्ति के जीवन की व्यापक होने की यह प्रक्रिया परिवार को जन्म देती चली गई, समाज का निर्माण करती चली गई। इसी वृत्ति ने धीरे-धीरे विराट् से विराट्तर रूप धारण किया तो देश और राष्ट्र की समग्र कल्पनाएँ सामने आई, धर्म और सस्कृति की व्यापक धारणाएँ बनने लगी।

मनुष्य का चिन्तन जब अपने परिपार्श्व मे विचरने वाले छोटे-जीव जन्तुओ पर गया, तो वह उनके साथ भी एक अज्ञात सवेदना व सहवेदना से जुडने लगा। वह पशु पक्षी जगत् के सुख दु.ख को भी समझने लगा, उसके साथ भी उसकी सहानुभूति जगी, प्राणीदया की भावना ने उसके जीवन मे धर्म और अध्यात्म की सृष्टि खड़ी कर दी, धर्म ने उसे विराटतम रूप पर लाकर खड़ा कर दिया। प्रत्येक प्राणी के साथ आत्म-तुल्य विचार की भूमिका ने उसे आत्मा से परमात्मा तक के चिन्तन पर पहुँचा दिया। यही मनुष्यता के विकास की कहानी है।

व्यक्ति का नही, समाज का महत्व है

●

इधर उधर अनियत्रित रूप मे बिखरी हुई इकाइयो को एकत्र कर, समाज या सघ के रूप मे उपस्थित करनेवाला पारस्परिक सहयोग ही मानवता का एक दिव्य तत्व है। यही समाज के निर्माण की आधार भूमि है।

प्रश्न यह है कि मनुष्य व्यष्टिरूप-इकाई मे जीता है या समष्टि-रूप समाज मे ? चिन्तन, मनन और अनुभव के बाद यह देखा गया

कि मनुष्य अपने पिण्ड की क्षुद्र इकाई मे बद्ध रहकर एक अच्छे जीने के ढग से जी नही सकता, अपना पर्याप्त भौतिक और बौद्धिक विकास नही कर सकता, जीवन की सुख समृद्धि का द्वार नही खोल सकता और न ही आध्यात्म की श्रेष्ठ भूमिका तक पहुँच सकता है। अकेला रहने मे उसका दैहिक विकास भी भली भाँति नही हो सकता तो, सास्कृतिक विकास की कल्पना तो बहुत दूर की बात है।

जैन परम्परा मे वर्तमान मानवीय सभ्यता का मूल-स्रोत यौगलिक परम्परा से माना गया है। बहुत पुरानी यौगलिक-सभ्यता वह है जहाँ मनुष्य एक इकाई के रूप मे चलता है। यह ठीक है कि वहाँ मनुष्य अकेला तो नही है, वह स्वय पुरुष है, और एक स्त्री भी है उसके साथ। किन्तु पत्नी नही है, स्त्री के साथ एक पुरुष को भी हम देखते है, पर वह पुरुष मात्र है, पति नही हैं। जीवन की कितनी जटिल व्याख्या है वहाँ ? स्त्री-पुरुष वहाँ साथ-साथ घूम रहे हैं, पर उनमे पति-पत्नी भाव नही है, स्त्री-पुरुष के रूप मे सिर्फ दैहिक सम्बन्ध है। पति-पत्नी के रूप मे पवित्र सामाजिक सम्बन्ध की जागरणा वहाँ नही हुई है। उस समय का चित्र आगम-साहित्य मे जिस प्रकार अकित किया गया है, उससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उस युग के स्त्री-पुरुष पति-पत्नी के रूप मे नही थे, वे एक दूसरे के सुख-दु.ख मे भागीदार नही थे। उन्हे एक दूसरे के हितो की किसी को भी चिन्ता नही थी। पुरुष को भूख लगती है, तो वह इधर-उधर चला जाता है, और तत्कालीन कल्पवृक्षो के द्वारा अपनी क्षुधा को शान्त कर लेता है। स्त्री को भूख सताती है तो वह भी निकल पड़ती है और पुरुष की ही तरह कल्पवृक्षों के द्वारा वह भी अपनी क्षुधा-पूर्ति कर लेती है। न पति-पत्नी के लिए कोई भोजनादि का प्रबन्ध करता है और न पत्नी ही पति के लिए भोजनादि तैयार करने की जरूरत देखती है। न प्यास के लिए कोई किसी को लाकर पानी पिलाता है, और न अन्य किसी प्रकार की कोई व्यवस्था होती है। जीवन का यह कितना विचित्र रूप हैं कि लाखो वर्षों तक के लम्बे काल प्रवाह मे स्त्री और पुरुष की दो इकाइयाँ साथ-साथ रहकर भी इतनी अलग अलग रही। एक दूसरे के सुख दुःख मे भागीदार नही बन सकी।

एक दूसरे के लिए अर्पण होने की कल्पना नही कर सकी ? एक दूसरे की समस्याओ मे रस नही ले सकी।

अकर्मभूमि के उस वैयक्तिक युग मे कोई परिवार नही था। समाज की कोई कल्पना नही थी, राष्ट्र भी नही था। भूगोल तो था, राष्ट्र नही था। यदि आप अमुक भूगोल को ही राष्ट्र की सीमा मान ले, तव तो वहाँ सव कुछ थे, पहाड थे, नदियाँ थी, नाले थे, जगल थे, और वन थे। परन्तु सही अर्थों मे यह भूगोल था, राष्ट्र नही था। मनुष्यो का समूह भी था, अलग-अलग इकाइयो मे मानव समूह खडा था, यदि उसे ही समाज मान ले तव तो वह समाज भी था। पर नही, केवल मनुष्यो के अनियन्त्रित एव अव्यवस्थित समूह को समाज नही माना जा सकता। जव परस्पर मे भावनात्मक एक सूत्रता होती है, एक दूसरे के लिए सहयोग की भावना से हृदय ओत-प्रोत हो जाता है, तभी मनुष्यो का समूह परस्पर मे नियन्त्रित एव व्यवस्थित समाज का रूप लेता है। सघ का रूप लेता है।

सामूहिक साधना

जैन धर्म की मूल परम्परा मे आप देखेगे कि वहाँ साधना के क्षेत्र मे व्यक्ति स्वतन्त्र होकर अकेला भी चलता है और समूह या सघ के साथ भी। एक और जिनकल्पी मुनि सघ से निरपेक्ष होकर व्यक्तिगत साधना के पथ पर वढते है। दूसरी और विराट् समूह, हजारो स।धु-साध्वियो का सघ सामूहिक जीवन के साथ साधना के क्षेत्र मे आगे वढता है। जहाँ तक मैं समझता हूँ, जैन धर्म और जैन परम्परा ने व्यक्तिगत धर्म साधना की अपेक्षा सामूहिक साधना को अधिक महत्व दिया है। सामूहिक चेतना और समूहभाव उसके नियमो के साथ अधिक जुडा हुआ है। अहिसा और सत्य की वैयक्तिक साधना भी सघीय रूप मे सामूहिक-साधना की भूमिका पर विकसित हुई है। अपरिग्रह, दया तथा करुणा और मैत्री की साधना भी सघीय धरातल पर ही पल्लवित पुष्पित हुई है। जैन परम्परा का साधक अकेला नही चला है, वल्कि समूह के रूप मे साधना का विकास करता चला है। व्यक्तिगत हितो से भी सर्वोपरि सघ के हितो का महत्व मानकर

चला है। जिनकल्पी जैसा साधक कुछ दूर अकेला चलकर भी अन्ततोगत्वा सघीय जीवन मे ही अन्तिम समाधान कर पाया है।

जीवन मे जब सघीय भाव का विकास होता है तो निजी स्वार्थों और व्यक्तिगत हितो का बलिदान करना पडता है। मन के केन्द्रो को समाप्त करना होता है। एकता और सघ की पृष्ठभूमि त्याग पर ही खड़ी होती है। अपने हित, अपने स्वार्थ और अपने सुख से ऊपर सघ के हित को, सघ के स्वार्थ और सामूहिक सुख को प्रधानता दी जाती है। सघीय जीवन मे साधक अकेला नही चल सकता, सब के साथ चलता है। एक दूसरे के हितो को समझकर, अपने व्यवहार पर सयम रखकर चलता है। परस्पर एक दूसरे के कार्य मे सहयोगी बनना एक दूसरे के दु खो और पीड़ाओ में यथोचित साहस और धैर्य बधाना उसमे हिस्सा बँटाना, यही सघीय जीवन की प्रथम भूमिका होती है। जीवन मे जब अन्तर्द्वन्द्व खड़े हो जायें और व्यक्ति अकेला स्वय उनका समाधान न कर सके तो उस स्थिति मे दूसरा साथी उसके अन्तर्द्वन्द्वो को सुलझाने मे सस्नेह सहयोगी बने, अधेरे मे प्रकाश दिखाये और पराभव के क्षणो मे विजय-मार्ग की ओर उसे बढाता ले चले। सामूहिक साधना की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है कि वहाँ किसी भी क्षण व्यक्ति अपने को एकाकी या असहाय अनुभव नही करता है, एक के लिए अनेक सहयोगी वहाँ उपस्थित रहते हैं। एक के सुख व हित के लिए, अनेक अपने सुख व हित का उत्सर्ग करने को प्रस्तुत रहते हैं।

मैंने आपसे कहा कि बहुत पुराने युग मे व्यक्ति अपने को तथा दूसरो को अलग-अलग एक इकाई के रूप मे सोचता रहा था, पर जब समूह और समाज का महत्व उसने समझा, सघ के रूप मे ही उसके जीवन की अनेक समस्याएं सही रूप मे सुलझती हुई लगी, तो सामाजिकता मे, सघीय भावना मे उसकी निष्ठा बनती गई और जीवन मे, सघ और समाज का महत्व बढ़ता गया। साधना के क्षेत्र मे भी साधक व्यक्तिगत साधना से निकल कर सामूहिक-साधना की ओर आता गया।

मैंने बताया आपको कि जीवन की उन्नति और समृद्धि के लिए सघ का अपना विशिष्ट महत्व है। इसीलिए व्यक्ति से अधिक सघ को

महत्व दिया गया है। साधना के क्षेत्र में यदि आप देखेंगे तो हमने साधना के कुछ अंगों को व्यक्तिगत रूप में उतना महत्व नहीं दिया है जितना समूह के साथ चलने वाली साधना को दिया है। संघ का महत्व जीवन में क्या है? इसे समझने के लिए यही एक बहुत बड़ा उदाहरण हमारे सामने हैं कि 'जिनकल्पी' साधक से भी अधिक 'स्थविरकल्पी' साधक का हमारी परम्परा में महत्व रहा है।

साधना के क्षेत्र मे जिनकल्पी साधना की कठोर और उग्र भूमिका पर चलता है। आगम ग्रन्थो मे जब हम 'जिनकल्पी' साधना का वर्णन पढ़ते हैं तो आश्चर्य-चकित रह जाते हैं—कितनी उग्र कितनी कठोर साधना है? हृदय कंपा देने वाली उसकी मर्यादाएं हैं! 'जिनकल्पी' चला जा रहा है, सामने सिंह आ गया तो वह नहीं हटेगा, सिंह भले ही हट जाये, न हटे तो उसका ग्रास भले बन जाय, पर जिनकल्पी मुनि अपना मार्ग छोड़कर इधर उधर नहीं जायेगा। मौत को सामने देखकर भी उसकी आत्मा भयभीत नहीं होती, निर्भयता की कितनी बड़ी साधना है?

चम्पा के द्वार खोलने वाली सती सुभद्रा की कहानी सुनी है आपने? मुनि चले जा रहे हैं, मार्ग मे काटेदार झाड़ी का भार सिर पर लिए एक व्यक्ति जा रहा है और झाड़ी का एक काटा मुनि की आँख मे लग जाता है। आँख बिन्ध गई और खून आने लग गया। कल्पना कीजिए आँख मे एक मिट्टी का कण भी गिर जाने पर कितनी वेदना होती है, प्राण तड़फने लग जाते हैं और यहाँ कांटा आँख में चुभ गया, खून बहने लगा, आँख सुर्ख हो गई, पर वह कठोर साधक बिलकुल बेपरवाह हुआ चला जा रहा है, उसने काटा हाथ से निकाल कर फैंका भी नहीं। सुभद्रा के घर पर जब मुनि भिक्षा के लिए जाते हैं और सुभद्रा ने मुनि की आँख देखी तो उसका हृदय चीख उठा। वेदना मुनि को हो रही थी पर सुभद्रा देखते ही जैसे वेदना से तड़फ उठी, मुनि को कितना घोर कष्ट हो रहा होगा? वह जिनकल्पी मुनि के नियमो से परिचित थी, जिनकल्पी मुनि अपने हाथ से कांटा नहीं निकालेंगे, यदि मैं इन्हे कहूँ कि कांटा निकाले देती हूँ तो भी मुनि ठहरने वाले नहीं हैं। निस्पृह और निरासक्त हैं ये? सुभद्रा श्रद्धा-विह्वल हो गई और आहार देते-देते झटापटी में उसने अपनी

जीभ से मुनि का काटा निकाल दिया। परन्तु जल्दी मे सुभद्रा का मस्तक मुनि के मस्तक से छू गया और उसके मस्तक पर की ताजा लगाई हुई बिन्दी मुनि के मस्तक पर भी लग गई। यह घटना-प्रवाह आगे विकृत रूप मे बदल गया और इस पर जो विषाक्त वातावरण सुभद्रा के लिए तैयार किया गया, वह आप सुनते ही रहे हैं। किन्तु हमे यहाँ देखना है कि जिनकल्पी साधक की कठोर साधना कैसी होती है ? काटा लग गया, पाँव मे नही, आँख मे ! पाँव का काटा भी चैन नही लेने देता, जिसमे यह तो आँख का काटा ! आँख से रक्त बह रहा है, भयकर दर्द हो रहा है। पर समभावी मुनि उसे निकालने का सकल्प भी नही कर रहे हैं। कोई कहे कि ठहरो, हम काटा निकाल देते हैं, तो ठहरने को भी तैयार नही। कितनी हृदय-द्रावक साधना है ? प्रश्न है कि ऐसी उग्र साधना करने वाला 'जिन-कल्पी मुनि' उस अवस्था मे केवलज्ञान पा सकता है कि नही ? जैन परम्परा का समाधान है कि नही, जिनकल्पी अवस्था मे केवल-ज्ञान प्राप्त नही हो सकता।

संघ की सर्वोच्चता

●

मैं समझता हूँ साधना के क्षेत्र मे यह बहुत बडी बात कही गई है। जिनकल्पी अवस्था कठोर साधना की अवस्था है। उस स्थिति मे तपस्या और कष्ट-सहिष्णुता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, फिर क्या रहस्य है इसका कि जिनकल्पी साधना मे मुक्ति नही होती ?

मेरी बात आपके गले उतरे तो ठीक है, न उतरे तब भी कोई बात नही, मैं अपनी बात तो कहूँगा कि हम आजकल साधक की कठोर साधना को सर्वाधिक महत्व देते हैं, अनशन एव कायक्लेश आदि उग्र तपश्चर्या को ही मुक्ति का एक मात्र सीधा मार्ग समझ बैठे हैं। परन्तु हमे इस प्रश्न की गहराई मे जाना होगा कि जिन-कल्पी मुनि जैसी कठोर साधना अन्य किसी अवस्था मे नही हो सकती, किन्तु उस कठोर साधनाकाल मे भी मुक्ति नही होती तो इसका क्या कारण है ? जिनकल्प से भी अधिक महत्व की कोई अन्य साधना है क्या ?

बात यह है कि जैन परम्परा ने समूह को महत्व दिया है। व्यक्तिगत साधना से भी अधिक सामूहिक साधना का महत्व यहाँ माना गया है। सामूहिक साधना की परम्परा मे 'स्थविरकल्प' की अपनी परम्परा है। यह वह परम्परा है, जिसमे परस्पर के सद्भाव और सहयोग का विकास हुआ है। सेवा और समर्पण का आदर्श विकसित हुआ है। स्थविरकल्प की साधना मे सामाजिक भाव का उदय हुआ है, विकास हुआ है। परस्पर के अवलम्बन एव प्रेरणा के मार्ग पर अग्रसर होती हुई चली गई है यह साधना। 'स्थविरकल्पी' साधक उसी अवस्था मे साधना की सर्वोच्च निर्मलता प्राप्त करके कैवल्य पा सकता है। इस दृष्टि से 'जिनकल्प' से भी अधिक महत्व 'स्थविरकल्प' का माना गया है।

बात यह है कि व्यक्ति महान् है, पर उससे भी महान सघ है। व्यक्ति से समाज बडा है। राजनीति और समाज नीति मे ही नही, अध्यात्म नीति मे भी उसकी महत्ता से इन्कार नही किया गया है। यदि सघ या समाज नही है तो व्यक्ति की ज्ञान विज्ञान की उपलब्धि का कोई उपयोग नही। इसलिए सघ का व्यक्ति से भी अधिक महत्व है।

तीर्थंकर जैन परम्परा के सर्वोच्च व्यक्ति है, महा मानव है। आध्यात्मिक उपलब्धि के क्षेत्र मे उनकी साधना अनन्यतम है। उनके जीवन प्रसगो मे आप देखेंगे कि जब समवसरण लगता है, तीर्थंकर सभा मे विराजमान होते है, तब वे देशना प्रारम्भ करने से पहले तीर्थ को नमस्कार करते हैं, '**नमो तित्थस्स**' तीर्थं कहे या सघ, एक ही बात है। तो आप विचार कीजिए, कितनी बडी बात कही है जैन परम्परा ने। तीर्थंकर भी मगलाचरण के रूप मे तीर्थ को, सघ को नमस्कार करते हैं। जो सर्वज्ञ हो चुके है, अतिशय-सम्पन्न है, जिनकी साधना सिद्धि के द्वार पर पहुँच चुकी है, वे उस सघ को नमस्कार करते है, जिस सघ मे छोटे बडे सभी साधु साध्वी और श्रावक श्राविका सम्मिलित होते हैं। उस धर्म-सघ का भगवान वन्दना करते हैं।

बुद्ध के जीवन मे भी सघ की महत्ता का एक रोचक प्रसग आता है। वहाँ भी श्रमण-सघ को एक पवित्र धारा के रूप मे माना गया है। श्रावस्ती का सम्राट प्रसेनजित जब तथागत बुद्ध को वस्त्र-दान करने के लिए आता है, तो बुद्ध उससे पूछते है--'सम्राट ! तुम दान का पुण्य कम लेना चाहते हो या अधिक ?"

सम्राट ने उत्तर दिया—"भन्ते ! कोई भी कुशल व्यापारी अपने माल का अधिक से अधिक लाभ चाहेगा, कम नही चाहता, मैं भी अपने दान का अधिक से अधिक लाभ चाहता हूँ।"

सम्राट के उत्तर पर तथागत बुद्ध ने एक बहुत बडी बात कहदी—"सम्राट ! यदि अधिक से अधिक लाभ लेना चाहते हो तो तुम्हारा यह दान (वस्त्र) मुझे अर्पण नही करके सघ को अर्पण कर दो। मेरी अपेक्षा सघ को अर्पण करने मे अधिक पुण्य होगा। सघ मुझ से भी अधिक महान् है।"

सघ के महत्व को प्रदर्शित करने वाली इस प्रकार की घटनाएँ सघीय जीवन का सुन्दर दर्शन उपस्थित करती हैं। हजारो वर्ष के बाद आज भी हमारे जीवन मे सघ की महानता और गौरव-गाथा, इन सस्मरणो के आधार पर सुरक्षित है। भले ही बीच के काल मे कितनी ही राजनैतिक हलचले हुई, उथल-पुथल हुई, समाज के कई टुकड़े हो गए, सघ की शक्ति अलग-अलग खण्डो मे विभक्त हो गई, पर टुकडे-टुकडे होकर भी हम जहाँ भी रहे, सघ बनकर रहे, समूह और समाज बनकर रहे। यही हमारी सास्कृतिक परम्परा का इतिहास है। सघ की गौरव-गाथाओ ने आज भी हमारे जीवन मे सघीय जीवन का आकर्षण भर रखा है, सघीय सद्भाव को सहारा देकर टिकाए रखा है।

सगठन मे शक्ति है

●

सघ एक धारा है, एक निर्मल प्रवाह है जो इसके परिपार्श्व मे खडा रहता है, निकट मे आता है, उसे यह पवित्र धारा जीवन अर्पण करती चली जाती है। स्नेह, सद्भाव और सहयोग का जल-सिंचन कर उसकी जीवन-भूमि को हरी-भरी करके लहलहाती रहती है। जो धारा इस धारा से टूट कर दूर पड गई, वह धारा आगे चलती चलती किसी अज्ञान, अधविश्वास तथा निहित स्वार्थ के गड्ढे मे पड कर सकुचित हो गई और उसका प्रवाह खत्म हो गया, उसका जीवन समाप्त हो गया। गगा की विराट् धारा बहती है, उसमे स्वच्छता, निर्मलता और पवित्रता रहती है, किन्तु उसमे से कुछ बहता जल यदि कभी पृथक् धारा के रूप मे अलग पड जाता है और किसी गड्ढे

मे अवरुद्ध हो जाता हे, तो वह अपनी पवित्रता नही रख सकता, वह जीवनदायिनी धारा नही रह पाता किन्तु जीवननाशिनी धारा वन जाता है। वह विच्छिन्नधारा सडकर वातावरण मे सडान्द पैदा करने लग जाती है और सड़-सडकर चारो ओर मौत वाटने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। अन्तत जीवनदायी जल जीवन-घातक वन जाता है।

वृक्ष के साथ हजारो ही पत्ते रहते है, वडी-वडी शाखाएँ और छोटी-छोटी टहनियाँ लचक लचककर वृक्ष की विराटता और महानता की शोभा वढाती हैं। फल फूल उसके सौन्दर्य को द्विगुणित करते रहते हैं। हरे-हरे असख्य पत्तो से वृक्ष की काया लुभावनी लगती है। ये शाखाएँ, पत्ते, फल-फूल विराट् वृक्ष के सौन्दर्य वनकर रहते है। इसमे वृक्ष की भी सुन्दरता है और उन सवकी भी सुन्दरता एव शोभा है। फल है तो फल वनकर रह रहा है, फूल है तो फूल वनकर महक रहा है। यदि वे फल फूल वृक्ष से अलग पड जाते हैं, टूट टूटकर गिर जाते है, तो उनका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, वे सूख कर समाप्त हो जाते हैं। वृक्ष के साथ उनका जो अस्तित्व और सौन्दर्य था, वह वृक्ष से टूटने पर विलुप्त हो जाता हे।

वस्तुत जीवन मे जो प्रेम, सद्भाव और सहयोग का रस है, वही व्यक्ति के अस्तित्व का मूल है, प्राण है। जव वह रस सूखने लग जाता है तो जीवन निष्प्राण-सा ककाल वनकर रह जाता है।

यह एक निश्चित तथ्य है कि जीवन की समस्याएँ व्यक्ति अकेला रहकर हल नही कर सकता, उसे समूह या सघ के साथ रहकर ही जीवन को सक्रिय और सजीव रखना होता है।

सगठन गणित की एक इकाई है। आपने गणित का अभ्यास तो किया ही हे। वताइये, एक का अक ऊपर लिखकर उसके नीचे फिर एक का अक लिख दिया गया हो, ऊपर नीचे एक-एक वैठा हो तो दोनो का योग करने पर क्या आयेगा ?-१ + १ = २ एक-एक दो ! और एक को एक से गुणा करने पर भी १ × १=२ दो ही रहेगा। और दोनो एक आमने सामने भी है, वहुत निकट भी है किन्तु निकट होते हुए भी यदि उनके वीच मे अन्तर है, उन्हे अलग-अलग रखने वाला एक चिह्न वीच मे है, जव तक यह चिह्न है तव तक सख्या निर्धारण करते समय १ + १=२ दो ही कहे जाएँगे। अव यदि उनके वीच से चिह्न हटाकर उन्हे अगल वगल मे पास-पास रख दिया जाए तो एक

और एक मिलकर ग्यारह हो जाएँगे। एक-एक ऊपर नीचे या दूर-दूर रहने पर दो से आगे नही बढ सके, एक-एक ही रहते हैं। पर एक-एक यदि समान पक्ति में बिना कोई चिह्न बीच मे लगाए, पास-पास अकित कर दिये गए, तो वे ग्यारह हो गए।

जीवन मे गणित का यह सिद्धान्त लागू कीजिए। परिवार हो, समाज हो, धर्मसघ हो अथवा राष्ट्र हो, समस्याएँ सब जगह हैं। सर्वत्र मनुष्य मे कुछ न कुछ मानवीय दुर्बलताएँ रहती है। हम दुर्बलता को बढावा नही देते हैं, उन्हे दूर करना चाहते हैं, समस्याओ का समाधान करना चाहते हैं। परन्तु समाधान कैसे हो? इसके लिए एक दूसरे से घृणा अपेक्षित नही है, शोरगुल करने से या सगठन को विच्छिन्न करने की घोषणाएँ करने से, दल परिवर्तन से समस्याओ का समाधान नही हो सकता। उसके लिए सद्भाव चाहिए, सहिष्णुता और धैर्य चाहिए। मानव कही पर भी हो, वह अपने लिए कुछ सद्भाव चाहता है और कुछ समभाव (समान भाव) भी। सहयोग भी चाहता है और अपने स्वाभिमान की रक्षा भी। जब एक चीज के लिए दूसरी का बलिदान करने का प्रसग आता है तो समस्या खडी हो जाती है। उलझने और द्वन्द्व पैदा हो जाते हैं। उस समय मे हमे मानव मन की अन्त स्थिति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि एक-एक को अगल-बगल में अर्थात् समान पक्ति मे बैठा कर उसका बल बढाना है अथवा ऊपर नीचे या दूर-दूर रखकर उसे वैसे ही रखना है। सगठन, समाज और सघ की जो मर्यादा है, वह व्यक्ति को समान स्तर पर रखने की प्रक्रिया है। सब के हित और सब के सुख की समान भाव से रक्षा और अभिवृद्धि करना, यह समाज और सघ का प्रमुख उद्देश्य है। इसलिए भारतीय सस्कृति का अन्तर्नाद यही है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को सघ मे विलीन करदे और इस सघीय भावना मे प्रत्येक व्यक्ति को अपने समान समझे। अपने व्यक्तिगत हित, साधना, सुख और स्वार्थ को सघ या समाज के हित, साधना, सुख और स्वार्थ की दृष्टि से देखे। अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाए, विराट बनाए। इसी मे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास है। और सघीय जीवन की हजारो वर्ष पुरानी परम्परा का उत्कर्ष है।

२६-११-६४
जयपुर (बापूनगर)

मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व का विश्लेषण करने वाला विचारमूलक नव चिन्तन ! उद्बोधक प्रवचन....!

मनुष्य का मूल रूप

उपाध्याय अमर मुनि

दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र के सामने चिरकाल से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न खडा है, जिस पर अनेक चर्चाएँ हुई है, चिन्तन हुआ है। प्रत्येक परम्परा के धर्माचार्य और प्रत्येक धर्म गुरू इस प्रश्न की गहराई मे उतरते रहे हैं।

प्रश्न है, मनुष्य क्या है? हम, तुम सब कोई क्या हैं? मनुष्य का मूल स्वरूप क्या है? मूलत वह अच्छा है या बुरा है? अपने आप मे उसकी क्या स्थिति है? वह अधकार का पुज है, या प्रकाश की कोई किरण है? जहर का कोई नरक कुण्ड है या अमृत का दिव्य झरना है?

प्रश्न कुछ विकट है। मनुष्य के स्वरूप को जब हम पैनी निगाह से देखते हैं तो उसके दो स्वरूप हमारे सामने आते हैं। हम देखते हैं कि कुछ मनुष्य, नरक के कीड़े हाते है। वासना का दावानल उनके हृदय गह्वर मे सुलगता रहता है। क्षुद्र स्वार्थों की बेडियो मे बँधे रहते हैं। एक ईंट के लिए दूसरो का महल गिराने को तैयार रहते हैं। दूसरो की झोपडी जलाकर हाथ सेकने मे प्रसन्न होते हैं। हर किसी के कष्ट, दु:ख और भूल पर हँसते हैं। दूसरो की मौत से मनोरजन करते रहते हैं।

दूसरी और ऐसे भी मनुष्य है, जिनके हृदय मे प्रेम के झरने बहते रहते हैं। दीन दुखी को देखकर जिनका हृदय करुणा से छलछला उठता हे। त्याग और समर्पण की उच्च भावनाएँ उनके हृदय मे

अगडाइयाँ भरती रहती है। वे दूसरो के सुख एव कल्याण के लिए अपने को समर्पित करने के लिए प्रतिक्षण तैयार रहते हैं।

मनुष्य मूल मे पशु नही है

●

मनुष्य के ये दो रूप है। उसके जीवन के दो पहलू है। अनन्त काल से मनुष्य के ये दोनो रूप ससार मे प्रकट होते रहे है। जिस वश और परिवार मे दुर्योधन पैदा होता है, उसी मे युधिष्ठिर भी जन्म लेता है। जहाँ एक ओर दु.शासन खडा होता है, तो दूसरी ओर अर्जुन भी। इसी इन्सानी चोले मे राम भी आते हैं और रावण भी। कृष्ण भी आते हैं और कस भी। प्रश्न यह है कि मनुष्य का शुद्ध रूप कौन-सा है? दुर्योधन का या युधिष्ठिर का?

प्रश्न की गहराई मे चलिए। मनुष्य का रूप समझने का प्रयत्न कीजिए कि यह क्या है? मनुष्य एक ज्योतिर्मय आत्मा है, प्रकाश की एक किरण है। और वह एक ऐसी किरण है, जिसमे अनन्त प्रकाश का पुञ्ज छिपा है। नर से नारायण और जन से जिन बनने का अस्तित्त्व झाक रहा है। एक क्षीण रेखा-सी प्रतीत होने वाली धारा मे गगा का निर्मल स्रोत ठाठे मार रहा है।

पूर्व और पश्चिम का चिन्तन यहाँ टकरा जाता है। पश्चिम का दर्शन कहता है—मनुष्य मूल मे एक पशु है, जानवर है। पशु से विकास करते-करते वह मनुष्य बन गया है। बन्दर की पूँछ घिसते घिसते आदमी की शक्ल बन गई है। एक शायर ने इस पर चुटकी लेते हुए कहा है—

> **नई तहजीब को क्या वास्ता है आदमीयत से?**
> **जनाबे डार्विन को हजरते-आदम से क्या मतलब?**

डार्विन जैसे विकासवादियो का मत है कि मनुष्य विकास करते करते पशु से मनुष्य तो बन गया है, पर उसका पशुत्व अभी समाप्त नही हुआ है। आकृति बदल जाने पर भी उसकी मूल प्रकृति नही बदली है। वह क्रूर पशुत्व अब भी उसके मन के अन्तराल मे करवटे ले रहा है। मन के विकार और दोष इस प्रकार मचल रही हैं कि बार-बार पुरानी सुप्त पशुता जागृत हो उठती है। इन्सानी चोले मे भी

एक प्रेरणाप्रद ऐतिहासिक कहानी

उपाध्याय अमरमुनि

चादर बदल गई

कालिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र पाटण का आर विहार करते हुए एक बार पास के एक छोटे से गाँव मे ठहरे। वहाँ एक गरीब घर की विधवा महिला आचार्य के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखती थी। उसने अपने हाथ से सूत काट कर एक चादर बनाई थी। आचार्य पधारे तो उसने वह चादर ग्रहण करने के लिए बार-बार प्रार्थना की। उसकी श्रद्धा और भक्ति से आचार्य का हृदय गद्गद् हो रहा था, किन्तु साथ ही उसकी गरीब स्थिति का विचार करके चादर लेने मे सकोच भी कर रहे थे।

श्राविका ने एक दिन निवेदन किया—"गुरूदेव ! क्या मेरी श्रद्धा मे कुछ कमी है ? सचाई नहीं हैं ?"

"यह क्या कहती हो बहन ?"—आचार्य ने साश्चर्य पूछा।

"तो आप मेरी यह चादर क्यो नही ग्रहण कर रहे है ? मैं गरीब हूँ, तो क्या इस चादर के प्रत्येक धागे मे मेरी आत्मा की अनन्त श्रद्धा सँजोई हुई नही है ? आप इसे लेंगे, तभी मेरा हृदय प्रसन्न होगा; अन्यथा मैं समझूँगी, धन से ही नही, गुरू-कृपा से भी मैं दरिद्र हूँ।" श्राविका ने भक्ति विभोर हो कर कहा।

आचार्य ने उसकी श्रद्धा को सहर्ष स्वीकार किया। चादर ग्रहण करके स्वय ओढी और वही चादर ओढे एक दिन पाटण मे प्रवेश कर रहे थे।

महाराज कुमारपाल, वड़े उत्साह के साथ आचार्य श्री की नगर-प्रवेश-महोत्सव की व्यवस्था मे सलग्न थे। आचार्य के शरीर पर जब

यह खद्दर की मोटी, खुरदरी और मोटे सूत की चादर देखी, तो निवेदन किया—"गुरू देव! आपके शरीर पर यह खद्दर की भद्दी चादर शोभा नही देती, कृपया दूसरी सुन्दर रेशमी चादर ग्रहण कीजिए ?"

आचार्य ने पूछा—"क्यो इसमे क्या बुराई है? हम साधुओ के लिए तो जो श्रद्धा और प्रेम से अर्पित है, वही सबसे सुन्दर है।"

कुमारपाल ने कहा—"नही, यह सुन्दर नही है, कैसी मोटी और भद्दी है? इसे देख कर मुझे सकोच हो रहा है! कुमारपाल के गुरू और यह चादर ?"

"भूपाल! तुम्हे यह चादर देखकर सकोच अनुभव हो रहा है? पर यह देख कर कभी सकोच नही हुआ कि तुम्हारे जैसे प्रजा—प्रिय राजा के राज्य मे भी कितनी दीन असहाय विधवा नारियाँ किस प्रकार गरीबी की आग मे तिल तिल-जल रही है? सकोच और शर्म की चीज चादर नही, यह है। तुमने उनके लिए भी कभी कुछ सोचा ?" आचार्य गम्भीरता पूर्वक कुमारपाल की मुख-मुद्रा को पढ रहे थे।

सम्राट के अन्तःकरण मे हलचल मच उठा। "गुरू देव! आपने झकझोर कर मेरी गाढ तन्द्रा भङ्ग कर दी। मैं आज ही उन गरीब विधवा बहनो के लिए राज्य सहायता का उचित प्रबन्ध करूँगा।"

आचार्य के नगर-प्रवेश उत्सव के अवसर पर ही सम्राट ने राज कोष से—गरीब विधवा महिलाओ के सहयोग के लिए प्रतिवर्ष कई करोड रुपया खर्च करने के सम्बन्ध मे एक महत्वपूर्ण घोषणा की।

आचार्य हेमचन्द्र के एक दिशा-निर्देश पर एक चादर नही, किंतु जनता की गरीबी की सैकड़ो-हजारो फटी चादरे बदल गयी।

मनुष्य के आन्तरिक व्यक्तित्व का विश्लेषण करने वाला विचारमूलक नव चिन्तन ! उद्‌बोधक प्रवचन....!

मनुष्य का मूल रूप

उपाध्याय अमर मुनि

दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र के सामने चिरकाल से एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न खडा है, जिस पर अनेक चर्चाएँ हुई है, चिन्तन हुआ है। प्रत्येक परम्परा के धर्माचार्य और प्रत्येक धर्म गुरू इस प्रश्न की गहराई मे उतरते रहे हैं।

प्रश्न है, मनुष्य क्या है ? हम, तुम सब कोई क्या हैं ? मनुष्य का मूल स्वरूप क्या है ? मूलत. वह अच्छा है या बुरा है ? अपने आप मे उसकी क्या स्थिति है ? वह अधकार का पुज है, या प्रकाश की कोई किरण है ? जहर का कोई नरक कुण्ड है या अमृत का दिव्य झरना है ?

प्रश्न कुछ विकट है। मनुष्य के स्वरूप को जब हम पैनी निगाह से देखते हैं तो उसके दो स्वरूप हमारे सामने आते हैं। हम देखते हैं कि कुछ मनुष्य, नरक के कीडे होते है। वासना का दावानल उनके हृदय गह्वर मे सुलगता रहता है। क्षुद्र स्वार्थों की बेडियो मे वँधे रहते हैं। एक ईंट के लिए दूसरो का महल गिराने को तैयार रहते हैं। दूसरो की झोपडी जलाकर हाथ सेंकने मे प्रसन्न होते हैं। हर किसी के कष्ट, दु ख और भूल पर हँसते हैं। दूसरो की मौत से मनोरजन करते रहते हैं।

दूसरी और ऐसे भी मनुष्य हैं, जिनके हृदय मे प्रेम के झरने वहते रहते हैं। दीन दुखी को देखकर जिनका हृदय करुणा से छलछला उठता है। त्याग और समर्पण की उच्च भावनाएँ उनके हृदय मे

अगडाइयाँ भरती रहती हैं। वे दूसरो के सुख एव कल्याण के लिए अपने को समर्पित करने के लिए प्रतिक्षण तैयार रहते हैं।

मनुष्य मूल में पशु नही है

•

मनुष्य के ये दो रूप हैं। उसके जीवन के दो पहलू हैं। अनन्त काल से मनुष्य के ये दोनो रूप ससार मे प्रकट होते रहे है। जिस वश और परिवार मे दुर्योधन पैदा होता है, उसी मे युधिष्ठिर भी जन्म लेता है। जहाँ एक ओर दु.शासन खडा होता है, तो दूसरी ओर अर्जुन भी। इसी इन्सानी चोले मे राम भी आते हैं और रावण भी। कृष्ण भी आते हैं और कस भी। प्रश्न यह है कि मनुष्य का शुद्ध रूप कौन-सा है? दुर्योधन का या युधिष्ठिर का ?

प्रश्न की गहराई मे चलिए। मनुष्य का रूप समझने का प्रयत्न कीजिए कि यह क्या है? मनुष्य एक ज्योर्तिर्मय आत्मा है, प्रकाश की एक किरण है। और वह एक ऐसी किरण है, जिसमे अनन्त प्रकाश का पुञ्ज छिपा है। नर से नारायण और जन से जिन बनने का अस्तित्त्व झाक रहा है। एक क्षीण रेखा-सी प्रतीत होने वाली धारा मे गगा का निर्मल स्रोत ठाठे मार रहा है।

पूर्व और पश्चिम का चिन्तन यहाँ टकरा जाता है। पश्चिम का दर्शन कहता है—मनुष्य मूल मे एक पशु है, जानवर है। पशु से विकास करते-करते वह मनुष्य बन गया है। बन्दर की पूँछ घिसते घिसते आदमी की शक्ल बन गई है। एक शायर ने इस पर चुटकी लेते हुए कहा है—

> **नई तहजीब को क्या वास्ता है आदमीयत से ?**
> **जनाबे डार्विन को हजरते-आदम से क्या मतलब ?**

डार्विन जैसे विकासवादियो का मत है कि मनुष्य विकास करते करते पशु से मनुष्य तो बन गया है, पर उसका पशुत्व अभी समाप्त नही हुआ है। आकृति बदल जाने पर भी उसकी मूल प्रकृति नही बदली है। वह क्रूर पशुत्व अब भी उसके मन के अन्तराल मे करवटे ले रहा है। मन के विकार और दोष इस प्रकार मचल रही हैं कि बार-बार पुरानी सुप्त पशुता जागृत हो उठती है। इन्सानी चोले मे भी

वह जानवर की तरह ही-ही हू-हू करता रहता है और उसका यह पशुत्व सदाकाल स्थायी रहता है।

भारतीय चिन्तन इस वात को स्वीकार नही करता। वह वहुत प्राचीन काल से कहता आया है कि मनुष्य मे जो विकार और पशुता के दर्शन होते है, वह स्वभाव नही, विभाव हैं। आये हुए दोष हैं, वे स्वाभाविक नही है। जल मे गरमी है, क्योकि वह आग से गर्म हो गया है, यह गरमी वास्तविक नही, आयातित है। मूलत जल शीतल है, उसके कण-कण मे शीतलता लहरा रही है।

भारतीय दर्शन की यह मूल स्थापना है कि मनुष्य मूलत. पशु नही है, मानव है। इतना ही नही, वह महामानव है, ईश्वर है, परमात्मा है।

ऋग्वेद का एक ऋषि तो जीवन की इस सहज सिद्ध महानता का उद्घोप करता हुआ कहता है—"अहमस्मि महामहोऽभिनभ्यमुदीषितः" मै अन्तरिक्ष मे उदय होने वाला सूर्य हूँ, मैं महान् से भी महान् हूँ। मनुष्य मे जो पशुता है वह स्वभावजन्य नही, ससर्गजन्य है। इन्सान मे जो हैवानियत है, वह वाहर की विकृति से आई हुई है। मूलत वह मानव है, मानवीय रूप ही उसका वास्तविक रूप है। घृणा, द्वेप, प्रतिहिंसा, वासना ये सव दोष वाहर से उसके अन्दर घुस आये हैं। घर का मालिक जव सो जाता है, तो चोर उचक्के अवसर देखकर घर मे घुस आते हैं। कुत्ते, विल्लियाँ भी आ धमकते है। सीमा के पहरेदारो को लापरवाह देखकर घुसपैठिये तोड-फोड के लिए राष्ट्र के अन्दर आते रहते है। मतलव कि विकार वाहरी चीज है, वे एक प्रकार के घुसपैठिये हैं चैतन्य राष्ट्र के।

मूलतः प्रत्येक आत्मा के भीतर परमात्मा की एक निर्मल ज्योति है। हर रावण मे राम का रम्य रूप छिपा हुआ है। राम मे उसका रामत्व जागृत है, जव कि रावण मे वह सोया हुआ है। राम जव सो जाता है, तो रावण घुस आता है। हम मनुष्य को आज पतन की ठोकरें खाते देख रहे हैं, यह क्या है? अन्दर का राम सो गया है, इसीलिए वह भटक रहा है, लडखडा रहा है। रत्नाकर डाकू का 'राम' जव जागृत हुआ तो वह विश्व का आदि कवि वाल्मीकि वन गया।

क्रूर अर्जुन माली का राम भी जब जागृत होता है तो वह अहिंसा का देवता बन जाता है। आवश्यकता सिर्फ यह है कि मनुष्य, जो पशुता व जडता से घिर गया है, विकारो के 'घेराव' मे आ गया है, उसे 'घेराव' को तोडने की प्रेरणा दी जाय और उसके मूल स्वरूप को विकसित होने का अवसर दिया जाय।

मनुष्यता जागृत करिए

●

मनुष्य एक बहुत बडी हस्ती है। वह आसमान की ऊँचाई को भी छू सकता है और पाताल की गहराई को भी नाप सकता है। शक्ति का अक्षय भडार अवश्य उसके भीतर छिपा है, पर उस गुप्त कोष को समझने वाला भी तो होना चाहिए। जब तक मनुष्य पशुता की विकृत छाया मे चल रहा है, तब तक वह पशु ही है और क्या ? जब तक उसका सुप्त मनुष्यत्व जागृत नही होता, तब तक उसके भीतर की शक्तियाँ निर्माणकारी नही हो सकती। उसके अपने अनन्त-दिव्य स्वरूप की सिद्धि और उपलब्धि नही हो सकती।

एक सत थे, कोई भी सत्सगी उनके पास आता तो उसे आशीर्वाद दिया करते—"भगवान करे तुम मनुष्य बनो।" एक सत्सगी रोज आता जाता रहता। आते भी और जाते भी सत उसे यही एक आशीर्वाद देते। एक दिन उस सत्सगी का कोई मित्र भी उसके साथ आया, सन्त को नमस्कार किया, तो सन्त ने आशीर्वाद दिया, "भगवान करे तुम मनुष्य बनो।"

मित्र ने सुना तो उसे यह आशीर्वाद बडा ऊटपटाग लगा। सत के सामने तो सिर्फ हँसकर रह गया। बाहर आकर बोला—"यह क्या गुरु किये हैं ? यह भी कोई आशीर्वाद है ? मनुष्य तो हम हैं ही, इसमें आशीर्वाद की कौन-सी जरूरत है ? आशीर्वाद तो अब सुखी एवं समृद्ध होने के लिए देना चाहिए।"

दूसरे दिन वह फिर आया, आज सत से बहस करने की तैयारी करके आया था। पहलवान जैसे अखाड़े मे उतरता है कुश्ती करने के लिए, वह भी सत से तर्क वितर्क की पहलवानी करने का विचार कर रहा था। सत को नमस्कार किया तो सत ने सदा की भाँति

सहज ढग से अपना वही आशीर्वाद दिया—"भगवान करे तुम मनुष्य बनो।"

वह बोला—"महाराज! यह कोई आशीर्वाद है? मनुष्य तो हम हैं ही, इसमे कौन-सी नई उपलब्धि और क्या नया आशीर्वाद है? इससे आगे बढने की कोई बात कहते, देवता होने का आर्शीवाद देते तो कोई बात थी? मनुष्य होने मे अब क्या बाकी रहा है?"

सत मुस्करा उठे, बोले—"हाॅ भाई! तुम एक हिस्से से तो आदमी बन गये हो, पर अभी दूसरा हिस्सा बाकी है। पूर्व जन्म मे कुछ साधना की होगी, इससे मनुष्य का तन तुम्हे मिल गया है, किन्तु अब प्रयत्न और साधना करके मन को मनुष्य बनाओगे, तभी पूरे आदमी बन सकोगे। शरीर आदमी का और मनु पशु का, यह कोई सच्चा मनुष्य का रूप है? कभी क्रोध मे आकर कुत्तो की तरह भोकने लग जाते हो, तो कभी मारे भय के गीदड़ की तरह दुबकते फिरते हो। कभी अहंकार मे फूलकर बकरे की तरह "मैं-मै" चिल्लाते हो तो कभी सामने शत्रु को देखकर भीगी बिल्ली बन जाते हो। कभी चीटियो की तरह धन इकट्ठा करने के लिए दम रोके रेगते जा रहे हो, तो कभी सर्प की तरह उस धन पर फन फैलाकर बैठ जाते हो। क्या यह मनुष्य का अपना निज स्वभाव है? क्या वस्तुत मनुष्य का मन ऐसा ही होता है? नही, यह सब मनुष्यत्व नही है, इसीलिए मैं कहता हूँ कि मनुष्य बनो। तन से मनुष्य बनना खास बात नही है, मन से मनुष्य होना ही सच्ची मनुष्यता है। तन से आगे मन है और मन से आगे है आत्मा। जब तक आत्मा के पवित्र-केन्द्र तक नही पहुँचा जाता, तब तक अन्दर की मनुष्यता पूर्ण रूपेण जागृत नही होती। स्वभाव के ऊपर जो विकार की धूल जम गई है उसे साफ करो। जिनके कारण मारी मनुष्यता का तेज लुप्त हो रहा है और पशुता जीवन पर छा रही है उन विकारो को हटाने से ही पशुता का यह क्रूर पजा हमारे मन पर से हटेगा और मन की मनुष्यता अगडाई भर कर उठेगी।"

कभी कभी सोचता हूँ शास्त्रो मे मनुष्य जन्म की जो महिमा गाई गई है वह क्या इसी मृणमय मनुष्य देह की महिमा है? हाड, मास,

चमडी के इस पिंड को ही देव-दुर्लभ और गुह्य-ब्रह्म तत्त्व बताया है? महर्षि व्यास ने एक दिन कहा था—

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि, नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्"

अर्थात् मैं तुम्हे एक गुह्य-ब्रह्म तत्त्व की बात कहता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ भी नही है, तो यह उन्होने किसलिए कहा था? भगवान महावीर ने जब अपने अन्तिम उपदेश मे जीवन की साधना का निचोड बताते हुए कहा था कि "माणुस्सं खु सुदुल्लहं" मनुष्यत्व बड़ा दुर्लभ है, तो क्या वह मनुष्य के जन्म के लिए कहा था या जीवन के लिए? जन्म तो अनन्त काल मे कितनी ही बार मनुष्य का हो चुका है। पर जब तक जीवन मनुष्य की तरह नही जिया जाता है, तब तक वह मनुष्य का जन्म और जीवन कोई माने नही रखता। मनुष्य का जन्म मिल जाना, नर देह का मिल जाना कोई बडी बात नही है, किन्तु जब तक जीवन नही मिला अर्थात् मनुष्य की तरह जीने का तरीका नही मिला, मनुष्य का हृदय जागृत नही हुआ, तब तक यह यात्रा, यात्रा नही, एक भटकन मात्र है। वह भटकन कि चलते-चलते चूर हो गए, पर, मंजिल नही मिली--ठोकरो पर ठोकरें खाते रहे, पर, प्रकाश के दर्शन नही हुए।

मनुष्य का जीवन एक यात्रा है। अनन्त काल से यह यात्रा चल रही है, पर, इस यात्री की एक दुर्बलता है कि वह कष्टो से घबराता है, संघर्षों से कतराता है। चलते चलते जब किसी ऊँचाई पर पहुँचने का अवसर आता है तो उसके पैर ठिठक जाते हैं, मंजिल जब सामने आ पहुँचती है, तो वह श्रम से चूर होकर बैठ जाता है और सोचने लगता है कि अभी तक मंजिल नही आई। अरे जाने दो, अब नही चला जाता और कहने लगता है कि मंजिल-वंजिल कुछ नही है। यह सब गडबड झाला है, अंधेरे मे चलना है। किनारे पर आकर उसके मन का साहस समाप्त हो जाता है, विश्वास पिघल जाता है। इस यात्री का कैसा दुर्भाग्य रहा है कि वह बहुत बार किनारे पर पहुँच कर भी लौट आया है।

कुछ साधक ऐसे हैं जो थोडे दिन साधना करते है और जब कुछ प्रतिफल सामने दिखलाई नही पडता, तो उकताकर कह उठते हैं—"जाने

दो ! साधना से कुछ नही होने का।" साधना मे यह आतुरता और अनास्था का भाव मनुष्य के पावो को मन-मन भर के कर देता है। फिर पॉव उठ नही सकते, लडखडा जाते हैं। 'जाने दो' का नाद उसकी अनास्था और दुर्बलता को व्यक्त करता है। यात्री को मार्ग से भटका देता है।

साधना तो पहाड की चढाई है। इसमे बड़े साहस और धैर्य की जरूरत है। चढते-चढते हॉफ जाते हैं, दम भर जाता है, पैर चूर-चूर हो जाते हैं, फिर भी 'वढते चलो, वढते चलो' यही एक ध्वनि कानो मे टकराती रहे, और साधक अपने तन मन का सम्पूर्ण साहस वटोर कर वस वढता चले, आगे और आगे वढता चले। भले ही मार्ग मे कही कुछ विश्रान्ति ले ले, थकावट उतार ले, पर लक्ष्य आगे चढने का रहे, वढते रहने का रहे, तव तो शिखर की सवसे ऊँची चढाई मे वह सफल हो सकता है। किन्तु यदि साहस टूट गया और थककर मार्ग मे ही कह दिया कि—"वस, जाने दो। अव नही चढा जाता, लौट चलो," तो पर्वत की अभीष्ट चोटी को नही छुआ जा मकता। साधना के उच्चतम शिखर पर पहुँचने के लिए, सघर्षों और कष्टो से जूझना होगा। वाधाओ से टकराना होगा। मन के साहस को, जीवट को जीवित रखकर आगे बढते चले जाना होगा। चलते-चलते शिखर नही आया तो हारने की जरूरत नही, थोडा और साहस बटोर कर आगे वढो, सभव है, अगली चढाई मे ही शिखर दिखाई पड जाये। चरैवेति चरैवेति—चलते जाओ, चलते जाओ, चलते जाओ। चरन्वै मधु विन्दति—चलने वाला आखिर एक दिन मधु अवश्य पा लेगा। चलते-चलते ठोकरे खा रहे हो, ज्योति अभी तक नही मिली तो धैर्य खोने की जरूरत नही। थोड़े और चलो, सभव है तुम्हारे दो-चार कदमो पर ही प्रकाश की पहली किरण खडी मुस्करा रही हो। जीवन तो यात्रा है, चलते रहना इसका व्रत है। चलने वाले को मजिल मिलेगी, खोजने वाले को प्रकाश मिलेगा, बस जरूरत है—धैर्य और साहस की।

अमेरिका की एक घटना है। दो मित्र हीरो की तलाश मे हीरो वाली पहाडियो पर घूम रहे थे। पत्थर उठाया, डाल दिया, फिर उठाया, फिर डाल दिया। हजारो ही पत्थर उठा उठाकर देखते

गये, डालते गये, हीरा नही मिला। कई सप्ताह बीत गये, घूमते-घूमते पैरो मे पानी भर गया, पत्थर उठाते-उठाते हाथो मे छाले पड गए। एक साथी हैरान हो गया, बोला—"भाई, जाने भी दो, किस पचड़े मे पड गये? कहाँ है यहाँ हीरा! चलो, वापिस लौट चलो। इतने दिन यूँ ही परेशान हुए।"

दूसरे साथी ने कहा—"मित्र! साहस बटोर कर दो कदम और चलो। इतना परिश्रम किया है तो इसे व्यर्थ न जाने दो। बस, पहाडी (के भाग) को और देख ले, हो सकता है अब अपनी मेहनत का फ़ैसला होने की घडी आ गई हो, भाग्य का द्वार खुलने की प्रतीक्षा कर रहा हो, चलो कुछ आगे और चलो।"

पहला मित्र तो हिम्मत हार चुका था, फिर भी साथी के ज्यादा कहने से लडखडाता कदम बढाने लगा। दोनो फिर पत्थर उठा-उठाकर खोजने लगे। पहला मित्र बोला—"भाई! मेरे से अब पत्थर नही उठाया जाता, हजारो पत्थर उठाने पर भी कुछ नही मिला, तो अब दो-चार पत्थरो मे क्या मिलेगा?"

दूसरा साथी अब भी अविचलित था। उसने आगे कदम बढा-कर ज्यो ही पहला पत्थर उठाया कि चमचमाता हीरा मिल गया। नाच उठा वह, "देख यही पत्थर अपने भाग्य की इन्तजार कर रहा था।" हीरा लेकर लौट आये, वह हीरा अमरीका के एक धन कुबेर ने, कहते हैं, दो लाख डालर मे खरीदा!

कर्म और धर्म का समन्वय

●

यही स्थिति आज हमारे जीवन मे बन रही है। साधना के मार्ग पर बढते-बढते थक जाते हैं, तो कहते हैं साधना ही कुछ नही, इससे कुछ होना जाना नही, व्यर्थ की झझट है, भ्रम है। सत्कर्म करते हैं, और देखते हैं—अभी उसका फल नही मिला तो बस कह उठते हैं कि इसमे कुछ नही धरा है। इन्सान प्रयत्न करते-करते बहुत जल्दी अघा जाता है, थोड़े से श्रम मे ही धैर्य छोड देता है और जो मजिल अब तक तय की है, उससे भी लौट जाता है। बहुत बार ऐसा होता है कि हजारो पत्थर उठाने के बाद सिर्फ एक पत्थर उठाना बाकी रहता

है, वही आखिरी पत्थर जिसमे हीरा छिपा है, किन्तु मनुष्य वहाँ पहुँच कर अधीर होकर उसे छोड देता है, यह सोचकर कि हजारों पत्थर उठाने से हीरा नही मिला तो अब एक पत्थर उठाने से क्या मिलेगा ? दुर्भाग्य से वह यह नही सोच पाता कि क्या पता, यही वह आखिरी पत्थर हो, यही तुम्हारे भाग्य का निर्णायक हो । और यही तुम्हारी यात्रा का अन्तिम किनारा हो ।

मनुष्य के अन्दर मे ही वह हीरा छिपा है । वह ज्योति जल रही है । वही पर देवत्त्व करवटे ले रहा है । किन्तु वह यो ही तो नही मिल जायेगा, प्रयत्न तो करना ही होगा । साधना के विना सिद्धि आज तक किसी को नही मिली, प्रयत्न के बिना सफलता आज तक कोई प्राप्त नही कर सका । भगवान महावीर मे जो देवत्व जगा, ज्योति जगी, उसके लिए उन्हे भी बारह वर्ष छह महीने तक साधना करनी पडी । वे भी हमारे जैसे ही एक मनुष्य थे, दो हाथ और दो पैर वाले । पर, जब साधना के मार्ग मे चले तो हिमाचल की तरह अचल होकर डट गए । एक नही, अनेक सकट आये, पर तनिक भी घवराये नही । तूफान आये और निकल गये । भूकम्प के एक से एक विकट झटको मे भी उन्होने अपने आपको सभाले रखा । चलते रहे, चलते रहे और एक दिन बधनमुक्ति का वह दिव्य लक्ष्य मिल ही गया, महाप्रकाश पा ही लिया । और अन्दर का वह देवत्त्व जग उठा कि नर से नारायण हो गये, जन से जिन हो गए, भगवान हो गए ।

प्रयत्न और पुरुषार्थ की बात सिर्फ अध्यात्म के क्षेत्र मे ही लागू नही होती, यह तो जीवन के हर क्षेत्र का 'जीवन मन्त्र' है । धर्म के क्षेत्र मे भी और कर्म के क्षेत्र मे भी पुरुषार्थ और प्रयत्न तो पहला पाठ है ।

वात यह हो गई है कि लोगो ने धर्म और कर्म को दो भिन्न-भिन्न वाते समझली हैं । लेकिन यह निरा भ्रम है । भारतीय चिन्तन कहता है कि धर्म का कर्म के साथ कोई वैर नही है और न कर्म का धर्म के साथ कोई झगडा है । दोनो साथ-साथ रहते आये है, और साथ रहने चाहिएँ । जव तक धर्म और कर्म का वटवारा चलता रहेगा, तव तक धर्म मे सक्रियता नही आयेगी और कर्म मे निर्मलता नही रह सकेगी । विना कर्म के धर्म लूला है, निश्चेतन है । कर्म उसमे

प्राण डाल देता है। और धर्म के विना कर्म-पवित्र नही रहता, मलिन हो जाता है, गन्दगी और कूड़े-कचरे की टोकरी हो जाता है। इसलिए मैं कह रहा था कि जीवन मे कर्म और धर्म का समन्वय होना चाहिए।

जीवन मे मनुष्य कर्म तो करता ही हैं, कर्म किए बिना एक क्षण भी रह नही सकता। किन्तु प्रश्न यह है कि उस कर्म को धर्म से अनुप्राणित करके किया जाय। धर्म के साथ जोड दिया जाय। शुष्क तत्त्वज्ञान और कोरा वैराग्य ही धर्म नही है, भक्ति, पूजा और तिलक छापे आदि ही सिर्फ धर्म नही है,धर्म का अर्थ है–शुद्ध कर्म। सेवा और करुणा, प्रेम और परोपकार धर्म की देह है। जैसे बिना देह के आत्मा को नही पहचाना जाता, वैसे ही बिना कर्म के धर्म का दर्शन नही हो सकता।

अनर्थ मे से अर्थ

●

आचार्य शकर ने कहा है—**अर्थमनर्थं भावय नित्यं**—अर्थ को अनर्थ समझो। मैं सोचता हूँ अर्थ को अनर्थ समझकर साधक को भागने की जरूरत नही है। उस अनर्थ को ही अर्थ (सार्थक-सफल) बनाने की आवश्यकता हैं। साधना तो वही हैं, जो जहर को मारकर उसे भी अमृत बना दे। जो डूबने की चीज है, उसे भी तैरने का साधन बना लेना–यही तो धर्म कर्म का समन्वय है। धन का सदुपयोग मे, सत्कर्म मे जो व्यय करता है, वह उससे अनर्थ पैदा नही करता, बल्कि अनर्थ मे से भी अर्थ निकाल लेता है। धर्म यही तो करता है कि जो कर्म अशुद्ध है, अपवित्र है, वह उसे निर्मल, पवित्र और मगल-कारी बना देता है। इसलिए जीवन मे धर्म और कर्म साथ-साथ चलने चाहिएँ। गीता मे श्री कृष्ण ने कहा है—

> **"यत्र योगेश्वर कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।**
> **तत्र श्री विजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मति मंम॥**

जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण है, वही धनुर्धर अर्जुन है। मैं पूछता हूँ यह योगेश्वर श्री कृष्ण कौन है, और कौन है अर्जुन ? यदि यह एक ही कृष्ण और एक ही अर्जुन की बात होती तो उसका ससार के लिए कोई महत्त्व नही होता, किन्तु यहाँ अर्जुन और कृष्ण का एक शाश्वत रूप है।

कृष्ण एक प्रेरक शक्ति है, ज्योति है, जो मार्ग को आलोकित कर रही है, मन पर छाया हुआ मोह और अज्ञान का कुहरा मिटाकर, चिन्तन को स्वच्छ और प्रकाशमान करती है। वह भगवत् शक्ति है, सत्य, दया और करुणा का एक अनन्तस्रोत है, जीवन का दिव्य अजर-अमर सन्देश है, और कौन है धनुष्य उठाने वाला धनुर्धर अर्जुन? अर्जुन कर्मशक्ति का प्रतीक है। आत्मा का प्रयत्न, पुरुषार्थ बोल रहा है अर्जुन के प्रतीक मे। वह एक भक्त-शक्ति है, जो भगवत्-शक्ति से सन्देश लेती है और तदनुसार प्रयत्नशील हो जाती है।

जब भगवत्-शक्ति और भक्त-शक्ति का योग मिल जाता है, तो जीवन मे अनन्त श्री-लक्ष्मी के द्वार खुल जाते है, अनन्तानन्त विभूतियाँ चरणो मे लोटने लग जाती हैं और विजयश्री वरमाला लिए सामने खडी हो जाती है।

मनुष्य का मूल रूप जिस पर हम चर्चा कर रहे थे, वह यहाँ आकर जागृत होता है। उसका सोया हुआ देवता करवट लेता है, जबकि उसके जीवन मे धर्म और कर्म का समन्वय हो जाता है, भगवद्शक्ति और भक्तशक्ति का मिलन हो जाता है, तब साधक को नर से नारायण बनते, जन से जिन बनते कोई रोक नही सकता। वस्तुतः यही मनुष्य का मूल रूप है। जब तक इस मूल रूप पर पर्दा पडा है, तब तक आप उसे साधारण इन्सान के रूप मे देखते हैं, कभी-कभी हैवान के रूप मे भी देखते हैं, किन्तु जब वह पर्दा हट जाएगा, वह अपने मूल रूप को पहचान लेगा और प्रगट कर लेगा, तब वह ससार के सर्वश्रेष्ठ प्राणी के रूप मे हमारे समक्ष उपस्थित होगा, और जन से जिनत्व की ओर बढ़ता हुआ नजर आयेगा।

●

खुद्दा वितक्का सुखुमा वितक्का
अनुग्गता मनसो उप्पिलावा। —उदान ४।१

अन्तर मे उठने वाले अनेक क्षुद्र एव सूक्ष्म वितर्क ही मन को उत्पीडित करते हैं।

धर्म की हजारो परिभाषाएँ हैं, सैंकडो रूप हैं। साधक रूपो की इस भिन्नता मे गडबडा जाता है और धर्म के अर्न्तहृदय को नही पहचान पाता। धर्म के अर्न्तहृदय का दर्शन कीजिए निम्न प्रवचन मे...

धर्म का अर्न्तहृदय

उपाध्याय अमरमुनि

मानव जीवन एक ऐसा जीवन है जिसका कोई भौतिक मूल्य नही आका जा सकता। बाहर मे उसका जो एक रूप दिखाई देता है, उसके अनुसार वह हड्डी, मास और मज्जा का एक ढाचा है, गौरी या काली चमडी से ढँका हुआ है, कुछ विशिष्ट प्रकार का रग रूप है, आकार प्रकार है। किन्तु यही सब मनुष्य नही है। आँखो से जो दिखाई दे रहा है वह तो केवल मिट्टी का एक खिलौना है, एक ढाचा है, आखिर कोई न कोई रूप तो इस भौतिक शरीर का होता ही। भौतिक तत्व मिलकर मनुष्य के रूप मे विकसित हो गए। आँखें स्वयं भौतिक हैं। अत वे मानव के शरीर से सम्बन्धित भौतिक रूप को ही देख पाती है। अन्तर की गहराई मे देखने की क्षमता आँखों में नही है। ये चर्म-चक्षु मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप का दर्शन और परिचय नही कर सकती।

शास्त्र मे ज्ञान दो प्रकार के बताये हैं, एक ऐन्द्रियक ज्ञान और दूसरा अतीन्द्रिय ज्ञान। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयो का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा होता है। जो भौतिक है, उसे भौतिक इन्द्रियाँ देख सकती हैं। पर इस भौतिक देह के भीतर जो चैतन्य का विराट् रूप छिपा है, जो एक अखण्ड लौ जल रही है, जो परम देवता कण-कण मे समाया हुआ है, उसे देखने की शक्ति आँखो में कहाँ है? मनुष्य का जो सही रूप है, वह इतना ही नही है कि वह शरीर से सुन्दर है और सुगठित है! एक आकृति है जो सजी सँवरी है। यदि यही कुछ मनुष्य होता तो रावण, दुर्योधन और जरासंध भी मनुष्य थे। उनका शरीर भी बड़ा बलिष्ठ था, सुन्दर था। पर, संसार ने उन्हे वडे लोगों में

गिनकर भी सत्पुरुष नही माना, श्रेष्ठ मनुष्य नही कहा। पुराणो में रावण को राक्षस बताया गया है। दुर्योधन और जरासध को भी उन्होने मानव के रूप मे नही गिना। क्यो ? इसका कारण है–आत्मिक सौन्दर्य का अभाव ! देह कितनी ही सुन्दर हो, पर, जब तक उसके अन्दर सोई आत्मा नही जागती है, आत्मा का दिव्य रूप नही चमकता है, तब तक वह देह सिर्फ मिट्टी का घरोदा है, वह सूना मन्दिर है, जिसमे अब तक देवता की प्रतिष्ठा नही हुई है।

इस देह के भीतर आत्मा अगडाई भर रहा है या नही ? जागृति की लहर उठ रही है या नही ? यही हमारी इन्सानियत का पैमाना है। हमारी फिलासॉफी की भाषा मे देवता वे ही नही हैं जो स्वर्ग में रहते हैं, बल्कि इस धरती पर भी देवता विचरण किया करते हैं, मनुष्य के रूप में भी देव हमारे सामने घूमते रहते हैं। राक्षस और दैत्य वे ही नही है, जो जगलो, पहाडो मे रहते हैं और रात्रि के गहन अन्धकार मे इधर उधर चक्कर लगाते फिरते है, बल्कि मनुष्य की सुन्दर देह में भी बहुत से राक्षस और पिशाच छुपे बैठे हैं। नगरो और शहरो की सभ्यता एव चकाचौंध मे रहने वाला ही इन्सान नही है, हमारी इन्सानियत की परिभाषा कुछ और है। तत्त्व की भाषा में इन्सान वह है जो अपने अन्दर की आत्मा को देखता है और उसकी पूजा करता है। उसकी आवाज सुनता है और उसकी बताई राह पर चलता है।

'जन' और 'जिन' में भेद नही है

●

जिस हृदय मे करुणा है, प्रेम है, परमार्थ के संकल्प हैं और परोपकार की भावनाएँ हैं, वही इन्सान का हृदय है। आप अपने स्वार्थों की सड़क पर सरपट दौडे चले जा रहे हैं, पर चलते-चलते कही परमार्थ का चौराहा आ जाये तो वहाँ रुक सकते हैं या नही ? अपने भोग विलास की काली घटाओ मे घिरे बैठे हैं, पर क्या कभी भी इन काले वादलो के वीच परोपकार और त्याग की बिजली भी चमक जाती है या नही ? यदि आपकी इन्सानियत मरी नही है, तो वह ज्योति अवश्य ही जलती होगी !

आपको मालूम है हमारा ईश्वर कहाँ रहता है ? वह कही आकाश

के किसी बैकुण्ठ मे नही बैठा है, वह आपके मनके सिहासन पर बैठा है, हृदय मन्दिर मे विराजमान है वह। जब बाहर की आँख मूँदकर अन्तर मे देखेंगे तो वह ज्योति जगती हुई पाएगे, ईश्वर को वहाँ विराजमान हुआ देखेंगे।

ईश्वर और मनुष्य अलग-अलग नही हैं। आत्मा और परमात्मा दो तत्त्व नही हैं। नर और नारायण दो भिन्न शक्तियाँ नही है। जन और जिनमे कोई अन्तर नही है, कोई बहुत बड़ा भेद नही है, उपनिषद् के दर्शन की भाषा मे कहूँ तो सोया हुआ ईश्वर जीव है, ससारी प्राणी है और जागृत जीव ईश्वर है, परमात्मा है। मोह माया की निद्रा मे मनुष्य जब तक अंधा हो रहा है वह जन है, और जब जन की अनादिकाल की तन्द्रा टूट गई, जन प्रबुद्ध हो उठा तो वही जिन बन गया। जीव और जिन मे और क्या अन्तर है ? कर्म दशा मे जीव है, कर्म मुक्त दशा मे जिन है।

"कर्मबद्धो भवेज्जीवः कर्ममुक्त स्तथा जिनः"

बाहर मे बिन्दु की सीमाएँ हैं, एक छोटा सा दायरा है, पर अन्तर मे वही विराट् सिन्धु है, उसमे अनन्त सागर ठाठे मार रहा है, उसकी कोई सीमा नही, कोई किनारा नही। एक आचार्य ने कहा है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाऽनन्त चिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय, नमः शान्ताय तेजसे!

जब तक हमारी दृष्टि देश काल की क्षुद्र सीमाओ मे बँधी हुई है, तब तक वह अनन्त सत्य के दर्शन नही कर पाती और जब वह देश काल की सीमाओ को तोड देती है, तो अन्दर मे अनन्त, अखण्ड ज्योति के दर्शन होते है। एक दिव्य शान्त, तेज का विराट् पुज प्रकट हो जाता है। आत्मा की अनन्त शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। हर साधक उसी शान्त तैजस् रूप को देखना चाहता है, प्रकट करना चाहता है।

चैतन्य कैसे जगे ?

●

हमे इस बात पर भी विचार करना है कि जिस विराट् चेतना

को हम जगाने की बात कहते है, उसकी प्रक्रिया क्या है ? उस साधना का विशुद्ध मार्ग क्या है ? हमारे जो ये क्रिया काण्ड चल रहे हैं, बाह्य तपस्याएँ चल रही है, क्या उससे ही वह अन्तर का चैतन्य जाग उठेगा ? बात यह है कि केवल बाह्य साधना को पकड कर चलने से तो सिर्फ बाहर और बाहर ही घूमते रहना होता है, अन्दर में पहुँचने का मार्ग कुछ दूसरा है और उसे टटोलना चाहिए। आन्तरिक साधना के मार्ग से ही अन्तर के चैतन्य को जगाया जा सकता है। उसके लिए आन्तरिक तप और साधना की जरूरत है। हृदय मे कभी राग की मोहक लहर उठती है तो कभी द्वेष की ज्वाला दहक उठती है। वासना और विकार के आँधी तूफान भी आते है। इन सब द्वन्द्वो को शान्त करना ही अन्तर की साधना है। आँधी और तूफान से अन्तर का महासागर क्षुब्ध न हो, समभाव की जो लौ जल रही है वह बुझने नही पाए, बस यही चैतन्य देव को जगाने की साधना है। यही हमारा समत्व योग है। समता आत्मा की मूल स्थिति है, वास्तविक रूप है। जब यह वास्तविक रूप जग जाता है तो जन से जिनत्व प्रकट हो जाता है। नर से नारायण बनते फिर क्या देर लगती है। इसलिए अन्तर की साधना का मतलब हुआ समता की साधना ! राग द्वेष की विजय का अभियान।

क्या कर्म ने बाँध रखा है ?

●

साधको के मुँह से बहुधा एक बात सुना करता हूँ कि क्या करें ? कर्मों ने इतना जकड़ रखा है, कि उनसे छुटकारा नही हो पा रहा। इसका अर्थ है कि कर्मों ने बेचारे साधक को बाँध रखा है। क्या कर्म कोई रस्सी है, साकल है, जिसने आपको बांध लिया है ? यह प्रश्न गहराई से विचार करने का है कि कर्मों ने आपको बाँध रखा है या आपने कर्मों को बाँध रखा है ? यदि कर्मों ने आपको बाँध रखा है, तो फिर आपकी दासता का फैसला कर्मों के हाथ मे होगा और तब मुक्ति की बात छोड देनी चाहिए। ऐसी स्थिति में जप, तप और आत्म-शुद्धि की अन्य क्रियाएँ सब निरर्थक हैं। जब सत्ता कर्मों के हाथ मे सौप दी है तो उनके ही भरोसे रहना चाहिए। कोई प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है ? वे जब तक चाहेगे आपको बांधे

रखेंगे और जब मुक्त करना चाहेंगे आपको मुक्त कर देंगे। आप उनके गुलाम है। आप का स्वतन्त्र कर्तृत्व कुछ अर्थ नही रखता। और जब यह माना जाता है कि आपने कर्मों को बाँध रखा है तो बात कुछ विचारने की हो जाती है। इस पर से यह तो सिद्ध हो जाता है कि कर्म की ताकत से आपकी ताकत ज्यादा है। बधने वाला गुलाम होता है, बाँधने वाला मालिक! गुलाम से मालिक बडा होता है। तो जब हमने कर्म को बाँधा है तो फिर छोडने की शक्ति किस के पास है ? जिसने बाँधा है उसी के पास तो है। कर्मों को छोड़ने की शक्ति इस आत्मा के पास है, चैतन्य के पास है, मतलब कि आपके अपने हाथ मे हैं। हमारा अज्ञान इस शक्ति को समझने नही दे रहा है, अपने आपको पहचान ने नही दे रहा है, यही हमारी सबसे बड़ी दुर्बलता है।

दर्शन ने हमे स्पष्ट बतला दिया है कि जो भी कर्म हैं, वे सब तुमने बाँधे है, फलतः तुम्ही उन्हे छोड भी सकते हो—"बधप्पमोक्खो तुज्झत्थमेव" बधन और मुक्ति तुम्हारे अन्तर मे ही है।

बन्धन क्या है ?

●

कर्म के प्रसग मे हमे एक बात और विचार लेनी चाहिए कि कर्म क्या है और जो बन्धन होता है वह क्यो होता हैं ?

अन्य पुद्गलो की तरह कर्म भी एक पुद्गल है, परमाणु पिंड है। कुछ पुद्गल अष्टस्पर्शी होते हैं कुछ चतुःस्पर्शी। कर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल है। आत्मा के साथ चिपकने या बँधने की स्वतन्त्र शक्ति उसमे नही है, न वह किसी दूसरे को बाँध सकता है और न स्वय ही किसी के साथ बध सकता है।

हमारी मन, वचन आदि की क्रियाएँ प्रतिक्षण चलती रहती हैं। खाना-पीना, हिलना-चलना, बोलना आदि क्रियाएँ महापुरुषो के जीवन में भी चलती रहती हैं। जीवन मे क्रियाएँ कभी बद नही होती। यदि हर क्रिया के साथ कर्म बंध होता हो, तब तो मानव की मुक्ति का कभी प्रश्न ही नहीं उठेगा। चूंकि जब तक जीवन है, संसार है, तब तक क्रिया बन्द नही होती, पूर्ण अक्रियदशा (अकर्म स्थिति) आती नही। और जब तक क्रिया बन्द नही होती, तब तक कर्म बधते रहेंगे, तब तो फिर यह कर्म एक ऐसा सरोवर हुआ, जिसका पानी कभी

सूख ही नही सकेगा, कभी निकाला ही नही जा सकेगा। ऐसी स्थिति मे मोक्ष क्या होगा और कैसे होगा ?

सिद्धान्त यह है कि क्रिया करते हुए कर्मबंध होता भी है और नही भी। जब क्रिया के साथ राग द्वेष का सम्मिश्रण होता हैं, प्रवृत्ति मे आसक्ति की चिकनाई होती है, तब जो पुद्गल आत्मा के ऊपर चिपकते हैं, वे कर्म रूप मे परिणत हो जाते हैं। जिस-जिस विचार और अध्यवसाय के साथ वे कर्म-ग्रहण होते हैं, उसी रूप मे वे परिणत होते चले जाते है। विचारों के अनुसार उनकी प्रकृति अलग-अलग रूप में परिणत होती है। कोई ज्ञानावरण रूप मे तो कोई दर्शना वरण आदि के रूप मे। किन्तु जब आत्मा मे राग द्वेष की भावना नही होती, प्रवृत्ति होती है, पर, आसक्ति नही होती, तब कर्म-क्रिया करते हुए भी कर्म बँध नही होता।

भगवान महावीर से जब पूछा गया कि इस जीवनयात्रा को किस प्रकार चलाएँ कि कर्म करते हुए, खाते-पीते, सोते—बैठते हुए भी कर्म बँध न हो, तो उन्होने कहा—

> जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जय सए।
> जयं भुजन्तो भासन्तो, पावकम्म न वधइ।

तुम सावधानी से चलो, खडे रहो तब भी सावधान रहो, सोते बैठते भी प्रमाद न करो। भोजन करते और बोलते हुए भी उपयोग रखो कि कही मन में अनुराग और आक्रोश की लहर न उठ जाए। यदि जीवन मे इतनी सावधानी है, अनासक्ति है तो फिर कही भी विचरण करो, कोई भी क्रिया करते रहो, पाप कर्म का बँध नही हो सकेगा।

इसका मतलब यह हुआ कि कर्म बध का मूल कारण प्रवृत्ति नही, किन्तु रागद्वेष की आसक्ति है। आसक्ति का गीलापन जब विचारो मे होता है, तब कर्म की मिट्टी, कर्म का गोला आत्मा की दीवाल पर चिपक जाता है। यदि विचारो मे सूखापन है, निस्पृह और अनासक्त भाव है तो सूखे गोले की तरह कर्म की मिट्टी आत्मा पर चिपकेगी नही।

जैन साहित्य में एक कहानी आती है—चम्पानगरी मे सिहसेन

नामका एक राजा था। रोहगुप्त नाम का उसका मत्री बहुत ही तत्त्वज्ञानी और बुद्धिमान था। एक बार राजसभा मे तत्व-चर्चा का प्रसग चल पडा। भिन्न-भिन्न मत और दर्शन के लोग बैठे थे, सभी ने अपने-अपने धर्म की बडाई की। किन्तु मन्त्री चुपचाप सब की सुनता रहा। राजा ने देखा कि मत्री कुछ बोल नही रहा है, तो कहा—मत्रीवर! आप जैसे विद्वान और धर्मो के ज्ञाता चुप कैसे बैठे हैं? कुछ तो बोलिए।

मंत्री ने कहा—महाराज! बैठा-बैठा शान्ति से सुन रहा हूँ। मैं क्या बोलूँ? व्यर्थ ही हर बात में दखल देना, अपना अलग राग आलापना, अपने मे कोई अच्छी बात नही है।

राजा ने फिर भी आग्रह किया कि नही, कुछ तो बोलना चाहिए। मत्री ने निवेदन किया—महाराज! यह कोई निर्णायक तत्त्व चर्चा नही है। यह तो वाद विवाद है, जो प्राय चलते ही रहते हैं। कुछ वाद जय पराजय की भावना से होते हैं, कुछ मे किसी अन्य मत और सम्प्रदाय वालो को नीचा दिखाने का अभिनिवेश छिपा रहता है। ऐसे शुष्क और निरर्थक वाद-विवाद मे मुझे कोई आनन्द नही आता। जो धर्मचर्चा सत्य स्पर्शी होती है, उसमे अवश्य मुझे रस आता है, मैं उस मे भाग भी लेता हूँ और उससे कुछ तत्त्व भी हाथ लगता है।

राजा ने कहा—यदि ऐसी परिचर्चाएँ न हो तो फिर कैसे पता लगे कि कौन सही है और कौन गलत है? धर्मों की परीक्षा तो होनी ही चाहिए।

मत्री ने विनम्र उत्तर दिया—महाराज! कभी समय आएगा तो बताऊँगा, धर्मों के छोटे बडेपन की परख, सम्भव है, एक दिन आपके सामने ही हो जायेगी।

मत्री की गम्भीरता और विनम्रता से राजा बहुत प्रभावित हुआ। वास्तव मे जिसे तत्त्व की रुचि होती है वह छिछली चर्चाओ मे नही उतरता। धर्म कुछ और चीज है, सप्रदाय कुछ और है। अपनी-अपनी सप्रदाय को बडा बताने से कोई बडा नही बन जाता। अपने मुँह मियामिट्ठू बनने से दुनियाँ मे किसकी कौन-सी इज्जत बढती है? धर्म तो आत्मा की वस्तु है। उसका पवित्र स्पर्श आत्मा

को हुआ है या नही ? यही प्रश्न विचारणीय है। यदि आत्मा मे जागृति हो चुकी है, दृष्टि बदल गई है, तब तो ठीक है, आपका धर्म ऊँचा है, आप भी ऊँचे हैं। अन्यथा एक ओर धर्म की बात करते रहे और दूसरी ओर दृष्टि ससार की विषय-तृष्णा मे ही अटकी रहे, भोगो की गन्दगी मे ही भटकती रहे, तो वहाँ धर्म का सच्चा स्वरूप प्रकट नही हो सकता, धर्म की पवित्र महक वहाँ नही आ सकती।

कुछ दिनो के बाद मत्री ने कहा—'महाराज! आपको सब धर्मों का परिचय करना है तो उसके लिए आयोजन किया जाय ? राजा के आदेश पर मत्री ने उद्घोपणा करवादी कि नगर मे जो भी धर्माचार्य हैं, वे सब राजसभा मे उपस्थित हो और सर्वधर्म परिचर्चा मे भाग ले। महाराज एक समस्या देगे। जो धर्माचार्य समस्या की सबसे सुन्दर पूर्ति करेगे, उन्हे राजगुरु के पद से सम्मानित किया जाएगा।

राजगुरु बनने की बात सुनी तो सभी धर्माचार्यों की आँखे उधर लग गई। गुरु बनना कौन नही चाहता ? और फिर कोई पैसे वाला सेठ शिष्य बन जाये, चिकनी चोटी मिल जाए तब तो गुरु जी का हृदय ही फूल उठे। यदि राजा किसी को अपना गुरु मानने लगे, तो फिर मान सन्मान और पैसे की क्या कमी रहे ? सभी धर्म गुरु अपनी-अपनी तैयारी मे जुट गए और समय पर पहुँचे राज सभा मे।

मत्री के निर्देश से राजसभा को बहुत ही सुन्दर ढग से सझाया गया था। नाना प्रकार के सुन्दर चित्र, कला कृतियाँ और रग-विरगे फूलो की सजावट से राजदरबार स्वर्ग की सुधर्मा सभा-सा मोहक लगने लगा।

नियत समय पर सभी धर्मगुरु पहुँचे अपने दलबल के साथ। अपने-अपने आसन पर सब शान के साथ बैठ गए। मन्त्री खड़ा हुआ और परिषद् के आयोजन की भूमिका स्पष्ट करते हुए धर्म गुरुओ का स्वागत किया और 'समस्या' देते हुए कहा—"जो आचार्य सुन्दर से सुन्दर पद्य बनाकर इसकी पूर्ति करेगे, उन्हे राजा यथोचित सत्कार सन्मान देकर राजगुरु के पद से सम्मनित करेंगे। मत्री ने समस्या प्रस्तुत की—**"सकुडल वा वयणं न व त्ति"** मुख कुडल सहित था या नही ?

एक बड़े आचार्य उठे। समस्यापूर्ति करते हुए बोले—

> भिक्खप्पविट्ठेन मएज्ज दिट्ठं
> पमयामुहं कमलविसालनेत्तं।
> वक्खित्तचित्तेण न सुट्ठु दिट्ठं
> "सकुडलं वा वयणं न व त्ति"।

अर्थात् मैं आज एक घर मे भिक्षा के लिए गया। घर मे प्रवेश करते ही कमल जैसे विशाल सुन्दर नेत्रो वाली स्त्री का मुख देखकर मेरा चित्त डावाडोल हो गया। चित्त की चचलता के कारण मुझे पता नही चल सका कि उसके मुख पर कुडल भी थे या नही।"

राजा यह श्लोक सुनकर चौकन्ना हो उठा। विचार किया—यह तो धर्माचार्य हैं, और इन्होने जो बात कही कि सुन्दर नेत्रो वाली स्त्री को देखा तो मेरा चित्त विक्षिप्त हो उठा। यह तो एक विलासी व्यक्ति के हृदय की आवाज है। साधु के लिए तो नारी के प्रति तीन ही सम्बोधन हैं—मा, बहन! और पुत्री! कमलनेत्रा, यह तो वीतराग भूमिका की बात नही, साधारण भोगी की भूमिका है।' राजा ने सिर हिला दिया। एक के बाद एक सभी धर्मगुरु उठे और सबने घुमा फिरा कर वैसी ही बात की कि स्त्री के सौन्दर्य को देखकर चित्त व्याकुल हो उठा और पता नही चला कि कुण्डल है या नही? सभी की कविताओ मे श्रृङ्गार और विलास के स्वर फूट रहे थे। मन की दबी हुई आसक्ति व्यक्त हो रही थी। राजा का मन प्रसन्न नही हुआ। मत्री से कहा -आपके धर्माचार्य नही आए? उन्हे भी बुलाना चाहिए। मत्री ने देखा कि एक छोटा (क्षुल्लक) मुनि राज-मार्ग पर भिक्षा के लिए कही जा रहा है। मत्री ने एक अधिकारी को भेजा और मुनि को राजसभा मे आने के लिए प्रार्थना की। मुनि अपनी मस्त चाल से चलता हुआ राजसभा मे आया। राजा ने देखा-इन दिग्गज विद्वानो के समक्ष यह छोटा-सा साधु क्या बोलेगा? मुनि से कहा—महाराज! आप तो बहुत छोटे हैं, इन आचार्यों का मुकाबला कैसे करेंगे? क्षुल्लक बडा तेज था, बोला—मैं क्या छोटा हूँ? चैतन्य कभी छोटा बडा होता है? शरीर की क्षुल्लकता को देखते हो, चैतन्य की अनन्त असीम आयु को नही देखते? राजा ने देखा कि हा, ज्योति तो जल रही है। साधु छोटा है, पर तेजस्वी है।

कहा—महाराज ! हमारी समस्या पूर्ति कीजिए ! क्षुल्लक मुनि ने कहा—समस्या पूर्ति करना मेरा काम नही है, मैं कवि नही हूँ। पर खैर, तुमने बुला लिया तो बोलो ! क्या समस्या है ? मन्त्री ने समस्या दी। क्षुल्लक ने तुरन्त श्लोक बनाकर सुनाया—

खन्तस्स दन्तस्स जिइन्दिअस्स
अज्झप्पजोगे गयमाणसस्स
किं मज्झ एएण विचिंतएण
"सकुंडलं वा वयणं न व त्ति"

"जिसका मन शान्त हो गया है, विषयो व इन्द्रियों का जिसने दमन कर लिया है, और मन, जो कि प्रतिपल इन्द्रियो के विषय मे उछल कूद करता रहता है, वह भी एक जगह केन्द्रित हो गया है। अन्दर मे अध्यात्म योग की लौ जल उठी है। ऐसे साधक को अब यह विचार करने से क्या मतलब है कि नारी के मुख पर कुण्डल है या नही?"

राजा ने श्लोक सुना तो तन मन झूम उठा। सभासद् वाह वाह कर उठे। राजा ने कहा—"महाराज ! सच्ची वीतरागता का दर्शन अब हुआ है। वस्तुत आपकी वाणी मे काव्य और वीतरागता का विचित्र सम्मिश्रण है। आपकी समस्यापूर्ति सर्वश्रेष्ठ है।"

मुनि श्लोक सुनाकर ज्योही जाने लगे तो राजा ने निवेदन किया—"महाराज ! अभी कहाँ जा रहे हो ? अब तो आप राजगुरु हो गए, कुछ उपदेश दीजिए। धर्म का तत्व बतलाइए !" कहते हैं क्षुल्लक के पास मिट्टी के दो छोटे-छोटे गोले थे, एक गीला, दूसरा कुछ सूखा। उसने उन्हे दीवाल पर फेंका और कहा—देखिये ! राजा देखता रहा कि यह क्या तमाशा कर रहे हैं ? मुनि फिर चलने लगे तो राजा ने कहा—'महाराज ! ज्ञान तो दीजिए ! क्षुल्लक ने कहा –"राजन् ! मैंने तो ज्ञान दे दिया, तुम ने समझा नही।'

राजा ने कहा—'महाराज, जरा समझाइए !' क्षुल्लक ने बताया—देखिए, जो गोला सूखा था, वह दीवाल से टकराया और नीचे गिर गया। और जो गीला था, वह वही दीवाल से चिपक कर रह गया।

"उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया
दोवि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई।

एव लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा,
विरता उन लग्गन्ति, जहा से सुक्कगोलए।"

राजन्! जीवन मे जहाँ लालसा है, विषय तृष्णा है, आसक्ति है, वहाँ कर्म गीले गोले की तरह आत्मा के साथ चिपक जाते हैं। जहाँ मन विषयो से विरक्त है, कर्म करते हुए भी उसमे आसक्ति नही है, वहाँ सूखे गोले की तरह कर्म आत्मा के साथ चिपकते नही, लगे कि तुरन्त छूट गए। बस, तुम यह देखो कि तुम्हारा मन गीला गोला है या सूखा? यही जीवन दर्शन है।

मन मे गीलापन है तो जरूरी नही कि वह राजमहल से ही चिपकेगा, वह एक साधारण झोपडी से भी चिपक सकता है। रागासक्त प्राणी कभी एक पैसे से भी चिपक जाता है और उसके लिए भी बड़े-बडे सघर्ष और तूफान खड़े कर देता है। जहाँ यह मन चिपक जाता है, चीटे की तरह चेट जाता है, बस, वही समस्या पैदा हो जाती है। हिंसा और क्रूरता जन्म लेती है। दु ख, पीडा और यातनाओ की लम्बी परम्परा खडी हो जाती है।

यदि मन का गोला सूखा है तो ससार मे रहते हुए भी उससे मुक्त रह सकते हैं। राजमहल मे बैठ कर भी भरत और जनक की तरह बन्धनमुक्त होकर जीया जा सकता है। जय जयकार और तिरस्कार की आवाजो के बीच भी वह अपनी साधना मे स्थिर रहकर चलता रहता है। काटो के जगल मे भी और फूलो के उपवन मे भी वह हँसता रहता है।

जब मन से रागद्वेष की भावना समाप्त हो जाती है तो बन्धन नही होता। यदि राग द्वेष सूक्ष्म रूप से रहता भी है तो उससे इतना साधारण बन्धन होता है कि धूल कपडो पर लगी और आपने झटक दिया तो बस साफ! भगवान महावीर ने बताया है कि जैसे पखी के परो पर धूल पड जाती है, तो वह ज्योही पख फड़फडाता है कि पर साफ हो जाते है। बस, साधक के जीवन की भी यही स्थिति हो जाती है कि कर्तव्य करते-करते यदि कभी कही राग का भाग आया, बन्धन हुआ कि वह तुरन्त पश्चात्ताप एव आलोचना के पख फडफडाकर उसे साफ कर देता है। कितना सुन्दर दर्शन है यह जीवन का! मनुष्य जीवन में जब कर्मयोगी होकर जीता है, अनासक्त होकर कर्म

करता है, तब वह कर्म करते हुए भी अकर्म की उच्चतर भूमिका पर पहुँच जाता है।

वीतरागता ही जन में जिनत्व है

●

एक बार हम विहार काल मे एक आश्रम मे ठहरे हुए थे। एक गृहस्थ आये और गीता पढने लगे। आश्रम तो था ही। इतने मे एक सन्यासी आए, और बोले—"पढी गीता तो घर काहे को कीता?" मैंने पूछा—"गीता और घर मे परस्पर कुछ वैर है क्या? यदि वास्तव मे वैर है, तब तो गीता के उपदेष्टा श्रीकृष्ण का भी गीता से वैर होना चाहिए और तब तो आप दो चार साधुओ के सिवाय अन्य किसी की गीता के उपदेश से मुक्ति ही नही होगी।" साधु बोला—हमने तो घर छोड़ दिया है। मैंने कहा—घर क्या छोडा है, एक घौंसला छोडा तो दूसरे कई घौसन्ने बसा लिए। कही मन्दिर, कही मठ और कही आश्रम खड़े हो गए। घर कहाँ छूटा है? सन्यासी ने कहा—कि हमने इन सब का मोह छोड रखा है। मैंने कहा कि—हाँ, यह बात कहिए। असली बात मोह छोडने की है। घर मे रहकर भी यदि कोई मोह छोड सकता है, तो बेडा पार है। घर बन्धन नही है, घर का मोह बन्धन है। कभी-कभी घर छोडने पर भी घर का मोह नही छूटता है और कभी घर नहो छोडने पर भी घर का मोह छूट जाता है।

बात यह है कि जब मोह और आसक्ति छूट जाती है तो फिर कर्म मे ममत्त्व नही रहता। अहकार नही रहता। उसके प्रतिफल की वासना नही रहती। जो भी कर्म, कर्तव्य करना है, वह सिर्फ निष्काम और निरपेक्ष भाव से करना चाहिए। उसमें त्याग और समर्पण का उच्च आदर्श रहना चाहिए। सच्चा निर्मल, निष्काम कर्मयोगी जल मे कमल की तरह ससार से निर्लिप्त रहता है। वह अपने मुक्त जीवन का सुख और आनन्द स्वय भी उठाता है और ससार को भी बाटता जाता है। मनुष्यता का यह जो दिव्य रूप है, वही वास्तव में नर से नारायण का रूप है। इसी भूमिका पर जन मे जिनत्व का दिव्य भाव प्रगट होता है। इन्सान के सच्चे रूप का दर्शन इसी भूमिका पर होता है। इस मासपिंड के भीतर जो सुप्त ईश्वर और परमात्म तत्त्व है, वह यही आकर जागृत होता है।

●

वैभव की दौड़

उपाध्याय अमर मुनि

मालवपति दशार्णभद्र को जब यह सूचना मिली कि प्रात: प्रभु महावीर विहार करते हुए दशार्णपुर नगर मे आएँगे तो उसका रोम-रोम नाच उठा।

"प्रात प्रभु की वन्दना करने जाउँगा। क्या सदा जाता रहा हूँ उसी ढग से? नही, कुछ नये ढग से। चतुरगिणी सेना को सजाकर शाही ठाठ से जाऊँगा। भगवान का ऐसा स्वागत करूँगा कि आज तक किसी राजा ने नही किया। इतने समारोह के साथ दर्शन करने जाऊगा कि आज तक कोई राजा नही गया।" रात भर राजा इन्ही विचारो मे खोया रहा, उसे नीद नही आई। नी अद्भुत दर्शन-यात्रा की एक-से-एक नई-नई योजनाएँ सोचता रहा।

प्रात सूर्योदय से पहले ही नगररक्षक को बुलाकर राजा ने कहा—"नगर के प्रत्येक मार्ग मे सफाई करवाओ, कही भी गदगी न रहे, सुगन्धित जल का छिडकाव कर नगर को पुष्पोद्यान की तरह महकादो। नगर को सजा-सवार कर स्वर्ग की भाँति चमकादो।" राजा की आज्ञा पाते ही नगररक्षक ने तत्काल नगर की सफाई करवाई, नगर को सजाया-सँवारा। और नगर कुछ ही क्षणो मे कुछ से कुछ हो गया। स्थान-स्थान पर पुष्पमालाएँ बांधी गई। मगलतोरण लग गए, हीरो और मणिमुक्ताओ से जटित द्वार बन गए। दशार्णपुर सचमुच अब ऐसा सज उठा, कि जैसे स्वर्ग का एक नयनाभिराम टुकडा हो।

राजा दशार्णभद्र ने स्नान करके अगराग लगाया। बहुमूल्य वास्त्राभूषण पहने, सुगन्धित पुष्प मालाएँ धारण की। कोटि-कोटि

स्वर्ण मुद्राओ के मूल्य का एक-एक आभूषण उसके अग पर चमक रहा था। वह सज्ज होकर हाथी पर बैठा। देवागना के सौन्दर्य और ऐश्वर्य को लज्जित करने वाली रानियाँ रथो मे बैठी। उसके पीछे पुरोहित, राजमत्री, व उनका परिवार, सेनापति, नगर के इभ्य श्रेष्ठी, सार्थवाह, और उनकी देवियाँ, परिवार एवँ नगर के अन्य सहस्रो नर नारी और उसके पीछे चतुरगिणी सेना ! नाना प्रकार के वाद्यो, और सगीतो की ध्वनिया उछल रही थी! प्रजा जन राजा की अपूर्व दर्शन यात्रा को देखकर जय-जय कार कर रहे थे। दशार्णभद्र ने विशाल जन समूह की ओर एक दृष्टि डाली। अपनी समृद्धि, ऐश्वर्य और राज्य लक्ष्मी का इस प्रकार भव्य प्रदर्शन देखकर गर्व से उसका मस्तक उन्नत हो गया।

देवराज इन्द्र ने अपने ज्ञान मे देखा कि—"प्रभु के दर्शनो के लिए धरती आज ऐश्वर्य और वैभव से नाच रही है। देवराज के मन मे खुशी की लहर उठी। किन्तु दूसरे ही क्षण देखा, इस यात्रा के मूल मे फुदकता हुआ राजा के मन का सूक्ष्म-अहकार ! देवराज ने सोचा—"राजा भक्ति-विनम्र भाव से प्रभु के दर्शन करने के लिए जा रहा है, और साथ ही अहकार से जकडा हुआ भी है। समृद्धि और वैभव का यह दर्प तो उसे दर्शनो के पवित्र पुण्य से वञ्चित कर देगा। दुग्ध-धवल सी पवित्र भक्ति-गगा मे अहकार का काला विषधर नाग तैर रहा है। इसे हटाना चाहिए।" देखते ही देखते देवताओ की विशाल सेना आकाश मे विजय दुदुभिया बजाने लगी। देवराज ने एक जलमय विमान बनाया। वह नाना प्रकार के स्फटिक एव मणि मुक्ताओ मे सुशोभित हो रहा था, विमान मे रक्तोत्पल नीलोत्पल, आदि नाना शतदल पुष्प खिले थे, इधर उधर तरह-तरह के रग-विरगे पक्षी चहचहा रहे थे। इस विमान मे वैठकर देवराज पृथ्वी पर उतरे। फिर ऐरावत हस्ती पर बैठ कर देव और देवकुमारियो के झुड के साथ आगे बढे। यक्ष, गधर्व और किन्नर कुमारियो के नृत्य गायन से पृथ्वी और आकाश सगीतमय हो रहा था। देवराज की सवारी प्रभु के समवसरण की ओर वढने लगी।

देवराज की स्वर्गीय समृद्धि के समक्ष दशार्णभद्र की ऋद्धि फीकी पड गई। इस अद्‌भुत समृद्धि को देखकर वह पहले क्षग चौका,

फिर, लज्जित-सा हो गया, हतप्रभ सा देखता रहा ! "यह क्या ! मैं कहां और यह कहाँ ?" एक ही झटके मे अहकार टूट गया सोचने लगा—"भौतिक वैभव की दौड मे मैं हार गया। जिस वैभव के केन्द्र पर खड़ा होकर मै अपने को महान समझ रहा था वह केन्द्र कितना जल्दी हिल गया ! ससार के भौतिक वैभव का अहकार तुच्छ है। यह चढाव उतार क्षणिक है। अस्तु, जो महान् है, दिव्य है, जिस वैभव को पाकर मनुष्य सदा के लिए महान् बनता है, फिर कभी किसी से नीचे नही गिरता है, जहाँ चढाव के बाद उतार नही होता है, उसी अविनाशी वैभव की ओर चलना चाहिए। मैं क्षत्रिय हूँ, पीछे मुडना मेरा क्षत्रिय-धर्म नही, मुझे आगे ही बढना चाहिए। उस मार्ग पर बढ़ना चाहिए जहा कोई किसी को पीछे धकेलने की स्पर्धा मे नही चलता, सबको सहज भाव से ही मुक्त अवकाश रहता है।" दशार्णभद्र की विचारधारा अन्तर्मुखी हो गई। वह हाथी से नीचे उतर पडा, मणिमुक्ता जटित आभूषणो को उतार दिया। निर्लिप्त भाव से राजमुकुट और राजमुद्रा भी एक ओर रख दी और अपने हाथ से स्वय अपना शिरो-मुण्डन करके प्रभु के चरणो में पहुँचा—"प्रभो ! भौतिक वैभव की तुच्छता मैंने समझ ली ! आत्मा का अनन्त वैभव प्राप्त करने का मार्ग बतलाइए, श्री चरणो की शरण मे लीजिए।" और दशार्णभद्र राजा से मुनि बन गए।

देवराज इन्द्र दशार्णभद्र को प्रभु के समक्ष मुनिवेश मे खडा देखकर ठगे-ठगे से रह गए। लगा "जैसे वैभव की होड़ मे आज वे पराजित हो गए। एक मानव, आत्मा का अनन्त वैभव प्राप्त करने की ओर बढ गया, पर एक देवेन्द्र अभी तक भौतिक वैभव मे ही लिपटा पडा है, उसे छोड नही सका, आगे बढ नही सका—"देवराज इन्द्र ने मुनि दशार्णभद्र के चरणो मे श्रद्धागद्गद् हृदय से मस्तक झुका दिया—"मुने ! तुम धन्य हो, तुमने आत्मा के उस अनन्त वैभव को पाया है जिसके समक्ष विश्व का समस्त वैभव तुच्छ है, इन्द्र और इन्द्रासन भी नगण्य है।"

—उत्तराध्ययन, १८ (कमलसयमी टीका)
—त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित १०।१०

मैं रम्य-स्वर्ण विहान हूँ !

—.●.—

पूज्य भारत मातृ-भू की,
चाहती सतान हूँ मैं।
राष्ट्र मडल, जाति, कुल की;
जागती जी-जान हूँ मैं।

आज का लघु शिशु पयोमुख;
नासमझ नादान हूँ मैं।
हाँ, भविष्यत् का महत्तम,
वृद्ध वर धीमान हूँ मैं।

आज क्या, रजकण जरा-सा;
तुच्छ हूँ, वे-भान हूँ मैं?
देखना कुछ दिन, हिमाचल,
विश्ववन्द्य महान् हूँ मैं।

नव्ययुग सर्जन करूँगा,
भूत-कण्ठ-कृपाण हूँ मैं।
क्रान्ति-रण का अग्रयोद्धा,
विश्व का कल्याण हूँ मैं।

धर्म—ध्वसक कुप्रथाओ,—
के लिए तूफान हूँ मैं।
दभ का, पाखड का, भ्रम
का, प्रलय अवसान हूँ मैं।

भूमि-तल पर विश्वपति का,
श्रेष्ठ-तम वरदान हूँ मैं।
अन्त-कर काली निशा का,
रम्य-स्वर्ण विहान हूँ मैं।

कृष्ण-जैसा कर्म-योगी,
दैत्यरिपु-अभिधान हूँ मैं।
भीष्म-सा वर सयमी हूँ,
भीम-सा बलवान हूँ मैं।

पुत्र गुरु गोविंद सिंह का
साहसी अति धीर हूँ मैं।
धर्म पर निज प्राण देता,
वज्र-सा प्रण-वीर हूँ मैं।

मृत्यु—भीति, प्रलोभनो पर,
ठोकरो की तान हूँ मैं।
पच—नद—दीपक हकीकत,
धर्म पर बलिदान हूँ मैं।

वीर—पुगव पूर्वजो का,
भक्त श्रद्धावान हूँ मैं।
और आगामी प्रजा का,
पूज्य—पद भगवान हूँ मैं।

अन्त में माता-पिता के,
खेल का सामान हूँ मैं।
जो विचारे, सो बना ले,
देव हूँ, शैतान हूँ मैं।

—'अमर माधुरी' से

●

अतीत की स्मृतियो मे और भविष्य की कल्पना मे खोया-खोया रहने वाला—वर्तमान मे शून्य-सा रहता है। वह वर्तमान के आनन्द की अनुभूति नही कर सकता।

●

मध्ययुग के जैन इतिहास का जाज्ज्वल्यमान नक्षत्र महामंत्री तेजपाल ! जैन वास्तुकला के निर्माण एव विकास का स्वप्नद्रष्टा ! धर्माचरण के प्रति उसकी उदासीनता को तोडकर सेवा और परोपकार की वृत्ति को प्रेरित करने वाला एक रोचक प्रसंग ।

ठंडी रसोई

उपाध्याय अमरमुनि

महामत्री तेजपाल नीति एवं धर्म के वहुत अच्छे विद्वान थे। किन्तु शास्त्रो के उच्चस्तरीय ज्ञान के अनुरूप उनके जीवन मे धर्म का प्रवेश नही हो पा रहा था। उनका ज्ञान, आचरण मे नही उतर रहा था।

मुञ्जाल नामक श्रावक जो मत्री का निजी गुमास्ता था, मत्री को सक्रिय धर्म की प्रेरणा देने के लिए एक बार उनसे पूछने लगा—"स्वामी ! आप ठडी रसोई खाते है या ताजा ?"

गुमास्ते के इस प्रश्न पर मत्री ने तीखी दृष्टि से एक वार उसकी ओर देखा और फिर यह सोचकर कि "ग्रामीण आदमी हैं, अभी वोलने की सभ्यता नही आई हैं" दृष्टि फेर ली।

गुमास्ते ने फ़िर एक वार अवसर देखकर अपनी वही बात दुहराई और मत्री ने उसी प्रकार उपेक्षा पूर्वक उसकी बात टाल दी। तीसरी वार फिर जव गुमास्ते ने वही बात कही तो मत्री की भौहे चढ़ गई। उसने कहा—"गँवार कही का, बोलने की तमीज भी नही !"

गुमास्ते ने धीरे से कहा—"हाँ, स्वामी ! दोनो मे से कोई एक तो होगा ही !"

मत्री ने जरा विस्मय के साथ देखा, "क्या मतलव इसका ? जरा समझाओ तो सही, तुम्हारी वात में कुछ मर्म, कुछ रहस्य लगता है ?"

गुमास्ते ने विनय पूर्वक कहा—"स्वामी! आप जो रसोई खा रहे हैं, अर्थात् यह जो ऐश्वर्य एव आनन्द का भोग कर रहे हैं, यह तो वास्तव मे पूर्व जन्म के पुण्य का फल है, अतः वह ताजी रसोई नही, वासी ही है, ताजा रसोई कुछ और होती है।"

मत्री गुमास्ते के निकट आया, "बताओ! ताजा रसोई क्या है?"

गुमास्ते ने कहा—"यह सब जानना हो तो धर्मगुरु भट्टारक श्री विजयसेन सूरि से पूछिये।"

मत्री तेजपाल उन्ही पावो गुरु के पास आया, और ठडी एव ताजा रसोई का मर्म पूछा। उत्तर मे गुरु ने बताया—"तुम यहाँ पर जो ऐश्वर्य का उपभोग कर रहे हो वह तो पूर्व जन्म मे किए गए पुण्य का फल है, जब तक इस जीवन मे दान, सेवा, उपकार के द्वारा पुण्यार्जन नही करते तब तक ताजा रसोई नही, ठडी रसोई ही कहलाएगी।" मत्री ने गुरु के पास धर्म का सर्वांग रूप समझा एव गृहस्थ धर्म को विशेष रूप से स्वीकार किया। और इसके बाद जैन धर्म और सस्कृति की समृद्धि के लिए, सर्व साधारण जनता की सेवा के लिए, मत्री तेजपाल ने जो कुछ किया वह आज भी इतिहास के पृष्ठो पर सुरक्षित है।

मत्री ने स्थान-स्थान पर दान शालाएँ खुलवाई, पौषध शालाएँ बनवाई, बावडियाँ और तड़ाग बनवाये। अर्बुदाचल की पर्वत मालाओं मे देलवाड़ा जैसे विश्वप्रसिद्ध जिनमन्दिरो का निर्माण करवाया तथा दीन, अनाथ, वृद्ध मनुष्यो एव अपाहिज पशुओ के लिए स्थान-स्थान पर सेवानिकेतन खोले और अपना शेष जीवन धर्ममय बनाकर आध्यात्मिक आराधना करने लगे।

—प्रबन्ध चिन्तामणि ४।१८६

●

मध्ययुग के जैन इतिहास का जाज्वल्यमान नक्षत्र महामंत्री तेजपाल ! जैन वास्तुकला के निर्माण एव विकास का स्वप्नद्रष्टा ! धर्माचरण के प्रति उसकी उदासीनता को तोडकर सेवा और परोपकार की वृत्ति को प्रेरित करने वाला एक रोचक प्रसंग।

उपाध्याय अमरमुनि

ठंडी रसोई

महामत्री तेजपाल नीति एव धर्म के बहुत अच्छे विद्वान थे। किन्तु शास्त्रो के उच्चस्तरीय ज्ञान के अनुरूप उनके जीवन मे धर्म का प्रवेश नही हो पा रहा था। उनका ज्ञान, आचरण मे नही उतर रहा था।

मुन्जाल नामक श्रावक जो मत्री का निजी गुमास्ता था, मत्री को सक्रिय धर्म की प्रेरणा देने के लिए एक बार उनसे पूछने लगा—"स्वामी! आप ठडी रसोई खाते हैं या ताजा?"

गुमास्ते के इस प्रश्न पर मत्री ने तीखी दृष्टि से एक बार उसकी ओर देखा और फिर यह सोचकर कि "ग्रामीण आदमी हैं, अभी बोलने की सभ्यता नही आई हैं" दृष्टि फेर ली।

गुमास्ते ने फिर एक बार अवसर देखकर अपनी वही बात दुहराई और मत्री ने उसी प्रकार उपेक्षा पूर्वक उसकी बात टाल दी। तीसरी बार फिर जब गुमास्ते ने वही बात कही तो मत्री की भौंहे चढ गई। उसने कहा—"गँवार कही का, बोलने की तमीज भी नही!"

गुमास्ते ने धीरे से कहा—"हाँ, स्वामी! दोनो मे से कोई एक तो होगा ही!"

मत्री ने जरा विस्मय के साथ देखा, "क्या मतलब इसका? जरा समझाओ तो सही, तुम्हारी बात मे कुछ मर्म, कुछ रहस्य लगता है?"

यह जीवात्मा अनेक बार उच्चगोत्र मे जन्म ले चुका है, और अनेक बार नीच गोत्र मे।

इस प्रकार विभिन्न गोत्रों मे जन्म लेने से न कोई हीन होता है और न कोई महान्।

४ **अणोहतरा एए नो य ओह तरित्तए।**
अतीरगमा एए नो य तीरं गमित्तए।
अपारगमा एए नो य पारं गमित्तए।

—आचाराग १।।३

जो वासना के प्रवाह को नही तैर पाए है, वे ससार के प्रवाह को नही तैर सकते।

जो इन्द्रियजन्य कामभोगो को पार कर तट पर नही पहुँचे हैं, वे ससार सागर के तट पर नही पहुँच सकते।

जो राग द्वेष को पार नही कर पाए है, वे ससार सागर से पार नही हो सकते।

५ **जुद्धारिह खलु दुल्लभं।**

—आचाराग १।५।३

विकारो से युद्ध करने के लिए फिर यह अवसर मिलना दुर्लभ है।

६. **नो अत्ताणं आसाएज्जा, नो पर आसाएज्जा।**

—आचारांग १।६।५

न अपनी अवहेलना करो, और न दूसरों की।

७ **असकियाइं संकति, सकिआइ असकिणो।**

—सूत्रकृताग १।१।२।१०

मोहमूढ मनुष्य जहाँ वस्तुत भय की आशका है, वहाँ तो भय की आशका करते नही है। और जहाँ भय की आशका जैसा कुछ नही है, वहाँ भय की आशका करते हैं?

८ **एवं तक्काइ साहिता, धम्माधम्मे अकोविया।**
दुक्खं ते नाइतुट्टंति, सउणी पजर जहा॥

—सूत्रकृतांग १।१।२।२२

जो धर्म और अधर्म से सर्वथा अनजान व्यक्ति केवल कल्पित तर्कों के आधार पर ही अपने मन्तव्य का प्रतिपादन करते हैं, वे अपने कर्म बन्धन को तोड नही सकते, जैसे कि पक्षी पिंजरे को नही तोड पाता है।

९ सीह जहा व कुणिमेण, निब्भयमेगचरति पासेण ।

—सूत्रकृतांग १।४।१।८

निर्भय अकेला विचरने वाला सिंह भी मांस के लोभ से जाल मे फस जाता है (वैसे ही आसक्तिवश मनुष्य भी)।

१० ज जारिस पुव्वमकासि कम्म,

तमेव आगच्छति सपराए ।

—सूत्रकृतांग १।५।२।२३

अतीत में जैसा भी कुछ कर्म किया गया है, भविष्य मे वह उसी रूप मे उपस्थित होता है ।

११ देवे णाममेगे देवीए सद्धि सँवास गच्छति ।
देवे णाममेगे रक्खसीए सद्धि सवास गच्छति ।
रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धि सवासं गच्छति ।
रक्खसे णाममेगे रक्खसीए सद्धि सवास गच्छति ।

—स्थानांग ४।४

चार प्रकार के सहवास हैं—
देव का देवी के साथ—शिष्ट भद्र पुरुप, सुशीला भद्र नारी ।
देव का राक्षसी के साथ—शिष्ट पुरुष, कर्कशा नारी ।
राक्षस का देवी के साथ—दुष्ट पुरुष, सुशीला नारी ।
राक्षस का राक्षसी के साथ—दुष्ट पुरुष, कर्कशा नारी ।

१२. सवीरिए परायिणति, अवीरिए परायिज्जति ।

भगवती १।८

शक्तिशाली (वीर्यवान्) जीतता है और शक्तिहीन (निर्वीर्य) पराजित हो जाता है ।

१३ अथिरे पलोट्टइ, नो थिरे पलोट्टइ ।
अथिरे भज्जइ, नो थिरे भज्जइ ।

—भगवती १।९

अस्थिर बदलता है, स्थिर नही बदलता ।
अस्थिर टूट जाता है, स्थिर नहीं टूटता ।

१४ समाहिकारए णं तमेव समाहिं पडिलब्भइ ।

—भगवती ७।१

समाधि (सुख) देने वाला समाधि पाता है ।

१५ उपनीयति जीवितमप्पमायु,
जरूपनीतस्स न सन्ति ताणा।
एत भय मरणे पेक्खमानो,
पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि ॥

—सयुत्तनिकाय १।१।३

जीवन बीत रहा है, आयु बहुत थोडी है, बुढापे से बचने का कोई उपाय नही है। मृत्यु के इस भय को देखते हुए सुख देने वाले पुण्य कर्म कर लेने चाहिए।

१६ अच्चेन्ति काला तरयन्ति रत्तियो,
वयोगुणा अनुपुब्ब जहन्ति।
एत भय मरणे पेक्खमानो,
पुञ्ञानि कयिराथ सुखावहानि ॥

संयु० नि० १।१।४

समय गुजर रहा है, रातें बीत रही है। जिन्दगी के इस भय को देखते हुए सुख देने वाले पुण्य कर्म कर लेने चाहिए।

१७ अतीतं नानुसोचन्ति, नप्पजप्पन्ति नागत।
पच्चुप्पन्नेन यापेन्ति, तेन वण्णो पसीदति ॥

सयु० नि० १।१।१०

बीते हुए का शोक नही करते, आने वाले भविष्य के मनसूबे नही बाधते, जो मौजूद है, उसी से गुजारा करते हैं, इसी से साधको का चेहरा खिला रहता है।

१८ यो च अत्थेसु जातेसु, सहायो होति सो सखा।

दीघनिकाय ३।८।२

जो काम पडने पर समय पर सहायक होता है, वही सच्चा मित्र है।

१९ उस्सूरसेय्या परदारसेवा,
वेरप्पसवो च अनत्थता च।
पापा च मित्ता सुकदरियता च,
एते छ ठाना पुरिस धंसयन्ति ॥

—दीघ नि० ३।८।२

अति निद्रा, परस्त्री-गमन, लडना-झगडना, अनर्थ करना, बुरे लोगो की मित्रता और अतिकृपणता—ये छह दोष मनुष्य को बर्बाद करने वाले हैं।

२०. भिक्खवे, नयिद ब्रह्मचरिय लाभसक्कार-सिलोकानिसस ।

मज्झिम निकाय १।२९।५

भिक्षुओ ! यह ब्रह्मचर्य (सयम), लाभ, सत्कार एव यश पाने के लिए नही है ।

२१. भिक्खवे, कुल्लूपमो मया धम्मो देसितो नित्थरणत्थाय, नो गहणत्थाय ।

—म० नि० १।२२।४

भिक्षुओ ! मैने बेडे की भॉति निस्तरण (पार जाने) के लिए तुम्हे धर्म का उपदेश किया है, पकड रखने के लिए नही ।

२२. 'अत्तना पलिपपलिपन्नो पर पलिपपलिपन्न ।
उद्धरिस्सती' ति नेतं ठानं विज्जति ॥
'अत्तना अपलिपपलिपन्नो पर पलिपपलिपन्नं
उद्धारिस्सती' ति ठानमेतं विज्जति ।

—म० नि० १।८।६

जो स्वय गिरा हुआ है, वह दूसरे गिरे हुए को उठायेगा, यह सम्भव नही है ।

जो स्वय गिरा हुआ नही है, वही दूसरे गिरे हुए को उठायेगा, यह सम्भव है ।

२३ निच्च पि वालो पक्खतो, कण्हकम्मो न सुज्झति ।

—म० नि० १।७।६

काले (बुरे) कर्म करने वाला मूढ चाहे तीर्थों मे कितनी ही डुबकियाँ लगाए, किंतु वह शुद्ध नही हो सकता ।

२४. परा हि मे विमन्यव: पतन्ति वस्य इष्टये । वयो न वसतीरुप ।

—ऋग्वेद १।२५।४

जिस तरह चिडियॉ अपने घोसले की ओर दौडती हैं, उसी तरह हमारी क्रोधरहित प्रशान्त बुद्धियॉ समृद्ध जीवन की प्राप्ति के लिए दौड़ रही हैं ।

२५ विभूति रस्तु सूनृता ।

—ऋग्० १।३०।५

विभूति (लक्ष्मी) प्रिय एव सत्यरूप अर्थात् समीचीन होनी चाहिए ।

२६ अयं मे हस्तो भगवानय मे भगवत्तर: ।
अयं मे विश्वभेषजो ऽयं शिवाभिमर्शन: ॥

—ऋग० १०।६०।१२

यह मेरा हाथ भगवान है, भगवान् ही क्या, अपितु भगवत्तर है, भगवान् से बढकर। यह मेरा हाथ विश्व के लिए भेषज है, इसके स्पर्शमात्र मे सबका कल्याण होता है।

२७ अश्मन्वती रीयते सरभध्वमुत्तिष्ठत ।
प्र तरता सखाय ॥

—ऋग्० १०।५३।८

हे मित्रो ! अश्मन्वती (पत्थरो से भरी नदी) बह रही है, दृढता से तन कर खड़े हो जाओ, ठीक प्रयत्न करो और इसे लाघ जाओ।

२८ अधेन्वा चरति माययैष ।
वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ॥

ऋग्० २०।७१।५

जो अध्येता पुष्प एव फल से हीन शास्त्र वाणी सुनते हैं, अर्थात् अर्थबोध किए बिना शास्त्रो को केवल शब्दपाठ के रूप मे ही पढते रहते हैं, वे वध्या गाय के समान आचरण करते हैं। अर्थात् जैसे मोटी ताजी वध्या गाय अपरिचित लोगो को खूब दूध देने की भ्राति पैदा कर देती है, वैसे ही शब्द पाठी अध्येता भी साधारण जनता मे अपने पाण्डित्य की भ्रांति पैदा करता है।

२९. यस्ति त्याज सचिविदं सखायं,
न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलक शृणोति,
नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥

—ऋग्० १०।७१।६

दूसरो को शास्त्र बोध न देने वाले विद्वान की वाणी फलहीन (निष्प्रयोजन) होती है। वह जो सुनता है (अध्ययन करता है) सब व्यर्थ सुनता है, क्योकि वह सुकृत के मार्ग को नही जानता है।

●

उपाध्याय अमरमुनि

नया वर्ष नई उमग और नया उत्साह लेकर आया है। भविष्य की सुन्दर योजनाएँ एव उज्ज्वल सम्भावनाएँ इसके गर्भ मे छिपी है, अत शुभसकल्प की लौ प्रज्ज्वलित करो और भविष्य को सुखद, सुन्दर एव मगलमय बनाने के लिए उद्यत हो जाओ।

+ + +

आज देश मे द्वेष, घृणा और भेद-भाव की जहरीली हवाएँ चल रही हैं, वातावरण विषाक्त हो रहा है। शासन घृणा, द्वेष और भेद पैदा करने वाले तत्वो पर प्रतिबन्ध लगाने का जी तोड़ प्रयत्न कर रहा है, किन्तु फिर भी वे तत्व अधिक सक्रिय हो रहे हैं।

घृणा द्वेष के इन बाह्य तत्त्वो पर प्रतिबध लगाने मात्र से समस्या का सही समाधान नही हो सकता। जब तक उन सामाजिक और मानसिक व्यवस्थाओ और कारणो को नही मिटाया जाता, जिनके कारण मनुष्य के हृदय मे भय, घृणा, द्वेष और भेद के विषैले अकुर पैदा हो रहे हैं, समस्या का स्थायी हल नही हो सकेगा।

+ + +

मैं देखता हूँ—बच्चों के कोमल हृदय में प्रारम्भ से ही एक दूसरे वर्ग और जाति के प्रति घृणा और द्वेष के संस्कार भरे जा रहे हैं।

मैं हैरान हूँ—इन अमृत के सुन्दर घडो मे यह घोर हलाहल क्यों भरा जा रहा है ?

क्या वे नही जानते कि "यह भयकर विप सबसे पहले उन्ही को मारेगा, जो आज उसे बच्चो के कच्चे और कोरे दिल-दिमाग मे भर रहे हैं।"

\+ + +

भारतीय सस्कृति-एक विविधरगी वस्त्र है। वह अनेक रगविरँगे धागो से बना हुआ 'देवदूष्य' है।

यदि प्रत्येक धागा वस्त्र की बनावट में अपना महत्व समझले, और उसके ताने-बाने मे सलग्न रहने का गौरव अनुभव करने लग जाय, तो फिर कोई भी शक्ति सस्कृति के ईस 'देवदूष्य' को विखण्डित और विभाजित नही कर सकती।

\+ + +

इस जगत की तीन अवस्थाए हैं।

जो अवस्था प्रारब्ध से प्राप्त हो गई है उसी अवस्था मे रोते-बिलबिलाते पड़े रहना, निरुपाय और निरुत्साह होकर करवटे बदलते रहना "पशुत्व' है।

जो अवस्था प्राप्त हो गई है, उसमे जो अशुभ और असुन्दर है उसे छोडकर निरन्तर शुभ और सुन्दर की ओर बढते रहने का प्रयत्न करना—'मनुष्यत्त्व' है।

शुभ अशुभ के प्रभावो और प्रतिक्रियाओ से अस्पृष्ट रहकर सब अवस्थाओ मे सर्वदा आनन्दमय होकर रहना—'ईश्वरत्व' है।

तुम सोचो, वर्तमान मे किस अवस्था से गुजर रहे हो, और कौनसी अवस्था प्राप्त करनी है ?

\+ + +

कभी-कभी विचार आता है 'क्या सविधान के जरिये से देश मे समाजवाद आ सकता है ?

'शासन तन्त्र' की सुई—मनुष्य-मनुष्य के हृदयो को जोडकर एक कर सकती है ?

शक्ति और सत्ता—जन-जन के बीच सद्भावना स्थापित करने मे समर्थ हो सकती हैं ?

चिन्तन मनन की लम्बी घाटियो को पार करने के वाद भी इनके उत्तार मे 'नकारात्मक-ध्वनि' लौटकर आई है—नही ! नही ! और नही !

समाजवाद, सहकारिता और सद्भावना ऊपर से नही थोपे जा सकते। इनका प्रवाह जीवन के भीतर से निकलकर बाहर की की ओर वहना चाहिए।

समाजवाद के लिए सहकारिता आवश्यक है,और सहकारिता के लिए सद्भावना !!

\+ \+ \+

एक ग्वाला (चरवाहा) बाडे मे जमा हुए पशुओ को लकडी के डडे से हाक कर ले जा रहा है।

और इधर देखिए—एक नेता भीड मे जमा हुए मनुष्यो को अपनी बुद्धि के डडे से हाकता ले जा रहा है।

भीड मे बुद्धि नही होती, इसलिए वहा पर भी 'पशुत्व' ही रहता है।

\+ \+ \+

क्या अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा से भिन्न कोई तीसरा सिद्धान्त है ?

मेरे विचार मे—चिन्तन करने की विशुद्ध प्रक्रिया—'सत्य-रूप अनेकान्त है' और जीवन जीने की विशुद्ध पद्धति—अहिंसात्मक अनेकान्त हे।

इसी विचार के सन्दर्भ मे गाधीजी का यह चिन्तन हमारे लिए मनन करने योग्य है—"मेरा अनेकान्तवाद, सत्य और अहिंसा, इन युगल सिद्धान्तो का ही परिणाम है।"

●

पुस्तक बौद्ध और जैन आगमो मे नारी जीवन ।
लेखक डा० कोमलचन्द्र जैन, एम. ए पी एच डी.
प्रकाशक सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर।
आकार २२" × ३६" × १६ पृष्ठ २७० (मूल्य १५) रु०

- प्रस्तुत पुस्तक हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच डी की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध है ।
- स्वतन्त्र भारत मे नारी–सभ्यता और सस्कृति के जिस अधुनातन परिवेश मे उपस्थित हो रही है, वह मात्र एक उद्देश्यहीन प्रवाह से आयातित नही हैं, उसके पीछे सुदीर्घ सास्कृतिक प्रतिक्रिया है, विकास और विद्रोह के मौलिक कारण हैं ।
- प्राचीन भारत मे नारी जिन परिस्थितियो और परम्पराओ मे से गुजरी है, वह अपने आप मे इतिहास होते हुए भी एक रोचक कहानी से कम नही है। पुस्तक मे विद्वान लेखक ने नारी जीवन की दो हजार वर्ष पुरानी सास्कृतिक एव सामाजिक तस्वीर को कहानी की तरह बहुत ही सुन्दर एव प्रामाणिक ढग से उपस्थित किया है। यह शोध प्रबन्ध होते हुए भी उपन्यास जैसा रोचक, इतिहास जैसा तथ्यो से परिपूर्ण तथा समाज शास्त्र जैसा सामाजिक प्रतिमानो से सवलित है ।
- सस्कृत साहित्य के आधार पर प्राचीन भारत के नारी जीवन के सम्बन्ध मे अब तक थोडा बहुत लिखा गया है, किन्तु प्राकृत तथा पालि के विशालसाहित्य का अवगाहन किये बिना यह विषय स्वय मे अधूरा ही था। अध्ययनशील लेखक श्री कोमलचन्द्र जी ने मूल जैन आगम (चूर्णि एव भाष्य भी) तथा बौद्ध

त्रिपिटक साहित्य के आधार पर नारी जीवन के सम्बन्ध में प्राचीन भारत की सभ्यता व सस्कृति के जो उजले-धुधले चित्र उपस्थित किए है, वे वस्तुत. महत्वपूर्ण है। इतिहास एव समाज-शास्त्र के कुछ नये आयाभ भी प्रस्तुत करते है।

लेखक मूल ग्रन्थो की भावना को स्पर्श करता हुआ चला है, और प्राय: पूर्वाग्रहो से उन्मुक्त होकर ! इस दृष्टि से पुस्तक का महत्व और अधिक बढ जाता है।

प्रत्येक सस्कृतिप्रेमी, शोधकर्ता व प्रवक्ता के लिए पुस्तक पठनीय व मननीय है। इस लेखन व प्रकाशन के लिए श्री कोमल चन्द्र जी तथा जैन विद्या का प्रमुख केन्द्र श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रय शतश: धन्यवादार्ह है।

—'सरस'

भोजन खाने मे सुख नही, उसके पचने मे सुख है। पुस्तक पढ़ने मे सुख नही, चिन्तन करने मे सुख है, और धर्म सुनने मे सुख नही, उसके आचरण करने मे सुख है।

\+ + +

आपके पास यदि अधिकार और सत्ता नही है, तो आपको सहिष्णुता की आवश्यकता है। यदि अधिकार और सत्ता प्राप्त हुई है, तो नम्र एव उदार मन की आवश्यकता है।

\+ + +

प्रकृति के अनुकूल चलना—पशु का स्वभाव है। प्रकृति को अपने अनुकूल बनाना—मानव का प्रधान है।

प्रश्न आपके ?

उत्तर 'कवि श्री जी' के !

नग्नभाव : अर्थ या अनर्थ ?

प्रश्न 'नग्नभाव' के सम्बन्ध मे आपके एक प्रवचन पर सम्यग्-दर्शन के सम्पादक ने आलोचना की है। आपके द्वारा प्ररूपित आगम की आत्मा को स्पर्श करने वाला वह विवेचन मुझे तो उपयुक्त लगता है, परन्तु सम्यग्दर्शन उसे 'अनर्थ' कहकर घबराहट की भाषा मे बोल रहा है ?

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

उत्तर . कागज का सम्यग्दर्शन क्या कहता है, इससे मुझे कुछ लेना देना नही है। मैं तो अपनी आत्मा के सम्यग्दर्शन के आधार पर ही कुछ कहता हूँ। वही मेरा एक मात्र आदर्श है। इधर-उधर की स्तुति और निन्दा न मुझे आगे बढा सकती है और न पीछे हटा सकती है।

नग्नभाव के दो रूप हैं, एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक। आगमो मे आए नग्नभाव का सम्बन्ध केवल बाह्य ही नही है, आन्तरिक भी है, यही मेरे कहने का मूल अभिप्राय है। जिनकल्प आदि बाह्य नग्नभाव मे भी रहते हैं, परन्तु वह ही केवल अल और इति नही है। बाहर का नग्नभाव हो भी सकता है, नही भी हो सकता है, वह मुख्य नही है, मुख्य है अन्दर का नग्नभाव, विकारो से नग्नता विकारो के आवरण को तोडकर आत्मा की शुद्ध स्थिति का अमुक अश मे ही सही, नग्नता भाव अर्थात् निरावरणता भाव साधक के लिए आवश्यक है। उसके बिना बाह्य नग्नता कुछ अर्थ नही रखती है। गुणस्थानो की उच्चता की दिशा मे प्रगति इसी आन्तरिक नग्नता के आधार पर होती है। यह कौन कहता है कि छठे या सातवे आदि गुणस्थानो मे आन्तरिक नग्नभाव नही हैं ?

मेरा अभिप्राय तो यह है कि इस वाह्य नग्नता आदि पर ही साधक आत्मतुष्ट न हो जाएँ, इसे ही इति न समझे। बाहर से अन्दर मे भी झाकना है, आन्तरिक नग्नता को भी विकसित करना है। उसे विकसित किए विना आध्यात्मिक प्रगति कथमपि सम्भव नही है। इसी भावना को स्पष्ट करते हुए दिगम्बर जैनाचार्य मल्लिषेण ने भी कहा है—"किं वस्त्रत्यजनेन भो मुनिवरा वेतालवज्जायते।" क्या मल्लिषेण के उक्त प्राचीन कथन का आज की वहकी हुई कलमे मजाक उडा सकती है? मजाक उडाने को कुछ भी लिखा जा सकता है, परन्तु त्रिकालावाधित सत्य को इस प्रकार त्रिकाल मे भी नही उडाया जा सकता।

यदि वाह्य नग्नभाव ही सर्वतोभावेन अपेक्षित हो, तो साध्वी सघ के लिए क्या होगा? वे तो वाहर मे नग्न नही होती, फिर उनके लिए नग्नभाव जैसे विशेपण कैसे सगत हो सकते हैं? आन्तरिक नग्नता मे, विकारो मे अमुक अशो तक निरावरण होने मे ही नग्न-भाव का विशेपण साध्वी के लिए घटित हो सकता है। जैन साधना का मूल स्वर वाहर से अन्दर होने मे है। वन्धन बाहर से नही, अन्दर से टूटते हे। वाहर के रूप, वाहर के विधि-विधान आन्तरिक वातावरण के निर्माण के लिए हैं, सामाजिक स्थिति की सुरक्षा के लिए हैं। इसीलिए गणधर गौतम ने कहा है—'लोगे लिंगप्पओयणं'।

मेरा वैचारिक आक्रमण वाह्य नग्नता एव तप आदि पर नही है। मेरा आक्रमण वर्तमान की उस मनोवृत्ति पर है, जो अन्दर को भुलाकर वाहर को ही सव कुछ समझ वैठी है। आज के वाह्या-चारो के लिए किए जाने वाले अनर्गल आडम्वर, काला वाजार और रिश्वत आदि अनैतिक माध्यमो के द्वारा प्राप्त धन से किए जाने वाले उत्सव, इस वात के साक्षी हैं कि आज के साधक की साधना कहाँ भटकी हुई है? जव हम आस-पास पडौस की परम्पराओ के वाह्याचार सम्वन्धी आडम्वरो की आलोचना करते है, तो अपने मिथ्या-आडम्वरो पर पुष्प कैसे चढा सकते हैं? धर्म के नाम पर यह अनर्गल मिथ्याचार कदापि वरेण्य नही हो सकता। यदि कोई हमारी आध्यात्मिक भावना को वल देने वाली अर्थवती विचारधारा को

अनर्थ समझता है तो यह समझने वाले का बुद्धि-विभ्रम नही है, तो और क्या ?

"कषायों का आवरण तो वीतराग होने पर हटता है। सूत्रो मे जहाँ नग्नभाव मुण्डभाव शब्द आए हैं, वह स्थिति सराग अवस्था की है और उनकी (अर्थात् मेरी) असंगतता बतलाती है"—यह सब किस धुन मे लिखा है, मैं नही समझ पाया। उक्त कथन का यह अभिप्राय है कि सराग अवस्था मे कषायो का आवरण हटता नही है, फलत: छठें, सातवें, किं बहुना, दशवें गुणस्थान तक सराग अवस्था होने से उनमे आन्तरिक नग्नता घटित नही हो सकती। आलोचक की दृष्टि मे यहाँ वीतरागता नही है। जैनधर्म का साधारण अभ्यासी भी जानता है कि अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषायो का क्षयोपशम आदि हुए बिना, अमुक अशो मे वीतरागभाव आए बिना न कोई साधक सम्यग्दृष्टि हो सकता है, न श्रावक न साधु ही। कषायो का आवरण अमुक अश मे हटाना ही होगा, वीतरागभाव किसी न किसी अंश मे जागृत करना ही होगा, तभी साधना का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। अन्यथा नही। क्या आलोचक कषायो का अमुक अश तक आवरण हटाये बिना केवल बाह्यनग्नभाव मुण्डभाव आदि के द्वारा गुण स्थान परिवर्तन मानता है? यदि मानता है, तो यह बौद्धिक व्यामोह नही तो और क्या है? स्वय आलोचक भी नग्नभाव मुण्डभाव का अर्थ 'असगता पूर्ण वृत्ति, सयम रुचि एव आत्म भावलक्षी परिणति, पौद्गलिक रुचि से रहित दशा' करता है। विचारने जैसी बात है कि यह सब कषाय-क्षयोपशमता एव कषायहीनता नही तो और क्या चीज है? जो बात मैं जैन पारिभाषिक शब्दो मे कषाय भाव को हटाने जैसे शब्दो मे कहता हूँ, वही शब्दान्तर से आलोचक भी कहता है, फिर पता नही अर्थ का अनर्थ कहा है! सूत्र कृताग सूत्र (१।२।१।९) मे आन्तरिक पवित्रता से शून्य बाह्याचार की भर्त्सना करते हुए कहा है—

> **जइ वि य णिगणे किसे चरे,**
> **जई वि य भुंजे मासमन्तसो।**
> **जे इह मायाइ मिज्जइ,**
> **आगन्ता गब्भाय ऽ णंतसो।**

३. भक्तामर स्तोत्र (हिंदी व्याख्या सहित) ०-५०
४. कल्याणमदिर स्तोत्र ०-६२
(हिंदी व्याख्या सहित)
५. वीर स्तुति (हिंदी अर्थ व पद्यानुवाद) ०-५०

काव्य व संगीत साहित्य :—

१. धर्मवीर सुदर्शन २-००
२ सत्यवीर हरिश्चन्द्र २-००
३. सगीत माधुरी १-२५
४. अमर माधुरी १-००
५. सुरेश गीताजलि ०-३०
६. अमर सगीत ०-२५

उपदेश साहित्य :—

१ पथ के दीप १-५०
२. चमकते मोती : दमकते हीरे १-२५
३. जीवन सूत्र ०-५०
४. तीन वात ०-२५
५. चार वात ०-२५
६. कुछ फूल : कुछ पखुड़ियाँ ० ५०

दर्शन व निबन्ध साहित्य :—

१. आगम युग का जैन दर्शन ५-००
२ जैन दर्शन ४-००
३. श्रमण सूत्र (सभाष्य) ७-००
४. सामायिक सूत्र (सभाष्य) ३-५०
५. जैनत्व की झाकी (नवीन संस्करण) १-२५
६. तत्वार्थ सूत्र ०-५०
७. पचशील १-५०
८. ऋषभ देव : एक परिशीलन ३-००
९. स्मरण-शक्ति के चमत्कार २-००
१०. धर्म और दर्शन ४-००
११. सूक्ति त्रिवेणी (सम्पूर्ण तीन खण्ड) १०-००
१२. विचार ज्योति १-५०

पाठकों से, कहनी है कुछ बात……

- जनवरी १९६८ से श्री 'अमर भारती' का पाँचवा वर्ष प्रारम्भ हो रहा है।
- श्री 'अमर भारती' आप नियमित पढ़ते है, आपको अच्छी लगती है, और आप चाहते हैं कि इसका अधिक से अधिक प्रचार हो।
- तो आप अपना सदस्यताशुल्क समाप्ति की सूचना पाते ही अवश्य भेजेंगे, तब आप इन बातो पर विचार कर लीजिए।

(१) यदि आप एक साथ एक सौ एक १०१) रुपया भेजते हैं तो भविष्य मे कभी भी पुन आपको शुल्क भरने की आवश्यकता नही होगी। आप श्री अमरभारती के आजीवन सदस्य बन जाएँगे और नियमित रूप से 'अमर भारती' आपकी सेवा मे पहुँचा करेगी।

(२) यदि आप २५ रु० एक साथ भेज देते हैं, तो आप पांच वर्ष के सम्मान्य सदस्य बन जाएँगे। प्रतिवर्ष एक रु० की किफायत भी। और पाच वर्ष तक पत्रिका प्राप्त होने की गारंटी!

(३) यदि आप १५ रु० एक साथ भेज देंगे तो आप तीन वर्ष के हितैषी सदस्य बन जाएँगे। इसमे भी आपको लाभ है।

(४) यदि आप ६) रु० अपना और ६) रु० वार्षिक का एक ग्राहक और बनाकर भेजेंगे तो आप हमारे सहयोगी सदस्य कहलायेंगे। सहयोग मांगना जितना हमारा कर्तव्य है, उतना ही आपका कर्तव्य है सहयोग देना।

हमारी बात को ध्यान से पढिये, इस पर विचार कीजिये और अपनी सक्रिय प्रतिक्रिया से शीघ्र ही सूचित कीजिए।

—व्यवस्थापक

—'भले ही नग्न रहे, मास—मास का अनशन करे, और शरीर को कृश एव क्षीण कर डाले, किंतु जो अन्दर मे माया अर्थात् दम्भ रखता है, वह जन्म मरण के अनन्त चक्र में भटकता ही रहता है।"

आलोचक महाशय क्या इस आगम वचन की भी खिल्ली उड़ायेंगे और कहेगे कि माया बहुत आगे चल कर क्षीण होती है, छठे सातवें गुण स्थान मे तो नही, अतः माया के रहते बाह्य नग्नता, बाह्य तप का जो विरोध किया है, वह सूत्रकार का असगत कथन है, अर्थ का अनर्थ है! आन्तरिक शुद्धि अपनाए बिना बाह्याचार का विरोध एव खण्डन जैन परम्परा मे सदा से होता आया है और होता रहेगा। मेरा कथन भी उसी श्रृङ्खला की एक कड़ी है, और कुछ नही।

आध्यात्मिक शुद्धि के लिए सहजभाव से दिए गए उपदेश, प्रवचन को कितना तोडामरोडा है, आश्चर्य है! उसे अर्थ का अनर्थ और दर्शनमोह का उदय तक बताया है। मैं क्या कह सकता हूँ इस सम्बन्ध मे। हाँ, कभी कभी ऐसा भी होता है कि मनुष्य के अपने ही मन की विकृतियाँ दूसरो मे प्रतिभासित होने लगती हैं, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति भटक जाता है। इसके लिए भूलेभटके आत्म-बन्धुओ को सद्बुद्धि एव सद् विवेक प्राप्त हो, यही सद् भावना।

●

'आत्मा' के भीतर शक्ति का अनन्त-स्रोत छिपा पडा है। आनन्द का अक्षय-भण्डार भरा हुआ है।

इस शक्ति की महत्ता का जिसने गान किया, वह कवि हो गया। जिसने इस पर चिन्तन किया—वह दार्शनिक हो गया, जिसने इसकी पूजा की वह सन्त हो गया, और इस शक्ति पर अटल विश्वास के जो आगे बढा—वह ससार का महापुरुष हो गया।

●

पठनीय, संग्रहणीय एवं उपहार देने योग्य हमारा सरस, सुबोध जीवनोपयोगी साहित्य

प्रवचन साहित्य :—

१.	अहिंसा दर्शन		४-५०
२	सत्य दर्शन		२-५०
३.	अस्तेय-दर्शन		१-५०
४.	ब्रह्मचर्य-दर्शन		३-५०
५	अपरिग्रह-दर्शन		२-००
६.	पर्युषण प्रवचन		३-५०
७.	अध्यात्म प्रवचन		५-००
८	समाज और संस्कृति		३-२५
९	अमर आलोक		१-००
१०.	विचारो के नये मोड		३-००
११.	जीवन की पाखे		३-००
१२.	उज्ज्वल वाणी	भाग १	३-००
१३.	उज्ज्वल वाणी	भाग २	२-२५

कथा साहित्य —

१.	भगवान् महावीर की बोध कथाएँ	१-००
२	जैन इतिहास की प्राचीन कथाएँ	१-००
३.	जैन इतिहास की प्रेरक कथाएँ	१-००
४	जैन इतिहास की प्रसिद्ध कथाएँ	१-००
५	प्रत्येक बुद्धो की जीवन कथाएँ	१-००
६	फूल और शूल	३-००
७.	कुछ सुनी, कुछ देखी	२-००
८.	पीयूषघट	१-५०
९.	गागर मे सागर	१-००
१०	बुद्धि के चमत्कार	१-००
११	जीवन के चलचित्र	२-००

पाठ व स्तोत्र साहित्य :—

१.	मंगल वाणी	२-००
२.	मंगल पाठ	०-१५

३.	भक्तामर स्तोत्र (हिंदी व्याख्या सहित)	०-५०
४.	कल्याणमदिर स्तोत्र (हिंदी व्याख्या सहित)	०-६२
५.	वीर स्तुति (हिंदी अर्थ व पद्यानुवाद)	०-५०

काव्य व संगीत साहित्य :—

१.	धर्मवीर सुदर्शन	२-००
२	सत्यवीर हरिश्चन्द्र	२-००
३.	सगीत माधुरी	१-२५
४	अमर माधुरी	१-००
५.	सुरेश गीताजलि	०-३०
६	अमर सगीत	०-२५

उपदेश साहित्य :—

१.	पथ के दीप	१-५०
२.	चमकते मोती : दमकते हीरे	१-२५
३.	जीवन सूत्र	०-५०
४.	तीन बात	०-२५
५.	चार बात	०-२५
६.	कुछ फूल : कुछ पखुडियाँ	० ५०

दर्शन व निबन्ध साहित्य :—

१.	आगम युग का जैन दर्शन	५-००
२.	जैन दर्शन	४-००
३.	श्रमण सूत्र (सभाष्य)	७-००
४.	सामायिक सूत्र (सभाष्य)	३-५०
५.	जैनत्व की झाकी (नवीन संस्करण)	१-२५
६.	तत्वार्थ सूत्र	०-५०
७.	पचशील	१-५०
८.	ऋषभ देव : एक परिशीलन	३-००
९	स्मरण-शक्ति के चमत्कार	२-००
१०.	धर्म और दर्शन	४-००
११.	सूक्ति त्रिवेणी (सम्पूर्ण तीन खण्ड)	१०-००
१२.	विचार ज्योति	१-५०

श्री अमर भारती, जनवरी १९६८

पाठकों से, कहनी है कुछ बात……

- जनवरी १९६८ से श्री 'अमर भारती' का पाँचवा वर्ष प्रारम्भ हो रहा है।
- श्री 'अमर भारती' आप नियमित पढ़ते है, आपको अच्छी लगती है, और आप चाहते हैं कि इसका अधिक से अधिक प्रचार हो।
- तो आप अपना सदस्यताशुल्क समाप्ति की सूचना पाते ही अवश्य भेजेंगे, तब आप इन बातो पर विचार कर लीजिए।

(१) यदि आप एक साथ एक सौ एक १०१) रुपया भेजते हैं तो भविष्य मे कभी भी पुन आपको शुल्क भरने की आवश्यकता नही होगी। आप श्री अमरभारती के आजीवन सदस्य बन जाएँगे और नियमित रूप से 'अमर भारती' आपकी सेवा में पहुँचा करेगी।

(२) यदि आप २५ रु० एक साथ भेज देते है, तो आप पाच वर्ष के सम्मान्य सदस्य बन जाएँगे। प्रतिवर्ष एक रु० की किफायत भी। और पाच वर्ष तक पत्रिका प्राप्त होने की गारंटी।

(३) यदि आप १५ रु० एक साथ भेज देंगे तो आप तीन वर्ष के हितैषी सदस्य बन जाएँगे। इसमे भी आपको लाभ है।

(४) यदि आप ६) रु० अपना और ६) रु० वार्षिक का एक ग्राहक और बनाकर भेजेंगे तो आप हमारे सहयोगी सदस्य कहलायेंगे। सहयोग मांगना जितना हमारा कर्तव्य है, उतना ही आपका कर्तव्य है सहयोग देना।

हमारी बात को ध्यान से पढिये, इस पर विचार कीजिये अपनी सक्रिय प्रतिक्रिया से शीघ्र ही सूचित कीजिए।

३. भक्तामर स्तोत्र (हिंदी व्याख्या सहित) ०-५०
४ कल्याणमदिर स्तोत्र ०-६२
(हिंदी व्याख्या सहित)
५. वीर स्तुति (हिंदी अर्थ व पद्यानुवाद) ०-५०

काव्य व सगीत साहित्य :—

१. धर्मवीर सुदर्शन २-००
२ सत्यवीर हरिश्चन्द्र २-००
३. सगीत माधुरी १-२५
४. अमर माधुरी १-००
५. सुरेश गीताजलि ०-३०
६ अमर सगीत ०-२५

उपदेश साहित्य :—

१ पथ के दीप १-५०
२. चमकते मोती : दमकते हीरे १-२५
३. जीवन सूत्र ०-५०
४. तीन वात ०-२५
५. चार वात ०-२५
६. कुछ फूल : कुछ पखुड़ियाँ ० ५०

दर्शन व निवन्ध साहित्य :—

१. आगम युग का जैन दर्शन ५-००
२. जैन दर्शन ४-००
३. श्रमण सूत्र (सभाष्य) ७-००
४. सामायिक सूत्र (सभाष्य) ३-५०
५. जैनत्व की झाकी (नवीन सस्करण) १-२५
६. तत्वार्थ सूत्र ०-५०
७ पचशील १-५०
८. ऋषभ देव : एक परिशीलन ३-००
९ स्मरण-शक्ति के चमत्कार २-००
१०. धर्म और दर्शन ४-००
११. सूक्ति त्रिवेणी (सम्पूर्ण तीन खण्ड) १०-००
१२ विचार ज्योति १-५०

पाठकों से, कहनी है कुछ बात......

- जनवरी १९६८ से श्री 'अमर भारती' का पाँचवा वर्ष प्रारम्भ हो रहा है।
- श्री 'अमरभारती' आप नियमित पढ़ते हैं, आपको अच्छी लगती है, और आप चाहते हैं कि इसका अधिक से अधिक प्रचार हो।
- तो आप अपना सदस्यताशुल्क समाप्ति की सूचना पाते ही अवश्य भेजेंगे, तब आप इन बातो पर विचार कर लीजिए।

(१) यदि आप एक साथ एक सौ एक १०१) रुपया भेजते हैं तो भविष्य मे कभी भी पुन आपको शुल्क भरने की आवश्यकता नही होगी। आप श्री अमरभारती के **आजीवन सदस्य** बन जाएँगे और नियमित रूप से 'अमर भारती' आपकी सेवा में पहुँचा करेगी।

(२) यदि आप २५ रु० एक साथ भेज देते है, तो आप पाच वर्ष के **सम्मान्य सदस्य** बन जाएँगे। प्रतिवर्ष एक रु० की किफायत भी! और पाच वर्ष तक पत्रिका प्राप्त होने की गारंटी!

(३) यदि आप १५ रु० एक साथ भेज देंगे तो आप तीन वर्ष के **हितैषी सदस्य** बन जाएँगे। इसमे भी आपको लाभ है।

(४) यदि आप ६) रु० अपना और ६) रु० वार्षिक का एक ग्राहक और बनाकर भेजेंगे तो आप हमारे **सहयोगी सदस्य** कहलायेंगे। सहयोग मागना जितना हमारा कर्तव्य है, उतना ही आपका कर्तव्य है सहयोग देना।

हमारी बात को ध्यान से पढिये, इस पर विचार कीजिये और अपनी सक्रिय प्रतिक्रिया से शीघ्र ही सूचित कीजिए।

—व्यवस्थापक

आगामी अक का विशेष आकर्षण :

दिनाक ३१-१२-६७ को उपाध्याय श्री जी के सान्निध्य मे एक विचार गोष्ठी का बृहत् आयोजन हो रहा है, जिसमे स्थानीय विद्वानो के अतिरिक्त सुप्रसिद्ध पत्रकार श्री यशपाल जी जैन, हिन्दी के प्रमुख विचारक व साहित्यकार श्री जैनेन्द्र कुमार जी आदि शीर्षस्थ विचारक भाग ले रहे हैं। गोष्ठी मे विचार परिचर्चा का विषय है, 'वर्तमान समस्याएँ और उनका दार्शनिक समाधान !'

उपाध्याय श्री जी का विश्लेषण प्रधान प्रवचन आप अगले अक में प्रढ़ने की प्रतीक्षा कीजिए।

—सम्पादक

एक निवेदन !

१—ग्राहको से निवेदन है कि श्री 'अमर भारती' से सम्बन्धित पत्र-व्यवहार मे अपना ग्राहक नम्बर या शुल्क भेजने की तारीख का उल्लेख अवश्य कर दिया करे।

२—मनीआर्डर फोर्म पर पीछे के कूपन पर अपना पता हिन्दी मे या अग्रेजी मे साफ लिखना न भूले।

३—श्री 'अमर भारती' प्रत्येक महीने की १० तारीख तक न पहुँचने पर ग्राहक नम्बर देते हुए सूचित करने का कष्ट करें। यदि ग्राहक नम्बर याद न हो तो पूरा पता लिखें।

४—कार्यालय से भेजी गई सूचना को देखकर अपना वार्षिक शुल्क मनिआर्डर से भेजने पर वी० पी० के अतिरिक्त खर्च से आप बच सकते हैं। यदि किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो तो सूचना मिलते ही तुरन्त सूचित करना चाहिए, जिससे यहाँ से आपके नाम वी० पी० न की जा सके।

५—उपरोक्त कार्य करने से हमे आपकी अधिक से अधिक सेवा करने का शुभ अवसर मिलेगा।

६—श्री अमर भारती की सन् १६६४ से १६६७ तक की फाइले वाइंडिग की हुई तैयार है। इच्छुक ग्राहक वी० पी० द्वारा मगवा सकते हैं। प्रत्येक फाइल का मूल्य ६ रु०, डाक शुल्क अतिरिक्त।

१ अध्यात्म प्रवचन

लेखक · उपाध्याय श्रमर मुनि, मूल्य ५) लागत मात्र ।

सम्यगदर्शन, उसकी पृष्ठभूमि सम्यग्दर्शन का शुद्ध यथार्थ स्वरूप आदि विभिन्न दृष्टियो से अध्यात्मप्रधान विश्लेपण। साथ ही सम्यग् ज्ञान के अनेक अग, स्याद्वाद सप्तभगी, नय आदि का तुलनात्मक एव ऐतिहासिक दृष्टि से पर्यालोचन। गम्भीर हृदय-ग्राही तटस्थ और सुबोध चिंतन, मनन। श्री विजय मुनि, शास्त्री की मँजी हुई लेखनी का सम्पादन शिल्प।

'अध्यात्म प्रवचन' का गुजराती अनुवाद कलकत्ता श्रीसघ, २७ पोलक स्ट्रीट से प्रकाशित हो रहा है ।

. ऋषभदेव : एक परिशीलन

लेखक देवेन्द्र मुनि शास्त्री मूल्य ३)

आर्यसस्कृति के आदिपुरुष भगवान ऋषभदेव की जीवन-गाथा जैन हित्य के शतश वाग्-स्रोतो से मुखरित हुई है । उस महाप्राण व्यक्तित्व का अनु- लनात्मक दृष्टि से लिखा हुआ यह जीवन-चरित्र चरित्रग्रन्थो की शैली मे नवीन श्री है । सैकडो प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर लेखक ने भगवान ऋषभदेव के जीवन विभिन्न पहलुओ पर प्रामाणिक और सुन्दर ढग से जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वस्तुत पठनीय है ।

. जैन इतिहास की प्राचीन कथाएँ

जैन इतिहास की प्रेरक कथाएँ

५ जैन इतिहास की प्रसिद्ध कथाएँ

६ प्रत्येक बुद्धो की जीवन कथाएँ

लेखक उपाध्याय अमर मुनि । मूल्य १) प्रत्येक भाग का ।

जैनसाहित्य कथामाला के अन्तर्गत कथामाला का यह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एव पचम भाग प्रकाशित हुआ है ।

Reg. No L. 2043

ऐतिहासिक कहानियो मे रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए सभी भाग पठनीय व सग्रहणीय है । इस प्रकार का सरल एव सरस साहित्य हर घर की अलमारी को सुशोभित करने वाला ही नही वल्कि जीवन का निर्माण करने वाला भी है।

७ जैन धर्म

डा० इन्द्र चन्द्र शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी० । मूल्य ५० पैसे ।

जैन धर्म व परम्परा का सक्षिप्त परिचय प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत लघु पुस्तिका अत्यन्त उपयोगी है ।

८. सूक्ति त्रिवेणी

उपाध्याय अमर मुनि (प्रथम खण्ड जैन धारा) मूल्य ४) ।

(द्वितीय खण्ड, वौद्ध धारा) मूल्य ३) ।

जैन धारा मे जैन वाग्मय के मुख्य ५३ ग्रन्थो के चुने हुए वारह सौ सुभापित है ।

वत्तीस आगम, प्रकीर्णक, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थ, सन्मतितर्क आदि महत्व पूर्ण ग्रन्थो मे से महान् श्रम के साथ सकलित किया गया यह महत्त्वशाली ग्रन्थ सुभाषित साहित्य के क्षेत्र मे एक नवीन युग का प्रवर्तन करेगा।

वौद्ध धारा मे पालि वौद्ध वाग्मय का गहन अनुशीलन करके चुने हुए लगभग ६ सौ सुभाषित है।

तृतीय खण्ड वैदिक धारा भी शीघ्र ही प्रकाश्यमान है।

९ धर्म और दर्शन मूल्य ४)

श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री द्वारा लिखित गवेषणात्मक निवन्ध सग्रह ।

इसमे, अध्यात्मवाद कर्मवाद, सम्यग् दर्शन, स्याद्वाद तप अहिसा, दान सेवा आदि विपयो पर ससदर्भ लिखे गए अनुशीलनपूर्ण ग्यारह निबन्ध है। सरल और प्रवाहपूर्ण भापा । सुन्दर मुद्रण तथा कलापूर्ण आवरण ।

१० विचार ज्योति मूल्य १)५०

श्री हीरा मुनि 'हिमकर' के भावना प्रधान सरल एव सरस निवन्धो का सग्रह

प्रकाशन के पथ पर

१ गुलजारे शाइरी (अत्यत शीघ्र ही प्रकाश मे आ रही है)
२ प्रेरणा प्रदीप
३ अहिसा की वोलती मीनारें

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एव प्रेम प्रिंटिंग प्रेस द्वारा मुद्रित ।

फरवरी १९६८

आत्मभाव

धर्म न बाह्यभाव में किंचित्,
बाह्योन्मुखता बन्धन है !
आत्मभाव ही एक धर्म है,
जो सब बन्ध विमोचन है ।

★

—उपाध्याय अमरमुनि

श्री अमर भारती

वर्ष ४ फरवरी १९६८ अंक २

पढ़िए... पृष्ठो पर

★

★

प्रेरणा ·

श्री अखिलेश मुनि

मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

★

दिशा निर्देशन ·

श्री विजय मुनि 'शास्त्री'

★

सपादक ·

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०

★

व्यवस्था ·

रामधन बी० ए० 'प्रभाकर', 'साहित्य रत्न'

★

प्रकाशक

सोनाराम जैन

मत्री

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

★

मूल्य

आजीवन : एक सो एक रुपया

वार्षिक : छ रुपया

एक प्रति : ५०

मुद्रक :

प्रेम प्रिंटिंग प्रेस राजामण्डी, आगरा

आवरण ·

प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-३

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

सच्चं पभासकं भवति सव्वभावाणं,

●

सच्चं लोगम्मि सारभूयं गंभीरतरं महासमुद्दाओ,

●

सच्चं सोमतरं चंदमंडलाओ, दित्ततरं सूरमंडलाओ,

●

सच्चं च हियं च मियं गाहणं च।

—प्रश्नव्याकरण सूत्र २।२

सत्य, समस्त भावो—विषयो का प्रकाश करने वाला है।

●

ससार मे सत्य ही सारभूत है, सत्य महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है।

●

सत्य, चन्द्रमण्डल से भी अधिक सौम्य है। सूर्यमण्डल से भी अधिक तेजस्वी है।

●

ऐसा सत्य वचन बोलना चाहिए, जो हित, मित (सक्षिप्त, किंतु पूर्ण) एव ग्राह्य हो।

कविता

दिव्य जीवन

●

प्रतिक्षण क्षीण जीवन में, अमर खुद को बना देना।
भविष्यत् की प्रजा को, अपने पद-चिह्नों चला देना।
दुखी-दलितों की सेवा में, विनय के साथ जुट जाना।
अखिल वैभव बिना झिझके, बिना ठिठके लुटा देना।
असत्पथ भूल करके भी, कभी स्वीकार ना करना।
प्रलोभन में न फँसकर, सत्य-पथ पर सर कटा देना।
क्रमागत कुप्रथाओं का, भ्रमों का, मूढताओं का।
अध.पाती निशाँ मानव-जगत में से मिटा देना।
जिनेश्वर, बुद्ध हो, हरि हो, मुहम्मद हो, या ईसा हो।
गुणो की दृष्टि रख गुण के लिए मस्तक झुका देना।
सहस्राधिक प्रयत्नों से मृतक-सम देश वालों में।
नया जीवन, नया उत्साह, नया युग ला दिखा देना।
अधिक क्या, जन्म लेने का यह अन्तिम सार ले लेना।
'अमर' निज मृत्यु के दिन शत्रुओ को भी रुला देना।

—'अमर माधुरी' से

सस्कृतिया बनती है, विकसित होती हैं और मिट जाती हैं और फिर नया रूप धारण करके प्रकट होती हैं—किन्तु इस निर्माण, विनाश और पुनर्निर्माण के मध्य वह कौन-सी कडी है जो संस्कृति के मूल स्वरूप को कभी खण्डित नही होने देती ! संस्कृति की धारा को कभी टूटने नही देती ? सस्कृति का वह मूल आधार क्या है ?

आइए सस्कृति के उस आधार भूत मूल तत्व का दर्शन करें, कवि श्री जी की विचारक भाषा मे.

संस्कृति के मूलाधार

उपाध्याय अमरमुनि

●

मनुष्य के महत्व और प्रतिष्ठा का मूल आधार क्या है ? प्राचीन शास्त्रो और ग्रन्थो मे उसकी प्रतिष्ठा का जो आधार बताया है, वह क्या है, और वर्तमान मे वह किस आधार पर चल रहा है ? इस पर विचार और चिन्तन करना है।

मनुष्य की प्रतिष्ठा का मूल आधार उसका अपना मनुष्यत्त्व, मानवता ही माना गया है। चरित्र, त्याग, सेवा और प्रेम—इसी आधार पर मानव की महत्ता तथा प्रतिष्ठा का महल खड़ा किया गया था। पर, आज लगता है—मनुष्य स्वय इन आधारों पर विश्वास नही कर रहा है। अपनी प्रतिष्ठा को चारचाद लगाने के लिए उसकी नजर भौतिक साधनो पर जा रही है, वह धन, सत्ता और नाम के आधार पर अपनी प्रतिष्ठा का नया प्रासाद खडा करना चाह रहा है। आज महत्ता के लिए एक मात्र भौतिक विभूति को ही आधार मान लिया गया है।

एक कहानी चलती है कि एक गाव मे कोई यात्री आ रहा था, रास्ते मे उसे कोई आदमी मिल गया। यात्री ने उससे पूछा—"भाई इस गाव में मुखिया कौन है, चौधरी का नाम क्या है ?"

उसने पूछा—"तुम्हे क्या मतलव है ?"

कहा उसने कि "बाहर से आया हूँ, इसलिए गाव के चौधरी का नाम तो जान लेना चाहिए न ?"

उसने उत्तर दिया— "पिछली साल मुखिया मेरा भाई था, इस साल मैं हूँ।"

यात्री ने जरा आश्चर्य से पूछा—"ऐसा क्यो ? एक साल मे ही वदल कैसे गये ?"

गाँव वाले ने बताया—"पिछली साल उसके यहाँ दो मन अनाज ज्यादा हुआ था, इसलिए मुखिया वह बन गया था और इस साल मेरे यहा दो मन अनाज ज्यादा हुआ, तो मैं मुखिया बन गया।"

इस बात में विनोद का पुट जरूर है, किन्तु आज के समाज की वास्तविकता यही है। आज समाज और राज्य ने प्रतिष्ठा का आधार वदल दिया है, मनुष्य के दृष्टिकोण को बदल दिया है। आज की सस्कृति और सभ्यता धन और सत्ता पर केन्द्रित हो गई है। इसलिए मनुष्य की प्रतिष्ठा का आधार भी धन और सत्ता बन गये हैं। धन और सत्ता बदलती रहती है, हस्तान्तरित होती रहती है, इसलिए प्रतिष्ठा भी बदलती रहती है। आज जिसके पास सोने का अम्बार लगा है, या कहना चाहिए नोटो का ढेर लगा है, जिसके हाथ मे सत्ता है, शासन है, वह चरित्रहीन और दुराचारी होगा तो भी उसे सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती रहेगी, समाज उसकी जय-जयकार करता रहेगा, सैकडो लोग उसकी कुर्सी की परिक्रमा करते रहेगे। चूकि सारी प्रतिष्ठा उसकी तिजोरी मे बन्द हो गई है या कुर्सी के चारो पैरो के नीचे दुबकी बैठी है। यह आधार स्थायी नही है और सही भी नही है।

धन और सत्ता के आधार पर प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा कभी स्थायी नही होती। वह इन्द्रधनुष की तरह एकबार अपनी रंगीन छटा से ससार को मुग्ध भले ही करले, किन्तु कुछ काल के बाद उसका कोई अस्तित्त्व आसमान और धरती के किसी कोने मे नही मिल सकता। यदि धन को स्थायी प्रतिष्ठा मिली होती, तो आज ससार मे धनकुवेरों के मन्दिर बने मिलते। उनकी पूजा होती रहती। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और रावण जैसो की मालाएँ फेरी जाती

जरासन्ध और दुर्योधन को ससार आदर्श पुरुष मानता। जिनकी सोने की नगरी थी, जिनके पास अपार शक्ति थी, सत्ता थी, अपने युग मे उन्हे प्रतिष्ठा भी मिली थी, ख्याति भी मिली थी। पर, याद रखिये, प्रतिष्ठा और ख्याति मिलना दूसरी बात है—श्रद्धा मिलना कुछ और है। जनश्रद्धा उसे मिलती है जिसके पास आत्म-श्रद्धा होती है, चरित्र होता है। ख्याति, प्रशसा और प्रतिष्ठा क्रूरता से भी मिल सकती है, मिली भी है, पर युग के साथ उनकी ख्याति के बुलबुले भी समाप्त हो गए, उनकी प्रतिष्ठा आज खडहरो मे सोयी पडी है।

मनुष्य के मन की यह सबसे बडी दुर्बलता है कि वह इस बाह्य प्रतिष्ठा के बहाव मे अन्धा होकर बहता चला जा रहा है।

एक बार मैं एक शहर मे गया। एक सेठ का बगला बन रहा था। मैंने पूछा—"यह क्या शुरू किया है? पहले भी तो बहुत बगले पड़े हैं। फिर इस नये का क्या करना है तुम्हे?" तो उसने कहा—"महाराज! लडका अमेरिका गया था, वहा से एक नया नमूना लाया है, उसी नमूने का बनवा रहे है।"

बात यह है कि आवश्यकता तो नही है, पर एक नमूना आया है, नया है, वह नमूना तग कर रहा है। उस नमूने का बगला बनेगा, लोग देखने आयेगे, साथी और मित्र, नातेदार और रिश्तेदार वाह-वाह करेगे। बस, यह 'वाह वाही' ही आज के मानव को तग कर रही है। नया बगला खडा हुआ, तो उसके साथ प्रतिष्ठा का एक नया कीर्तिमान खडा हो गया।

ससार मे बड़े-बड़े राजमहल बने हैं, किले बने हैं। जब बने तब युग की पूरी प्रतिष्ठा अपने मे केन्द्रित करके सिर ऊचा उठाए खड़े रहे, पर काल की आंधी चली, तूफान आए और महल मिट्टी मे मिल गए, किले खडहर बन गए।

कुछ सिंहासनो की होड में आगे बढे, साम्राज्य-विस्तार की लालसा मे बेपनाह बहते गये। साम्राज्य को ही उन्होने अपनी अमर प्रतिष्ठा का कीर्तिस्तभ बनाना चाहा। पर यह उनकी बेवकूफी ही निकली। आज उनके साम्राज्यो का कोई नामोनिशान नही रहा। उनके स्वर्णसिंहासन बहुत जल्दी समाप्त हो गए। इतिहास के पृष्ठो पर कही उनके लिए दो शब्द की जगह भी नही रही।

सिंहासन की होड़

●

मैं देखता हूँ सिंहासनो की होड मे मनुष्य अधा होकर चला है। राजगृह मे चातुर्मास किया था मैंने, वहा का इतिहास भी पढा है। सम्राट अजातशत्रु बडा ही महत्त्वाकाक्षी सम्राट हो गया है। युवावस्था मे प्रवेश करते ही उसकी असीम महत्वाकाक्षाएँ सुरसा की भाति विराट रूप धारण कर लेती हैं। सोचता है—"बाप बूढा हो गया है। चलता-चलता जीवन के किनारे पहुँच गया है। अभी तक तो सिंहासन मुझे कभी का मिल जाना चाहिए था। मैं अभी युवक हूँ,भुजाओ मे भी बल है। बुढापे मे साम्राज्य मिलेगा तो क्या लाभ? कैसे राज्य विस्तार कर सकूगा ? कैसे साम्राज्य का आनन्द उठा सकूगा?" बस,वह राज्य के लिए बाप को मारने की योजना बनाता है। सिंहासन के सामने पिता के जीवन का कोई मूल्य नही रह जाता है।

श्रेणिक भी बूढा हो गया है, पर मरना तो किसी के हाथ की बात नही। गृहस्थाश्रम का त्याग उसने किया नही। कभी कभी सोचा करता हूँ कि भारत की यह पुरानी परम्परा कितनी महत्त्वपूर्ण थी कि बुढापा आ गया, शरीर अक्षम होने लगा, तो नई पीढी के लिए मार्ग खोल दिया—"आओ! अब तुम इसे सभालो, हम जाते हैं।" और ससार त्याग कर के चल दिए। महाकवि कालिदास ने रघुवशी राजाओ का वर्णन करते हुए कहा है—

> **शैशवेऽभ्यस्तविद्याना यौवने विषयैषिणाम्।**
> **वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीना योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥**

बचपनमे विद्याओका अभ्यास करते रहे,शास्त्रविद्या भी सीखी और शस्त्रविद्या भी। यौवन की चहल-पहल हुई तो विवाह किया,गृहस्थाश्रम मे प्रवेश किया। न्याय और नीति के आधार पर प्रजा का पालन किया। जब जवानी ढलने लगी, बुढापे की छाया आने लगी तो यह नही कि राज सिंहासन से चिपटे रहे, भोगो मे फसे रहे। राज सिंहासन अपने उत्तराधिकारी को सौपा और मुनिवृत्ति स्वीकार करके चल पड़े। गृह और राज्य से मुक्त होना ही मात्र उनका कोई ध्येय नही था। उस निवृत्ति के साथ ही आत्मा की प्रवृत्ति भी चालू थी। गृहत्याग करके

आत्म ज्योति को जगाने की साधना करने लगे, योग की उच्चतम भूमिका पर पहुँचने की साधना करने लगे और अन्त मे योग-साधना करते-करते ही मन की परम समाधि और शाति के साथ देह को छोड दिया। कितना उच्च जीवन-दर्शन था उस समय का। जीवन में भोग और योग का सुन्दर सामजस्य उनके जीवन मे हुआ था। जीयें जब तक आनन्द और सुख से जीये, मरे तब भी आनन्द और समाधिपूर्वक। आज के जीवन के साथ उस जीवन की तुलना करता हूँ तो सोचता हूँ, कितना अन्तर आ गया है? आज मानव, जीवन भर हाय-हाय करते चलते हैं, पीडाओ और लालसाओ मे कही भी क्षण भर का चैन नही है और अन्तिम समय रोगो से घिर जाने पर भी जीने की लालसा नही छूटती। **'योगेनान्ते तनुत्यजाम्'** की जगह आज **'रोगेनान्ते तनुत्यजाम्'** का आदर्श हो रहा है। जीवन की स्थिति मे कितना बडा परिवर्तन आ गया है ? जीवन के आधार और मानदड कितने बदल गये हैं ?

मैं बतला रहा था कि श्रेणिक भी उस प्राचीन आदर्श को भुला देता है। नये खून मे उमग होती है, आँधी और तूफान का वेग होता है, उसे रोका नही जा सकता, अच्छा या बुरा कोई न कोई रास्ता उसे बढने के लिए चाहिए ही। कूणिक आगे बढने का रास्ता खोजता है। वह प्रतीक्षा करते-करते अधीर हो जाता है। लालासाएँ उन्मत्त हो जाती हैं,वह उनमे बह जाता है। जीवन मे यह सबसे बड़ी खतरनाक घडी होती है, जब मनुष्य धैर्य के बाध तोडकर तुरन्त फल पाने के लिये आकुल हो उठता है। जीवन तो एक साधना है। फल के लिये व्याकुल होने से साधना खण्डित हो जाती है। कर्म करते चले जाओ,निष्काम भाव से करते जाओ,एक-न-एक दिन कर्म की सफलता निश्चित है। उसके लिए अधीर या व्याकुल होने की आवश्यकता नही है। निष्कामता जीवन मे जब जगती है तो मनुष्य धैर्यशाली, विचारशील एव समाधिनिष्ठ बनता है।

निष्कामता बनाम निष्कर्मता

●

कभी कभी निष्काम-कर्म का अर्थ समझने मे बडी गडबडी हो जाती है। निष्काम कर्म का अर्थ, शून्यता या निष्क्रियता नही है। यह

तो जडता है। धर्मात्मा का अर्थ यह नही कि वह मिट्टी के ढेले की तरह जहा पडा है वही पडा रहे। यह तो निष्कर्मता हो गई। निष्कर्मता हमारा आदर्श नही, हमारा आदर्श है निष्कामता।

एक गाँव मे हम गए। गाव के बाहर महतजी का आश्रम था, साफ सुथरी एकान्त जगह। विश्राम के लिए ठहर गये। महतजी वहुत ही भारी भरकम थे। हाथ पैर पसारे लम्बे-चौड़े होकर लेटे रहते थे। ऐसे ही बात चली तो मैंने हँसकर कहा—"आपका शरीर तो बहुत स्थूल हो गया है।"

महतजी बोले—"और क्या, सत और मतीरे (तरबूज) तो पड़े-पडे ही फूला करते हैं।"

मुझे जरा हँसी आ गई। वास्तव मे सन्त की यह व्याख्या तो नहीं होनी चाहिए कि वह निष्कर्म होकर पडा रहे। कर्म तो करते रहना चाहिए। सत हो, चाहे गृहस्थ, अकर्म की स्थिति मे यो कोई मनुष्य कैसे रह सकता है? कर्म का निषेध नही, कर्म के लिए शर्त केवल इतनी है कि कर्म के साथ कामना नही होनी चाहिए।

एक सज्जन थे। अच्छे पैसे वाले थे। गाव मे किसी कारण से आग लग गई, तो गरीबो की सहायता के लिए लोगो ने चन्दा किया। उक्त सज्जन हमारे पास उपाश्रय मे बैठे तत्व चर्चा कर रहे थे। उनसे भी निवेदन किया तो वे वोले—"मैं तो चन्दा नही देता।" लोगो ने पूछा—"क्यो नही?" तो बोले—"इस प्रकार के सेवादान का फल पुण्य होता है, पुण्य से स्वर्ग मे जाना पडता है, वहा फिर बन्धन होता है, मुक्ति तो नही। मैं बन्धन का काम नही करता।"

मुझे सेठजी के तत्त्वज्ञान पर जरा हसी आ गई। मैंने कहा—"तव तो आप घर के काम भी नही करते होगे? वे भी तो बन्धन के हेतु है। स्वर्ग के नही, नरक के। क्या आपने वह सब कुछ छोड़ दिया है? और आपकी तरह यदि तीर्थंकर भी सोच लेते, तो किसी को दानादि का उपदेश भी नहीं देते, सारे ससार को सथारा पचख देते। देने से पुण्य ही हो, ऐसा कुछ नही है। आप निष्काम भाव से दीजिए। न फल की आकांक्षा हो, न यश और न नाम की! बन्धन तो तव होता है जव आप उसके साथ-अपनी कामना को जोड देते है। कामना का त्याग किया जाता है, कर्म का त्याग नही किया

जाता। कर्म का त्याग किया जाए तो ससार मे बडी अव्यवस्था और गडबडी फैल जायेगी। कर्म छोड देने से ही कोई अकर्म नही हो जाता। अकर्म होता है, कर्म मे से कामना को निकाल देने से।"

वास्तव मे बन्धन है तो मन से है। शरीर तो जड है, इससे क्या बन्धन होगा? किसी को डडा मारा तो डडे को पाप का बन्ध थोडा ही होगा और किसी भूखे को रोटी दी तो क्या रोटी को पुण्य होगा, कि उसका शरीर भूखे के काम मे आ रहा है? डडा और रोटी तो जड हैं, उनके पास न चितन है, न सकल्प है। पाप पुण्य चित्त की वृत्तियो मे होता है, शरीर की प्रवृत्तियो मे नही होता। चित्त की वृत्तियाँ यदि निष्काम हैं, फल की इच्छा नही है, तो फिर उसमे से फल उत्पन्न ही नही होगा, न स्वर्ग और न नरक! जब कर्म मे से कामना समाप्त हो जाती है तो—

इहलोगासंसप्पाओगे।
परलोगासंसप्पाओगे।

न इस लोक की कोई अभिलाषा होती है, न परलोक के सुखो की ही कोई लालसा होती है और फिर इसी अकर्मरूप कर्म की निष्पत्ति मे ही मुक्ति का जन्म होता है। मोक्ष का द्वार सामने खुल जाता है।

मैं कह रहा था आपसे कि कूणिक की उद्दाम लालसाओ मे एक ज्वार उठा तो वह समय की इतजार नही कर सका कि बाप अब कितने दिन का है? और यदि हो भी तो क्या है, आखिर तो राज्य का उत्तराधिकारी वही है। बाप की भी आकाक्षाएँ पूरी होने दी जाएँ। वह भी आराम से, और शान्ति से परलोक की यात्रा करे। मन के कोने मे कोई इच्छा दबी हुई है, कोई लालसा दुबक कर बैठी है, तो उसे भी पूरी करले। आखिर अन्तिम समय मे तो मनुष्य कोई इच्छा या सघर्ष मन मे लिए न मरे।

भारतवर्ष मे पुरानी परम्परा रही है कि मरने से पहले पूछा जाता था कि–कोई इच्छा बाकी तो नही रही है? मतलब इसका यह था कि मरते समय वह किसी प्रकार का मानसिक द्वन्द्व लेकर न मरे, वह परलोक की यात्रा पर जाने वाला यात्री जलता हुआ न जाए, बल्कि मन को शान्त व समाधिस्थ करके जाए।

हमारे यहाँ सथारा किया जाता है। सथारा का अभिप्राय क्या

है—मनुष्य सब इच्छाओ, सब द्वन्द्वो और लालसाओ से मुक्त होकर समाधिपूर्वक देह त्याग करे। ससार की भौतिक वासनाओ मे उसकी कोई इच्छा अटकी न रहे। सथारा करने से पहले आचार्य पूछा करते थे कि "तुम्हारी कोई इच्छा तो बाकी नही है? कोई द्वन्द्व तो मन मे शेष नही है।'

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य का मन बुढापे मे खूब प्रसन्न रहे, मरते समय उसकी भावनाओ मे किसी प्रकार की आशक्ति, सघर्ष एव लालसा न हो। मगर हम देखते हैं कि कूणिक ने श्रेणिक को शान्ति से नही मरने दिया। उसे पिंजडे मे एक पशु की तरह बन्द कर दिया और स्वय मगध के राजसिंहासन पर बैठ गया। पिता के वात्सल्य और माता की ममता से भी अधिक उसने सिंहासन को प्रतिष्ठा दी। साम्राज्य को महत्त्व दिया। बस, सिंहासन पर आते ही वह साम्राज्यलिप्सा मे बेताब हो उठा तो आँधी और तूफान की तरह ससार पर छा गया। श्रावस्ती पर आक्रमण करके वहाँ का विराट् वैभव ध्वस्त किया। और फिर वैशाली के गणराज्य पर टूट पडा। अपने नाना चेटक के साथ युद्ध किया और वैशाली के स्वर्गीय वैभव को धूलिसात् करने की चेष्टा की। जिस वैशाली के वैभव के बारे मे बुद्ध ने कहा था कि—"स्वर्ग के देवताओ को जो देखना चाहे, वह वैशाली के नागरिको को देख ले।" इतना महान वैभव, एक राजा की क्रूर राज्यलिप्सा के सामने मिट्टी मे मिल गया। कूणिक ने साम्राज्य का विस्तार करके सोचा होगा कि युग-युग तक ससार मे मेरी कीर्तिगाथा अमर रहेगी। इतिहास उसके अद्वितीय शौर्य पर स्वर्ण-रेखाएँ खीचता रहेगा, पर, कहाँ रहा उसका वैभव? उसने जो विशाल प्रासाद खडे किये, किले बनाये आज उनकी क्या दशा हो रही है? बहुतो का तो पता ही नही है कहाँ भूमिसात् होगए और जो ध्वसावशेष के रूप मे बचे-खुचे खण्डहर हैं, उनमे आज दुनियाँ शौच के लिए जाती है। हमने राजगृहके चातुर्मास मे वहा देखा था कि कूणिक के एक दिन के उस अजेय दुर्गम दुर्ग के खंडहर पर एक जगह पुरातत्त्वविभाग ने पट्टी लगवा रखी है—"अजातशत्रु का किला।" पर, आज उसमे शूकर घूमते है, गधे चरते हैं, और लोग शौच के लिए जाते है? क्या उसने कल्पना की थी कि मेरे इस महान दुर्ग मे, जहाँ एकदिन बड़े बड़े वीर सामत

भी आते धूजते थे, वही एक दिन यों स्वच्छन्द शूकर घूमेंगे और गधे चरेंगे। जनता शोच के लिए इस्तेमाल करेगी।

मैं आपसे कह रहा था कि कूणिक ने जिस राजसिंहासन को और जिस साम्राज्य को अपनी प्रतिष्ठा का आधार माना था, वह एक मात्र उसकी बहक थी, भूल थी। और उसका परिणाम भी कुछ तो उसी जीवन मे उसे भुगतना पडा। श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् लोकापवाद से विह्वल होकर उसने राजगृह का त्याग करके चम्पा मे जाकर अपनी राजधानी बसाई। और जीवन के अन्त मे चक्रवर्ती बनने की उद्दाम लिप्सा के वश होकर तमिस्रागुफा के द्वार पर भस्म होकर वह इस ससार से सदा के लिए मिट गया।

हमारी संस्कृति, त्याग की संस्कृति है

इसके विपरीत जिन के जीवन मे प्रतिष्ठा और महत्ता का आधार त्याग, चरित्र एव प्रेम रहा है, वे चाहे राजसिंहासन पर रहे या जगल मे रहे, जनता के दिलो में बसे रहे हैं, जनता उन्हे श्रद्धा से शिर झुकाती रही है। भारतीय सस्कृति मे जनक का उदाहरण हमारे सामने। जनक के जीवन का आधार साम्राज्य या वैभव नही रहा है, बल्कि त्याग, तप, न्यायनिष्ठा और जनता की सेवा का रहा है, तो वह जनता का पूज्य बना है। जनता ने उसका नाम भी 'जनक' अर्थात् पिता रख दिया, जब कि उसका वास्तविक नाम और ही था। वह राजमहलो मे रहा, फिर भी उसका जीवन-दर्शन जनता के प्रेम मे था, प्रजा की भलाई मे था। वह वास्तव मे ही प्रजा का जनक अर्थात् पिता था।

मैं आप से बता यह रहा था कि हमारी सस्कृति धन, ऐश्वर्य या सत्ता की प्रतिष्ठा मे विश्वास नही करती है। हमारे यहाँ महल और बगलो मे रहने वाले महान नही माने गये हैं। रेशमी और बहुमूल्य वस्त्र पहनने वालो का आदर नही हुआ है, किन्तु अकिचन भिक्षुओ की प्रतिष्ठा रही है। झोपडी और जगल मे रहने वालो की पूजा हुई है और बिल्कुल सादे, जीर्ण शीर्ण वस्त्र पहनने वालो पर जनता कुर्बान होती रही है।

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका मे गये तो एक साधारण सन्यासी की वेशभूषा मे ही गये। लोगो ने उनसे कहा—"यह अमेरिका है, ससार की उच्च सभ्यता वाला देश है, आप जरा ठीक से कपड़े पहनिए।"

विवेकानन्द ने इसके उत्तर मे कहा—"ठीक है, आपके यहाँ की सस्कृति दर्जियो की सस्कृति रही है, इसलिए आप उन्ही के आधार पर वस्त्रो की काटछाट एव बनावट के आधार पर ही सभ्यता का मूल्याकन करते हैं। किन्तु जिस देश मे मैंने जन्म लिया है, वहा की सस्कृति मनुष्य के निर्मलचरित्र एव उच्च आदर्शों पर आधारित है। वहाँ जीवन मे बाहरी तडक भडक और दिखावे की प्रतिष्ठा नही है, बल्कि सादगी और सच्चाई की प्रतिष्ठा है।"

उपनिषद् मे एक कथा आती है कि–एक बार कुछ ऋषि एक देश की सीमा के बाहर-बाहर से ही कही दूर जा रहे थे। सम्राट को मालूम हुआ तो वह आया और पूछा—"आप लोग मेरे जनपद को छोडकर क्यो जा रहे है? मेरे देश मे ऐसा क्या दोष है?

न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यप.
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुत. ?

मेरे देश मे कोई चोर उच्चके नही है, कोई दुष्ट या कृपण मनुष्य नही रहते हैं, शराबी, चरित्रहीन, मूर्ख अनपढ भी मेरे देश में नहीं है, तो फिर क्या कारण है कि आप मेरे देश को यो ही छोड़कर आगे जा रहे हैं?"

मैं सोचता हूँ भारतीय राष्ट्र की यह सच्ची तस्वीर है, जो उस युग मे प्रतिष्ठा और सम्मान के साथ देखी जाती थी। जिस देश और राष्ट्र की सस्कृति, सभ्यता इतनी महान होती है, उसी की प्रतिष्ठा और महत्ता के मानदड ससार मे सदा आदर्श उपस्थित करते हैं। यही सस्कृति वह सस्कृति है, जो गरीबी और अमीरी-दोनो मे सदा प्रकाश देती है। महलो और झोपडियो मे निरन्तर प्रसन्नता बाटती रहती है। आनन्द उछालती रहती है। जिस जीवन मे इस संस्कृति के अकुर पल्लवित-पुष्पित होते रहे हैं, हो रहे हैं, वह जीवन ससार का आदर्श जीवन है, महान जीवन है।

आग जो पानी हो गई !

उपाध्याय अमरमुनि

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के प्रकाण्ड पाण्डित्य एव अद्‌-भुत प्रतिभा का जादू उस समय समूचे दक्षिण-पश्चिम भारत पर छाया हुआ था। बड़े-बड़े दिग्गज प्रतिद्वन्द्वी उनके समक्ष विनत हो चुके थे और उनके विद्वत्ता एव व्यक्तित्व का लोहा मान रहे थे। आचार्य के इस वर्चस्व एव प्रतिष्ठा से कुछ प्रतिद्वन्द्वी भीतर ही भीतर गीले ईन्धन की तरह जलते रहते थे। कभी-कभी उनकी घुटन का धुँआ बरबस बाहर भी निकल पडता।

आचार्य के पाण्डित्य की प्रतिस्पर्धा करने वालो मे ही एक पण्डित था 'वामराशि।' एक बार आचार्य को मस्तचाल से राज-सभा की ओर आते देखा तो ईर्ष्या से वह तिलमिला उठा। आपे से बाहर होकर आचार्य पर व्यग्य कसते हुए उसने एक श्लोक गुन गुनाया —

यूकालक्षशतावली वलवलल्लोलोल्ललत्कंबलो,
दन्तानां मलमण्डलीपरिचयाद् दुर्गन्धरुद्धानन ।
नासावंशनिरोधनाद् गिण-गिणत्पाठप्रतिष्ठा रुचि
सोऽयं हेमड सेवड़ पिलपिलत्खल्लि समागच्छति ॥

"जिसके शरीर पर लटकते हुए कम्बल मे करोडो जुए (यूका) किलबिला रही है, दातो की मलमण्डली की दुर्गन्धि से जिसका मुँह भरा है, (श्लेष्म मे) जिसके नासा-छिद्र रुक जाने से पाठ की प्रतिष्ठा गिनगिनाहट कर रही है, जिसके सिर की टाल पिलपिली हो रही है, वह "हेमड" नामका सेवड (श्वेताम्बर साधु) देखो चला आ रहा है।"

(देखिए पृष्ठ २३ पर)

आदि के लिए ही यह सब है,इसलिए यह अधर्म नही हैं,तो मैं सोचता हूँ यदि यही बात वस्त्र के सम्बन्ध मे भी समझ ली जाती तो क्या हर्ज था ? श्वेताम्बर मुनि भी तो यही बात कहते हैं—"वस्त्र पर हमारी ममता नही है।" यह केवल शीतादि निवारण के लिए है, अनाकुलता के लिए है, और कुछ नही।

भोजन का उद्देश्य

श्वेताम्बर मुनि भोजन करते हैं, और दिगम्बर मुनि भी ! मैं पूछता हूँ भोजन करना धर्म है या पाप ? यदि बाहरी दृष्टि से ही हमें निर्णय करना है तो हमारा निर्णय गलत हो जायेगा। यहाँ हम आन्तरिक व्यक्तित्व को देखते हैं। जो भोजन आकुलताजनक क्षुधा की पूर्ति के लिए मात्र निष्कामभाव से किया जाता है, जिस भोजन के साथ रस और आसक्ति का मलिनभाव नही रहता, वह भोजन धर्म की परिधि मे आ जाता है।

क्षुधा एक वेदना है। परीषह है। क्षुधा जब जागृत होती है, तो साधक उसे सहन करने का प्रयत्न करता है, लेकिन जब वह वेदना का उग्र रूप धारण कर लेती है, मन मे आकुलता पैदा करने लगती है और साधना मे विघ्न बनने लगती है, तो उस वेदना की शाति के लिए, समभाव बनाये रखने के लिए भोजन किया जाता है। भोजन का उद्देश्य रस लेना नही है, खट्टा मीठा स्वाद चखना नही है, यह तो रसना बीच मे आती है, और वह रस का ज्ञान कर लेती है, मगर साधक का उद्देश्य रसास्वाद का नही होना चाहिए। रसज्ञान और रसास्वादन मे अन्तर है। रस की अनुभूति होना एक सहज धर्म है, मगर रस का स्वाद लेना, चखना, चाटना और वाह! वाह! करना आसक्ति है।

भोजन का उद्देश्य आखिर क्या है ? क्षुधापूर्ति ? नही, यह भी भोजन का मुख्य उद्देश्य नही है। हमारा केन्द्र दूसरा है, हमे केन्द्र पर स्थित होकर सोचना चाहिए। क्षुधा से मन मे आकुलता जगती है, आकुलता से शाति भग होती है, समाधि विचलित होती है, अतः मन की शान्ति और समाधि बनाये रखनेके लिए भोजन किया जाता

है। क्षुधा-पूर्ति तो बीच की कडी है, अन्तिम नहीं, अन्तिम कडी अनाकुलता की है, और यही साधक के भोजन का चरम लक्ष्य है।

भोजन नही करने का उद्देश्य क्या है ? उपवास आदि क्यो किए जाते हैं ? उनका उद्देश्य क्या है ? शान्ति और समाधि की प्राप्ति ! और भोजन करने का उद्देश्य भी शान्ति और समाधि को बनाये रखना ही है। तब हमारा केन्द्र एक ही हुआ। और इस केन्द्र पर खडे होकर ही हम सोच रहे हैं कि उपवास आदि तप के समान भोजन भी अनाकुलता का साधक होने से साधना है, धर्म है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, यह समग्र भारतीय दर्शन का मान्य तथ्य है। सत कबीर ने कहा है—

कबिरा खुधा कूकरी, करत भजन मे भंग।
या को टुकड़ा डारिके, भजन करो नीशक ॥

भूख एक कुतिया है, यह शोर करती है, तो शान्ति भग होती है, ध्यान स्खलित हो जाता है, अत इसे भोजन का टुकडा डाल दो और फिर शान्ति से अपनी साधना करते रहो।

धर्म का बाह्य अतिवाद : निरा उपहास

●

भोजन के सम्बन्ध मे जो सर्वसम्मत विचार है, काश ! वही विचार यदि वस्त्र के सम्बन्ध मे भी किया जाता तो इस महत्वपूर्ण परम्परा के दो टुकड़े नही हुए होते। जिन साधक आत्माओ को वस्त्र के अभाव मे भी शान्ति रह सकती हो, आकुलता नही जगती हो, तो उनके लिए वस्त्र की बाध्यता नही है। किन्तु वस्त्र के अभाव मे जिनकी शाति भग होती है, उन्हे समभावपूर्वक वस्त्र धारण करने की अनुमति दी जाए तो इसमे कौन-सा अधर्म हो जाता है ? भगवान महावीर के समय में सचेलक और अचेलक (सवस्त्र और अवस्त्र) दोनो परम्पराएँ थी। तब न निर्वस्त्र होने का आग्रह था और न सवस्त्र होने का। न वस्त्र से मुक्ति अटकती थी और न अवस्त्र से। वस्त्र से मुक्ति तब अटकने लगी, जब हमारा धर्म बाहर मे अटक गया, अन्दर मे झाकना बन्द कर दिया गया।

वैष्णव परम्परा भी इसी प्रकार बाहर मे अटकने लगी तो उसका

उपाध्याय अमरमुनि

धर्म: प्रश्न या समाधान?

वर्तमान युग मे धर्म के नाम पर अनेक विवाद चल रहे हैं, अनेक प्रकार के सघर्ष सामने आ रहे हैं। ऐसी बात नही है कि अभी वर्तमान मे ही ये विवाद और सघर्ष उभर रहे हैं, प्राचीन और बहुत प्राचीन काल से ही 'धर्म' एक विवादास्पद प्रश्न रहा है, वह सघर्ष का कुरुक्षेत्र बना रहा है।

प्रत्यक्ष की बहुत-सी बातो को लेकर भी जब कभी-कभी विवाद उठ खड़े होते हैं, सघर्ष की बिजलियाँ कोधने लग जाती हैं, तो जो अप्रत्यक्ष वस्तु है, उसके लिए विवाद खड़ा होना कोई आश्चर्य की बात नही। वस्तुत. धर्म एक ऐसी आन्तरिक स्थिति है, जिसकी बाह्य स्थूल दृश्य पदार्थों के समान प्रत्यक्ष अनुभूति साधारण साधक को नही हो पाती। वह सिर्फ श्रद्धा और उपदेश के आधार पर ही धर्म के लिए चलता रहता है। यही कारण है कि परस्पर के मत भेदो के कारण धर्म सागर मे विवाद के तूफान मचल उठते है, तर्क-वितर्क का भवर लहरा उठता है।

धर्म क्या है?

मूल प्रश्न यह है कि धर्म क्या है? अन्तर मे जो पवित्र भाव तरगे उठती हैं, चेतना की निर्मल धारा बहती है, मानस मे शुद्ध सस्कारो का एक प्रवाह उमडता है, वह धर्म है? या बाहर मे जो हमारा कृतित्व है, क्रियाकाड हैं, रीति रिवाज हैं और खाने-पीने पहने-ओढने के तौर तरीके हैं, वह धर्म है? हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व धर्म है या बाह्य व्यक्तित्व?

हमारे व्यक्तित्व के दो रूप है। एक आन्तरिक व्यक्तित्व है जो वास्तव मे हम जैसे अन्दर मे होते हैं, उससे निर्मित होता है। दूसरा रूप है बाह्य व्यक्तित्व! हम जैसा बाहर करते हैं, उसी के अनुरूप

हमारा बाह्य व्यक्तित्व घटित होता है। हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि 'होना' या 'करना' इनमे धर्म कौन-सा है? व्यक्तित्व का कौन-सा रूप धर्म है ? अन्दर मे होना धर्म है अथवा बाहर मे करना धर्म है?

'होना' और 'करना' मे बहुत अन्तर है। अन्दर मे हम जैसे होते हैं, उसे बहुत कम व्यक्ति समझ पाते हैं। आन्तरिक व्यक्तित्व को पकडना उतना ही कठिन है जितना पारे को अँगुलियो से पकडना। बाह्य व्यक्तित्व को पकड लेना बहुत सरल है, उतना ही, जितना कि जल की सतहपर तैरती हुई लकडी को छू लेना। बाहर मे जो आचार व्यवहार होता है उसे साधारण बुद्धि वाला भी शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है, और उसे ही हमारे व्यक्तित्व का प्रतिनिधि रूप मान लेता है। आज बाहरी व्यक्तित्व ही हमारा धर्म बन रहा है।

जितने भी विवाद उठे है, सघर्ष उभरे है, मत और पथ का विस्तार हुआ है, वह सब बाहर मे धर्म को मान लेने से ही हुआ है। दिगम्बर श्वेताम्बर के रूप मे जैन धर्म के दो टुकडे क्यो हुए? बौद्धो के हीनयान और महायान तथा वैदिकोके शैव और वैष्वण मतो की बात छोडिए, हम अपने घर की ही चर्चा करे कि आखिर कौन-सा जागीरी, जमीदारी का झगडा हुआ कि एक बाप के दो बेटे अलग-अलग खेमो मे जा डटे और एक दूसरे से झगडने लग गए। श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने एक ही बात कही है कि मन मे निष्कामता का और निस्पृहता का भाव रहे,वीतराग दशा मे स्थिरता हो,करुणा और परोपकार की वृत्ति हो,सयम एव सदाचारमय जीवन हो, यही धर्म है। श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी इस तथ्य को एक स्वर से स्वीकार करते हैं, कोई आनाकानी नही है। प्रश्न है,फिर झगडा क्या है ? किस बात को लेकर द्वन्द्व है, सघर्ष है ?

मैं सोचता हूँ यदि एक दूसरे को ठीक से अन्दर मे समझने का प्रयत्न किया जाता तो विवाद जैसा कोई प्रसग नही था। पर,विवाद हुआ धर्म को बाहर मे देखने से। श्वेताम्बर मुनि वस्त्र रखते है, तो क्या यह अधर्म हो गया? इसके लिए तर्क है कि वस्त्र आत्मा से भिन्न बाहर की पौद्गलिक चीज है, अत वह परिग्रह है, परिग्रह है तो साधुता कैसी है ? परन्तु उधर दिगम्बर मुनि भी तो कुछ वस्तुएँ रखते हैं—मोरपिच्छी,कमण्डल,पुस्तक आदि। इसके लिए कहा जाता है कि इन पर हमारी ममता नही है, जीवरक्षा एव शरीरशुद्धि

आदि के लिए ही यह सब है,इसलिए यह अधर्म नही हैं,तो मैं सोचता हूँ यदि यही बात वस्त्र के सम्बन्ध मे भी समझ ली जाती तो क्या हर्ज था ? श्वेताम्बर मुनि भी तो यही बात कहते हैं—"वस्त्र पर हमारी ममता नही है।" यह केवल शीतादि निवारण के लिए है, अनाकुलता के लिए है, और कुछ नही।

भोजन का उद्देश्य

श्वेताम्बर मुनि भोजन करते हैं, और दिगम्बर मुनि भी ! मैं पूछता हूँ भोजन करना धर्म है या पाप ? यदि बाहरी दृष्टि से ही हमें निर्णय करना है तो हमारा निर्णय गलत हो जायेगा। यहाँ हम आन्तरिक व्यक्तित्व को देखते हैं। जो भोजन आकुलताजनक क्षुधा की पूर्ति के लिए मात्र निष्कामभाव से किया जाता है, जिस भोजन के साथ रस और आसक्ति का मलिनभाव नही रहता, वह भोजन धर्म की परिधि मे आ जाता है।

क्षुधा एक वेदना है। परीषह है। क्षुधा जब जागृत होती है, तो साधक उसे सहन करने का प्रयत्न करता है, लेकिन जब वह वेदना का उग्र रूप धारण कर लेती है, मन मे आकुलता पैदा करने लगती है और साधना मे विघ्न वनने लगती है, तो उस वेदना की शाति के लिए, समभाव वनाये रखने के लिए भोजन किया जाता है। भोजन का उद्देश्य रस लेना नही है, खट्टा मीठा स्वाद चखना नही है, यह तो रसना वीच मे आती है, और वह रस का ज्ञान कर लेती है, मगर साधक का उद्देश्य रसास्वाद का नही होना चाहिए। रसज्ञान और रसास्वादन मे अन्तर है। रस की अनुभूति होना एक सहज धर्म है, मगर रस का स्वाद लेना, चखना, चाटना और वाह! वाह ! करना आसक्ति है।

भोजन का उद्देश्य आखिर क्या है ? क्षुधापूर्ति ? नही, यह भी भोजन का मुख्य उद्देश्य नही है। हमारा केन्द्र दूसरा है, हमे केन्द्र पर स्थित होकर सोचना चाहिए। क्षुधा से मन मे आकुलता जगती है, आकुलता से शाति भंग होती है, समाधि विचलित होती है, अतः मन की शान्ति और समाधि वनाये रखनेके लिए भोजन किया जाता

है। क्षुधा-पूर्ति तो बीच की कडी है, अन्तिम नहीं, अन्तिम कडी अनाकुलता की है, और यही साधक के भोजन का चरम लक्ष्य है।

भोजन नही करने का उद्देश्य क्या है ? उपवास आदि क्यो किए जाते हैं ? उनका उद्देश्य क्या है ? शान्ति और समाधि की प्राप्ति ! और भोजन करने का उद्देश्य भी शान्ति और समाधि को बनाये रखना ही है। तब हमारा केन्द्र एक ही हुआ। और इस केन्द्र पर खड़े होकर ही हम सोच रहे हैं कि उपवास आदि तप के समान भोजन भी अनाकुलता का साधक होने से साधना है, धर्म है। जहाँ तक मेरा अध्ययन है, यह समग्र भारतीय दर्शन का मान्य तथ्य है। सत कबीर ने कहा है—

कबिरा खुधा कूकरी, करत भजन मे भंग।
या को टुकडा डारिके, भजन करो नीशक ॥

भूख एक कुतिया है, यह शोर करती है, तो शान्ति भग होती है, ध्यान स्खलित हो जाता है, अत इसे भोजन का टुकडा डाल दो और फिर शान्ति से अपनी साधना करते रहो।

धर्म का बाह्य अतिवाद : निरा उपहास

●

भोजन के सम्बन्ध मे जो सर्वसम्मत विचार है, काश ! वही विचार यदि वस्त्र के सम्बन्ध मे भी किया जाता तो इस महत्वपूर्ण परम्परा के दो टुकड़े नही हुए होते। जिन साधक आत्माओ को वस्त्र के अभाव मे भी शान्ति रह सकती हो, आकुलता नही जगती हो, तो उनके लिए वस्त्र की बाध्यता नही है। किन्तु वस्त्र के अभाव मे जिनकी शाति भग होती है, उन्हे समभावपूर्वक वस्त्र धारण करने की अनुमति दी जाए तो इसमे कौन-सा अधर्म हो जाता है ? भगवान महावीर के समय में सचेलक और अचेलक (सवस्त्र और अवस्त्र) दोनो परम्पराएँ थी। तब न निर्वस्त्र होने का आग्रह था और न सवस्त्र होने का। न वस्त्र से मुक्ति अटकती थी और न अवस्त्र से। वस्त्र से मुक्ति तब अटकने लगी, जब हमारा धर्म बाहर मे अटक गया, अन्दर मे झांकना बन्द कर दिया गया।

वैष्णव परम्परा भी इसी प्रकार बाहर मे अटकने लगी तो उसका

धर्म भी बाहर मे अटक गया और वह एक बुद्धिवादी मनुष्य के लिए निरा उपहास बनकर रह गया। अतीत में तिलक को लेकर वैष्णव और शैव भक्त कितने झगड़ते रहे हैं, परस्पर कितने टकराते रहे हैं? कोई सीधा तिलक लगाता है तो कोई टेढा, कोई त्रिशूल मार्का, तो कोई यू मार्क U और कोई सिर्फ गोल बिन्दु ही। और तिलक को यहाँ तक तूल दिया गया कि तिलक लगाए बिना मुक्ति नही होती। तिलक लगा लिया तो दुराचारी की आत्मा को भी वैकुण्ठ का रिजर्वेशन मिल गया।

वैष्णव परम्परा मे एक कथा आती है—एक दुराचारी वन मे किसी वृक्ष के नीचे सोया था। वही सोये-सोये उसके हाथ पैर ठडे पड गए और प्राण कूच कर गए। वृक्ष की टहनी पर एक चिडिया बैठी थी, उसने दुराचारी के शिर पर बीट कर दी। इधर दुराचारी की आत्मा को लेने के लिए यम के दूत आये, तो उधर विष्णु के दूत भी पहुँचे। यमदूतो ने कहा—यह दुराचारी था, इसलिए इसे नरक मे ले जायेगे। इस पर विष्णु के दूत बोले—चाहे कितना ही दुराचारी रहा हो, पर इसके माथे पर तिलक लगा है, इसलिए यह स्वर्ग का अधिकारी हो गया। दोनो दूत इस पर खूब गर्मागर्म हुए, लडे-झगड़े, आखिर विष्णु के दूत उसे स्वर्ग मे ले ही गए। दुराचार सदाचार कुछ नही, केवल तिलक ही सब कुछ हो गया, वही बाजी मार ले गया। तिलक भी विचारपूर्वक कहाँ लगा? वह तो चिडिया की बीट थी। कुछ भी हो तिलक तो हो गया!

सोचता हूँ इन गल्पकथाओं का क्या उद्देश्य है? जीवन निर्माण की दिशा मे इनकी क्या उपयोगिता है? मस्तक पर पडी एक चिडिया की बीट को ही तिलक मान लिया गया, और तिलक होने मात्र से ही दुराचारी की आत्मा को स्वर्ग का अधिकार मिल गया। धर्म की तेजस्विता और पवित्रता का इससे बडा और क्या उपहास होगा?

इस प्रकार की एक नही, सैकड़ो, हजारों अन्धमान्यताओं से धार्मिक-मानस ग्रस्त होता रहा है। जहा तोते को राम-राम पढाने से वेश्या को वैकुण्ठ मिल जाता है, सीता को चुराकर राम के हाथ से मर जाने पर रावण की मुक्ति हो जाती है, वहा धर्म के आन्तरिक स्वरूप की क्या परख होगी?

धर्म के ये कुछ रूढ रूप हैं, जो बाहर मे अटके हुए है, और मानव मन इन्ही की भूल-भुलैया मे भटक रहा है। हम भी, हमारे पडौसी भी,सभी एक ऐसे दल-दल मे फस गए हैं कि धर्म का असली किनारा आखो से ओझल होरहा है और जो किनारा दिखाई दे रहा है, वह सिर्फ अन्धविश्वास और गलत मान्यताओ की शैवाल से ढका हुआ अथाह गर्त है।

बौद्ध परम्परा मे भिक्षु को चीवर धारण करने का विधान है। चीवर का मतलब है जगह-जगह पर सिला हुआ जीर्ण शीर्ण वस्त्र, अर्थात् कन्था। इसका अर्थ था जो फटा पुराना वस्त्र गृहस्थ के लिए निरुपयोगी हो गया हो, वह वस्त्र भिक्षु धारण करे। पर, आज क्या हो रहा है ? बिल्कुल नया और सुन्दर वस्त्र लेते हैं, बढिया रेशमी। फिर उसके टुकडे-टुकड़े करते हैं, और उसे सीते हैं, और इस प्रकार चीवर की पुरानी व्यवस्था को बरकरार रखने के लिए उसे चीवर मानकर ओढ लेते हैं।

धर्म का दर्शन भीतर में करिए

●

ये सब धर्म को बाहर मे देखने वालो की परम्पराएँ है। वे बाहरी क्रिया को, रीतिरस्म, पहनाव और बनाव आदि को ही धर्म समझ बैठे हैं, जबकि ये तो एक सभ्यता और कुलाचार की बाते हैं।

बाहर मे कोई नग्न रहता है, या श्वेत वस्त्र धारण करता है, या गेरुआ चीवर पहनता है तो, इनसे धर्म को नही तोला जा सकता। वेशभूषा, बाहरी व्यवस्था और बाहरी क्रियाएँ कभी धर्मका पैमाना नही हो सकती। इनसे जो धर्म को तोलने का प्रयत्न करते हैं, वे वैसी ही भूल कर रहे हैं, जैसी कि मणिमुक्ता और हीरो का वजन करने के लिए पत्थर और कोयला तोलने के काटे का इस्तेमाल करने वाला करता है।

धर्म का दर्शन करने की जिन्हे जिज्ञासा है, उन्हे इन बाहरी आवरणो को हटाकर भीतर मे झॉकना होगा। क्रियाकाडो की बाह्य भूमिका से ऊपर उठकर मन की आन्तरिक भूमिका तक चलना होगा, आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

सेयबरो य आसंबरो य,
बुद्धो व अहव अन्नो वा ।
समभावभावियप्पा,
लहई मोक्ख न सदेहो ॥

कोई श्वेताम्बर हो, या दिगम्बर हो, जैन हो, या बौद्ध अथवा वैष्णव। ये कोई धर्म नही है, मुक्ति के मार्ग नही हैं। धर्म कोई दस हजार,या दो हजार वर्ष के परम्परागत प्रचार का परिणाम नही है, वह तो एक अखड शाश्वत और परिष्कृत विचार है और वह यही है कि धर्म हमारी विशुद्ध आन्तरिक चेतना है। मुक्ति उसे ही मिल सकती है, जिसकी साधना समभाव से परिपूर्ण है। जो दु ख मे भी और सुख मे भी सम है, निर्द्वन्द्व है, वीतराग है। आप लोग वर्षा के समय बरसाती ओढकर निकलते है, कितना ही पानी बरसे, वह भीगती नही, गीली नही होती, पानी बह गया और बरसाती सूखी की सूखी। साधक का मन भी बरसाती के समान हो जाना चाहिए। सुख का पानी गिरे या दु ख का, मन भीगना नही चाहिए। यही द्वन्द्वो से अलिप्त रहने की प्रक्रिया, वीतरागता की साधना है। और यही वीतरागता हमारी शुद्ध अन्तश्चेतना अर्थात् धर्म है।

धर्म के दो रूप

जैनाचार्यों ने धर्म के सम्बन्ध मे बहुत ही गहरा चिंतन किया है। वे मनन चिन्तन की डुबकिया लगाते रहे और साधना के बहुमूल्य चमकते मोती निकालते रहे। उन्होने धर्म के दो रूप बताए हैं— निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म। वस्तुत धर्म दो नही होते, एक ही होता है। किन्तु धर्म का वातावरण तैयार करने वाली तथा प्रकार की साधन सामग्रियो को भी धर्म की परिधि मे लेकर उसके दो रूप बना दिए हैं।

व्यवहार धर्म का अर्थ है निश्चय धर्म तक पहुँचने के लिए पृष्ठ भूमि तैयार करने वाला धर्म। साधना की उत्तरोत्तर प्रेरणा जगाने के लिए, और उसका अधिकाधिक प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) लेने के लिए व्यवहार धर्म की आवश्यकता है। यह एक प्रकार का स्कूल है।

स्कूल ज्ञान का दावेदार नही होता किन्तु ज्ञान का वातावरण जरूर निर्माण करता है। स्कूल मे आने वाले के भीतर प्रतिभा हैं तो वह विद्वान बन सकता है। ज्ञान की ज्योति प्राप्त कर सकता है। और यदि निरा बुद्धू राज है तो वर्षों तक स्कूल की बैंचे तोडने के बाद भी वैसा का वैसा। स्कूल मे यह शक्ति नही कि किसी को विद्वान बना ही दे। यही बात व्यवहार धर्म की है। बाह्य क्रियाकाड किसी का कल्याण करने की गारन्टी नही दे सकता। जिसके अन्तर मे अशत ही सही, निश्चय धर्म की जागृति हुई है, उसी का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नही। हा, परिस्थितियो के निर्माण मे व्यवहार धर्म का सहयोग अवश्य रहता है।

वर्तमान परिस्थितियो मे हमारे जीवन मे निश्चय धर्म की साधना जगनी चाहिए। व्यवहार धर्म के कारण जो विकट विवाद, समस्याएँ और अनेक सरदर्द पैदा करने वाले प्रश्न कोध रहे है, उनका समाधान सिर्फ निश्चयधर्म की ओर उन्मुख होने से ही हो सकता है।

आज का धार्मिक जीवन उलझा हुआ है, सामाजिक जीवन समस्याओ से घिरा है, राजनैतिक जीवन तनाव और सघर्ष से अशान्त है। इन सबका समाधान एक ही हो सकता है और वह है निश्चय धर्म की साधना अर्थात् जीवन मे वीतरागता, अनासक्ति।

वीतरागता का दृष्टिकोण व्यापक है। हम अपनी वैयक्तिक, सामाजिक एव साम्प्रदायिक मान्यताओ के प्रति भी आसक्ति न रखें, आग्रह न करें। सत्य के लिए आग्रही होना एक चीज है और मत के लिए आग्रही होना दूसरी चीज है। सत्य का आग्रह दूसरे के सत्य को ठुकराता नही, अपितु सम्मान करता है। जबकि मत का आग्रह दूसरे के अभिमत सत्य को सत्य होते हुए भी ठुकराता है, उसे लाँछित करता है। सत्य के लिए संघर्ष करने की आवश्यकता नही होती, साधना करनी पडती है। मन को समता और अनाग्रह से जोडना होता है।

सामाजिक सम्बन्धो मे वीतरागता का अर्थ होता है—आप अपने सुख के पीछे पागल नही रहे, धन और परिवार के व्यामोह मे फँसे नही है। आपका मन उदार हो और सहानुभूतिपूर्ण हो, दूसरे

इन सात वातो से समय की श्रेष्ठता (सुकाल) प्रकट होती है—
असमय पर न वरसना, समय पर वरसना,
असाधुजनो का महत्व न वढना, साधुजनो का महत्व वढना,
माता पिता आदि गुरुजनो के प्रति सद्व्यवहार होना,
मन की शुभता, और वचन की शुभता।

३. लोभ-कलि-कसाय-महक्खधो,
चितासयनिचियविपुलसालो। —प्रश्नव्याकरण १।५

परिग्रह रूप वृक्ष के स्कन्ध अर्थात् तने हैं—लोभ, क्लेश और कषाय।
चिन्ता रूपी सैकड़ो ही सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ हैं।

४. देवा वि सइंदगा न तित्ति न तुट्ठि उवलभति।

—प्रश्नव्याकरण १।५

देवता और इन्द्र भी इन (भोगो) से न कभी तृप्त होते हैं और न कभी सन्तुष्ट।

५. नत्थि एरिसो पासो पडिवधो अत्थि
सव्वजीवाणं सव्वलोए। प्रश्नव्याकरण—१।५

समूचे ससार मे परिग्रह के समान प्राणियो के लिए दूसरा कोई जाल एव वन्धन नही हैं।

६ वल थाम च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो।
खेत्त कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुजए।

—दशवैकालिक ८।३५

अपना मनोवल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा, स्वास्थ्य, क्षेत्र और काल को ठीक तरह से परखकर ही अपने को किसी भी सत्कार्य के सम्पादन मे नियोजित करना चाहिए।

७. जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायति, ताव धम्म समायरे॥

—दशवैकालिक ८।३६

जव तक वुढापा आता नही है, जव तक व्याधियो का जोर वढता नही है, जव तक इन्द्रिया (कर्मशक्ति) क्षीण नही होती ह, तभी तक वुद्धिमान को, जो भी धर्माचरण करना हो, कर लेना चाहिए।

८. उभिन्नमत्थं चरति, अत्तनो च परस्स च ।
पर सकुपितं ञत्वा, यो सतो उपसम्मति ॥

—संयुत्तनिकाय ११।१।४

दूसरे को कुपित जानकर भी जो स्मृतिमान् शान्त रहता है, वह अपना और दूसरे का—दोनो का भला करता है ।

९ कोधन्धा अहित मग्ग, आरुल्हा यदि वेरिनो ।
कस्मा तुवम्पि कुज्झन्तो, ते स येवानुसिक्खसि ॥

—विसुद्धिमग्गो ९।२२

क्रोध से अन्धे हुए व्यक्ति यदि बुराई की राह पर चल रहे हैं, तो तू भी क्रोध करके क्यो उन्ही का अनुसरण कर रहा है ?

१० भग्गरागो भग्गदोसो, भग्गमोहो अनासवो ।
भग्गास्स पापका धम्मा, भगवा तेन वुच्चति ॥

—विसुद्धिमग्गो ७।५९

जिसका राग भग्न है, द्वेष भग्न है, मोह भग्न है, किं बहुना, जिसके सभी पाप धर्म भग्न हो गए , इसलिए वह भगवान् कहा जाता है ।

११ सुक्कपक्खे यथा चन्दो, वड्ढते व सुवे सुवे ।
सुक्कपक्खूपमो राज, सत होति समागमो ॥

—जातक २१।५३७।४८६

हे राजन् ! शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह सत्पुरुषो की मैत्री निरन्तर बढती जाती है ।

१२ अज्जेव किच्चं आतप्पं, को जञ्ञा मरण सुवे ।

—जातक २२।५३८।१२१

आज का काम आज ही कर लेना चाहिए, कौन जाने कल मृत्यु ही आ जाए ?

१३ सव्बे वण्णा अधम्मट्ठा, पतन्ति निरयं अधो ।
सव्बेवण्णा विसुज्झन्ति, चरित्वा धम्ममुत्तम ॥

—जातक २२।५४१।४३९

सभी वर्ण के लोग अधर्म का आचरण करके नरक मे जाते हैं, और उत्तम धर्म का आचरण करके विशुद्ध होते हैं ।

के लिए अपने सुख का त्याग करने को प्रस्तुत हो, तो सामाजिक क्षेत्र मे भी निश्चयधर्म की साधना हो सकती है।

राजनैतिक जीवन भी आज आसक्तियो के गन्दे जल से कुलबुला रहा है। विचारो की आसक्ति, पद और प्रतिष्ठा की आसक्ति, कुर्सी की आसक्ति! दल और दल से मिलने वाले फल की आसक्ति। जीवन का हर कोना आसक्तियो से जकडा हुआ है—फलतः जीवन संघर्षमय है।

धर्म का वास्तविक रूप यदि जीवन मे आ जाये तो यह सब विवाद सुलझ सकते हैं, सब प्रश्न हल हो सकते हैं और धर्म फिर विवादास्पद प्रश्न नही, किन्तु एक सुनिश्चित सुनिर्णीत जीवन दर्शन के रूप मे हमारे समक्ष प्रस्तुत होगा।

●

(पृष्ठ १३ का शेषाश)

वामराशि के आग उगलते हुए ये शब्द सुन कर भी आचार्य उसकी ओर देखकर मुस्करा उठे और नजदीक आकर उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए बोले—"अरे पण्डित जी! तुमने इतना भो नही पढा कि विशेषण का प्रयोग विशेष्य से पहले करना चाहिए। देखो, अवसे 'हेमड-सेवड' नही, 'सेवड हेमड' कहना।"

वामराशि लज्जा से जमीन मे गड गया और शब्दो की आग आचार्य की निश्छल मुस्कराहट से पानी-पानी हो गई।

—प्रवन्ध चिन्तामणि-४।१६२

जैन धारा

१ इंदिएहिं गिलायतो, समियं आहरे मुणी ।
तहा वि से अगरहे, अचले जे समाहिए ।

—आचारांग १।८।८।१४

शरीर और इन्द्रियो के क्लान्त होने पर भी मुनि अन्तर्मन मे समभाव (=स्थिरता) रखे। इधर-उधर गति एव हलचल करता हुआ भी साधक निंद्य नही है, यदि वह अन्तरग मे अविचल एव समाहित है तो !

२ सत्तहिं ठाणेहिं ओगाढ सुसम जाणेज्जा—
अकाले न वरिसइ, काले वरिसइ,
असाधू ण पुज्जति, साधू पुज्जति,
गुरूहिं जणो सम्म पडिवन्नो,
मणोसुहता, वइसुहता ।

—स्थानांग ७

इन सात बातो से समय की श्रेष्ठता (सुकाल) प्रकट होती है—
असमय पर न बरसना, समय पर बरसना,
असाधुजनो का महत्व न बढना, साधुजनो का महत्व बढना,
माता पिता आदि गुरुजनो के प्रति सद्व्यवहार होना,
मन की शुभता, और वचन की शुभता।

३. लोभ-कलि-कसाय-महक्खधो,
चितासयनिचियविपुलसालो। —प्रश्नव्याकरण १।५

परिग्रह रूप वृक्ष के स्कन्ध अर्थात् तने हैं—लोभ, क्लेश और कषाय।
चिन्ता रूपी सैकडो ही सघन और विस्तीर्ण उसकी शाखाएँ हैं।

४. देवा वि सइदगा न तित्ति न तुट्ठि उवलभति।
—प्रश्नव्याकरण १।५

देवता और इन्द्र भी इन (भोगो) से न कभी तृप्त होते हैं और न कभी सन्तुष्ट।

५ नत्थि एरिसो पासो पडिबधो अत्थि
सव्वजीवाणं सव्वलोए। प्रश्नव्याकरण—१।५

समूचे ससार मे परिग्रह के समान प्राणियो के लिए दूसरा कोई जाल एव बन्धन नही हैं।

६ बल थाम च पेहाए, सद्धामारुग्गमप्पणो।
खेत्त कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुजए।
—दशवैकालिक ८।३५

अपना मनोबल, शारीरिक शक्ति, श्रद्धा, स्वास्थ्य, क्षेत्र और काल को ठीक तरह से परखकर ही अपने को किसी भी सत्कार्य के सम्पादन मे नियोजित करना चाहिए।

७. जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविदिया न हायति, ताव धम्म समायरे॥
—दशवैकालिक ८।३६

जब तक बुढापा आता नही है, जब तक व्याधियो का जोर बढता नहीं है, जब तक इन्द्रिया (कर्मशक्ति) क्षीण नही होती है, तभी तक बुद्धिमान को, जो भी धर्माचरण करना हो, कर लेना चाहिए।

८. उभिन्नमत्थं चरति, अत्तनो च परस्स च ।
पर सकुपित ञत्वा, यो सतो उपसम्मति ॥

—सयुत्तनिकाय ११।१।४

दूसरे को कुपित जानकर भी जो स्मृतिमान् शान्त रहता है, वह अपना और दूसरे का—दोनो का भला करता है ।

९. कोधन्धा अहित मग्ग, आरुल्हा यदि वेरिनो ।
कस्मा तुवम्पि कुज्झन्तो, ते स येवानुसिक्खसि ॥

—विसुद्धिमग्गो ९।२२

क्रोध से अन्धे हुए व्यक्ति यदि बुराई की राह पर चल रहे है, तो तू भी क्रोध करके क्यो उन्ही का अनुसरण कर रहा है ?

१० भग्गरागो भग्गदोसो, भग्गमोहो अनासवो ।
भग्गास्स पापका धम्मा, भगवा तेन वुच्चति ॥

—विसुद्धिमग्गो ७।५९

जिसका राग भग्न है, द्वेष भग्न है, मोह भग्न है, किं बहुना, जिसके सभी पाप धर्म भग्न हो गए , इसलिए वह भगवान् कहा जाता है ।

११ सुक्कपक्खे यथा चन्दो, वड्ढते व सुवे सुवे ।
सुक्कपक्खूपमो राज, सत होति समागमो ॥

—जातक २१।५३७।४८६

हे राजन् ! शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह सत्पुरुषो की मैत्री निरन्तर बढती जाती है ।

१२. अज्जेव किच्चं आतप्पं, को जञ्ञा मरण सुवे ।

—जातक २२।५३८।१२१

आज का काम आज ही कर लेना चाहिए, कौन जाने कल मृत्यु ही आ जाए ?

१३ सब्बे वण्णा अधम्मट्ठा, पतन्ति निरयं अधो ।
सब्बेवण्णा विसुज्झन्ति, चरित्वा धम्ममुत्तमं ॥

—जातक २२।५४१।४३९

सभी वर्ण के लोग अधर्म का आचरण करके नरक मे जाते हैं, और उत्तम धर्म का आचरण करके विशुद्ध होते हैं ।

१४. इदमह मनृतान् सत्यमुपैमि ।

—यजुर्वेद १।५

मैं असत्य से हटकर सत्य का आश्रय लेता हूँ।

५ माभे र्मा संविक्था ऊर्जं धतस्व ।

—यजु० ६।३५

तुम भयभीत तथा चचल न बनो । अपने अन्तर मे ऊर्जा (स्फूर्ति एव शक्ति) धारण करो ।

१६. वय राष्ट्रे जागृयाम ।

—यजु० ६।२३

हम राष्ट्र के लिए सदा जागृत (अप्रमत्त) रहे ।

१७ यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम् ।

सामवेद (पूर्वार्चिक) ४।७।६

सघर्षों के उपस्थित होने पर जो विजयी होता है, वही ऐश्वर्य प्राप्त करता है ।

१८ सुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु समना
जाया पत्ये मधुमतीं वाच वदतु शन्तिवाम् ।

—अथर्ववेद ३।३०।२

पुत्र अपने माता पिता की इच्छा के अनुसार आचरण करे । पत्नी पति के साथ मधुर और शान्तिदायी सभाषण करे ।

●

क्या ऐसा कभी हो सकता है कि हम एक आँख से सोएँ और एक आँख से जगें ?

क्या ऐसा भी कभी हो सकता है कि हम एक कदम पूर्व की ओर बढाएँ और दूसरा पश्चिम की ओर ?

नही ! नही !!

तो फिर ऐसा क्यो होता है कि हम एक हाथ मे उत्तराध्ययन, धम्मपद, गीता और कुरान लिए चल रहे हैं और दूसरे मे शोषण, दुराचार और क्रूरता की नग्न तस्वीरें !

समस्याएं जीवन की : समाधान दर्शन का !

[समस्याओ के अनेक रूप हैं, और उन्हे देखने-परखने की अनेक दृष्टिया हैं। हर समस्या के मूल मे एक दर्शन—दृष्टि होती है, 'स्वय को, और 'स्व' से अतिरिक्त 'पर' को समझने-बरतने का हमारा एक निश्चित दृष्टिकोण होता है, हम उसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर प्रवृत्ति करते हैं, वह प्रवृति ही आगे चलकर समस्या का रूप धारण करती है। इसलिए हम मान सकते हैं कि समस्या का मूल दृष्टिकोण है। जीवन और जगत् की, भौतिक व आध्यात्मिक सब समस्याएं दार्शनिक हैं, इसलिए दर्शन के द्वारा उनका समाधान प्रस्तुत होना चाहिए। इस आशय से दिनाक ३१-१२-६७ को सुविख्यात तत्वचिन्तक उपाध्याय श्री अमरमुनि जी के सान्निध्य मे एक विचार परिचर्चा का महत्त्वपूर्ण आयोजन किया गया। इस परिचर्चा मे आगरा व देहली के कुछ सुप्रसिद्ध विद्वानो तथा विचारको ने भाग लिया और विभिन्न दृष्टिकोणो से अपने-अपने विचार व्यक्त किए।

परिचर्चा का विषय था, **वर्तमान युग की समस्याएँ और उनका दार्शनिक समाधान** ! कुछ महत्वपूर्ण विचारो को सार रूप मे हम यहा प्रस्तुत कर रहे हैं।

—सम्पादक

असीम बनना होगा

●

(विचारक · आचार्य पुष्पराज

सम्पादक · सद्भावना, सस्थापकः—एक विश्व सद्भावना परिषद, देहली)

समस्या का मूल कारण है हमारे मन की सकुचित वृत्तियाँ। हम अपने को जब एक निश्चित घेरे मे बाध लेते हैं, अपने सुख दु ख को अपने तक ही सीमित कर लेते हैं, और अपने अधिकारो को महत्व-पूर्ण समझने लग जाते हैं, तब हम दूसरो से टकराते हैं, सँघर्ष होता

१४. इदमह मनृतान् सत्यमुपैमि।

—यजुर्वेद १।५

मैं असत्य से हटकर सत्य का आश्रय लेता हूँ।

५ माभे र्मा सविकृथा ऊर्जं धतस्व।

—यजु० ६।३५

तुम भयभीत तथा चचल न बनो। अपने अन्तर मे ऊर्जा (स्फूर्ति एव शक्ति) धारण करो।

१६. वय राष्ट्रे जागृयाम।

—यजु० ६।२३

हम राष्ट्र के लिए सदा जागृत (अप्रमत्त) रहे।

१७ यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धनम्।

सामवेद (पूर्वार्चिक) ४।७।६

सघर्षों के उपस्थित होने पर जो विजयी होता है, वही ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

१८. सुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु समना.
जाया पत्ये मधुमतीं वाच वदतु शन्तिवाम्।

—अथर्ववेद ३।३०।२

पुत्र अपने माता पिता की इच्छा के अनुसार आचरण करे। पत्नी पति के साथ मधुर और शान्तिदायी सभाषण करे।

●

क्या ऐसा कभी हो सकता है कि हम एक आँख से सोएँ और एक आँख से जगें?

क्या ऐसा भी कभी हो सकता है कि हम एक कदम पूर्व की ओर बढाएँ दूसरा पश्चिम की ओर?

नही! नही!!

तो फिर ऐसा क्यो होता है कि हम एक हाथ मे उत्तराध्ययन, धम्मपद, और कुरान लिए चल रहे हैं और दूसरे मे शोषण, दुराचार और क्रूरता नग्न तस्वीरें!

समस्याएं जीवन की : समाधान दर्शन का !

[समस्याओ के अनेक रूप हैं, और उन्हे देखने-परखने की अनेक दृष्टिया हैं। हर समस्या के मूल मे एक दर्शन—दृष्टि होती है, 'स्वय को, और 'स्व' से अतिरिक्त 'पर' को समझने-बरतने का हमारा एक निश्चित दृष्टिकोण होता है, हम उसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर प्रवृत्ति करते हैं, वह प्रवृति ही आगे चलकर समस्या का रूप धारण करती है। इसलिए हम मान सकते हैं कि समस्या का मूल दृष्टिकोण है। जीवन और जगत् की, भौतिक व आध्यात्मिक सब समस्याएं दार्शनिक हैं, इसलिए दर्शन के द्वारा उनका समाधान प्रस्तुत होना चाहिए। इस आशय से दिनाक ३१-१२-६७ को सुविख्यात तत्वचिन्तक उपाध्याय श्री अमरमुनि जी के सान्निध्य मे एक विचार परिचर्चा का महत्वपूर्ण आयोजन किया गया। इस परिचर्चा मे आगरा व देहली के कुछ सुप्रसिद्ध विद्वानो तथा विचारको ने भाग लिया और विभिन्न दृष्टिकोणो से अपने-अपने विचार व्यक्त किए।

परिचर्चा का विषय था, **वर्तमान युग की समस्याएँ और उनका दार्शनिक समाधान**। कुछ महत्वपूर्ण विचारो को सार रूप मे हम यहा प्रस्तुत कर रहे हैं।

—सम्पादक

असीम बनना होगा

●

(विचारक : आचार्य पुष्पराज

सम्पादक : सद्भावना, सस्थापक:—एक विश्व सद्भावना परिषद, देहली)

समस्या का मूल कारण है हमारे मन की सकुचित वृत्तियाँ। हम अपने को जब एक निश्चित घेरे में बांध लेते हैं, अपने सुख दु:ख को अपने तक ही सीमित कर लेते हैं, और अपने अधिकारो को महत्वपूर्ण समझने लग जाते हैं, तब हम दूसरो से टकराते हैं, सँघर्ष होता

है, विवाद और विग्रह खड़े होते हैं, और इस प्रकार वातावरण द्वेष तथा वैषम्य से जहरीला बन जाता है।

हमे व्यक्तिगत स्वार्थों और निहितहितो की सीमाएँ तोडनी होगी, समाज व धर्म सम्प्रदायो की परिकल्पित सीमा से आगे बढना होगा, जाति, प्रान्त और राष्ट्र की सीमाओ से ऊपर उठकर, "एक विश्व" अखण्ड मानवता' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाओ से हृदय को विराट, विशाल तथा असीम बनना होगा। हमारे दर्शन का यही सदेश है। भारत का तत्वचिन्तन 'असीम मानवता' को आदर्श मानता है।

भय और हीनता की भावना

(विचारक डा० राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
अध्यक्ष–थियोसोफिकलसोसाइटी, आगरा।)

यो तो जीवन समस्याओ का पुलिन्दा है, और जितनी समस्याएँ हैं उतने ही उनके कारण भी हैं। किंतु मेरे विचार मे जीवन की समस्त समस्याओ का उद्गम भय एव हीनता— इन दो प्रकार की भावनाओ (मानसिक ग्रन्थिया) से होता है।

हमारा मन कभी भय का शिकार होकर इधर उधर ठोकरे खाता है, और कभी हीनता से प्रताडित होकर सघर्ष और विद्रोह की पृष्ठ भूमि तैयार करता है। इन भावनाओ से ग्रस्त मन घबराहट, सन्देह अविश्वास, ईर्ष्या और विद्वेष के रूप मे अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता रहता है, और ये ही प्रतिक्रियाएँ हमारे जीवन की समस्याएँ बनकर हमे निगलने को, समाप्त कर डालने को लपक उठती हैं।

मेरे विचार से इन समस्याओ का समाधान यही हो सकता है कि हम अपने अस्तित्व को विराट् रूप मे देखे, समानता की भावना पैदा करे। अपनी विराट् शक्तियो पर विश्वास करने से हम भय और हीनता की भावना से मुक्त हो सकते हैं। भारतीय दर्शन और खास तौर से जैन दर्शन ने यही सदेश दिया है। वैचारिक कुण्ठाओ को तोडने के लिए हम अनाग्रही बनें, 'ही' की जगह 'भी' का प्रयोग करे।

सत्ता ही समस्या की जड़ है

(विचारक : श्री भूरेलाल बया
राजस्थान के प्रसिद्ध गाधीवादी कार्यकर्त्ता, भूतपूर्व मन्त्री राजस्थान राज्य,
अध्यक्ष एकविश्व सद्भावना परिषद देहली)

· मैं सर्वप्रथम इस बात पर विचार करना चाहता हूँ कि समस्या है क्या ? उसका स्वरूप क्या है, उद्गम क्या है ?

आज सबसे बडी समस्या सत्ता की है। सत्ता चाहे एकतत्रीय हो, या लोकतत्रीय, उसका स्वरूप कुछ भी हो सकता है किंतु स्वभाव एक ही है—अधिकार—लिप्सा,प्रतिस्पर्धा और दंड। सत्ता और राज नीति का गठबन्धन है। जब तक राजनीति का स्वरून और उद्देश्य नही बदलेगा, तब तक सत्ता नित-नई समस्याएँ पैदा करती रहेगी।

प्रे० कैनेडी ने–भूख, गरीबी और भय को संसार की प्रमुख समस्या बतलाया था। इनका समाधान विज्ञान भी कर रहा है, किंतु जब तक दर्शन से इनका ममाधान नही होगा, तब तक समस्या का रूप बदल जायेगा, समाधान नही होगा।

भूख और गरीबी स्वय मे समस्या नही है, समस्या है सग्रह-वृत्ति और मुनाफाखोरी। भय एक समस्या है और उसका समाधान पारस्परिक सद्भावना से किया जा सकता है।

समस्या है मूल्यों के विघटन की

(विचारक . डा० भगवतस्वरूप मिश्रा
अध्यक्ष—हिन्दी विभाग, आगरा कालेज, आगरा)

...एक प्रश्न है, कि क्या सभी समस्याओ का दार्शनिक समाधान सभव हो सकता है ? समस्याएँ भिन्न-भिन्न क्षेत्रो की हैं, राजनीति की, अर्थनीति की, भाषा की, जनपदीय, व अन्तर्जनपदीय। उनको स्वरूप निरन्तर बदलता रहा है, फिर दर्शन उन सबका समाधान कैसे प्रस्तुत कर सकता है ?

मेरा विचार है—'प्रत्येक समस्या के मूल मे एक दर्शन होता है। दर्शन क्या है ? एक दृष्टि। जो हमारा प्राप्तव्य है, वही हमारा

हमें अधिकारलोलुप व्यक्तियो को हिट करे, समाज मे उन्हे मूल्य-हीन कर दे। उनका सामाजिक मूल्य गिरेगा,वे समाज मे अप्रतिष्ठित होगे, तो कर्तव्य परायणता का मूल्य वढेगा। मैं तो कहूँगा अधिकार लोलुप व्यक्तियो को लतियाना चाहिए, व्यक्तिगत रूप से नही, भावनात्मक रूप से। जब अधिकार का मोह टूटेगा और कर्तव्य पालन की भावना जगेगी, तभी हमारी समस्याओ का समाधान होगा।

दृष्टिकोण बदलना होगा

(विचारक . उपाध्याय श्री अमर मुनि
पौवत्यि दर्शन के गम्भीर विचारक, भारतीय धर्म और सस्कृति के अधिकारी, प्रवक्ता सुकवि एव सिद्धहस्त लेखक)

समस्या और समाधान, समाधान और समस्या–यही जीवन है। जीवन मे समस्याएँ उठती रहती हैं और उनका समाधान भी होता रहता है। यदि समाधान नही हुआ होता तो मानव, जीवन की इतनी लम्बी यात्रा तय नही कर पाता। यह ठीक है कि कुछ व्यक्ति समस्याओ की गलियो मे भटक कर रह जाते है, और कुछ समाधान खोजने के लिए प्रकाश की ओर बढते हैं, वे अपना भी समाधान करते हैं और समष्टि का भी।

पानी की सतह पर उभराती हुई गेंद की तरह हमारे सामने प्रतिक्षण समस्याएँ उभर कर आ रही है। धर्म, सम्प्रदाय, जातीयता, प्रान्तीयता, भाषा, समस्या के ये अनेक रूप हैं। मैं समझता हूँ बाहर मे ये रूप भिन्न हैं,पर,अन्दर मे सब का रूप एक है,उनका स्वभाव—प्रकृति एक है। उनके मूल रूप को खोजना और उसका समाधान करना, यह दर्शन की प्रक्रिया है। दर्शन बाहर मे नही, अन्दर मे उतरता है, गहरा, वहुत गहरा!

दर्शन-जीवन की दिव्य दृष्टि है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है—'चक्षु वैं सत्यम्।' चक्षु ही सत्य है। यह चक्षु क्या है? दर्शन! दर्शन अन्तश्चक्षु है,भीतर की आँख है, जो हजारो हजार परतो को भेदकर, सहस्रो आवरणो को चीरकर सत्य का साक्षात्कार करती है। यह दिव्यदृष्टि ही जीवन की दिव्य सृष्टिका निर्माण करती है। दर्शन हमारी

दृष्टि (विचार) है, धर्म हमारी सृष्टि (आचार) है। दृष्टि के बिना सृष्टि स्वस्थ व सतुलित नही रह सकती। और सृष्टि के बिना दृष्टि का अस्तित्व ही क्या है? मैं धर्मशून्य दर्शन मे विश्वास नही करता, वह तो स्वय मे ही एक समस्या है, फिर उससे समाधान खोजना व्यर्थ है। दर्शन, दर्शन रूप मे समस्या है, धर्म रूप मे वह समाधान बनता है, अतः मैं आपसे उसी दर्शन की बात करूँगा, जो धर्म के साथ चलता है, और उसी धर्म की चर्चा करूँगा जो दर्शन से युक्त है। इसी को मैं जीवन की दृष्टि और सृष्टि मानता हूँ।

विचारो की दीर्घा मे खड़े होकर जब हम मानवजगत की क्रीडा को देखते हैं तो समूची मानवता एक केन्द्र पर खडी मालूम देती है। कम से कम पौर्वात्य दर्शन की तो सभी दृष्टियाँ इसी केन्द्र को देख रही है, और इसी केन्द्र के परिपार्श्व मे ही वे निरन्तर गतिशील रही हैं।

प्राच्य-दर्शन का चिन्तन तीन धाराओ मे प्रवाहित होता रहा है। वे धाराएँ अपने प्राकृतिक उर्वरको से मानवजीवन की भूमि को निरन्तर सुजला सफला शस्यश्यामला बनाती रही हैं। वैदिक विचार धारा, जिसका निचोड़ कहूँ, स्व-रस कहूँ—वह है **वेदान्त**। वह जीवन की घनीभूत समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करता रहा है—अद्वैतदृष्टि के द्वारा। जैन विचार ने **'अनेकान्तवाद'** के माध्यम से जीवन और जगत् के केन्द्र मे 'तुलाधार' बनकर सन्तुलन स्थिर रखने का प्रयत्न किया है और बौद्ध चिन्तन **'प्रतीत्य समुत्पाद'** (क्षणिक वाद) जगत् की समग्र समस्याओ का एकमेव समाधान देने के लिए हमारे समक्ष उपस्थित रहा है। दर्शन की आत्मा को मेरे चिन्तन ने जो यत्किंचित स्पर्श किया है, मैं वह आपके समक्ष प्रस्तुत विचार चर्चा के प्रसग पर सक्षेप मे उपस्थित कर रहा हूँ।

वेदान्त दर्शन

●

सबसे पहला सवाल है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? कहा जाता है कि जीवन का लक्ष्य बदल गया है, पर मुझे लगता है कि लक्ष्य अभी तक स्पष्ट ही नही हुआ है। मानव इस क्षुद्रपिण्ड मे सीमित हो गया है। उसका मन बहुत बौना हो गया है। विदेशी बौनी किस्म के गेहूँ खाते-खाते शायद वह और भी बौना न हो जाये?

जीवनलक्ष्य है । जीवन लक्ष्य ही दर्शन का नियामक होता है। धर्म, राजनीति, अर्थनीति, समाजशास्त्र, सभी के मूल मे एक प्रकार का जीवन लक्ष्य है । इसलिए दर्शन सब समस्याओ का समाधान दे सकता है, यह मेरा विश्वास है । तत्वज्ञान, आत्मविद्या दर्शन का एक अग है, सम्पूर्ण दर्शन नही ।

हमारे समक्ष मुख्य प्रश्न है – हमारा जीवन लक्ष्य क्या है ? मैं सोचता हूँ आज का मानव लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया है । पुराने मूल्य टूट गए हैं, विघटित हो गये हैं, और नये मूल्य हमारे सामने स्पष्ट नही हुए हैं । हम धुरी से हट गए हैं, कही भटक गये है, यह 'लक्ष्य हीनता' ही हमारी सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण समस्या है ।

सत्य, धर्म और नैतिकता—हमारा आदर्श नही रहा, मात्र 'पॉलिशी' (नीति) बन गई है । जीवन के नैतिकमूल्यो का ह्रास हमारी लक्ष्य-भ्रष्टता का कारण है । आस्था और निष्ठा जैसी कोई चीज हमारे मे आज नही रही है ।

मानवीय मूल्य पुन. स्थापित होने चाहिएँ, जीवन का लक्ष्य निश्चित होना चाहिए । हमारा प्राप्तव्य स्पष्ट होना चाहिए, और फिर निष्ठा के साथ उस ओर कदम बढने चाहिएँ । मेरे विचार मे दर्शन ही हमारे जीवन लक्ष्य को स्पष्ट व स्थिर कर सकता है ।

समस्या का मूल : असद्भाव

●

(विचारक : श्रीमती मोहिनी सिघवी

सचालिका : महिला सद्भावना परिषद, देहली, प्रमुख सामाजिक कार्यकर्त्री)

हम अनेक समस्याओ से घिरे हुए हैं, हमारे मामने जाति, धर्म सम्प्रदाय, भाषा, प्रान्त और राजनीति, ये सब समस्याएँ बनकर खडे है । हमे इनका मूल खोजना है । जो जीवन के माध्यम हैं, हमारी सस्कृति और चरित्र के आधार हैं, वे समाधान वनने चाहिएँ, समस्या नही । अगर वे ही समस्या बन रहे है तो इसका कोई महत्वपूर्ण कारण भी होना चाहिए । जीवन देने वाला पानी जव आग वनकर हाथ जला रहा हो तो इसका कारण पानी की प्रकृति नही, किन्तु उसके नीचे जलने वाली आग होगी । इसी प्रकार धर्म और भापा को समस्या के रूप मे प्रस्तुत करने

वाला कारण है असद्भाव। सौहार्द और सद्भाव की कमी ही आज की समस्या की जड है। 'सद्भावना' सिर्फ नारा नही है, हमारे जीवन का मूल मत्र है और यही समस्याओ का समाधान हो सकता है।

अधिकारों को ठुकराइए

●

विचारक : डा० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'

अध्यक्ष हिन्दी विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र)

उर्दू का एक शेर है—"जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है" यही बात आज समस्याओ के लिए कही जा सकती है। किधर ही नजर उठाइए, समस्याए मुँहबाए खडी हैं सुरसा की तरह हमे निगलने को जीभ लप-लपा रही है, चण्डी की तरह!

समस्याएँ कई हैं, और समाधान भी कई हैं। मेरी नजर मे एक खास समस्या है-अधिकार की! रामायण काल मे यही समस्या पैदा हुई—एक माँ ने अपने पुत्र को राज्याधिकारी बनाने के लिए वचन मागा, और एक ऐसी समस्या पैदा हुई जिससे रामायण का आदि अन्त भरा पडा है। महाभारत का जन्म भी इसी समस्या से हुआ। पाडवो ने अपने रहने के लिए सिर्फ पांच ग्राम मागे, किंतु जिसके पास अधिकार था उसने सुई की नोंक जितनी भूमि भी देने से इन्कार कर दिया और उसका परिणाम हुआ—महाभारत! राम ने इस समस्या का एक समाधान दिया था अधिकार को ठुकरा कर। राम और भरत के बीच राज्य जब फुटबाल बन जाता है, तो वहाँ समस्या समाधान का रूप ले लेती है। अधिकार लिप्सा ने समस्या पैदा की और अधिकार त्याग ने उसे सुलझाया।

वर्तमान का जीवन अधिकार लिप्सा की भावना से आक्रान्त है। जिनके पास अधिकार है, वे उससे चिपटे रहना चाहते हैं, जिनके पास नही है, वे उस तृष्णा मे व्याकुल हुए भटक रहे हैं। एक दूसरे से टकरा रहे हैं।

आप चाहते हैं कि व्यक्ति कर्तव्य पालन करे, और प्रतिष्ठा देते हैं अधिकारलोलुप व्यक्तियो को, तो फिर लाख प्रयत्न कीजिए समाज मे मानवीय मूल्यो की स्थापना नही हो सकेगी।

हमे अधिकारलोलुप व्यक्तियो को हिट करे, समाज मे उन्हे मूल्य-हीन कर दें। उनका सामाजिक मूल्य गिरेगा,वे समाज मे अप्रतिष्ठित होगे, तो कर्तव्य परायणता का मूल्य बढेगा। मै तो कहूँगा अधिकार लोलुप व्यक्तियो को लतियाना चाहिए, व्यक्तिगत रूप से नही, भावनात्मक रूप से। जब अधिकार का मोह टूटेगा और कर्तव्य पालन की भावना जगेगी, तभी हमारी समस्याओ का समाधान होगा।

दृष्टिकोण बदलना होगा

(विचारक : उपाध्याय श्री अमर मुनि
पौवत्यि दर्शन के गम्भीर विचारक, भारतीय धर्म और सस्कृति के अधिकारी, प्रवक्ता सुकवि एव सिद्धहस्त लेखक)

समस्या और समाधान, समाधान और समस्या-यही जीवन है। जीवन मे समस्याएँ उठती रहती हैं और उनका समाधान भी होता रहता है। यदि समाधान नही हुआ होता तो मानव, जीवन की इतनी लम्बी यात्रा तय नही कर पाता। यह ठीक है कि कुछ व्यक्ति समस्याओ की गलियो मे भटक कर रह जाते है, और कुछ समाधान खोजने के लिए प्रकाश की ओर बढते हैं, वे अपना भी समाधान करते हैं और समष्टि का भी।

पानी की सतह पर उभराती हुई गेंद की तरह हमारे सामने प्रतिक्षण समस्याएँ उभर कर आ रही है। धर्म, सप्रदाय, जातीयता, प्रान्तीयता, भाषा, समस्या के ये अनेक रूप हैं। मैं समझता हूँ बाहर मे ये रूप भिन्न है,पर,अन्दर मे सब का रूप एक है,उनका स्वभाव—प्रकृति एक है। उनके मूल रूप को खोजना और उसका समाधान करना, यह दर्शन की प्रक्रिया है। दर्शन बाहर मे नही, अन्दर मे उतरता है, गहरा, बहुत गहरा!

दर्शन-जीवन की दिव्य दृष्टि है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है—'चक्षु र्वै सत्यम्।' चक्षु ही सत्य है। यह चक्षु क्या है? दर्शन! दर्शन अन्तश्चक्षु है,भीतर की आँख है, जो हजारो हजार परतो को भेदकर, सहस्रो आवरणो को चीरकर सत्य का साक्षात्कार करती है। यह दिव्यदृष्टि ही जीवन की दिव्य सृष्टि का निर्माण करती है। दर्शन हमारी

दृष्टि (विचार) है, धर्म हमारी सृष्टि (आचार) है। दृष्टि के बिना सृष्टि स्वस्थ व सतुलित नही रह सकती। और सृष्टि के बिना दृष्टि का अस्तित्व ही क्या है? मैं धर्मशून्य दर्शन मे विश्वास नही करता, वह तो स्वय मे ही एक समस्या है, फिर उससे समाधान खोजना व्यर्थ है। दर्शन, दर्शन रूप मे समस्या है, धर्म रूप मे वह समाधान बनता है, अतः मैं आपसे उसी दर्शन की बात करूँगा, जो धर्म के साथ चलता है, और उसी धर्म की चर्चा करूँगा जो दर्शन से युक्त है। इसी को मैं जीवन की दृष्टि और सृष्टि मानता हूँ।

विचारो की दीर्घा मे खड़े होकर जब हम मानवजगत की क्रीडा को देखते हैं तो समूची मानवता एक केन्द्र पर खडी मालूम देती है। कम से कम पौर्वात्य दर्शन की तो सभी दृष्टियाँ इसी केन्द्र को देख रही है, और इसी केन्द्र के परिपार्श्व मे ही वे निरन्तर गतिशील रही है।

प्राच्य-दर्शन का चिन्तन तीन धाराओ मे प्रवाहित होता रहा है। वे धाराएँ अपने प्राकृतिक उर्वरको से मानवजीवन की भूमि को निरन्तर सुजला सफला शस्यश्यामला बनाती रही हैं। वैदिक विचार धारा, जिसका निचोड कहूँ, स्व-रस कहूँ—वह है **वेदान्त**। वह जीवन की घनीभूत समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करता रहा है—अद्वैतदृष्टि के द्वारा। जैन विचार ने **'अनेकान्तवाद'** के माध्यम से जीवन और जगत् के केन्द्र मे 'तुलाधार' बनकर सन्तुलन स्थिर रखने का प्रयत्न किया है और बौद्ध चिन्तन **'प्रतीत्य समुत्पाद'** (क्षणिक वाद) जगत् की समग्र समस्याओ का एकमेव समाधान देने के लिए हमारे समक्ष उपस्थित रहा है। दर्शन की आत्मा को मेरे चिन्तन ने जो यत्किंचित स्पर्श किया है, मैं वह आपके समक्ष प्रस्तुत विचार चर्चा के प्रसग पर सक्षेप मे उपस्थित कर रहा हूँ।

वेदान्त दर्शन

●

सबसे पहला सवाल है कि हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है? कहा जाता है कि जीवन का लक्ष्य बदल गया है, पर मुझे लगता है कि लक्ष्य अभी तक स्पष्ट ही नही हुआ है। मानव इस क्षुद्रपिण्ड मे सीमित हो गया है। उसका मन बहुत बौना हो गया है। विदेशी बौनी किस्म के गेहूँ खाते-खाते शायद वह और भी बौना न हो जाये?

अपने मन के दरवाजे मे वह पर को घुसने नही देता। उसके विचार की परिधि इतनी क्षुद्र हो गई है कि वह जो कुछ करता है, सोचता है, उसका कोई महान उद्देश्य, कोई विराट् लक्ष्य उसके समक्ष स्पष्ट ही नही है।

भय और हीनता की भावना को मानव मन की मूल समस्या बताया गया है। भय क्यो होता है, किस से होता है? वेदान्त की भाषा मे कहूँ तो 'द्वितीयाद वै भय भवति' दूसरे से, अर्थात् पर से भय होता है। शतपथब्राह्मण का यह चिन्तन सूत्र समग्र समस्याओ का दर्शन है, समस्या का कारण और समाधान इसमे छिपा है। हमारी 'पर बुद्धि' हमे भयभीत करती है। वेदान्त कहता है–'पर' कोई नही है। जो 'पर' दिखाई देता है वह वस्तुत॰ पर नही है, वह भी तू ही है। तू किसी से प्रेम करता है तो 'पर' मे नही, अपने से ही करता है, और किसी से द्वेष करता है तब भी 'पर' से नही, अपने से ही करता है। 'तू' तू है और पर के रूप मे भी तू ही है। विश्व की अनन्त चेतना असख्य रूपो मे जो विद्यमान है, वह तेरी अन्तश्चेतना से भिन्न नही है। इसलिए 'पर' की कल्पना ही असत् है, पर से भय खाना ही अज्ञान है।

वेदान्त की यह दिव्य दृष्टि हमारी जीवन दृष्टि बन जाये तो फिर हम अभय हो जायेगे। महावीर की भाषा मे 'अकुतोभय' बन जायेगे। जब कोई 'पर' नही है,गैर नही है, तो भय किसमे? उत्पीडन किसका? मानव पर से भय भी खाता है, और पर को उत्पीडित भी करता है। कहते हैं—सांप इन्सान से भय खाता है, और इसी भय की भावना से ही वह इन्सान को काटता है। मनुष्य भी इसी वृत्ति का शिकार है। अपने शरीर को कोई नही नोचता, अपने खाने पीने की वस्तु मे कोई भी अशुद्ध पदार्थ मिलाना नही चाहता, अपना उत्पीडन, विनाश कौन चाहता है? कौन चाहता है कि वह दरिद्र हो,शोषित,दीन हीन,हताश-निराश हुआ ठोकरे खाता रहे। जिन्दगी की मैली कुचैली चादर ओढे घूमता रहे। जब यह सब अपने लिए नही चाहते तो फिर अपने ही स्वरूप मे जो दूसरे चैतन्य हैं उनके लिए क्यो चाहे? वेदान्त जीवन की यह विराट् दृष्टि देता है, जो व्यक्ति को समष्टि के रूप मे सोचने-परखने को प्रेरित करती है। यही वह दृष्टि है जिसने हमे अखण्ड समाज, अखण्ड राष्ट्र, अखण्ड

परिकल्पना दी है। समूचे विश्व और एक अखण्ड चैतन्य सृष्टि की परिकल्पना दी है। समूचे ससार को एक घोसले के रूप मे देखा है 'यत्र विश्व भवत्येकनीडम्'।

भारत का यह उदात्त दर्शन, जब तक मात्र दर्शन रूप मे रहेगा, तो यह भी एक बौद्धिक समस्या बनकर रह जाएगा। अत. इसे धर्म रूप मे देखना है, इस दृष्टि को सृष्टि-रूप मे परिणत करना है, तभी हमारी समस्या का समाधान हो सकता है।

मैं आपसे कह रहा था कि वेदान्त दर्शन की उक्त 'अखण्ड मानवता' एव 'अखण्ड चैतन्य' के रूपमे अद्वैतदृष्टि की यदि सबसे अधिक आवश्यकता किसी युग मे अनुभव की गई है तो वह आज की वर्तमान परिस्थिति ही है, जब कि बिखराव, और खण्ड-खण्ड की भावना से मनुष्य का व्यक्तित्व टूकड़े-टुकड़े हुआ जा रहा है। राष्ट्र, धर्म, सप्रदाय, जाति, प्रान्त और भाषा के भेद से मानवीय इकाईयाँ टूट गई है। भेद का परिणाम हमेशा खेद मे प्रगट होता है। जहाँ भेद है, वहाँ खेद है, वहाँ व्यग्कुलता है, समस्या है।

जैन दर्शन

जैन दर्शन ने, जिसका एक नाम'अनेकान्त दर्शन' भी है,भेद और बिखराव की इस समस्या के दूसरे पहलू को भी पकडा है। अनेकान्त दृष्टि का अर्थ है—अनेक अन्तो—किनारो का जोड। अनेक धर्मों, अनेक पहलुओ का समवाय।

जैन दर्शन ने यो तो अनेक मौलिक विचार दिए हैं, किंतु मैं आप से उसके एक केन्द्रीय विचार की चर्चा करूँगा। वह कहता है कि सत् अनन्त है, अखण्ड है—**अनन्त धर्मात्मकमेव तत्वम् अतोन्यथा सत्त्व मसूपपादम्।**" "जब 'सत्' अनन्त धर्मात्मक है, उसे विभाजित और खण्डित रूप मे नही देखा जा सकता, तो फिर हम सकुचित और क्षुद्र दृष्टि से देखने का प्रयत्न क्यो करें। जिस सत्य के लिए कहा जाता रहा है—**'सत्य ज्ञानमनंतं ब्रह्म'**—सत्य का परिज्ञान ही अनन्त ब्रह्म का परिज्ञान है, और यह भी कहा गया है कि—"**सच्चं गभीर तरं महासमुद्दाओ**" सत्य महासागर से भी अधिक गहरा है तो फिर हम उसे बुद्धि की क्षुद्र बाहो से नापने का और दुर्बल-क्षीण चक्षुओ से उसका अनंत किनारा देख पाने का दावा क्यो करे? यह दावा

आग्रह है, आग्रह से अहकार जगता है, अहकार से भेद, बिखराव, वैषम्य एव समस्याओं की एक अनत शृंखला खड़ी होती चली जाती है।

जैनदर्शन का स्वर है—सत्य को अपने पराये के आग्रह से परे होकर 'सत्य' रूप में स्वीकार करिए। उस पर अपने ऐकान्तिक विचारों की मोहर लगाने का प्रयत्न मत कीजिये। अपनी सस्कारानुगत परिस्थितियों के धुधलके मे रखकर यदि सत्य को देखने की कोशिश करेंगे तो वह धूमिल और अस्पष्ट दिखाई देगा। अपने पूर्वाग्रहो के फ्रेम मे ही उसे ठोक-पीट कर स्थिर करना चाहेगे तो वह एक खण्डित देवप्रतिमा की तरह असुदर प्रतीत होगा। जीवन मे कुछ अपनी सीमाएँ तो होती हैं, पर उन सीमाओं में कैदी बनकर नही, नागरिक बनकर जीना चाहिए। घर मे दीवारे होती हैं, उसके अलग अलग प्रकोष्ठ होते है, सीमाएँ होती हैं। यदि दीवारें न हो, प्रकोष्ठ (कमरे) न हो, तो फिर घर भी नही होगा। किंतु घर प्रकोष्ठों में विभक्त होकर भी अविभक्त होता है, सीमा में भी असीम होता है। हम एक प्रकोष्ठ से दूसरे मे और दूसरे से तीसरे मे आते जाते रहते हैं। सब प्रकोष्ठ मिलकर ही हमारे लिए एक घर है। इसी प्रकार जीवन मे आचार-विचार की कुछ निश्चित सीमाएँ है, उन्हे मिटाया नही जा सकता, किंतु हम इतना तो कर सकते ह कि उन सीमाओ मे विभक्त न हो, उन पर अपना स्वत्व न जमाएँ। एकाधिकार का आग्रह न करे। डा० कमलेश ने जैसा कहा कि—'अधिकार की समस्या है।' यह समस्या सिर्फ सामाजिक और राजनैतिक जीवन मे ही नही, किंतु बौद्धिक जीवन मे भी है। जीवन के हर क्षेत्र में है। यजुर्वेद का स्वाध्याय करते हुए एक सुप्रसिद्ध मंत्र आया—'ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किं च जगत्या जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा :' ...'तेन त्यक्तेन' का अर्थ बहुत जगह पढा है, प्रायः सभी ने 'ईश्वर' के लिए छोडकर उपयोग करो, ऐसा किया है। 'तेन' ईश्वर का वाचक माना है। परन्तु इस मत्र का उव्वट भाष्य जब पढा तो एक नया प्रकाश-सा मिल गया। आचार्य उव्वट ने 'तेन' का अर्थ किया है "स्वामित्वेन" अर्थात् अधिकार की भावना छोड़-कर उपभोग करो। जो तुम्हारी सीमा मे है, उपभोग या उपयोग के लिए प्राप्त है, उसका उपयोग भले ही करो, पर उस पर अधिकार मत

जमाओ। 'अधिकार मुक्त उपयोग' आज के जीवन का सबसे बडा दर्शन हो सकता है। 'शोषण मुक्त समाज' और 'धर्म निरपेक्ष राज्य' की कल्पना से भी ऊँची परिकल्पना है 'अधिकारमुक्त उपयोग' की।

मैं आपसे बतला रहा था कि जैन दर्शन का यही केन्द्रीय विचार है। वस्तु का स्वामित्व तो दूर की बात है, विचारो का भी स्वामित्वी नही होना चाहिए। जैन आगमो को पढ जाइए, सर्वत्र एक स्वर सुनाई देगा—**'ममत्त छिंदए'** ममत्व की शृखला को तोड डालो, **'नत्थि एरिसो पासो'** स्वामित्व और अधिकार की भावना जैसा बन्धन दूसरा नही है। स्वामित्व जहा खडा हो गया, वहा सीमा बन गई, और सीमा पर अधिकार की भावना आ गई, बस, वही टकराहट और सघर्ष शुरू हो गया।

जैनधर्म की यह अनेकान्त दृष्टि है कि वस्तु अनन्त है, वस्तु के गुण धर्म अनन्त है, तुम वस्तु स्वरूप को समझने देखने का प्रयत्न करो, पर, जितना देखा समझा है, उसीको अन्तिम सीमा मानकर मत डटो। अपनी सीमा पर डडा लेकर खडे मत होइए कि दूसरा उसमे घुस ही न सके। यदि आपकी दृष्टि और आपका द्वार दूसरो के लिए बद है तो, दूसरो की दृष्टि और द्वार भी आपके लिए बद हो जायेंगे, फिर तो समस्या सुलझेगी नही, अपितु और गहरी उलझ जायेगी। जैन दर्शन सीमा मे असीम रहने का, क्षुद्र मे भी विराट बने रहने का सन्देश देता है और यही सदेश हमारी समस्याओ का सही समाधान प्रस्तुत करता है। सत्य के लिए ऐसा ही है, यह 'ही' का आग्रह सत्य को सीमित करता है, दूसरे के सत्य को काटता है, दूर धकेलता है। परन्तु जब सत्य के लिए ऐसा भी है, यह 'भी' का प्रयोग होता है तो यह 'भी' स्वय के सत्य को प्रतिष्ठित करता ही है, साथ ही दूसरे के सत्य का समादर भी करता है और समन्वय की दृष्टि जनजीवन मे से विग्रह और कलह को समाप्त कर एक अखण्ड सहयोग एव सद्भाव का सम्बन्ध स्थापित करती है।

बौद्ध दर्शन

●

डा० कमलेशजी और डा० मिश्राजी के चिन्तन की कडियो को

शिष्य ने पूछा—"भन्ते ! आपने उसे कुछ उपदेश तो नही दिया।"

बुद्ध ने गम्भीर होकर कहा—"आवुस ! उसे आज रोटी की आवश्यकता थी, उपदेश की नही !"

समस्या को समझने और सुलझाने का यह एक दृष्टिकोण है। जिस स्तर की समस्या होती है, उसे उसी स्तर से देखना चाहिए और उसी प्रकार के समाधान भी जुटाने चाहिएँ। इस विचार से समस्या के अनेक स्तर बन जाते हैं, भौतिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक !

एक विचार यह भी है कि समस्या मूलत भौतिक नही होती, आध्यात्मिक होती है, मानवीय होती है। जहा मानव चेतना होगी, वही समस्या पैदा होगी, और वही उसका समाधान भी खोजा जायेगा। मुख्य बात यह है कि हम समस्या को किस रूप मे ग्रहण करते हैं, किस चश्मे से देखते हैं। समस्या को सुलझाना चाहते हैं, या उसी रूप मे, अथवा अन्य परिवेश मे छिपा देना चाहते हैं। यो समस्या को रूपान्तरित कर देना भी एक समाधान है।

हमारी संस्कृति और धर्म की परम्पराएँ आदर्शप्रधान रही हैं। उसमे त्याग,समर्पण और सहिष्णुता की प्रेरणा रही हुई है। समस्या के प्रति जटिलता का नही, किंतु सद्भाव व सौहार्द का दृष्टिकोण रहा है।

इस शताब्दी मे एक नई हवा आई, जिसने हमारे आदर्शों को झकझोर दिया, जीवन मूल्यो को बदल दिया। उसने कहा—तुम अभावो मे सतुष्ट रहकर क्यो पलते हो ? साधनो का निर्माण करो, और उनका उपयोग भी ! इस हवा ने पुरानी धारणाओ को डगमगा दिया, मूल्यो को विशृ खलित कर दिया। त्याग प्रधान दृष्टिकोण भोग प्रधान बन गया। साधनो की प्रतिस्पर्धा मे मनुष्य भटक गया और जीवन समस्याओ से घिर गया।

नई सभ्यता और सस्कृति का केन्द्र भोग था। भोगलिप्सा ने जीवन के नैतिक आधारो को तोड गिरा या था। गाधीजी ने इस दुरवस्था को देखा, फलत उसे बदलने के लिए नया दर्शन दिया। उन्होने जीवनके केन्द्र मे 'भोग' की जगह 'श्रम' को प्रतिष्ठित किया,

नैतिक मूल्यो को महत्व दिया। सत्ता के साथ कर्तव्यभावना को जागृत किया,अधिकार के साथ सेवा और सम्पन्नता के साथ समर्पण का आदर्श बताया, अगर हम इन आदर्शों पर चलते तो समस्याएँ आज इस रूप मे हमे परेशान नही करतीं।

वर्तमान मे मानव आस्था एव विश्वास शून्य हो गया है। मूल्यो के सकट की समस्या से हम घिर गए हैं। मानवीय मूल्य ही राष्ट्रीय जीवन के नियामक होते हैं। मूल्यो को स्थिर करने के लिए अपने प्राचीन आदर्शों की ओर जाना ही होगा। जैसा कि श्री अमरमुनि जी ने बताया कि एक विराट् मानवीय चेतना जागृत हो, पर को भी 'स्व' की अनुभूति के साथ जोडे और साधन सामग्रियो के प्रति सोचने-समझने का दृष्टिकोण बदले तो समस्याएँ स्वय सुलझती जाएँगी।

●

क्या कोई भी समझदार माता-पिता अबोध बालक के हाथ मे फल काटने के लिए तेज धार वाला चाकू देते हैं ? नही ! चूँकि वह फल की जगह अपना हाथ भी काट सकता है।

इन्द्रिय और मन अबोध बालक हैं। ज्ञानी वह है, जो किसी अच्छे उद्देश्य के लिए भी इनके हाथ मे बुराई का शस्त्र नही देता।

\+ \+ \+

हमारा एक चरण मन्दिर, उपाश्रय, धर्मविहार और मस्जिद की ओर बढ रहा है, तो दूसरा मदिरालय और मानवता के कत्लखानो की ओर ?

जीवन का यह विचित्र द्वैध हमारी बुद्धि और आत्मा पर क्रूर व्यग्य है। आज के मानव के पास इसका क्या उत्तर है ?

●

जोडकर देखे तो वहाँ बौद्ध दर्शन का प्रतीत्य समुत्पाद अर्थात् क्षणिक वाद हमारे लिए मार्गदर्शक बन जाता है। अधिकार लोलुप व्यक्तियो को लतियाने की बात वक्ता ने कही, और अन्य वक्ता ने कहा—कि हमारी नैतिक निष्ठा का आधार टूट चुका है। हम स्वार्थी, अवसर वादी और खुदपरस्त बनते जा रहे है, यही समस्या की जड है। मैं सोचता हूँ वस्तु को, धन, ऐश्वर्य, सत्ता और सम्प्रदाय को देखने का हमारा दृष्टिकोण बदल जाये तो व्यक्ति को ठोकरे खाने का अवसर ही नही आएगा, और न ही हम खुदपरस्त और भोग-मूढ बनेंगे !

बुद्ध ने अपने अन्तिम प्रवचन मे कहा था—'**अनिच्चावत सखारा उप्पादवयधम्मिनो**' सभी सस्कार (वस्तुएँ) अनित्य हैं, उत्पन्न होते हैं और क्षय हो जाते हैं। जब कोई भी सस्कार, वस्तु स्थायी नही है तो उसका मोह कैसा ? शोक कैसा ?

क्षणिकवाद को जीवन और जगत् के प्रति उदासीनता और निराशा का दृष्टिकोण नही बनाएँ, बल्कि वस्तु तत्व को समझने और देखने का माध्यम बनाएँ तो हम इससे बहुत लाभ उठा सकते है। जब आप अपने शरीर, ऐश्वर्य एव घर के लिए पडौसी और मित्रो का शरीर एव घर बर्बाद करने को उद्यत होते हैं, तब आप सोचिए कि "यह सब तो क्षणिक है, आज है, कल नही, दूसरे क्षण भी नही, फिर किसके लिए यह क्रूरता और दानवता का ताडवकर रहा हूँ।" मनुष्य को धन, सत्ता और सिंहासन मिल जाता है तो उससे चिपक जाता है, जैसे कोई शाश्वत सत्य मिल गया। जीवन पर सर्वत्र धन और सत्ता का ऐसा नशा छा जाता है कि मनुष्य अनेक अनर्थों की सृष्टि करता चला जाता है। यदि धन, सत्ता नही मिली है तो उसे हथियाने के लिए सब कुछ कर सकता है, न्याय अन्याय की परिभाषा उसे रोक नही सकती। नैतिक आदर्श, मानवीय मूल्य और जीवन लक्ष्य उसके लिए वह शैय्या का फूल बन जाता है जिसे कुचलने मे ही आनन्द आता है। मानव की यह वृत्ति तभी बदल सकती है, जब वस्तु को देखने का दृष्टिकोण बदलेगा। वस्तु का व्यामोह तभी मिट सकता है, जब मन मे वैराग्य जगेगा। मैं उस जीवित वैराग्य की बात कहता हूँ जो हमारी कलुषित वृत्तियो को तोडता है, अन्याय, अत्याचार और दुराचार से विरक्त

बनाता है और किसी उदात्त आदर्श के लिए अर्पण होने की प्रेरणा
देता है। वैराग्य के इसी जीवित स्वरूप ने हमारी सस्कृति मे राम
और हरिश्चन्द्र पैदा किए हैं। राम यह सोचता है कि 'इस' रघुवश
मे अन्य सभी बाते अच्छी हैं, किंतु एक बुराई यह है कि छोटे को
छोडकर बड़े का राज्याभिषेक किया जाता है।' और वह राम सत्ता
को एक फुटबाल की तरह इधर उधर लुढकाते जाते हैं, उससे बचना
चाहते हैं। हरिश्चन्द्र जैसे अपने वचन पर, और वह भी स्वप्न मे
दिए गये वचन पर,जिसका कोई वास्तविक मूल्य नही होता, कितना
बडा बलिदान करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। इसका अनुप्रेरक यह
वैराग्य और उदात्त दृष्टिकोण है कि, वस्तु क्षणिक है, उसके उप-
भोग का आनन्द भी क्षणिक है।

मैं आपसे दर्शन के द्वारा समस्या के समाधान की बात करके
चला था और उसी सन्दर्भ मे यह बता आया हूँ कि वर्तमान, अतीत
और अनागत की अनन्त-अनन्त समस्याओ का रूप भिन्न होते हुए
भी, उनका मूल स्वभाव एक ही रहा है और उसी स्वभाव का
निराकरण भारतीय दर्शन ने उपर्युक्त चिंतन के माध्यम से किया
है। यह समाधान तात्कालिक नही, किंतु स्थायी है। हमे अपनी
समस्याओ का स्थायी समाधान ही करना है। हम सतह पर
तैरने वाले नही, गहराई मे जाने वाले हैं। गहराई मे उतर कर आप
सबको देखना है, सभव है, आपको इससे और भी अधिक मूल्यवान
मणि मिल जाएँ।

जीवन मूल्य स्थिर करने होंगे

(विचारक श्री यशपाल जैन
सगोष्ठी के अध्यक्ष, सम्पादक · जीवन साहित्य, यशस्वी पत्रकार, एव लेखक)

महात्मा बुद्ध के जीवन की एक घटना है। उनके शिष्य जनता
को धर्म सन्देश देने के लिए घूम रहे थे। एक बार शिष्यो ने आकर
कहा—"भन्ते! आज एक ऐसा मूढ मनुष्य मिला, जिसने बहुत सम-
झाने पर भी आपका उपदेश नही सुना।" दूसरे दिन बुद्ध स्वय वहा
गये, देखा कि वह क्षुधा से पीडित है, बुद्ध ने उसे भोजन दिया और
चले आये।

शिष्य ने पूछा—"भन्ते! आपने उसे कुछ उपदेश तो नही दिया।"

बुद्ध ने गम्भीर होकर कहा—"आवुस! उसे आज रोटी की आवश्यकता थी, उपदेश की नही!"

समस्या को समझने और सुलझाने का यह एक दृष्टिकोण है। जिस स्तर की समस्या होती है, उसे उसी स्तर से देखना चाहिए और उसी प्रकार के समाधान भी जुटाने चाहिएँ। इस विचार से समस्या के अनेक स्तर बन जाते हैं, भौतिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक!

एक विचार यह भी है कि समस्या मूलत भौतिक नही होती, आध्यात्मिक होती है, मानवीय होती है। जहा मानव चेतना होगी, वही समस्या पैदा होगी, और वही उसका समाधान भी खोजा जायेगा। मुख्य वात यह है कि हम समस्या को किस रूप मे ग्रहण करते हैं, किस चश्मे से देखते है। समस्या को सुलझाना चाहते हैं, या उसी रूप मे, अथवा अन्य परिवेश मे छिपा देना चाहते हैं। यो समस्या को रूपान्तरित कर देना भी एक समाधान है।

हमारी सस्कृति और धर्म की परम्पराएँ आदर्शप्रधान रही हैं। उसमे त्याग,समर्पण और सहिष्णुता की प्रेरणा रही हुई है। समस्या के प्रति जटिलता का नही, किंतु सद्भाव व सौहार्द का दृष्टिकोण रहा है।

इस शताव्दी मे एक नई हवा आई, जिसने हमारे आदर्शो को झकझोर दिया, जीवन मूल्यो को वदल दिया। उसने कहा—तुम अभावो मे सतुष्ट रहकर क्यो पलते हो? साधनो का निर्माण करो, और उनका उपयोग भी! इस हवा ने पुरानी धारणाओ को डगमगा दिया, मूल्यो को विशृ खलित कर दिया। त्याग प्रधान दृष्टिकोण भोग प्रधान वन गया। साधनो की प्रतिस्पर्धा मे मनुष्य भटक गया और जीवन समस्याओ से घिर गया।

नई सभ्यता और सस्कृति का केन्द्र भोग था। भोगलिप्सा ने जीवन के नैतिक आधारो को तोड गिरा या था। गाधीजी ने इस दुरवस्था को देखा, फलत उसे वदलने के लिए नया दर्शन दिया। उन्होने जीवनके केन्द्र मे 'भोग' की जगह 'श्रम' को प्रतिष्ठित किया,

नैतिक मूल्यो को महत्व दिया। सत्ता के साथ कर्तव्यभावना को जागृत किया, अधिकार के साथ सेवा और सम्पन्नता के साथ समर्पण का आदर्श बताया, अगर हम इन आदर्शो पर चलते तो समस्याएँ आज इस रूप मे हमे परेशान नही करती।

वर्तमान मे मानव आस्था एव विश्वास शून्य हो गया है। मूल्यों के सकट की समस्या से हम घिर गए है। मानवीय मूल्य ही राष्ट्रीय जीवन के नियामक होते हैं। मूल्यो को स्थिर करने के लिए अपने प्राचीन आदर्शों की ओर जाना ही होगा। जैसा कि श्री अमरमुनि जी ने बताया कि एक विराट् मानवीय चेतना जागृत हो, पर को भी 'स्व' की अनुभूति के साथ जोडे और साधन सामग्रियो के प्रति सोचने-समझने का दृष्टिकोण बदले तो समस्याएँ स्वय सुलझती जाएँगी।

●

क्या कोई भी समझदार माता-पिता अबोध बालक के हाथ मे फल काटने के लिए तेज धार वाला चाकू देते हैं? नही! चूँकि वह फल की जगह अपना हाथ भी काट सकता है।

इन्द्रिय और मन अबोध बालक हैं। ज्ञानी वह है, जो किसी अच्छे उद्देश्य के लिए भी इनके हाथ मे बुराई का शस्त्र नही देता।

\+ \+ \+

हमारा एक चरण मन्दिर, उपाश्रय, धर्मविहार और मस्जिद की ओर बढ़ रहा है, तो दूसरा मदिरालय और मानवता के कट्टीखानो की ओर?

जीवन का यह विचित्र द्वैध हमारी बुद्धि और आत्मा पर क्रूर व्यग्य है। आज के मानव के पास इसका क्या उत्तर है?

●

धार्मिक उदारता

उपाध्याय अमरमुनि

•

भारत की सीमा पारके एक मुस्लिम सुलतान के राजगुरु मौलवी साहब एक बार मक्का की यात्रा पर जाते हुए गुजरात की सीमा से गुजर रहे थे। उनके साथ बहुत बडा दलबल था, अपार सम्पत्ति थी। कुछ लोगो ने धर्म द्वेष के कारण उनको लूटने की तैयारी की। राजा वीरधवल ने भी कहा कि मौलवी को लूट कर उसकी सम्पत्ति का हिन्दू धर्म के कार्यों मे उपयोग कर लिया जाए। महामत्री तेज पाल को यह बहुत ही अनुचित लगा। धर्म-द्वेप के रूप मे इस प्रकार के अत्याचार उनके उदात्त जैनसस्कारो के सर्वथा विपरीत थे। महामत्री ने राजा वीरधवल से निवेदन किया कि—"महाराज, यह घोर अन्याय है। बिना किसी अपराध के धर्म के नाम पर किसी को लूटना, सताना, उत्पीडित करना, अपने मे एक जघन्य अपराध है। महाराज, दूसरे धर्म के अनपराध व्यक्तियो को लूटकर अपने धर्म की गौरववृद्धि करना मा के शरीर को बेचकर पैसा कमाने जैसा है।" इस प्रकार मत्री ने बडी स्पष्टता के साथ राजा को इस कृत्य से रोका और मौलवीसाहब को बड़े सम्मान व प्रेम के साथ तीर्थयात्रा करने के लिए आगे जाने दिया।

मौलवी साहब का हृदय भारत के मत्रियो की परधर्म-सहिष्णुता एव उदारता की नीति से गद्-गद् हो गया।

यात्रा से लौटते समय फिर मौलवी साहब ने मत्री तेजपाल के पास रुक कर विश्राम लिया। मत्री ने प्रेम के साथ मौलवी साहव का आतिथ्य एव सत्कार करके उनका हृदय जीत लिया।

मौलवी साहव ने जब अपने सुलतान के समक्ष यात्रा का वर्णन करते हुए भारतीय लोको के इस उदार और परधर्म-सहिष्णु भाव का बखान किया तो सुलतान बहुत ही प्रभावित हुआ।

सुलतान के मन मे मत्री तेजपाल के प्रति इतनी श्रद्धा एव आदर जगा कि उसने सधिपत्र भेजकर अनुरोध किया कि "यह देश आपका है। हम आपके सामत है, हमे भी अपनी सेवा का अवसर देकर कभी अनुगृहीत करिए।"

सुलतान के बार-बार के आग्रह पर मत्री ने वहा की सुप्रसिद्ध मम्माणी नामक पत्थर की खान के सुन्दर पत्थर मगवाए और उन पर से आबू के जैन मदिर के लिए भव्य प्रतिमाओ का निर्माण कराया गया।

—प्रबन्ध चिन्तामणि ४।१६१

●

गुड और शक्कर चाहने वाले ईख की पूजा नही करते, बल्कि उसे पील कर रस निकालते हैं?

फिर आत्म-कल्याण चाहने वाले धर्म-ग्रथो को सोने चाँदी की पेटियों में बन्द करके उसे पूजते क्यो है? उसका अध्ययन करके जीवन का आनन्द क्यों नही प्राप्त करते?

\+ + +

अशुद्ध चिंतन और अशुद्ध वचन से सबसे पहले अपना मन और वाणी अपवित्र होते हैं।

किसी के लाभ के लिए भी उसकी बुराई देखना ठीक नही। क्योकि इससे दृष्टि को बुराई देखने का अभ्यास होता है। वह किसी के लाभ के लिए देखती-देखती, कभी अनिष्ट के लिए भी देख सकती है।

●

षिक शब्दो का सरल अर्थ व ऐतिहासिक विकास क्रम भी वडी कुशलता पूर्वक प्रदर्शित किया गया है। फुट नोट मे दिए गए तुलनात्मक सदर्भ लेखक द्वय की वहुश्रुतता के परिचायक हैं।

यद्यपि द्वितीय भाग भी सर्वा ग सुन्दर बन पडा है, तथापि लेखकीय टिप्प्णियो मे जो तुलनात्मक और विवेचनाप्रधान दृष्टि प्रथम भाग मे परिलक्षित हुई है, उसका निर्वाह इस भाग मे भी हुआ होता तो सोने मे सुगन्ध की कहावत चरितार्थ हो जाती।

मुद्रण व कागज आदि इसमें भी सामान्य ही है, किंतु इससे पुस्तक की महत्ता मे कोई कमी नही हुई है।

दोनो महत्वपूर्ण ग्रन्थो के प्रकाशन के लिए जैनाश्रम के अधिकारीगण व निर्देशक डा० मेहता विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। आशा करनी चाहिए कि अगले भाग भी इसी प्रकार अपनी मौलिक विशेषताए लिए शीघ्र ही प्रकाश मे आयेगे।

—'सरस'

●

प्राप्ति का मार्ग—

सच्चे हृदय से प्रार्थना करिए—प्रफुल्लता मिलेगी।
किसी दीन की सेवा करिए—आनन्द की अनुभूति होगी।
मन मे उत्साह बनाए रखिए—सदा जवानी बनी रहेगी।
अपना कर्तव्य पूरा करते रहिए—ससार मे यश मिलेगा।
दान और परोपकार करते जाइए—मरकर भी अमर हो जाएंगे।

"रम्या सा ऽमर भारती"

—⁂—

अमृत जीवन यस्य, अमृता च यशस्विता ।
मनस्विताऽमृता यस्य, अमर स्तौमि त मुनिम् ॥

रसिको शुभ-वृत्तेर्य, श्रमरण-सघ-सुयोजक: ।
भावना भावुका यस्य, अमर स्तौमि त मुनिम् ॥

रतो विरति-योगे य:, उपाध्याय-पद-स्थित: ।
तीर्थ-रत्न प्रभावन्तम्, अमरं स्तौमि त मुनिम् ॥

प्रिया प्रसन्नता यस्य, मुख-मुद्रा च भास्वरा ।
यम-नियम-वद्धो य: अमर स्तौमि त मुनिम् ॥

पततामाश्रयो भूत्वा, तेषा मार्गप्रवर्तक ।
त्रिक-योग-विशुद्धो य: अमर स्तौमि त मुनिम् ॥

काव्यमयी गभीरार्था, यस्य वाणी जन-प्रिया ।
हैमाक्षरेषु सलेख्या, अमर स्तौमि त मुनिम् ॥

मिथ्या-मत-विनाशार्थं मागता जगती तले ।
श्रीयुता मासिका शान्ता, पत्रिकाऽमर-भारती ॥

महता जैन - शास्त्राणा, गम्भीरार्थ - प्रकाशनात् ।
लक्ष्य स्व सुतरा याति, इत्युल्लोसोऽस्ति मे हृदि ॥

मन: - प्रमोद - जननी,
धुरा या मधुरा वरा ।
कल्याण कुर्याल्लोके,
रम्या साऽमर-भारती ॥

मुनि 'मधुकर'

पुस्तक —जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग १
लेखक प० बेचरदास दोशी
सम्पादक प० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम, (जैनाश्रम) हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी ५
मूल्य १५ रु०; आकार २२″ × ३६″ ÷ १६ पृष्ठ ३१४

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम गत तीन दशक से जैन विद्या के प्रचार प्रसार मे सलग्न है। विद्यार्थियो को अध्ययन-सहयोग, छात्रवृत्ति आदि के साथ ही वहाँ से जैन साहित्य के विभिन्न विषयो पर समय समय पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी योजना की महत्वपूर्ण सपूर्ति है।

जैन साहित्य का सर्वांग परिचय देने वाले आठ भागो के प्रकाशन की योजना मे प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम भाग है और उसमे अग आगम साहित्य का विस्तृत तथा अत्यन्त प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ के लेखक प० बेचरदास दोशी, भारतीय दर्शन व साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं, जैन साहित्य और जैनविद्या के क्षेत्र मे तो अखिल भारतीय स्तर के प्रमुख विद्वानों मे उनकी गणना की जाती है। उनकी बहुश्रुतता, तटस्थविवेचक दृष्टि और भाषाशास्त्री की पैनी प्रज्ञा के दर्शन पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर छविमान हैं। अंग आगमो का बाह्य परिचय और फिर अन्तरग परिचय पढने के बाद ऐसा लगता है कि पूरा आगम पढ चुके हैं, एक समर्थ टीका, और आलोचना के साथ। कही भी अधूरापन और खण्डित-सा अनुभव नही होता। आगम-गत शब्दो के मूल अर्थ और परिभाषा करने मे आगमिक भावना को बहुत सुरक्षित रखा गया है, साथ ही लेखक

ने देश, काल, भाषा आदि के कारण उनके बदलते पर्याय, अर्थ और उसके कारणो पर भी बडी निर्भीकता एव तटस्थता के साथ विचार किया है।

इस इतिहास की एक मौलिक विशेषता है और वह यह है कि लेखक सिर्फ इतिहास और साहित्य का विद्वान ही नही है, बल्कि उस सपूर्ण परम्परा और समग्र दर्शन का पारगामी भी है। इसलिए इस इतिहास मे लेखक की आत्मीयता की भी झलक होती है और तटस्थ न्यायप्रियता की भी।

एक दृष्टि-सम्पन्न विचारक विद्वान द्वारा प्रस्तुत यह पुस्तक जैन साहित्य की ही नही, बल्कि भारतीय साहित्य की एक अमूल्य उपलब्धि है। जैन साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी से हम इसे पढने का साग्रह अनुरोध करेंगे।

मुद्रण व कागज आदि मे उतनी सुरुचि का परिचय नही दिया गया है, जितना कि अपेक्षित था। काश! यह "मणिकाचन सयोग" हो पाता!

●

पुस्तक : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग—२
लेखक . लेखक डा० जगदीशचन्द्र जैन, डा० मोहनलाल मेहता।
सम्पादक प० दलसुखभाई मालवाणिया
प्रकाशक वही, मूल्य १५ रु० पृष्ठ ४४२।

जैन साहित्य के इतिहास के द्वितीय भाग मे अग बाह्य आगमो की विस्तृत परिचयात्मक रेखा प्रस्तुत की गई है। उपाग तथा मूल सूत्रो का परिचय सुप्रसिद्ध विद्वान डा० जगदीश चन्द्र जैन ने लिखा है तथा शेष साहित्य का परिचयात्मक सन्दर्भ डा० मोहनलाल मेहता ने।

डा० जगदीश चन्द्र जैन इतिहास व साहित्य के विशेष मर्मज्ञ है, उनकी दृष्टि पैनी है, तथ्यो को कुशलता के साथ ग्रहण भी करती हैं, और अभिव्यक्त भी। डा० मेहता भी इस क्षेत्र के अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं।

दोनो विद्वानो ने अग बाह्य आगमो का सर्वांगीण परिचय प्रामाणिक और तटस्थ दृष्टि से प्रस्तुत किया है। कठिन व पारिभा-

उपाध्याय अमरमुनि

महर्षि व्यास ने महाभारत के उपक्रम मे उसकी मूल भावना व्यक्त करते हुए लिखा है—

लोकयात्रार्थमेवेह, धर्मप्रवचनं कृतम् ।
अहिंसा साधुहिंसेति, श्रेयान् धर्मपरिग्रह ॥

—ससार मे धर्म का प्रतिपादन जीवन निर्वाह के लिए ही किया गया है। अहिंसा अच्छी है या हिंसा, यह निर्णय भी इसी आधार पर किया जायेगा कि आप कैसा जीवन पसद करते हैं ? यदि अच्छा और सुखी जीवन चाहते हैं तो फिर धर्म का ही पालन करना चाहिए ।

इसी भावना की अभिव्यक्ति आचार्य भद्रबाहु ने यो की है—

"अंगाणं किं सारो ? आयारो !"

—अग (भगवद् वाणी) का सार क्या है ? उसका मूल अभिप्राय क्या है ? आचार ! जीवन जीने की कुशल पद्धति !

\+ + +

किसी की भलाई की भावना से भी निन्दात्मक और कटु वचन का प्रयोग मत करो ।

किसी गरीब का चूल्हा जलाने के लिए भी क्या कोई अगारे को हथेली मे रख कर देता है ?

जैन विद्वान पं० आशाधरजी ने धर्मात्मा के चौदह लक्षण बतलाए हैं, उनमे पहला लक्षण है—'न्यायोपात्तधनोयजन्' (सा० ध० १।१११) न्याय से अर्जित धन का उपयोग करने वाला धर्मात्मा है।

जब तक अर्थार्जन के तरीके शुद्ध और नीतियुक्त नही होते, तब तक धर्म की हजार पुस्तकें भी जीवन में पवित्रता नही ला सकती। गगा-स्नान और तीर्थ-यात्रा भी उसके कलुष को नही धो सकती।

स्मृतिकार मनु ने सर्वप्रथम समाज और धर्म की इस रीढ को स्वस्थ रखने पर बल दिया है—

"योऽर्थशुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारि शुचिः शुचिः।"

सबसे बडी—शुद्धि (पवित्रता) अर्थ-शुद्धि है। मिट्टी और पानी के द्वारा प्राप्त होने वाली शुद्धि कोई शुद्धि नही है।

+ + +

गुरु शिष्यो को नही खोजता, अपितु वही शिष्यो द्वारा खोजा जाता है। सस्कृत की प्राचीन सूक्ति के अनुसार "नहि रत्नमन्विष्यति, मृग्यते ही तत्" रत्न जौंहरी को नही खोजता, जौंहरी ही उसे खोजता है।

पर आज के गुरु शिष्यो को खोज रहे हैं, रत्न पानेवाले लेने वालो की तलाश मे भटक रहे हैं।

+ + +

आज शक्ति और ज्ञान अलग-अलग केन्द्रो मे बटे हुए हैं। एक केन्द्र पर राजनीति और विज्ञान खडा है और दूसरे केन्द्र पर धर्म और दर्शन।

जब तक राजनीति और विज्ञान को धर्म और दर्शन से सचालित नही किया जाएगा, तब तक मानवजाति के कल्याण की आशा नही की जा सकती।

यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो से जब पूछा गया कि "शासक को दार्शनिक होना आवश्यक है या राजनीतिज्ञ? तो उसने बडे जोरदार शब्दो मे कहा—"जब तक तत्त्वज्ञान और राजनीति का एक ही व्यक्ति मे मिलन नही होता, तब तक मानवजाति सुख और संतोष की सास नही ले सकेगी।"

पुस्तक.—जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग १
लेखक · पं० बेचरदास दोशी
सम्पादक प० दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक . पार्श्वनाथ विद्याश्रम, (जैनाश्रम) हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी ५
मूल्य १५ रु०, आकार २२″ × ३६″ ÷ १६ पृष्ठ ३१४

श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम गत तीन दशक से जैन विद्या के प्रचार प्रसार मे सलग्न है। विद्यार्थियो को अध्ययन-सहयोग, छात्रवृत्ति आदि के साथ ही वहाँ से जैन साहित्य के विभिन्न विषयो पर समय समय पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी योजना की महत्वपूर्ण सपूर्ति है।

जैन साहित्य का सर्वांग परिचय देने वाले आठ भागो के प्रकाशन की योजना मे प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथम भाग है और उसमे अग आगम साहित्य का विस्तृत तथा अत्यन्त प्रामाणिक परिचय प्रस्तुत किया गया है।

ग्रन्थ के लेखक प० बेचरदास दोशी, भारतीय दर्शन व साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान हैं, जैन साहित्य और जैनविद्या के क्षेत्र मे तो अखिल भारतीय स्तर के प्रमुख विद्वानों मे उनकी गणना की जाती है। उनकी बहुश्रुतता, तटस्थविवेचक दृष्टि और भाषाशास्त्री की पैनी प्रज्ञा के दर्शन पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ पर छविमान हैं। अग आगमो का बाह्य परिचय और फिर अन्तरग परिचय पढने के बाद ऐसा लगता है कि पूरा आगम पढ चुके हैं, एक समर्थ टीका, और आलोचना के साथ। कही भी अधूरापन और खण्डित-सा अनुभव नही होता। आगम-गत शब्दो के मूल अर्थ और परिभाषा करने मे आगमिक भावना को बहुत सुरक्षित रखा गया है, साथ ही लेखक

ने देश, काल, भाषा आदि के कारण उनके बदलते पर्याय, अर्थ और उसके कारणो पर भी बडी निर्भीकता एव तटस्थता के साथ विचार किया है।

इस इतिहास की एक मौलिक विशेषता है और वह यह है कि लेखक सिर्फ इतिहास और साहित्य का विद्वान ही नही है, बल्कि उस सपूर्ण परम्परा और समग्र दर्शन का पारगामी भी है। इसलिए इस इतिहास मे लेखक की आत्मीयता की भी झलक होती है और तटस्थ न्यायप्रियता की भी।

एक दृष्टि-सम्पन्न विचारक विद्वान द्वारा प्रस्तुत यह पुस्तक जैन साहित्य की ही नही, बल्कि भारतीय साहित्य की एक अमूल्य उपलब्धि है। जैन साहित्य के प्रत्येक विद्यार्थी से हम इसे पढने का साग्रह अनुरोध करेंगे।

मुद्रण व कागज आदि मे उतनी सुरुचि का परिचय नही दिया गया है, जितना कि अपेक्षित था। काश! यह "मणिकाचन सयोग" हो पाता!

●

पुस्तक : जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग — २
लेखक . लेखक डा० जगदीशचन्द्र जैन, डा० मोहनलाल मेहता।
सम्पादक प० दलसुखभाई मालवाणिया
प्रकाशक वही, मूल्य १५ रु० पृष्ठ ४४२।

जैन साहित्य के इतिहास के द्वितीय भाग मे अग बाह्य आगमो की विस्तृत परिचयात्मक रेखा प्रस्तुत की गई है। उपाग तथा मूल सूत्रो का परिचय सुप्रसिद्ध विद्वान डा० जगदीश चन्द्र जैन ने लिखा है तथा शेष साहित्य का परिचयात्मक सन्दर्भ डा० मोहनलाल मेहता ने।

डा० जगदीश चन्द्र जैन इतिहास व साहित्य के विशेष मर्मज्ञ है, उनकी दृष्टि पैनी है, तथ्यो को कुशलता के साथ ग्रहण भी करती हैं, और अभिव्यक्त भी। डा० मेहता भी इस क्षेत्र के अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं।

दोनो विद्वानो ने अग बाह्य आगमो का सर्वांगीण परिचय प्रामाणिक और तटस्थ दृष्टि से प्रस्तुत किया है। कठिन व पारिभा-

पिक शब्दो का सरल अर्थ व ऐतिहासिक विकास क्रम भी बड़ी कुशलता पूर्वक प्रदर्शित किया गया है। फुट नोट मे दिए गए तुलनात्मक सदर्भ लेखक द्वय की बहुश्रुतता के परिचायक हैं।

यद्यपि द्वितीय भाग भी सर्वांग सुन्दर बन पडा है, तथापि लेखकीय टिप्पणियो मे जो तुलनात्मक और विवेचनाप्रधान दृष्टि प्रथम भाग मे परिलक्षित हुई है, उसका निर्वाह इस भाग मे भी हुआ होता तो सोने मे सुगन्ध की कहावत चरितार्थ हो जाती।

मुद्रण व कागज आदि इसमे भी सामान्य ही है, किंतु इससे पुस्तक की महत्ता मे कोई कमी नही हुई है।

दोनो महत्वपूर्ण ग्रन्थो के प्रकाशन के लिए जैनाश्रम के अधिकारीगण व निर्देशक डा० मेहता विशेष धन्यवाद के पात्र है। आशा करनी चाहिए कि अगले भाग भी इसी प्रकार अपनी मौलिक विशेषताए लिए शीघ्र ही प्रकाश मे आयेंगे।

—'सरस'

●

प्राप्ति का मार्ग—

सच्चे हृदय से प्रार्थना करिए—प्रफुल्लता मिलेगी।
किसी दीन की सेवा करिए— आनन्द की अनुभूति होगी।
मन मे उत्साह बनाए रखिए— सदा जवानी बनी रहेगी।
अपना कर्तव्य पूरा करते रहिए—ससार मे यश मिलेगा।
दान और परोपकार करते जाइए—मरकर भी अमर हो जाएंगे।

"रम्या सा ऽमर भारती"

—◊◊◊◊◊—

अमृत जीवन यस्य, अमृता च यशस्विता ।
मनस्विताऽमृता यस्य, अमर स्तौमि त मुनिम् ।।

रसिको शुभ-वृत्तेर्य., श्रमण-सघ-सुयोजक: ।
भावना भावुका यस्य, अमर स्तौमि त मुनिम् ।।

रतो विरति-योगे य॰, उपाध्याय-पद-स्थित: ।
तीर्थ-रत्न प्रभावन्तम्, अमरं स्तौमि त मुनिम् ।।

प्रिया प्रसन्नता यस्य, मुख-मुद्रा च भास्वरा ।
यम-नियम-बद्धो य: अमर स्तौमि त मुनिम् ।।

पततामाश्रयो भूत्वा, तेषा मार्गप्रवर्तक॰ ।
त्रिक-योग-विशुद्धो य: अमर स्तौमि त मुनिम् ।।

काव्यमयी गभीरार्था, यस्य वाणी जन-प्रिया ।
हैमाक्षरेषु सलेख्या, अमर स्तौमि त मुनिम् ।।

मिथ्या-मत-विनाशार्थ मागता जगती तले ।
श्रीयुता मासिका शान्ता, पत्रिकाऽमर-भारती ।।

महता जैन - शास्त्राणा, गम्भीरार्थ - प्रकाशनात् ।
लक्ष्य स्व सुतरा याति, इत्युल्लोसोऽस्ति मे हृदि ।।

मन: - प्रमोद - जननी,
धुरा या मधुरा वरा ।
कल्याण कुर्याल्लोके,
रम्या साऽमर-भारती ।।

मुनि 'मधुकर

Reg. No L. 2043

श्री अमरभारती सरस्वती का अमर रूप है

पूज्य उपाध्याय 'अमर मुनि' इस युग का सुलझे हुए सत साहित्यकार और प्राज्ञपुरुप हैं। उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान पाठको के लिये उपादेय एव श्रेयकारी है। उनका ज्ञान-प्रवाह श्री अमर भारती द्वारा भी प्रवाहित हो रहा है। मैं 'अमर भारती' की प्राप्ति की प्रतीक्षा मे रहता हूँ।

"श्री अमर भारती" सुलझे हुए प्रत्येक मुमुक्षु के लिये वडी पथदर्शक है और जिज्ञासु के लिये ज्ञान की पूर्ति करने वाली है। सरल भाषा मे गहन तत्वो को रख देना इसकी विशेपता है। सरस पदो मे अगम्य ज्ञान को प्रवाहित कर देना इसकी शालीनता है और अगीयमान गीतो को स्वरव्यजना मे ला देना यही इसकी मधुरता है।

श्री अमर भारती सरस्वती का अमर रूप है अत यह पत्रिका और इसका साहित्य अमर रहेगा।

उदय जैन

सचालक

श्री जवाहर विद्यापीठ केन्द्रीय कार्यालय,

कानोड (राजस्थान)

कानोड,

८-१२-६७

श्री अमर भारती के आजीवन सदस्य

१४६	श्री रतनचन्द उत्तमचन्द	जालना
१४७	श्रीमती लीला वहन रतिलाल भाई मेहता	वम्वई
४८	श्रीमती सुशीला वहन सुरेन्द्र भाई मेहता	मद्रास
१४९	महासती श्री शीलवती श्री जी C/o मोहनलाल जादव जी वादानी	बम्वई
१५०	श्री अमोलकचन्द जी पदमचन्द जी आगरा	आगरा
१५१	श्री गुलावचन्द वन्नालाल जी	,,
१५२	श्री वद्रीशाह एण्ड सन्स	,,

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित एव प्रेम प्रिंटिंग प्रेस द्वारा मुद्रित।

मार्च १९६५

स्वर्णिम-भविष्य

वर्तमान पर स्वर्णिम आभा,
गत गौरव की पड़ने दो।
फिर जन-जन को प्रगति विरोधी,
बाधाओं से लड़ने दो ॥

केवल भूत भूत रह जाता,
केवल वर्तमान शैतान ।
दोनों को मिलकर बनने दो,
जनभविष्य का स्वर्ण विहान ॥

—उपाध्याय अमरमुनि

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

Reg No L 2043

श्री अमरभारती सरस्वती का अमर रूप है

पूज्य उपाध्याय 'अमर मुनि' इस युग का सुलझे हुए सत साहित्यकार और प्राज्ञपुरुष है । उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान पाठको के लिये उपादेय एव श्रेयकारी है । उनका ज्ञान-प्रवाह श्री अमर भारती द्वारा भी प्रवाहित हो रहा है । मै 'अमर भारती' की प्राप्ति की प्रतीक्षा मे रहता हूँ ।

"श्री अमर भारती" सुलझे हुए प्रत्येक मुमुक्षु के लिये वडी पथदर्शक है और जिज्ञासु के लिये ज्ञान की पूर्ति करने वाली है । सरल भापा मे गहन तत्वो को रख देना इसकी विशेपता है । सरस पदो मे अगम्य ज्ञान को प्रवाहित कर देना इसकी शालीनता है और अगीयमान गीतो को स्वरव्यजना मे ला देना यही इसकी मधुरता है ।

श्री अमर भारती सरस्वती का अमर रूप है अत यह पत्रिका और इसका साहित्य अमर रहेगा ।

उदय जैन

सचालक

श्री जवाहर विद्यापीठ केन्द्रीय कार्यालय,

कानोड (राजस्थान)

कानोड़,
८-१२-६७

श्री अमर भारती के आजीवन सदस्य

१४६	श्री रतनचन्द उत्तमचन्द	जालना
१४७	श्रीमती लीला वहन रतिलाल भाई मेहता	वम्वई
१४८	श्रीमती सुशीला वहन सुरेन्द्र भाई मेहता	मद्राम
१४९	महासती श्री शीलवती श्री जी C/o मोहनलाल जादव जी वादानी	वम्वई
१५०	श्री अमोलकचन्द जी पदमचन्द जी आगरा	आगरा
१५१	श्री गुलावचन्द वन्नालाल जी	,,
१५२	श्री वद्रीशाह एण्ड सन्स	,,

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एव प्रेम प्रिंटिंग प्रेस द्वारा मुद्रित ।

स्वर्णिम-भविष्य

वर्तमान पर स्वर्णिम आभा,
गत गौरव की पड़ने दो।
फिर जन-जन को प्रगति विरोधी,
बाधाओं से लड़ने दो ॥

केवल भूत भूत रह जाता,
केवल वर्तमान शैतान।
दोनों को मिलकर बनने दो,
जनभविष्य का स्वर्ण विहान ॥

—उपाध्याय अमरमुनि

मार्च १९६८

श्री सन्मति -पीठ आगरा

श्री अमर भारती

वर्ष ५ मार्च १९६८ अंक

पढ़िए... पृष्ठो पर. .

★

★

प्रेरणा

श्री अखिलेश मुनि

मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

★

दिशा निर्देशन

श्री विजय मुनि 'शास्त्री'

★

सपादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०

★

व्यवस्था

रामधन बी० ए० 'प्रभाकर', 'साहित्य र

★

प्रकाशक

सोनाराम जैन

मत्री

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

★

मूल्य :

आजीवन : एक सौ

वार्षिक : छ रुपया

मुद्रक :

प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आ

आवरण .

. प्रेस आगरा-

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

आया णे अज्जो ! सामाइए,
आया णे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ।

—भगवती सूत्र १।६

हे आर्य ! आत्मा ही (समत्वभाव का अधिष्ठान होने से) सामायिक है, आत्मा ही सामायिक का अर्थ (विशुद्धि रूप फल-श्रुति) है।

•

सवणे नाणे य विन्नाणे, पच्चक्खाणे य संजमे,
अणण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ।

—भगवती सूत्र २।३

सत्संग से धर्मश्रवण, धर्मश्रवण से तत्त्वज्ञान, तत्त्वज्ञान से विज्ञान (विशिष्ट तत्त्व बोध) विज्ञान से प्रत्याख्यान (सांसारिक पदार्थों से विरक्ति), प्रत्याख्यान से संयम, संयम से अनाश्रव (नवीन कर्मों का अभाव), अनाश्रव से तप, तप से पूर्वबद्ध कर्मों का नाश, पूर्वबद्ध कर्मों के नाश से निष्कर्मता (सर्वथा कर्मरहित स्थिति) और निष्कर्मता से सिद्धि अर्थात् मुक्त स्थिति प्राप्त होती है।

मनुष्यत्व की चाहना है !

दयादुग्धसिन्धो ! दुखी-दु ख-हारी !
सदा निर्विकारी ! भव-भ्रान्ति-हारी !
मन.क्षेत्र मे ज्ञान-ज्वाला जगाएँ,
अविद्या-निशा का सघन तम भगाएँ ।।

भले ही करे लोग निन्दा— बुराई,
बने प्राण--वैरी, न माने भलाई ।
हमे स्वप्न मे भी नही रोष आवे,
भलाई न छोडें, भले प्राण जावे ।।

दुखी--दीन ज्यो ही कही देख पावे,
कि त्योही स्वत अश्रुधारा बहावे ।
सभी भाति आनन्द भागी बनादे,
खुशी से स्व-सम्पत्ति सारी लुटादें ।।

विपद्ग्रस्त चाहे बने क्यो न कैसे,
रहे धैर्य-धारी हरिश्चन्द्र जैसे ।
प्रतिज्ञात-वाणी कभी भी न छोडे,
निजोद्देश्य की ओर निर्बाध दौडे ।।

किसी को नही जन्मत नीच माने,
अछूतादि मिथ्या सभी भेद जाने ।
घृणा पापियो से नही, पाप से हो,
रहे स्नेह से सर्व ही भ्रात-से हो ।।

सदा मातृ-भू की प्रतिष्ठा बढावे,
पराधीनता की व्यथा से बचावे ।
जहा हो, वहा सभ्यता हो स्वदेशी,
कभी स्वप्न मे भी नही हो विदेशी ।।

नही चाहते नर्क के दैत्य होना,
नही चाहते स्वर्ग के देव होना ।
हमारी प्रभो ! आपसे प्रार्थना है,
हमे तो मनुष्यत्व की चाहना है ।।

●

राष्ट्र की सास्कृतिक एव नैतिक समस्याओ पर चिन्तनपूर्ण समाधान प्राप्त करने की दिशा मे दिनाक २१-१-६८ को आगरा कालेज के गगाधरशास्त्री भवन मे, नैतिक नागरिक सघ, आगरा की ओर से एक विचार गोष्ठी आयोजित हुई। सगोष्ठी मे उद्‌बोधक प्रवचन करते हुए उपाध्याय श्री जी ने कहा—

उपाध्याय अमरमुनि

राष्ट्रीय चेतना जागृत होनी चाहिए

भारत की वर्तमान स्थिति-परिस्थिति पर अपने विचार प्रस्तुत करने के लिए मुझ से कहा गया है। वर्तमान-दर्शन के साथ ही अतीत और भविष्य के चित्र भी मेरी कल्पना की आँखो के समक्ष उभर कर आ जाते हैं। इन चित्रो को वर्तमान के साथ सम्बद्ध किए बिना वर्तमान-दर्शन अधूरा रहेगा, भूत और भावी के फ्रेम मे मढकर ही वर्तमान के चित्र को सम्पूर्ण रूप से देखा जा सकता है।

स्वर्णिम चित्र

अध्ययन और अनुभव की आख से जब हम प्राचीन भारत की ओर देखते हैं तो एक गरिमा-मडित स्वर्णिम चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। उस चित्र की स्वर्ण रेखाएँ पुराणो और स्मृतियो के पटल पर अकित हैं, रामायण और महाभारतकार की तूलिका से सजोई हुई हैं। जैन आगमो और अन्य साहित्य मे छविमान हैं। बौद्ध त्रिपिटको मे भी उसकी स्वर्ण आभा यत्र तत्र बिखरी हुई है। भारत के अतीत का वह गौरव सिर्फ भारत के लिए ही नही, किन्तु समग्र विश्व के लिए एक जीवन्त आदर्श था। अपने उज्ज्वल चरित्र और तेजस्वी चिन्तन से उसने एक दिन सम्पूर्ण ससार को प्रभावित किया था। उसी व्यापक प्रभाव का चित्र मनु की वाणी से ध्वनित हुआ था—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन'।
> स्व स्वं चरित्र शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा ॥

—"इस देश मे जन्म लेने वाले चरित्र-सम्पन्न विद्वानो से भूमण्डल

के समस्त मानव अपने-अपने चरित्र-कर्तव्य की शिक्षा ले सकते हैं।"
मनु की यह उक्ति कोई गर्वोक्ति नही, किन्तु उस युग की भारतीय स्थिति का एक यथार्थ चित्रण है, सही मूल्याकन है। भारतीय जनता के निर्मल एवं उज्ज्वल चरित्र के प्रति श्रद्धावनत होकर यही बात पुराणकार महर्षि व्यासदेव ने इन शब्दो मे दुहराई थी—

> गायन्ति देवा किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
> स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूय' पुरुषा सुरत्वात्॥

— स्वर्ग के देवता भी भारत भूमिके गौरव-गीत गाते रहते हैं कि वे देव धन्य हैं, जो यहाँ से मरकर पुन स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के मार्ग स्वरूप पवित्र भारत भूमि मे जन्म लेते हैं।

भगवान महावीरके ये वचन कि 'देवता भी भारत जैसे आर्य देश मे जन्म लेने के लिए तरसते हैं' जब स्मृति मे आते हैं तो सोचता हूँ, ये जो बातें कही गई हैं, मात्र आलकारिक नही हैं, कवि की कल्पना-जन्य उडाने नही हैं, किन्तु दार्शनिको और चिन्तको की साक्षात् अनुभूति का स्पष्ट प्रघोष है।

इतिहास के उन पन्नो को उलटते ही एक विराट् जीवन दर्शन हमारे सामने आता है। त्याग, स्नेह और सद्भाव की वह सुन्दर तस्वीर खिच जाती है, जिसके प्रत्येक रग मे एक आदर्श, प्रेरणा और विराट्ता की मोहक छटा भरी हुई है। त्याग और सेवा की अखण्ड ज्योति जलती हुई प्रतीत होती है।

रामायण मे राम का जो चरित्र उपस्थित किया गया है, वह भारत की आध्यात्मिक और नैतिक चेतना का सच्चा प्रतिबिम्ब है। राम को जब अभिषेक की सूचना मिलती है तो उनके चेहरे पर कोई विशेष उल्लास नही चमकता है और वनवास की खबर मिलने पर कोई शिकन भी नही पडती है।

> प्रसन्नता या न गताऽभिषेकत:
> तथा न मम्ले वनवासदु खत ।

राम की यह कितनी ऊँची स्थितप्रज्ञता है, कितनी महानता है कि जिसके सामने राज्यसिंहासन का न्यायप्राप्त अधिकार कोई महत्त्व नही रखता। जिसके लिए जीवन की भौतिक सुख सुविधा से भी अधिक मूल्यवान है पिता की आज्ञा, विमाता की आत्म-तुष्टि!

यह आदर्श एक व्यक्तिविशेष का ही गुण नही, किंतु समूचे भारतीय जीवन पट पर छाया हुआ है। राम तो राम हैं ही, किन्तु लक्ष्मण भी कुछ कम नही है। लक्ष्मण जब राम के वनवास की सूचना पाते हैं, तो वे उसी क्षण महल से निकल पडते हैं। सुन्दरियो का स्नेह उन्हे रोक नही सका, राजमहलो का वैभव और सुख राम के साथ वन मे जाने के निश्चय को बदल नही सका। वे माता सुमित्रा के पास आकर राम के साथ वन मे जाने की अनुमति मागते हैं। और माता का भी कितना विराट् हृदय है जो अपने प्रिय पुत्र को वन-वन मे भटकने से रोकती नही, अपितु कहती है—राम के साथ वनवास की तैयारी करने मे तुमने इतना विलम्ब क्यो किया ?

> **"राम दशरथं विद्धि, मां विद्धि जनकात्मजाम्,**
> **अयोध्या विपिन विद्धि, गच्छ पुत्र! यथासुखम्।"**

—हे वत्स! राम को दशरथ की तरह मानना, सीता को मेरे समान समझना और वन को अयोध्या मानना। राम के साथ वन मे जा, देख राम की छाया से कभी दूर मत होना।

यह भारतीय जोवन का आदर्श है, जो प्रत्येक भारतीय आत्मा मे छलकता हुआ दिखाई देता है। जहा अधिकारो को ठुकराया जाता है, स्नेह और ममता के बन्धन भी कर्तव्य की धार से काट दिए जाते है और एक दूसरे के लिए समर्पित हो जाते हैं।

महावीर और बुद्ध का युग देखिए, जब तरुण महावीर और बुद्ध विशाल राज वैभव, सुन्दरी का मधुर स्नेह और जीवन की समस्त भौतिक सुविधाओ को ठुकराकर सत्य की खोज मे शून्य-वनो एवं दुर्गम-पर्वतो मे तपस्या करते घूमते हैं और सत्य की उपलब्धि कर उसे समग्र जनजीवन मे प्रसारित करने मे लग जाते हैं, और उनके पीछे सैकडो-हजारो राजकुमार, सामन्त और सामान्य नागरिक श्रमण भिक्षुक बनकर प्रेम और करुणा की अलख जगाते हुए सम्पूर्ण विश्व को प्रेम का सदेश देते हैं। वे प्रकाश बनकर स्वय जलते हैं और घर-घर मे, दर-दर मे उजाला फैलाते हैं।

अध्ययन की आँखो से जब हम इस उज्ज्वल अतीत को देखते हैं तो मन श्रद्धा से भर आता है। भारत के उन आदर्श पुरुषो के प्रति कृतज्ञता से मस्तक झुक जाता है, जिन्होने स्वय अमृत प्राप्त किया और जो भी मिला उसे अमृत बाटते चले गए।

के समस्त मानव अपने-अपने चरित्र-कर्तव्य की शिक्षा ले सकते हैं।"
मनु की यह उक्ति कोई गर्वोक्ति नही, किन्तु उस युग की भारतीय स्थिति का एक यथार्थ चित्रण है, सही मूल्याकन है। भारतीय जनता के निर्मल एवं उज्ज्वल चरित्र के प्रति श्रद्धावनत होकर यही बात पुराणकार महर्षि व्यासदेव ने इन शब्दो मे दुहराई थी—

गायन्ति देवा किल गीतकानि, धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूय: पुरुषा सुरत्वात्॥

— स्वर्ग के देवता भी भारत भूमिके गौरव-गीत गाते रहते हैं कि वे देव धन्य हैं, जो यहाँ से मरकर पुन. स्वर्ग और अपवर्ग (मोक्ष) के मार्ग स्वरूप पवित्र भारत भूमि मे जन्म लेते हैं।

भगवान महावीरके ये वचन कि 'देवता भी भारत जैसे आर्य देश मे जन्म लेने के लिए तरसते है' जब स्मृति मे आते है तो सोचता हूँ, ये जो बाते कही गई हैं, मात्र आलकारिक नही है, कवि की कल्पना-जन्य उडाने नही हैं, किन्तु दार्शनिको और चिन्तको की साक्षात् अनुभूति का स्पष्ट प्रघोष है।

इतिहास के उन पन्नो को उलटते ही एक विराट् जीवन दर्शन हमारे सामने आता है। त्याग, स्नेह और सद्भाव की वह सुन्दर तस्वीर खिच जाती है, जिसके प्रत्येक रग मे एक आदर्श, प्रेरणा और विराट्ता की मोहक छटा भरी हुई है। त्याग और सेवा की अखण्ड ज्योति जलती हुई प्रतीत होती है।

रामायण मे राम का जो चरित्र उपस्थित किया गया है, वह भारत की आध्यात्मिक और नैतिक चेतना का सच्चा प्रतिबिम्ब है। राम को जब अभिषेक की सूचना मिलती है तो उनके चेहरे पर कोई विशेष उल्लास नही चमकता है और वनवास की खबर मिलने पर कोई शिकन भी नही पडती है।

प्रसन्नता या न गताऽभिषेकत:
तथा न मम्ले वनवासदु.खत।

राम की यह कितनी ऊँची स्थितप्रज्ञता है, कितनी महानता है कि जिसके सामने राज्यसिंहासन का न्यायप्राप्त अधिकार कोई महत्त्व नही रखता। जिसके लिए जीवन की भौतिक सुख सुविधा से भी अधिक मूल्यवान है पिता की आज्ञा, विमाता की आत्म-तुष्टि!

यह आदर्श एक व्यक्तिविशेष का ही गुण नही, किंतु समूचे भारतीय जीवन पट पर छाया हुआ है। राम तो राम हैं ही, किन्तु लक्ष्मण भी कुछ कम नही है। लक्ष्मण जब राम के वनवास की सूचना पाते हैं, तो वे उसी क्षण महल से निकल पडते हैं। सुन्दरियो का स्नेह उन्हें रोक नही सका, राजमहलो का वैभव और सुख राम के साथ वन मे जाने के निश्चय को बदल नही सका। वे माता सुमित्रा के पास आकर राम के साथ वन मे जाने की अनुमति मांगते हैं। और माता का भी कितना विराट् हृदय है जो अपने प्रिय पुत्र को वन-वन मे भटकने से रोकती नही, अपितु कहती है—राम के साथ वनवास की तैयारी करने मे तुमने इतना विलम्ब क्यो किया ?

"राम दशरथं विद्धि, मां विद्धि जनकात्मजाम्,
अयोध्यां विपिन विद्धि, गच्छ पुत्र! यथासुखम्।"

—हे वत्स! राम को दशरथ की तरह मानना, सीता को मेरे समान समझना और वन को अयोध्या मानना। राम के साथ वन मे जा, देख राम की छाया से कभी दूर मत होना।

यह भारतीय जोवन का आदर्श है, जो प्रत्येक भारतीय आत्मा मे छलकता हुआ दिखाई देता है। जहा अधिकारो को ठुकराया जाता है, स्नेह और ममता के बन्धन भी कर्तव्य की धार से काट दिए जाते हैं और एक दूसरे के लिए समर्पित हो जाते है।

महावीर और बुद्ध का युग देखिए, जब तरुण महावीर और बुद्ध विशाल राज वैभव, सुन्दरी का मधुर स्नेह और जीवन की समस्त भौतिक सुविधाओ को ठुकराकर सत्य की खोज मे शून्य-वनो एवं दुर्गम-पर्वतो मे तपस्या करते घूमते हैं और सत्य की उपलब्धि कर उसे समग्र जनजीवन मे प्रसारित करने मे लग जाते हैं, और उनके पीछे सैकडो-हजारो राजकुमार, सामन्त और सामान्य नागरिक श्रमण भिक्षुक बनकर प्रेम और करुणा की अलख जगाते हुए सम्पूर्ण विश्व को प्रेम का सदेश देते हैं। वे प्रकाश बनकर स्वय जलते हैं और घर-घर मे, दर-दर मे उजाला फैलाते हैं।

अध्ययन की आँखो से जब हम इस उज्ज्वल अतीत को देखते हैं तो मन श्रद्धा से भर आता है। भारत के उन आदर्श पुरुषो के प्रति कृतज्ञता से मस्तक झुक जाता है, जिन्होने स्वय अमृत प्राप्त किया और जो भी मिला उसे अमृत बाटते चले गए।

क्या यह वही भारत है ?

●

अतीत के इस स्वर्णिम चित्र के समक्ष जब हम वर्तमान भारतीय जीवन का चित्र देखते हैं तो मन सहसा विश्वास नही कर पाता कि क्या यह उसी भारत का चित्र है ? कही हम धोखा तो नही खा रहे हैं ? लगता है, इतिहास का वह साक्षात् घटित सत्य आज नाटको की गाथा बनकर रह गया है ।

आज का मनुष्य पतगे की तरह दिशा-हीन हुआ उडता जा रहा है । जिसे रुकने की फुर्सत नही है, और सामने कोई मजिल नही है । अपने क्षुद्र स्वार्थ, दैहिक भोग और हीन मनोग्रन्थियो से वह इस प्रकार ग्रस्त हो गया है कि उसकी विराटता, उसके अतीत आदर्श, उसकी अखण्ड राष्ट्रीय भावना सब कुछ छुईमुई हो गई है ।

भारतीय चिन्तन ने मनुष्य के जिस विराट् रूप की परिकल्पना की थी **'सहस्रशीर्षा पुरूष सहस्राक्ष सहस्रपात्'** वह आज कहा है ? हजारो-हजार मस्तक, हजारो-हजार आँखे, और हजारो-हजार चरण मिलकर जिस अखण्ड मानवता का निर्माण करते थे, जिस अखण्ड राष्ट्रीय चेतना का विकास होता था, आज उसके दर्शन कहाँ हो रहे है ? आज की सकीर्णमनोवृत्तियाँ देखकर मन कुलबुला उठता है कि क्या वास्तव मे ही मानव इतना क्षुद्र और इतना दीन-हीन होता जा रहा है, कि अपने क्षुद्र स्वार्थों और अपने कर्तव्यो के आगे पूर्ण विराम लगाकर बैठ गया है । आपसे आगे आपके पडौसी का भी कुछ स्वार्थ है, कुछ हित है । समाज, देश और राष्ट्र के लिए भी आपका कोई कर्तव्य होता है, इसके लिए भी सोचिए । चिन्तन के द्वार खुले रखिए । आपका चिन्तन, आपका कर्तव्य, आपका हित, आपके लिए केवल बीच के अल्पविराम से अधिक नही है, अगर आप उसे ही पूर्णविराम समझ बैठे है, इति लगा बैठे है, तो यह भयानक भूल है । भारत का दर्शन 'नेति नेति कहता आया है । इसका अर्थ है कि जितना आप सोचते हैं, और जितना आप करते हैं, उतना ही सब कुछ नही है, उसमे आगे भी अनन्त सत्य है, कर्तव्य के अनन्त क्षेत्र पडे हैं । मगर आज हम यह सदेश भूलते जा रहे है और हर चिन्तन और कर्तव्य के

आगे 'इति-इति' लगाते जा रहे हैं। यह क्षुद्रता, यह बौनापन आज राष्ट्र के लिए सबसे वडा सकट है।

भ्रष्टाचार किस संस्कृति की उपज है

●

मैं देखता हूँ—आजकल कुछ शब्द चल पडे हैं—"भ्रष्टाचार, बेई-मानी, मक्कारी, काला बाजार, यह सब क्या है ? किस संस्कृति की उपज है यह? जिस अमृत कुण्ड की जलधारा से सिंचन पाकर हमारी चेतना और हमारा कर्तव्य क्षेत्र उर्वर बना हुआ था, क्या आज वह धारा सूख गई है? त्याग, सेवा सौहार्द और समर्पण की फसल जहा लहलहाती थी, क्या आज वहा स्वार्थ, तोड़फोड, हिंसा और बात-बात पर विद्रोह की कटीली झाडिया ही खडी रह गई हैं? देश मे आज बिखराव और अराजकता की भावना फैल रही है, इसका कारण क्या है ?

मैं जहा तक समझ पाया हूँ इन सब अव्यवस्थाओ और समस्याओ का मूल है—हमारी आदर्श-हीनता। मुद्रा के अवमूल्यन से आर्थिक क्षेत्र मे जो उथल-पुथल हुई है, उससे भी बडी और भयानक उथल-पुथल हुई है आदर्शों के अवमूल्यन से जीवन के क्षेत्र मे। हम अपने आदर्शों से गिर गए हैं, जीवन का मूल्य विघटित हो गया है, राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर के आदर्शों का भी हमने अवमूल्यन कर डाला है। बस, इस अवमूल्यन से ही यह गडबड हुई है, यह अव्यवस्था पैदा हुई है।

क्या मजबूरी का नाम महात्मागांधी है?

●

एक बार एक सज्जन से चर्चा चल रही थी। हर बात मे वे अपना तकियाकलाम दुहराते जाते थे, 'महाराज ! क्या करें, मजबूरी का नाम महात्मा गाधी है।' इसके बाद अन्यत्र भी यह दुर्वाक्य कितनी ही बार सुनने मे आया है। मैं समझ नही पाया, क्या मतलब हुआ इसका ? क्या महात्मागाँधी एक मजबूरी की उपज थी ? गाधी का दर्शन, जो प्राचीन भारतीय दर्शन का आधुनिक नव स्फूर्त सस्करण माना जाता है, क्या कोई मजबूरी का दर्शन है ? भारत की स्वतत्रता के लिए किये जाने वाले सत्याग्रह, असहयोग, स्वदेशी

आन्दोलन तथा अहिंसा और सत्य के प्रयोग क्या केवल दुर्बलता थी, मजबूरी थी, लाचारी थी? कोई महान् एव उदात्त आदर्श जैसा कुछ नही था ? क्या गाधीजी की तरह ही महावीर और बुद्ध का त्याग भी एक मजबूरी थी ? और राम का वनवास भी आखिर किस मजबूरी का समाधान था ? वस्तुत यह मजबूरी हमारे प्राचीन आदर्शों की नही, अपितु हमारे वर्तमान स्वार्थ-प्रधान चिन्तन की है, जो आदर्शों के अवमूल्यन से पैदा हुई है।

मनुष्य झूठ बोलता है, बेईमानी करता है, और जब उससे कहा जाता है कि ऐसा क्यो करते हो ? तो उत्तर मिलता है क्या करे, मजबूरी है! पेट के लिए यह सब कुछ करना पडता है। अभाव ने सब चौपट कर रखा है। मैं सोचता हूँ यह मजबूरी, यह पेट और अभाव, क्या इतना विराट हो गया है कि मनुष्य की सहज अन्तश्चेतना को भी निगल जाए ? महापुरुषो के प्राचीन आदर्शों को यो डकार जाए? मेरे विचार से मजबूरी और अभाव उतना नही है, जितना महसूस किया जा रहा है। अभाव मे पीडा का रूप उतना नही है, जितना स्वार्थ के लिए की जाने वाली बहानेबाजी है।

इतने असहिष्णु क्यों हो गए ?

●

मैं इस सत्य से इन्कार नही हो सकता कि देश मे आज कुछ हद तक अभावो की स्थिति है। किन्तु उन अभावो के प्रति हम मे सहिष्णुता का एव उनके प्रतिकार के लिए उचित सघर्ष का अभाव भी तो एक बहुत बडा अभाव है। पीडा और कष्ट कहने के लिए नही, सहने के लिए आते हैं। किसी बात को लेकर थोडा-सा भी असतोष हुआ कि बस, तोड फोडपर उतारू हो गए। सडको पर भीड इकट्ठी हो गई, राष्ट्र की सम्पत्ति की होली करने लगे, पुतले जलाने लगे— यह सब क्या है? क्या इन तरीको से अभावो की पूर्ति की जा सकती है ? सडको पर अभावपूर्ति के फैसले किए जा सकते हैं ? ये हमारी पाशविक वृत्तियाँ है, जो असहिष्णुता से जन्म लेती है, अविवेक से भडकती है, और फिर उद्दाम होकर विनाश-लीला करके नाच उठती है। मैं यह समझ नही पाया कि जो सम्पत्ति जलाई जाती है, वह आखिर किसकी है ? राष्ट्र की ही है न यह विद्रोह

किसके साथ किया जा रहा है ? अपने ही शरीर को नोचकर क्या आप अपनी खुजली मिटाना चाहते हैं ? यह तो निरी बेवकूफी है। इससे समस्या सुलझ नही सकती, असन्तोष मिट नही सकता, और न अभाव एव अभाव-जन्य आक्रोश दूर किया जा सकता है। अभाव और मजबूरी का इलाज सहिष्णुता है। राष्ट्र के अभ्युदय के लिए किए जाने वाले श्रम मे योगदान है। असन्तोष का समाधान धैर्य है, और है उचित पुरुषार्थ ! आप तो अधीर हो रहे है, इतने निष्क्रिय एव असहिष्णु हो रहे हैं कि कुछ भी बर्दाश्त नही कर सकते ! यह असहिष्णुता, यह अधैर्य, इतना व्यापक क्यो हो गया है ?

राष्ट्रीय-स्वाभिमान की कमी

●

आज मनुष्य मे राष्ट्रीय स्वाभिमान की कमी हो रही है। राष्ट्रीय चेतना लुप्त हो रही है। अपने छोटे-से घोसले के बाहर देखने की व्यापक दृष्टि समाप्त हो रही है। जब तक राष्ट्रीय-स्वाभिमान जागृत नही होता, तक तक कुछ भी सुधार नही होगा। घर मे, दुकान मे या दफ्तर मे कही भी आप बैठें, मगर राष्ट्रीय स्वाभिमान के साथ बैठे रहिए। अपने हर कार्य को अपने क्षुद्र हित की दृष्टि से नही, राष्ट्र के गौरव की दृष्टि से देखने का प्रयत्न कीजिए। आपके अन्दर और आपके पडौसी के अन्दर जब एक ही प्रकार की राष्ट्रीय चेतना जागृत होगी, तब एक समान अनुभूति होगी और आपके भीतर राष्ट्रीय स्वाभिमान जाग उठेगा।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम के दिनो मे समूचे राष्ट्र मे अखण्ड-राष्ट्रीय चेतना का एक प्रवाह उमडा था। एक लहर उठी थी, जो पूर्व से पश्चिम तक को, उत्तर से दक्षिण तक को एक साथ आन्दोलित कर रही थी। स्वतन्त्रता सग्राम का इतिहास पढने वाले जानते हैं कि उन दिनो किस प्रकार हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई की तरह मातृभूमि के लिए जीवन दे रहे थे। उत्तर और दक्षिण मिटकर एक अखण्ड भारत हो रहे थे। सब लोग एक साथ यातनाए झेलते थे और अपने सुख-दु ख को राष्ट्रीय सुख-दुःख के साथ किस प्रकार एकाकार करके चल रहे थे। राष्ट्र के लिए अपमान, सकट, यत्रणा और फांसी के फन्दे को भी हँसते-हँसते चूम लेते थे। मैं

पूछता हूँ कि क्या आज वैसी यातना और यत्रणा के प्रसग आपके सामने हैं ? नही ! बिल्कुल नही ! जो हैं वे नगण्य और बहुत ही साधारण है ! फिर क्या बात हुई कि जो व्यक्ति जेलो के सीखचो मे भी हँसते रहते थे, वे आज अपने घरों मे भी असतुष्ट, दीन-हीन, निराश और आक्रोश से भरे हुए हैं। असहिष्णुता की आग से जल रहे हैं ! क्या कारण है कि जो राष्ट्र एकजूट होकर एक शक्ति-सम्पन्न विदेशी हकूमत से अहिंसक लडाई लड सकता है, वह जीवन के साधारण प्रश्नो पर इस प्रकार टुकडे-टुकड़े होता जा रहा है ? रोता बिलखता जा रहा है। मेरी समझ मे एक मात्र मुख्य कारण यही है कि आज भारतीय प्रजा में राष्ट्रीय स्वाभिमान, एव राष्ट्रीय चेतना का अभाव हो गया है ? देश के नवनिर्माण के लिए समूचे राष्ट्र मे वह पहले-सा सकल्प यदि पुन. जागृत हो उठे, वह राष्ट्रीय चेतना यदि राष्ट्र के मूच्छित हृदयो को पुन प्रबुद्ध कर सके, तो फिर मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी नही, किन्तु आदर्शों का नाम महात्मा गाधी होगा। फिर झोपडी मे भी मुस्कराते चेहरे मिलेंगे, अभावो की पीडा मे भी श्रम की स्फूर्ति चमकती मिलेगी। आज जो व्यक्ति अपने सामाजिक एव राष्ट्रीय उत्तरदायित्वो को स्वय स्वीकार न करके फुटबाल की तरह दूसरो की ओर फेंक रहा है, वह फूल माला की तरह हर्षोल्लास के साथ उनको अपने गले मे डालेगा और अपने कर्तव्यो के प्रति प्रतिपद एव प्रतिपल सचेष्ट होगा।

आशा पूर्ण भविष्य

मै जीवन मे निराशावादी नही हूँ। भारत के सुनहले अतीत की भाँति सुनहले भविष्य की तस्वीर भी मैं अपनी कल्पना की आखो से देख रहा हूँ। देश मे आज जो अनुशासन-हीनता और विघटन की स्थिति पैदा हो गई है, आदर्शों के अवमूल्यन से मानव गडबडा गया है, वह स्थिति बदलेगी। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के लिए संक्राति काल मे प्राय अन्धकार के कुछ क्षण आते हैं, अभाव के प्रसग आते हैं, परन्तु ये क्षण एव प्रसग स्थायी नही रहते। भारत मे वह समय आएगा ही, जब राष्ट्रीय चेतना का शखनाद गू जेगा, व्यक्ति-व्यक्ति

(देखे, शेष पृष्ठ १२ पर)

उपाध्याय अमरमुनि

महान औषधि !

महाराज भोज की सभा में वाग्भट नामक एक महान आयुर्वेदज्ञ तरुण वैद्य था। उसने अपने औषधिज्ञान एव अनुभव के बल पर अनेक असाध्य रोगो की चिकित्सा करके तत्कालीन बड़े बडे पुराने अनुभवी वैद्यो को भी चकित कर दिया था।

किंवदन्ती है कि वाग्भट की परीक्षा लेने के लिए एक बार अश्विनीकुमार देवता पक्षी का रूप धारण करके वाग्भट के धवल-गृह के कगूरो पर आकर बैठा और तीखी आवाज से 'कोऽरुक्, कोऽरुक्?' बोलने लगा।

वैद्यराज ने पक्षी के मुह से यह प्रश्न सुना तो बड़े चकित हुए। वे उठकर पक्षी के समीप आए। पक्षी वैद्यराज को पास मे आया देखकर खूब जोर जोर से बोलने लगा—'कोऽरुक्' 'कोऽरुक्' (नीरोग कौन है?)

वाग्भट ने पक्षी के प्रश्न का समाधान करते हुए कहा—

> अशाकभोजी घृतमत्तियोऽन्धसा
> पयोरसान् शीलति नातिपोऽम्भसाम।
> अभुक् विरुद् वातकृता विदाहिनां
> चलत्प्रभुक् जीर्णभुगल्पशीररुक !!

—शाक कम खाने वाला, चावल के साथ घी खाने वाला, दूध के रसो (गोरस) का व्यवहार करने वाला, अधिक पानी नही पीनेवाला, प्रकृति-विरुद्ध, वातकारी और जलन पैदा करने वाले पदार्थों का सेवन न करने वाला, स्थिर भाव से भोजन करने वाला, पहले खाया हुआ पच जाने के बाद ही खाने वाला, और सदा अल्प भोजन करने वाला व्यक्ति अरुक्—नीरोग रहता है।

वैद्य का उत्तर सुनकर पक्षी हर्ष से चोच नचाता हुआ फर्-फर् करता उड गया।

एक दो दिन वाद अश्विनीकुमार पुन. एक रोगी का रूप बना कर वैद्यराज के पास आए और बोले—

अभूमिजमनाकाशम् अहट्टान्तमवारिजम्
सम्मत सर्व शास्त्राणां वद वैद्य! किमौषधम्?

—जो न पृथ्वी मे उत्पन्न होती है, न आकाश मे, न पानी मे पैदा होती है और न बाजार मे ही विकती है। किन्तु फिर भी सब शास्त्रो मे उसका वर्णन है, वैद्यराज! बतलाइए सर्वसम्मत वह क्या औषधि है?

रोगी का प्रश्न सुनकर वाग्भट ने गम्भीर होकर उत्तर दिया—

अभूमिजमनाकाश पथ्य रसविवर्जितम्
पूर्वाचार्यें समाख्यातं लङ्घनं परमौषधम्!

—पृथ्वी एव आकाश मे नही होने वाली, पथ्य है, किन्तु रसरहित है, पूर्वाचार्यों द्वारा बताई हुई ऐसी एक महान् औपधि है—लघन अर्थात् उपवास!

वैद्य वाग्भट के उत्तर पर स्वर्ग का देव वैद्य अश्विनीकुमार अत्यत प्रसन्न हुआ, और उसे 'वर' देकर तिरोहित हो गया।

—प्रवन्ध चिन्तामणि ५।२२५

●

(शेष पृष्ठ १० का)

के भीतर राष्ट्र का गौरव जगेगा, राष्ट्रीय स्वाभिमान प्रदीप्त होगा। और यह राष्ट्र जिस प्रकार अपने अतीत मे गौरव-गरिमा से मडित रहा है, उसी प्रकार अपने भविष्य को भी गौरवोज्ज्वल बनाएगा। किन्तु यह तभी सभव है जब आपके अन्तर मे अखण्ड राष्ट्रीय चेतना जागृत होगी, कर्तव्य की हुँकार उठेगी, परस्पर सहयोग एवं सद्-भाव की ज्योति प्रकाशमान होगी।

●

जीवन मे प्रकाश फैलाने वाली शिक्षा आज अन्धकारमय प्रश्न बन रहा है। देश का निर्माण करने वाला छात्र आज राष्ट्रीय शान्ति के लिए सर दर्द बन रहा है, आखिर क्यो ? शिक्षा और छात्र आखिर एक समस्या क्यो है, और है तो उसका समाधान क्या है ? आइए,इस प्रश्न पर गहराई से सोचे—समझें। जीवन मे सतत ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित किए रहने वाले उपाध्याय श्री जी के ज्ञानालोक मे बैठकर.

उपाध्याय अमरमुनि

शिक्षा : समस्या और समाधान

आज के युग मे शिक्षा का प्रचार-प्रसार बडी तीव्रगति से हो रहा है। धडल्ले के साथ नये-नये विद्यालय, पाठशालाएँ, कालेज खुलते जा रहे हैं और जिधर देखो विद्यार्थियो की भीड जमा हो रही है। जिस गति से विद्यालय खुलते जा रहे हैं उसमे भी तीव्र गति से विद्यार्थी बढ रहे हैं। कही दो-दो और कही तीन-तीन सिफ्ट चल रही हैं। दिन के भी और रात के भी कालेज चल रहे हैं। अभिप्राय यह है कि आज का युग शिक्षा की ओर तीव्र गति से बढ रहा है। गुजराती मे एक कहावत है, जिसका भाव है—आज के युग मे तीन चीजें बढ रही हैं "चणतर, जणतर और भणतर।" नये-नये निर्माण हो रहे हैं। बाध, मकान और बिल्डिगें बन रही हैं। जिधर देखो, भवन खडे हो रहे हैं, बडी तेजी से पाच-पाच सात-सात दस-दस मजिल की अट्टालिकाएँ शिर उठाकर आकाश से बाते करने जा रही हैं। भवन-निर्माण, जिसे गुजराती मे 'चणतर' कहते हैं, पहले की अपेक्षा सैकडो गुना बढ गया है। फिर भी लाखो मनुष्य बेघरबार है, फलत. रात को सडको के फुटपाथ पर सो रहे हैं, दिन-भर सडको पर इधर-उधर भटकते हैं और रात को फुटपाथ पर जीवन बिताते हुए एक दिन दम तोड देते हैं। जिन्दगी उनकी खुले आसमान के नीचे बीतती है। शिर छिपाने को भी उन्हे एक दीवाल का

वैद्य का उत्तर सुनकर पक्षी हर्ष से चोच नचाता हुआ फर्-फर् करता उड गया।

एक दो दिन बाद अश्विनीकुमार पुन. एक रोगी का रूप बना कर वैद्यराज के पास आए और बोले—

अभूमिजमनाकाशम्अहट्टान्तमवारिजम्
सम्मत सर्व शास्त्राणां वद वैद्य! किमौषधम्?

—जो न पृथ्वी मे उत्पन्न होती है, न आकाश मे,न पानी मे पैदा होती है और न बाजार मे ही बिकती है। किन्तु फिर भी सब शास्त्रो मे उसका वर्णन है, वैद्यराज! बतलाइए सर्वसम्मत वह क्या औषधि है?

रोगी का प्रश्न सुनकर वाग्भट ने गम्भीर होकर उत्तर दिया—

अभूमिजमनाकाश पथ्य रसविवर्जितम्
पूर्वाचार्यै: समाख्यातं लङ्घनं परमौषधम्।

—पृथ्वी एव आकाश मे नही होने वाली,पथ्य है,किन्तु रसरहित है, पूर्वाचार्यों द्वारा बताई हुई ऐसी एक महान् औषधि है—लघन अर्थात् उपवास।

वैद्य वाग्भट के उत्तर पर स्वर्ग का देव वैद्य अश्विनीकुमार अत्यत प्रसन्न हुआ, और उसे 'वर' देकर तिरोहित हो गया।

—प्रबन्ध चिन्तामणि ५।२२५

●

(शेष पृष्ठ १० का)

के भीतर राष्ट्र का गौरव जगेगा, राष्ट्रीय स्वाभिमान प्रदीप्त होगा। और यह राष्ट्र जिस प्रकार अपने अतीत मे गौरव-गरिमा से मडित रहा है, उसी प्रकार अपने भविष्य को भी गौरवोज्ज्वल बनाएगा। किन्तु यह तभी सभव है जब आपके अन्तर मे अखण्ड राष्ट्रीय चेतना जागृत होगी, कर्तव्य की हुँकार उठेगी, परस्पर सहयोग एव सद्-भाव की ज्योति प्रकाशमान होगी।

●

जीवन मे प्रकाश फैलाने वाली शिक्षा आज अन्धकारमय प्रश्न बन रहा है। देश का निर्माण करने वाला छात्र आज राष्ट्रीय शान्ति के लिए सर दर्द बन रहा है, आखिर क्यो ? शिक्षा और छात्र आखिर एक समस्या क्यो है, और है तो उसका समाधान क्या है ? आइए, इस प्रश्न पर गहराई से सोचे—समझें। जीवन मे सतत ज्ञान की ज्योति प्रज्ज्वलित किए रहने वाले उपाध्याय श्री जी के ज्ञानालोक मे बैठकर. ...

उपाध्याय अमरमुनि

शिक्षा : समस्या और समाधान

आज के युग मे शिक्षा का प्रचार-प्रसार बडी तीव्रगति से हो रहा है। धड़ल्ले के साथ नये-नये विद्यालय, पाठशालाएँ, कालेज खुलते जा रहे हैं और जिधर देखो विद्यार्थियो की भीड जमा हो रही है। जिस गति से विद्यालय खुलते जा रहे हैं उससे भी तीव्र गति से विद्यार्थी बढ रहे हैं। कही दो-दो और कही तीन-तीन सिफ्ट चल रही हैं। दिन के भी और रात के भी कालेज चल रहे हैं। अभिप्राय यह है कि आज का युग शिक्षा की ओर तीव्र गति से बढ रहा है। गुजराती मे एक कहावत है, जिसका भाव है—आज के युग मे तीन चीजें बढ रही हैं "चणतर, जणतर और भणतर।" नये-नये निर्माण हो रहे हैं। बाध, मकान और बिल्डिगे बन रही हैं। जिधर देखो, भवन खडे हो रहे हैं, बडी तेजी से पाच-पाच सात-सात दस-दस मजिल की अट्टालिकाएँ शिर उठाकर आकाश से बातें करने जा रही हैं। भवन-निर्माण, जिसे गुजराती मे 'चणतर' कहते हैं, पहले की अपेक्षा सैकडो गुना बढ गया है। फिर भी लाखो मनुष्य बेघरबार है, फलत रात को सडको के फुटपाथ पर सो रहे हैं, दिन-भर सडको पर इधर-उधर भटकते हैं और रात को फुटपाथ पर जीवन बिताते हुए एक दिन दम तोड देते हैं। जिन्दगी उनकी खुले आसमान के नीचे बीतती है। शिर छिपाने को भी उन्हे एक दीवाल का

कोना नही मिलता। यह स्थिति क्यो हो रही है? कारण यह है कि जिस तेजी मे मकान और बिल्डिगे बढ रही है, उससे भी तीव्र गति से उनमे रहने वाले बढ रहे है। यदि एक वम्बई जैसे शहर मे दिन-भर मे औसत एक मकान बनता होगा तो नये मेहमान सौ से भी ऊपर पैदा हो जाते हैं। जणतर अबाधगति से बढ रहा है, इसीलिए देश के सामने खाद्य-सकट की विकराल राक्षसी सुरसा के समान मुँह फैलाए निगल जाने को लपक रही है। मकान-सकट, वस्त्र-सकट और जितने भी अभाव आज मनुष्य को परेशान कर रहे हैं, यदि गहराई से देखा जाए तो उनके मूल मे यही जनसख्या की बीमारी है। समार के बडे-बडे वैज्ञानिक आज चिन्तित हो उठे हैं कि यदि जनसख्या इसी गति से बढती रही तो शताब्दी के अन्त तक अर्थात् आने वाले ३२-३३ वर्षों मे ही ससार की जनसख्या दुगुनी हो जायेगी। इसका मतलब हुआ कि जिस भारतवर्ष मे आज पचास करोड मनुष्य हैं, वहाँ आने वाले तीस वर्षों मे एक अरब से भी अधिक हो जायेगे, इसका सीधा-सा अर्थ है प्रतिवर्ष एक करोड से अधिक की वृद्धि। आप सुनकर चौक उठेंगे, पर यह जनगणना करने वाले विशेषज्ञो के आकड़े है, जो काफी तथ्य पर आधारित है, केवल कल्पित नही है। अब आप अनुमान कर सकते है कि इन अभावो, सकटो की जड कहाँ है? आप स्वय ही तो इनकी जड से हैं, अस्तु।

'जणतर' की वृद्धि के साथ तीसरी बात है—भणतर की, याने पढाई की। शिक्षा की बात हम कर रहे थे। शिक्षा की गति बडी तीव्रता के साथ बढाई जा रही है। यह ठीक है कि देश मे कोई अशिक्षित, अक्षर ज्ञान से हीन न रहे। पर शिक्षा का प्रचार जिस गति और वेग के साथ हो रहा है, देश का जितना श्रम, समय और अर्थ इस पर खर्च हो रहा है, उतनी सफलता नही मिल रही है, यह स्पष्ट है।

समाचार पत्र हमारे सामने है, कही छात्र आन्दोलन चला रहे है, तोड-फोड कर रहे है, अध्यापको और प्रोफेसरो की पिटाई कर रहे है, स्कूल, ऑफिस और सरकारी दफ्तरो मे आग लगा रहे हैं, बसे, मोटरे और रेले जला रहे हैं, देश मे-चारो और हिंसा, उपद्रव, और विनाश लीला कर रहे है। भले ही राजनैतिक दल इसके पीछे अपना रोष, आक्रोश और हिंसक भावनाओ का बल दें रहे हो, पर इन

हडतालो और उपद्रवो का हथियार विद्यार्थी वर्ग को जो बनाया जा रहा है, क्या यह शर्म और दु.ख की बात नही है ?

मैं कभी-कभी सोचता हूँ–शिक्षण के साथ बच्चो मे जो ये उपद्रवी सस्कार आ रहे है, वे उन्हे किस अन्धगर्त मे ले जाकर धकेलेगे ? इसकी कल्पना भी नही की जा सकती। उनकी यह शक्ति, उनका यह अध्ययन और ज्ञान उन्हे रावण की परम्परा मे ले जाकर खडा करेगा या राम की भूमिका पर? रावण वस्तुत· अज्ञानी नही था, वह एक बहुत बडा वैज्ञानिक था अपने युग का, साथ ही कुशल राज-नीतिज्ञ, शक्तिशाली योद्धा और शिक्षाविज्ञ भी था वह। जल, नभ और थल पर उसका शासन था। आकाश मे उसके पुष्पक-विमान उडते थे, समुद्र मे उसके जलयान तैरते थे। अग्नि और वायु तत्व के उसने अनेक प्रयोग किये थे, कहते है देवताओ को उसने अपनी कैद मे बैठा रखा था। इसका सीधा-सा भावार्थ है कि उसने प्रकृति की दिव्य शक्तियो को अपने नियत्रण मे ले रखा था। उसके इजी-नियरो ने सोने की विशाल लका नगरी का निर्माण किया था। कितना ऐश्वर्य और वैभव था उसका! पर आखिर हुआ क्या ? बुद्धिमान और वैज्ञानिक रावण राक्षस क्यो कहा गया ? मनुष्य था वह हमारे जैसा ही! पर भारतीय सस्कृति ने उसको राक्षस के रूप मे चित्रित किया है! क्यो? यही कि उसकी शक्ति,उसका ज्ञान ससार के निर्माण के लिए नही, विनाश के लिए प्रयुक्त हुआ। उसके देह की आकृति मनुष्य की थी, पर उसका हृदय एव उसके सस्कार आसुरी थे, राक्षसी थे।

दु शासन और दुर्योधन का चरित्र जब हम पढते हैं, तो लगता है, वे कितने बुद्धिमान थे ? उनमे कितनी शक्ति थी और कितना बल था? कैसा विज्ञान था उनके पास कि बडे-बड़े नगरों का निर्माण किया, कितने विचित्र भवन बनाये और कितने भयकर आयुध और शस्त्र निकाले! किन्तु फिर भी उस दुर्योधन को, जिसका नाम माता-पिता ने बडे प्यार से सुर्योधन रखा था, ससार दुर् + योधन अर्थात् 'दुष्ट योद्धा', 'दुष्ट वीर' क्यो कहता है ? उसे कुलकलक और कुलागार क्यो कहा गया ? यही तो एक उत्तर है कि उसके विचार और सस्कार सुयोधन के नही, दुर्योधन के ही थे। वह कुल का फूल नही, बल्कि कटक ही बना।

रावण और दुर्योधन को इतनी शताब्दियाँ बीत जाने पर भी आज ससार घृणा की दृष्टि से देखता है। आज कोई भी माता पिता अपने पुत्र का नाम रावण या दुर्योधन के नाम पर नही रखना चाहता। राम का नाम आज घर-घर मे मिल जायेगा। रामचन्द्र, रामलाल, रामसिंह और रामकुमार चाहे जिधर आवाज दे लीजिए, कोई न कोई हुँकार उठेगा, पर कोई रावणलाल, रावणसिंह या रावणकुमार भी मिलेगा? ज्योतिष की दृष्टि से राम और रावण की राशि एक ही है, दुर्योधन और धर्मपुत्र की भी एक ही राशि है, कस और कृष्ण की भी एक ही राशि है,पर फिर भी किसी पडित ने राम-कुमार या कृष्णकुमार की जगह रावण कुमार या कसकुमार नाम नही निकाला।

यह सब प्राचीन भारतीय तत्त्व चिन्तन की एक खास मनोवृत्ति की झलक है। भारतीय तत्त्व दर्शन कहता है कि सस्कृति का निर्माण सस्कारो से होता है, कोरे शिक्षण या अध्ययन से नही। आज भारत मे राम की सस्कृति चलती है, कृष्ण की सस्कृति जीवित है और धर्मपुत्र की सस्कृति भी घर-घर मे प्रचलित है, पर कही रावण की सस्कृति भी सस्कृति मानी गयी है? रावण और दुर्योधन के सस्कार, वस्तुत उन्हे विकार ही कहना चाहिए, आज हमारे समाज मे पुनः सिर उठा रहे है, हिंसा, उपद्रव और तोडफोड के रूप मे वे सस्कार हमारे समाज के बच्चो मे फिर करवट ले रहे है, अतः राम की सस्कृति के पुजारियो को सावधान हो जाना चाहिए कि रावण के सस्कारो को कुचले विना, उन्हे बदले बिना राम की सस्कृति ज्यादा दिन जीवित नही रह सकेगी। राम-रावण सघर्ष' आज व्यक्ति वाचक नही, पर 'सस्कार वाचक' हो गया है और वह सघर्ष आज फिर खडा होने की चेष्टा कर रहा है।

विद्या का लक्ष्य

●

आप यदि विद्यार्थी वर्ग मे पनपनेवाले इन रावणीय सस्कारो को बदलना चाहते हैं, और विश्व मे राम की सस्कृति एव सस्कार तथा परम्परा को आगे बढाना चाहते हैं, तो आपको अपना उत्तरदायित्व समझना होगा। अगली पीढी को दिव्य उत्थान के लिए तैयार करना है,तो अभी से उसके निर्माण की चिन्ता करनी होगी। बच्चो का

बाह्य निर्माण तो प्रकृति ने या माता पिता ने कर दिया है, पर उनके आन्तरिक सस्कारो के निर्माण का कार्य अभी शेष है। खेद है, वालक और वालिकाओ के इस सस्कार से सम्बन्धित जीवन-निर्माण की दिशा मे आज चिन्तन नही हो रहा है। आप यदि चाहते है कि आपके बालको मे, आपकी सन्तान मे पवित्र और उच्च सस्कार जागृत हो, वे अपने जीवन का निर्माण करने मे समर्थ बने और समाज एव राष्ट्र के सुयोग्य नागरिक के रूप मे प्रस्तुत हो, तो आपको अभी से इसका विचार करना चाहिए। आप इस विषय मे चिन्ता जरूर कर रहे होगे, पर आज चिन्ता का युग नही, चिन्तन का युग है। चिन्ता को दूर फेकिए और मस्तिष्क को खुला करके चिन्तन कीजिए कि बच्चो मे शिक्षण के साथ उच्च एव पवित्र सस्कार किस प्रकार जागृत हो।

किसी भी विद्यार्थी से आप पूछ लीजिए कि आप पढकर क्या करेगे ? तो कोई कहेगा—डाक्टर बनूँगा, कोई कहेगा इन्जीनियर बनूँगा, कोई वकील बनना चाहेगा तो कोई अधिकारी। कोई इधर उधर की नौकरी की बात कहेगा, तो कोई दुकानदारी की। मगर यह कोई नही कहेगा कि मैं समाज एव देश की सेवा करूँगा, धर्म और सस्कृति की सेवा करूँगा। उनके जीवन मे इस प्रकार का कोई उच्च सकल्प जगाने की प्रेरणा ही नही दी जाती। भारतीय सस्कृति के स्वर उनके जीवन को स्पर्श भी नही करते। हमारी सस्कृति मे कहा गया है कि - तुम अध्ययन कर रहे हो, शिक्षण प्राप्त कर रहे हो, किन्तु उसके लिए महत् सकल्प जगाओ, वहाँ कहा है— **"सा विद्या या विमुक्तये'** 'तुम्हारे अध्ययन और ज्ञान की सार्थकता तुम्हारी विमुक्ति मे है।' जो विद्या तुम्हे अन्ध विश्वासो से मुक्त करा सके, दु ख और कष्टो से मुक्ति दिला सके, वही सच्ची विद्या है। विद्या, भोग विलास की या बौद्धिक कसरत की वस्तु नही है। वह अपने मे एक परम पवित्र सस्कारी भाव है। बुद्धि को स्वार्थ और अज्ञान के घेरे से निकालकर परमार्थ, जन-सेवा और ज्ञान के उन्मुक्त वातावरण मे लाकर उपस्थित कर देने मे ही विद्या की उपादेयता है। जब तुम्हारे स्वार्थ परिवार के हितो से टकराते हो, तो तुम अपने स्वार्थों की बलि देकर परिवार का हित करने का निर्णय कर सको, और पारिवारिक हित के सामने समाज के हितो को मुख्यता देकर चल सको, तब तो तुम्हारे ज्ञान की, बुद्धि की कुछ सार्थकता

रावण और दुर्योधन को इतनी शताब्दियाँ बीत जाने पर भी आज ससार घृणा की दृष्टि मे देखता है। आज कोई भी माता पिता अपने पुत्र का नाम रावण या दुर्योधन के नाम पर नही रखना चाहता। राम का नाम आज घर-घर मे मिल जायेगा। रामचन्द्र, रामलाल, रामसिंह और रामकुमार चाहे जिधर आवाज दे लीजिए, कोई न कोई हुँकार उठेगा, पर कोई रावणलाल, रावणसिंह या रावणकुमार भी मिलेगा ? ज्योतिष की दृष्टि से राम और रावण की राशि एक ही है, दुर्योधन और धर्मपुत्र की भी एक ही राशि है, कस और कृष्ण की भी एक ही राशि है,पर फिर भी किसी पडित ने रामकुमार या कृष्णकुमार की जगह रावण कुमार या कसकुमार नाम नही निकाला।

यह सब प्राचीन भारतीय तत्त्व चिन्तन की एक खास मनोवृत्ति की झलक है। भारतीय तत्त्व दर्शन कहता है कि सस्कृति का निर्माण सस्कारो से होता है, कोरे शिक्षण या अध्ययन से नही। आज भारत मे राम की सस्कृति चलती है, कृष्ण की संस्कृति जीवित है और धर्मपुत्र की सस्कृति भी घर-घर मे प्रचलित है, पर कही रावण की सस्कृति भी सस्कृति मानी गयी है? रावण और दुर्योधन के सस्कार, वस्तुत उन्हे विकार ही कहना चाहिए, आज हमारे समाज मे पुनः सिर उठा रहे है, हिंसा, उपद्रव और तोडफोड के रूप मे वे सस्कार हमारे समाज के बच्चो मे फिर करवट ले रहे है, अतः राम की सस्कृति के पुजारियो को सावधान हो जाना चाहिए कि रावण के सस्कारो को कुचले विना, उन्हे बदले बिना राम की सस्कृति ज्यादा दिन जीवित नही रह सकेगी। राम-रावण सघर्ष' आज व्यक्ति वाचक नही, पर 'सस्कार वाचक' हो गया है और वह सघर्ष आज फिर खडा होने की चेष्टा कर रहा है।

विद्या का लक्ष्य

●

आप यदि विद्यार्थी वर्ग मे पनपनेवाले इन रावणीय सस्कारो को वदलना चाहते है, और विश्व मे राम की सस्कृति एव सस्कार तथा परम्परा को आगे बढाना चाहते हैं, तो आपको अपना उत्तरदायित्व समझना होगा। अगली पीढी को दिव्य उत्थान के लिए तैयार करना है,तो अभी से उसके निर्माण की चिन्ता करनी होगी। बच्चो का

सस्कृतिमे गुरु-शिष्य के सम्बन्ध का एक उच्च आदर्श है। गुरु उसका अध्यापक भी होता है और अभिभावक भी। वह शिष्य के चरित्र का निर्माता होता है। उच्च सस्कारो और सकल्पो का सर्जक होता है। अपने उज्ज्वल चरित्र और सत्कर्मों की प्रतिछाया शिष्य के हृदय पटल पर गुरु जितनी कुशलता से अकित कर सकता है, उसमे जीवन भर सकता है, वह दूसरो के लिए सहज नही है। पर आज गुरु-शिष्य का सम्बन्ध क्या है? आज का अध्यापक अपने को एक वेतनभोगी नौकर मानता है। वह अपने आपको 'गुरु' अनुभव ही नही करता, उसके मन मे कर्तव्य और उत्तरदायित्व की कोई धारणा ही नही होता, कोई उदात्त परिकल्पना ही नही जगती।

प्राचीन समय मे गुरुकुल पद्धति से शिक्षा दी जाती थी। उस काल की स्थितियो को देखने से पता चलता है कि छात्र गुरुकुल मे अपने सहपाठियो एव शिक्षको के साथ बड़े ही आनन्द एव उल्लास के साथ सह-जीवन प्रारम्भ करता है। गुरुकुलो का वातावरण एक विशेष आत्मीयता के रस से ओत-प्रोत रहता है। वहा की नीरव शान्ति, स्वच्छ और शान्त वातावरण उच्च सकल्पो की प्रेरणा देता हुआ-सा प्रतीत होता है। वहा की हवा मे मधुरता और सस्कारिता के परमाणु उछलते हैं। छात्र परिवार से और समाज से दूर रहकर एक नई सृष्टि मे जीना प्रारम्भ करता है। जहाँ किसी प्रकार का छल, हिसा, असत्य, चोरी और विकारों का दूषित एव घिनौना वायु मण्डल नही है। भिन्न-भिन्न जातियो, समाजो और सस्कारो के विद्यार्थी एक साथ रहते हैं,इससे उनमे जातीय सौहार्द, प्रेम और सस्कारो की एकात्मकता के अकुर प्रस्फुटित होते हैं। गुरु और शिष्य का निकट सम्पर्क दोनो मे आत्मीय एकरसता के सूत्र को जोड देता है। गुरु का अर्थ वहा केवल अध्ययन कराने वालो से ही नही, किन्तु गुरु उस काल का पूर्ण व्यक्तित्व होता था—जो शिष्य के जीवन की समस्त जिम्मेदारिया अपने ऊपर लेकर चलता था। उसके रहन-सहन, खान-पान और प्रत्येक व्यवहार मे से छनते हुए उसके चरित्र का निरीक्षण करता है। उसके जीवन मे उच्च सस्कार जगाता है और ज्ञान का आलोक भी देता है इस प्रकार छात्र गुरुकुल मे सिर्फ ज्ञान ही नही पाता, बल्कि सम्पूर्ण जीवन पाता है। सस्कार, व्यवहार, सामाजिकता के नियम, कर्तव्य का बोध और

है। अन्यथा अपने स्वार्थ के लिए तो कीड़े-मकोड़े भी, पशु-पक्षी और वनमानुष भी प्रयत्नशील होते है। राष्ट्र और समाज के हितो के प्रश्न पर, आप अपना, अपने भाई भतीजे और बिरादरी का स्वार्थ लेकर यदि सोचते हैं, क्षुद्र प्रलोभनो के सामने आपका राष्ट्र-प्रेम यदि पराजित हो जाता है, तो तुम वास्तव मे शिक्षित नही कहे जा सकते। इसके विपरीत, तुम आगे बढकर एक दिन अपने समस्त स्वार्थो का बलिदान कर सको, अपने व्यक्तिगत भोग, सुख और विषयो को ठोकर मारकर जीवन मे सयम और इन्द्रिय-निग्रह का आदर्श उपस्थित कर सको यही तुम्हारे ज्ञान से अपेक्षा है भारतीय सस्कृति को।"

मै आपसे अभी कह गया हूँ कि रावण इतना बडा ज्ञानी होते हुए भी ज्ञानी क्यो नही माना गया? चूँकि उसका ज्ञान इन्द्रियो की गुलामी के लिए था वह ज्ञानी होकर भी अपने आप पर सयम नही रख सका था। सीता को लाते समय वह जानता था कि यह मेरे विनाश का निमन्त्रण आ रहा है। सोने की लंका के सुन्दर उपवनो को जलाने के लिए यह दहकती हुई आग है। किन्तु यह जानकर भी वह आत्म-सयम खो बैठा, और अपने हाथ अपनी चिता, अपने साम्राज्य की चिता तैयार करली। इसीलिए भारतीय सस्कृति का यह सन्देश है कि ज्ञान का सार है—सयम! अपने आप पर सयम! विद्या का उद्देश्य है—विमुक्ति! अपने स्वार्थ और अहकार से मुक्ति!

हमारे शिक्षण केन्द्र

●

एक बात यहाँ मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हम जिस प्रकार की शिक्षा, ज्ञान और विद्या का आदर्श उपस्थित करते हैं क्या उस प्रकार की शिक्षा हमारी शिक्षण सस्थाएँ आज दे रही हैं? जहाँ तक मैं समझता हूँ इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। आज की जो शिक्षा पद्धति है वह मूलत गलत समझ पर चल रही है। भारत के शिक्षाशास्त्री इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि विद्यार्थियो को विद्यालयो मे, शिक्षण केन्द्रो मे जो शिक्षा और सस्कार मिलने चाहिएँ, वे नही मिल रहे हैं। अध्यापक और विद्यार्थी के बीच जो मधुर और शिष्ट सम्बन्ध रहने चाहिएँ, वे आज कहाँ है? भारतीय

यह स्थिति है कि अध्ययन केन्द्र एक मेले की, समारोह की सज्ञा ले रहे हैं। और गुरु अपने आपको नौकर समझने लग गए हैं। शिक्षण-केन्द्र विद्यार्थीयो का ऐसे जमघट बन गए है, जहाँ वे कुछ समय के लिए आते हैं, साथी-दोस्तो से दो-चार गपशप कर लेते हैं, रजिस्टर मे उपस्थिति लिखवा देते हैं, मन हुआ तो किसी अध्यापक का थोडा-सा भाषण सुन लेते है और किताबे बन्द करके इधर उधर मटरगस्ती करने चले जाते हैं।

अध्यापक भी आज अपना उत्तरदायित्व सीमित कर रहे हैं, स्कूल-कालेज मे दो चार घटा के अतिरिक्त विद्यार्थी के जीवन से उनका कोई सम्पर्क नही रहता। बात यह है कि इस सम्पर्क का उनकी दृष्टि मे कोई महत्व भी नही है। अध्यापन को वे एक नौकरी समझते हैं और उसके अतिरिक्त समय मे विद्यार्थी से सम्पर्क रखना, एक झझट मानते हैं।

आज की शिक्षा-पद्धति मे जो दोष और बुराईयाँ आ गई हैं, उनमे पहला दोष यह है कि शिक्षा का उद्देश्य गलत दिशा मे जा रहा है। शिक्षाके साथ सेवा और श्रम की भावना नही जग रही है। इसका कुछ उत्तरदायित्व तो है माता पिताओ पर और कुछ है शिक्षण सस्थाओ पर। नम्बर दो मे शिक्षण केन्द्रो की गलत व्यवस्था है। वहा विद्यार्थी और अध्यापक के बीच कोई सीधा सम्पर्क नही है। आत्मीयता का भाव तो दूर रहा, एक दूसरे का परिचय तक नही हो पाता। अलगाव की एक खाई दोनो के बीच पडी है। दोनो मे अपने अपने उत्तरदायित्वो के प्रति उदासीनता और उपेक्षा की भावना बल पकड रही है, श्रद्धा और स्नेह का कोई सचार वहा नही हो पा रहा है।

शिक्षा पद्धति का तीसरा दोष, जो मैं समझता हूँ कुछ गभीर है, और वह है विदेशी भाषा मे शिक्षण। हर एक देशकी अपनी सस्कृति होती है,अपनी भाषा होती है। जो विचार और सस्कार अपनी भाषा के माध्यम से हमारे मन मे उतर सकते है, वे एक विदेशी भाषा के सहारे कभी भी नही उतर सकते। जो भाव और श्रद्धा 'भगवान' शब्द के उच्चारण के साथ हमारे हृदय मे जागृत होती है, वह 'गौड' शब्द के सौ बार उच्चारण से भी नही हो सकती—यह एक अनुभूत सत्य है। दूसरी बात मातृभाषा के माध्यम से विद्यार्थी जितना

विषय वस्तु का ज्ञान–इस प्रकार जीवन का सर्वाङ्गीण अध्ययन एव शिक्षण गुरुकुल पद्धति का आदर्श था ।

उपनिषद् मे एक सदर्भ है । गुरु शिष्य को दीक्षान्त सन्देश देते हुए कहते है "**सत्य वद। धर्म चर। स्वाध्यायान्माप्रमद, यानि अस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि**" शिष्य अपना विद्याध्ययन पूर्ण करके जव गुरु से विदा मागता है तब गुरु दीक्षान्त सन्देश देते है कि—'तुम सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, जो अध्ययन किया है उसके स्वाध्याय-चिन्तन मे कभी लापरवाह मत होना और जीवन मे कर्तव्य करते हुए जव कभी कर्तव्य अकर्तव्य का प्रश्न तुम्हारे सामने आये सदाचार और अनाचार की शका उपस्थित हो तो जो हमने सद्आचरण किये हैं, जो हमारा सुचरित है, उसी के अनुसार तुम आचरण करते जाना, पर अपने कर्तव्य से कभी मत भटकना ।" आप देखेगे कि इस दीक्षान्त सन्देश मे गुरु शिष्य के प्रति हृदय का कितना स्नेह उडेल रहा है, उसकी वाणी मे आत्मा का कितना अमिट वात्सल्य उछल रहा है, कितनी उच्च प्रेरणा और महान् शुभ-सकल्पो का सकेत है इस सन्देश मे । गुरु-शिष्य मे अपने जीवन का प्रतिविम्व देखना चाहता है, इसलिए वह उसे सम्बोधित करता है कि—तुम हमारे सदाचरण के अनुसार अपने आचार का निश्चय करना । शिष्य का जीवन पवित्र बनाने के लिए गुरु स्वय अपना जीवन पवित्र रखते है और उसे एक आदर्श की तरह शिष्य के समक्ष उपस्थित करते है । जीवन की इस निश्छलता और पवित्रता के अमिट सस्कार जिन शिष्यो के जीवन मे उद्भासित होते हैं, वे शिष्य गुरुकुल से निकलकर गृहस्थ जीवन मे आते हैं,तो एक सच्चे गृहस्थ, सुयोग्य नागरिक और राष्ट्रीयपुरुष के रूप मे आते हैं। उनका जीवन समाज और राष्ट्र का एक आदर्श जीवन होता है । प्राचीन गुरुकुल के सम्बन्ध मे यदि एक ही बात हम कहे तो वह यह है कि वे हमारे विद्या और ज्ञान के ही केन्द्र नही थे, वल्कि सच्चे मानव और सुयोग्य नागरिको का निर्माण करने वाले केन्द्र थे ।

शिक्षा का माध्यम

●

समय और स्थितियो ने इस परिपाटी को छिन्न-भिन्न कर दिया। अध्ययन की पद्धति वदलती गई, विपय वदलते गए और आज तो

राजगृह और वैशाली के खडहरो मे आज भी एक महत्वाकाक्षी सम्राट् के अधूरे स्वप्न सोए पडे हैं, अतृप्त राज्य-लिप्साएँ मूर्च्छित हुई एक कहानी बनकर छिपी है। जो एक ओर भगवद् भक्ति का नाटक करता रहा और दूसरी ओर असीम महत्वाकाक्षाओ मे भटकता रहा। तेरहवा चक्रवर्ती बनने की वह महत्वाकाक्षा आज की असीम आकाक्षाओ के लिए एक कटु व्यग्य है, एक चुनौती है।

ऐतिहासिक जैन 'कथा

उपाध्याय अमरमुनि

●

तेरहवाँ चक्रवर्ती

अग और मगध का एकछत्र सम्राट अजातशत्रु कूणिक श्रमण भगवान महावीर का उच्चकोटि का भक्त नरेश था। अपने राज्य मे उसने इस प्रकार का एक स्वतत्र विभाग कायम किया था, जो प्रतिदिन भगवान महावीर के जनपद विहारकालीन कुशल समाचारो से राजा को सूचित करता रहता। इस विभाग मे उच्चवेतन पाने वाले अनेक कुशल कर्मचारियो की नियुक्ति की गई थी। कूणिक जब तक भगवान् महावीर के सुख-समाचार सुन नही लेता था, तब तक अन्न-जल ग्रहण नही करता था। इस प्रकार भगवान महावीर के प्रति उसकी अत्यन्त श्रद्धा थी।

एक बार कूणिक के मन मे अपनी प्रभु-भक्ति और श्रद्धा का गर्व जगा। उसने भगवान से पूछा—"भन्ते! मैं मर कर किस गति में जाऊँगा ?"

"राजन्! तुम अपनी आयु पूर्ण करके छठी नरक मे जाओगे"—भगवान ने अपनी गुरु-गम्भीर वाणी मे सत्य को स्पष्ट किया।

कूणिक के मन मस्तिष्क मे जैसे बिजली कोध गई। "प्रभो! मैं आपका भक्त होकर भी नरक मे जाऊँगा ?"

विस्तृत ज्ञान सहजतया प्राप्त कर सकता है उतना विदेशी भापा के माध्यम से कभी भी नही। अन्य भापा सीख कर उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने मे बडी कठिनाई और श्रम उठना पड़ता है और इस कारण विद्यार्थी का ज्ञान-क्षेत्र सीमित तथा सकुचित रह जाता है। ससार के प्राय समस्त उन्नतिशील एव स्वतन्त्र राप्ट्रो मे शिक्षा का माध्यम मातृभापा या फिर राष्ट्रीय भापा ही है, पर भारत आज स्वतन्त्र होकर भी विदेशी भापा मे अपनी सन्तानो को शिक्षित कर रहा है, यह जहा उपहासास्पद वात है, वहाँ विचारणीय भी है। अपनी सभ्यता, सस्कृति और सस्कारो के निर्माण के लिए अपनी भाषा मे शिक्षण होना वहुत ही आवश्यक है।

मैं समझता हूँ आज हमारी शिक्षा, हमारे शिक्षार्थी और शिक्षक तीनो ही राष्ट्र के सामने एक समस्या वनकर खड़े हो रहे हैं। इस दिनो दिन उलझती जाती समस्या का हल खोजना है। देश को यदि अपनी सस्कृति और सभ्यता से अनुप्राणित रखना है, तो हमे इन तीनो बातो के सन्दर्भ मे आज की समस्या को देखना चाहिए और उसका यथोचित हल खोजना चाहिए। शिक्षा जो जीवन का पवित्र और महान् आदर्श है, उसे अपने पवित्रता के धरातल पर स्थिर रखने के लिए हमे इस विषय को गहराई से सोचना चाहिए। शिक्षा जीवन की समस्या नही, अपितु समाधान वननी चाहिए। और वह समाधान तभी वनेगी, जव उसमे सास्कृतिक-चेतना जागृत होगी।

●

प्लेटो ने मानवीय आचरण का विश्लेपण करते हुए कहा है—"मनुष्य के आचरण के तीन मुख्य स्रोत हैं—इच्छा, भावना और ज्ञान।

इच्छा हमारी रुचि और शक्ति का तत्व है, भावना साहस और करुणा का तथा ज्ञान सोचने विचारने का केन्द्र है। दूसरे शब्दो मे—"चरण, हृदय और मस्तिष्क—' इन तीनो का समुचित कार्यसचालन ही मनुष्य के श्रेष्ठ आचरण की भूमिका है।

●

राजगृह और वैशाली के खडहरो मे आज भी एक महत्वाकाक्षी सम्राट् के अधूरे स्वप्न सोए पडे हैं, अतृप्त राज्य-लिप्साएँ मूर्च्छित हुई एक कहानी बनकर छिपी है। जो एक ओर भगवद् भक्ति का नाटक करता रहा और दूसरी ओर असीम महत्वाकाक्षाओ मे भटकता रहा। तेरहवा चक्रवर्ती बनने की वह महत्वाकाक्षा आज की असीम आकाक्षाओ के लिए एक कटु व्यग्य है, एक चुनौती है।

ऐतिहासिक जैन 'कथा

उपाध्याय अमरमुनि

●

तेरहवाँ चक्रवर्ती

अग और मगध का एकछत्र सम्राट अजातशत्रु कूणिक श्रमण भगवान महावीर का उच्चकोटि का भक्त नरेश था। अपने राज्य मे उसने इस प्रकार का एक स्वतत्र विभाग कायम किया था, जो प्रति-दिन भगवान महावीर के जनपद विहारकालीन कुशल समाचारो से राजा को सूचित करता रहता। इस विभाग मे उच्चवेतन पाने वाले अनेक कुशल कर्मचारियो की नियुक्ति की गई थी। कूणिक जब तक भगवान् महावीर के सुख-समाचार सुन नही लेता था, तब तक अन्न-जल ग्रहण नही करता था। इस प्रकार भगवान महावीर के प्रति उसकी अत्यन्त श्रद्धा थी।

एक बार कूणिक के मन मे अपनी प्रभु-भक्ति और श्रद्धा का गर्व जगा। उसने भगवान से पूछा—"भन्ते! मैं मर कर किस गति में जाऊँगा ?"

"राजन्! तुम अपनी आयु पूर्ण करके छठी नरक मे जाओगे"—भगवान ने अपनी गुरु-गम्भीर वाणी मे सत्य को स्पष्ट किया।

कूणिक के मन मस्तिष्क मे जैसे बिजली कोध गई। "प्रभो! मैं आपका भक्त होकर भी नरक मे जाऊँगा ?"

भगवान ने कूणिक को उद्बोधित करते हुए कहा—'राजन्! भक्ति और श्रद्धा की बात करते हो? परन्तु इससे पहले जरा अपना जीवन तो देखो! स्वर्ग और नरक मे कोई किसी को भेज नही सकता, कोई किसी को रोक भी नही सकता। अपने अच्छे-बुरे आचरण ही आत्मा को स्वर्ग और नरक की यात्रा पर ले जाते हैं। तटस्थ होकर अन्तर-दृष्टि से अपने कृत कर्मों को देखो, समाधान मिल जाएगा।"

भगवान की वाणी पर सम्राट कूणिक क्षण भर स्तब्ध रह गया। वह मन-ही-मन सोचता रहा—"इतने निस्पृह प्रभु तुम? अपनी भक्ति करने वालो को भी नरक से नही उबारते?" और फिर उसकी दृष्टि जरा अन्तर मे घूम गई—"प्रभु ठीक ही तो कह रहे हैं—कितना निकृष्ट रहा है मेरा जीवन! राज्य-लिप्सा के लिए मैंने अपने भाइयो को गाठ कर पिता को कैद मे डाला, भयकर यातनाए दी। छोटे भाइयो की सम्पत्ति पर भी ललचाता रहा। उनसे हार एव हाथी छीनने के लिए भयानक युद्ध किया। वैशाली के रण क्षेत्र मे भयकर जन-प्रलय मचाने वाला कौन है? मैं ही तो हूँ। मनुष्यो के रक्त से आप्लावित यह लाल मिट्टी युग-युग तक मेरी क्रूरता की कहानी कहती रहेगी। अपनी महत्वाकाक्षाओं की पूर्ति के लिए भाइयो को युद्ध की अग्नि मे होम डाला। नाना चेटक के करुण विनाश का निमित्त भी तो मैं ही हूँ। लाखो माताओ की गोद सूनी हो गई। सहस्राधिक तरुणियो के सुहाग लुट गए। छल-कपट करके वैशाली जैसे महानगर को ध्वस्त कर डाला। कितना क्रूर और अन्यायपूर्ण रहा है मेरा जीवन! पितृ-कुल और मातृ-कुल का विनाश करने वाली वह महा ज्वाला मे ही तो हूँ! क्या भावी इतिहासकार मुझे कुलागार के रूप में चित्रित नही करेगा?"—क्षण भर कूणिक की आखे बन्द रही, और विगत जीवन के हृदय-द्रावक दृश्य एक के वाद एक उसकी आखो के सामने घूमते गए। उसे अपने आप पर तीव्र ग्लानि हो उठी, पश्चात्ताप से उसकी आखे कुछ-कुछ गीली हो आई।

परन्तु दूसरे ही क्षण उसने दृष्टि पीछे की ओर घुमाई। बड़े-बडे सेनापति, वीर योद्धा और विशाल सेना उसके सकेत पर मर मिटने को तैयार खडी थी। कूणिक का क्षत्रिय-दर्प जग उठा। मैंने यह

सब कुछ किया तो इसमे ऐसा क्या बुरा किया ? यह तो मेरा क्षत्रिय धर्म है। मुझे तो आगे बढना है, विश्वविजेता सम्राट बनना है।" कूणिक की आखो मे पश्चात्ताप के आँसुओ की जगह विश्व-विजेता बनने के दु:स्वप्न चमक उठे। उसने प्रभु से पूछा—"भन्ते! छठी नरक मे और कौन जाता है ?" भगवान् ने उत्तर दिया—"चक्रवर्ती की भोगासक्त पटरानी छठी नरक मे जाती है।"

यह सुना तो कूणिक ने एक और प्रश्न उपस्थित किया—"स्वय चक्रवर्ती मरकर कहां जाता है ?"

प्रभु ने कहा—"चक्रवर्ती ? चक्रवर्ती अवस्था मे ही मरे तो वह सातवी नरक मे जाता है।"

कूणिक का रजोगुण से प्रेरित क्षत्रियस्वभाव नरक की प्रतिस्पर्धा मे भी दौड गया। मैं एक नारी के स्थान पर जाऊँगा ? नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं भी चक्रवर्ती के समान सातवी नरक मे क्यो नही जा सकता ?"

सर्वज्ञ महावीर कूणिक के हृदय मे उछलते अदम्य दर्प की वर्णमाला को पढ रहे थे। उन्होने समाधान दिया—"कूणिक! तुम चक्रवर्ती नही बन सकते। नियमानुसार इस अवसर्पिणी युग के बारह चक्रवर्ती हो चुके है। अब और कोई नया चक्रवर्ती कैसे हो सकता है !"

कूणिक का अहकार सीमा तोड रहा था। "मैं चक्रवर्ती क्यो नही बन सकता। मेरी भुजाओ मे बल है। मेरे पास अनेक सहस्र स्वर्ण एव रत्नो के कोश हैं, विशाल वाहिनी मेरे एक सकेत पर अपना सर्वस्व होम देने के लिए प्रस्तुत है। बस, और क्या चाहिए चक्रवर्ती बनने के लिए।"

"प्रभो! चक्रवर्ती के लक्षण क्या हैं ?"

प्रभु ने बताया—"चक्रवर्ती के शासन मे चौदह रत्न होते हैं, छह खण्ड के विशाल साम्राज्य का अधिपति होता है वह।"

कूणिक के विचारो मे चक्रवर्ती बनने का 'अहं' जग उठा था। उसने चक्रवर्ती के कृत्रिम (नकली) चौदह रत्न तैयार किए। मित्र राजाओ की और अपनी सेनाएँ साथ ली, और बडी धूम-धाम से छह खण्ड की विजय यात्रा करने के लिए निकल पडा। बाहुबल

और सैन्यबल के अभिनिवेश मे चूर कूणिक आगे बढता गया। तीन खड विजय करने के बाद वैताड्य पर्वत की तमिस्रा गुफा के द्वार पर पहुँचा। तीन दिन का अखड उपवास करके द्वार-रक्षक देवता को याद किया। कृतमाल नामक द्वार-रक्षक देवता आकर आकाश मे उपस्थित हुआ और पूछा—"तुम कौन हो ? किस लिए यहा आए हो ?"

कूणिक ने अहकार भरे शब्दो मे कहा—"मैं मगधसम्राट अजातशत्रु कूणिक हूँ। भारतवर्ष के छहो खण्डो को विजय करके चक्रवर्ती बनूँगा। द्वार खोलो, मुझे वैताड्य पर्वत से उत्तार में दिग्विजय को जाना है।"

देवता ने कहा—"राजन् ! लौट जाओ ! तुम महत्वाकांक्षाओ के तूफान मे भटक गए हो। कालचक्र के नियमानुसार इस युग के बारह चक्रवर्ती हो गए, अब कोई अन्य चक्रवर्ती सम्राट इस युग मे नही हो सकता।"

"मैं तेरहवाँ चक्रवर्ती बनूँगा। मेरी भुजाओ मे बल है। बड़े-बड़े मुकुट-बद्ध छत्रपति राजा मेरे अधीन हैं। सागर की उन्मत्त लहरो की तरह विशाल सेना मेरे पीछे बढी आ रही है। चौदह रत्न मेरे पास हैं। मैं चक्रवर्ती क्यो नही बन सकता ? मैं चक्रवर्ती बनूँगा और बनूंगा ! तुम कौन होते हो रोकने वाले ? तुम्हारा काम है द्वार खोलना, बस, द्वार खोलो और अपना रास्ता नापो।" कूणिक का अदम्य दर्प गर्ज उठा।

देवता ने फिर समझाया—"राजन् ! नकल नकल है। वह असल का काम नही कर सकती। ये चौदह रत्न तुम नकली बनाकर लाए हो। कही ऐसे चक्रवर्ती बना जाता है ? सिहचर्म ओढकर शृगाल सिह कैसे बन सकता है ? मान जाओ, तुम चक्रवर्ती नही होसकते। अपनी कुशल क्षेम चाहते हो तो लौट जाओ मेरी बात मानकर।"

कूणिक का क्रुद्ध अह फुफकारने लगा। वह देवता पर लाल हो उठा। हाथ मे अपना कृत्रिम दण्डरत्न उठाया और देवता को ललकारा, द्वार खोलने के लिए चुनौती दी।

देवता मे आखिरी चेतावनी दी—"मदान्ध सम्राट ! पागल न

बनो ! अपने भले के लिए लौट जाओ। मैं कहता हूँ, द्वार नहीं खुलेगा। खबरदार उसको छू भी लिया तो .!"

इस पर भी कूणिक अडा रहा और द्वार तोड डालने के लिए ज्यो ही दण्ड को जोर से मारा कि द्वार से अग्नि की भयकर ज्वालाएँ फूट पड़ी, कूणिक वही पर ज्वालाओ मे झुलसकर देखते-ही-देखते राख का ढेर हो गया।

—आवश्यक चूर्णि, उत्तरार्ध पत्र १७६
—दशवैकालिक, हारिभद्रीय पृ० ४

चार सह-वास

●

१. देवे णाममेगे देवीए सद्धि संवास गच्छति।
देवे णाममेगे रक्खसीए सद्धि सवास गच्छति।
रक्खसे णाममेगे देवीए सद्धि सवास गच्छति।
रक्खसे णाममेगे रक्खसीए सद्धि सवास गच्छति। स्थानांग—४।४

चार प्रकार के सहवास हैं—
देव का देवी के साथ—शिष्ट भद्र पुरुष, सुशीला भद्र नारी।
देव का राक्षसी के साथ—शिष्ट पुरुष, कर्कशा नारी।
राक्षस का देवी के साथ—दुष्ट पुरुष, सुशीला नारी।
राक्षस का राक्षसी के साथ—दुष्ट पुरुष, कर्कशा नारी।

●

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव की जन्मकल्याण तिथि चैत्र कृष्णा अष्टमी के अवसर पर पढिए एक विश्लेषणात्मक निबन्ध ।

उपाध्याय अमरमुनि

आदियुग का महाप्राण व्यक्तित्व भगवान ऋषभदेव

अनन्त असीम व्योमगण्डल भी विराट् ! अगाध अपार महासागर से भी विशाल ! एक अद्भुत, एक अद्वितीय ज्योतिर्धर व्यक्तित्व ! जिधर से भी देखिए, जहा भी देखिए, और जब भी देखिए—सहस्र-सहस्र, लक्ष-लक्ष, कोटि-कोटि, असख्य अनन्त प्रकाश किरणे विकीर्ण होती दीखेगी । महाकाल इतिहास की गणना से परे हो गया, सख्यातीत दिन और रात गुजरते चले गए, परन्तु वह ज्योति न बुझी है, न बुझ सकेगी ।

भगवान् ऋषभदेव के व्यक्तित्व और कृतित्व को शब्दो की सीमा में नही बाधा जा सकता । प्राकृत मे, सस्कृत मे, अपभ्र श मे, नाना विध अन्यान्य लोक-भाषाओ मे ऋषभदेव के अनेकानेक जीवन चरित्र लिखे गए हैं, लिखे जा रहे हैं, परन्तु उनके विराट् एव भव्य जीवन की सम्पूर्ण छवि कोई भी अकित नही कर सका है । अनन्त आकाश मे गरुड जैसे असख्य विहग जीवन-भर उडान भरते रहे हैं, पर आकाश की इयत्ता का अता-पता न किसी को लगा है, न लगेगा । क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर, क्या भौतिक और क्या आध्यात्मिक, क्या सामाजिक और क्या राष्ट्रीय, क्या नैतिक और क्या धार्मिक—सभी दृष्टियो से उनका जीवन दिव्य है, महतोमहीयान् है । हम जीवन-निर्माण की दिशा मे जब भी और जो कुछ भी पाना चाहे, उनके जीवन पर से पा सकते हैं । आवश्यकता है केवल देखने वाली दृष्टि की और उस दृष्टि को सृष्टि के रूप मे अवतरित करने की ।

भगवान् ऋषभदेव मानव संस्कृति के आदि संस्कर्ता हैं, आदि निर्माता हैं। पौराणिक गाथाओ के आधार पर, वह काल आज भी हमारे मानस-चक्षुओ के समक्ष है, जबकि मानव मात्र आकृति से ही मानव था। अपने क्षुद्र देह की सीमा मे बँधा हुआ एक मानवाकार पशु ही तो था, और क्या ? न उसे लोक का पता था, न परलोक का। न उसे समाज का पता था, न परिवार का। न उसे धर्म का पता था, न अधर्म का। बिल्कुल कटा हुआ-सा अकेला शून्य जीवन। पिता-पुत्र, भाई-बहिन, पति-पत्नी—जैसा कुछ भी लोक-व्यवहार नही, कोई भी मर्यादा नही। साथ रहने वाली नारी को हम भले ही आज की शिष्ट भाषा मे पत्नी कह दे, परन्तु सचाई तो यह है कि वह उस युग मे एक मात्र नारी थी, स्त्री थी, और कुछ नही। स्त्री केवल देह है और पत्नी इससे कुछ ऊपर है। पति-पत्नी दो शरीर नही हैं, जो वासना के माध्यम से एक दूसरे के साथ हो लेते हैं। वह एक सामाजिक एव नैतिक भाव है, जो कर्तव्य की स्वर्ण-रेखाओ से मर्यादाबद्ध है। और यह सब उस आदि युग मे कहा था ? वन की सभ्यता ! अकेला व्यक्तित्व ! भूख लगी तो इधर-उधर गया, कन्द-मूल फल खा आया। प्यास लगी तो झरनो का बहता पानी पी आया। अन्य किसी के लिए न लाना और न ले जाना। न भविष्य के लिए ही कुछ सग्रह। अतीत और अनागत से कट कर केवल वर्तमान मे आबद्ध ! अपने ही पेट की क्षुधा-पिपासा से घिरा केवल व्यक्तिनिष्ठ जीवन ! प्रकृति पर आश्रित, वृक्षो से परिपोषित ! कर्तृत्व नही, केवल भोक्तृत्व ! श्रम नही, पुरुषार्थ नही। न अपने पैरो खड़ा होना, और न अपने हाथो कुछ करना। मनुष्य के शरीर मे नीचे क्षुधातुर पेट और ऊपर खाने वाला मुख। बीच मे हाथ पैरो का कोई खास काम नही, उत्पादक के रूप मे। यह चित्र है भगवान् ऋषभदेव से पूर्व मानव-सभ्यता का।

भगवान् ऋषभदेव के युग मे यह वन-सभ्यता बिखर रही थी। जनसख्या बढने लगी। उपभोक्ता अधिक होते जा रहे थे, परन्तु उनकी तुलना मे उपभोगसामग्री अल्प। ऐसी स्थिति मे सघर्ष अवश्यम्भावी था, और वह हुआ भी। क्षुधातुर जनता वृक्षो के बटवारे के लिए लडने लगी। सब ओर आपाधापी मच गई। भगवान् ऋषभदेव ने उक्त विषम-स्थिति मे अभावग्रस्त जनता का योग्य नेतृत्व

किया। उन्होने घोषणा की—"अकर्म भूमि का युग समाप्त हो रहा है, अब जन-समाज को कर्मभूमि युग का स्वागत करना चाहिए। प्रकृति रिक्त नही है। अब भी उसके अन्तर मे अक्षय भण्डार छिपा पडा है। पुरुष हो, पुरुषार्थ करो। अपने मन मस्तिष्क से सोचो-विचारो और उसे हाथोसे मूर्तरूप दो! श्रम मे ही श्री है,अन्यत्र नही! एक मुख है खाने वाला, तो हाथ दो हैं खिलाने वाले। भूखो मरने का प्रश्न ही कहा है ? अपने श्रम के बल पर अभाव को भाव से भर दो।" भगवान् ऋषभदेव ने कृषि का सूत्रपात किया। अनेकानेक शिल्पो की अवतारणा की। कृषि और उद्योग मे वह अद्‌भुत सामजस्य स्थापित किया कि धरती पर स्वर्ग उतर आया। कर्मयोग की वह रसधारा बही कि उजडते और वीरान होते जन-जीवन मे सब ओर नव-वसन्त खिल उठा, महक उठा। हे मेरे देव, यदि उस समय तुम न होते तो पता नही, इस मानव जाति का क्या हुआ होता ? होता क्या, मानव-मानव एक दूसरे के लिए दानव हो गया होता, एक दूसरे को जगली जानवरो की तरह नोचकर खा गया होता ! **"बुभुक्षित. किं न करोति पापम् ?"**

भौतिक वैभव एव ऐश्वर्य के उत्कर्ष मे एक खतरा है, वह यह कि मनुष्य स्वय को भूल जाता है, अन्धेरे मे भटक जाता है। भोग मे भय छिपा है, **"भोगे रोगभयम्।"** तन का रोग ही नही, मन का रोग भी। मन का रोग तन के रोग से भी अधिक भयावह है। बढती हुई मन की विकृतियाँ मानव को कही का भी नही छोडती—न घर का न घाट का। भगवान् ऋषभदेव ने इस तथ्य को भी ध्यान मे रखा। उनका गृह-ससार से महाभिनिष्क्रमण अपनी अन्तरात्मा को परिमार्जित एव परिष्कृत करने के लिए तो था ही, साथ ही सार्वजनीन हित का भाव भी उसके मूल मे था। महापुरुषो की साधना स्व-परकल्याण की दृष्टि से द्व्यर्थक होती है—**"एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा।"** भगवान् ऋषभदेव ने शून्य निर्जन वनो मे, एकान्त गिरि-निकुञ्जो मे, भयावह श्मशानो मे, गगनचुम्बी पर्वतो की शान्त नीरव गुफाओ मे तप साधना की। यह तप जहाँ बाह्य रूप में ऊँचा और बहुत ऊँचा था वहाँ आभ्यन्तर रूप मे गहरा और बहुत गहरा भी था। वे शरीर से परे, इन्द्रियों से परे और मन से परे होते गए—होते गए, और अपने आपके निकट, अपने शुद्ध—निरजन

निर्विकार स्वरूप के समीप पहुँचते गए—पहुँचते गए। और लम्बी साधना के बाद एक दिन वह मगल क्षण आया कि अन्तर मे कैवल्य-ज्योति का अनन्त-अक्षय-अव्याबाध महाप्रकाश जगमगा उठा, स्व-मगल के साथ ही विश्वमगल का द्वार खुल गया। भगवान् ऋषभ-देव तीर्थंकर बन गए। धर्मदेशना के रूप मे उनकी अमृतवाणी का वह दिव्यनाद गूँजा कि जन-जीवन मे फैलता आ रहा अन्धकार छिन्न-भिन्न हो गया, सब ओर आध्यात्मिक भावो का दिव्य आलोक आलोकित हो गया।

भगवान् ऋषभदेव का जीवन समन्वय का जीवन है। वह मानव-जाति के समक्ष इहलोक का आदर्श प्रस्तुत करता है, परलोक का आदर्श प्रस्तुत करता है, और प्रस्तुत करता है— इहलोक-परलोक से परे, लोकोत्तरता का आदर्श। उनका जीवन-दर्शन उभयमुखी है। जहाँ वह बाह्यजीवन को परिष्कृत एव विकसित करनेकी बातकरता है, वहाँ अन्तर्जीवन को भी विशुद्ध एव प्रबुद्ध रखने का परामर्श देता है। उनका अध्यात्म भी निष्क्रिय, जड एव एकागी नही है, वह सचेतन है, प्राणवान है, और देश, काल एव व्यक्ति की भूमिकाओ को यथार्थ के धरातल पर स्पर्श करता है। इस सन्दर्भ मे उनके अपने ही जीवन के एक दो प्रसङ्ग हैं।

साधना-काल मे जब भगवान जगलो एव पहाडो के सूने अचलो मे एकान्त साधनारत रह रहे थे, तो प्रारम्भ मे एक वर्ष तक उन्होने अन्न-जल गहण नही किया, अनशनतप की लम्बी साधना चलती रही। प्रभु के लिए तो यह सहज था, परन्तु साथ मे दीक्षित होने वाले चार सहस्र साधक विचलित हो गए। वे भूख की वेदना को अधिक काल तक सहन न कर सके। भगवान् को देखादेखी कुछ दूर तक तो अनशन के साथ-साथ चले, परन्तु गजराज की गति को कोई पकडे भी तो कहाँ तक पकडे? सब के सब पिछडते चले गये, कोई कही तो कोई कही। पिछड़े ही नही, पथ-भ्रष्ट भी हो गये। विवेकज्ञान के अभाव मे ऐसा ही कुछ हुआ करता है— **देखा-देखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़े रोग।** भगवान् ऋषभदेव ने वर्ष समाप्त होते-होते जब यह देखा तो उनका चिन्तन मोड ले गया। उन्होने आहार-ग्रहण करने का सकल्प किया, अपने लिए उतना नही, जितना कि भविष्य के साधको को साधना के मध्यम मार्ग की दृष्टि प्रदान करने

के लिए। भगवान् के तत्कालीन अनक्षर चिन्तन को अक्षरवद्ध किया है—जैन दर्शन के सुप्रसिद्ध तत्त्वचिन्तक महामनीषी आचार्य जिनसेन ने, अपने महापुराण मे—

न केवलमय काय', कर्शनीयो मुमुक्षुभिः ।
नाऽप्युत्कटरसैः पोष्यो, मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनै' ॥५॥
वशे यथा स्युरक्षाणि, नोत धावन्त्यनूत्पथम् ।
तथा प्रयतितव्यं स्याद्, वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ॥६॥
दोषनिर्हरणायेष्टा, उपवासाद्युपक्रमाः ।
प्राणसन्धारणायायम्, आहार सूत्रदर्शितः ॥७॥
कायक्लेशो मतस्तावन्, न सक्लेशोऽस्ति यावता ।
सक्लेशे ह्यसमाधानं, मार्गात् प्रच्युतिरेव च ॥८॥

—पर्व २०

—मुमुक्षु साधको को यह शरीर न तो केवल कृश एव क्षीण ही करना चाहिए और न रसीले एव मधुर मन चाहे भोजनो से इसे पुष्ट ही करना चाहिए।

—जिस तरह भी ये इन्द्रियाँ साधक के वशवर्ती रहे, कुमार्ग की ओर न दौडे, उसी तरह मध्यम वृत्ति का आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए।

—दोपो को दूर करने के लिए उपवास आदि का उपक्रम है, और प्राण धारणा के लिए आहार का ग्रहण है, यह जैन सिद्धान्त-सम्मत साधनासूत्र है।

—साधक को कायक्लेश तप उतना ही करना चाहिए, जितने से अन्तर मे सक्लेश न हो। क्योकि सक्लेश हो जाने पर चित्त समाधिस्थ नही रहता, उद्विग्न हो जाता है, जिसका किसी न किस दिन यह परिणाम आता है कि साधक पथभ्रष्ट हो जाता है।

भगवान् ऋषभ के द्वितीय पुत्र महावली, वाहुवली युद्ध मे अपने ज्येष्ठवन्धु भरत चक्रवर्ती को पराजित करके भी, राज्यासन से विरक्त होगए। कायोत्सर्ग मुद्रामे अचल हिमाचलकी तरह अविचल एकान्त-वन प्रदेश मे खडे हो गए। एक वर्ष पूरा होने को आया, न अन्न का एक दाना और न पानी की एक वूँद। न हिलना, न डुलना। सचेतन भी अचेतन की तरह सर्वथा निष्प्रकम्प! कथाकारो की भाषा

में मस्तक पर के केश बढते-बढते जटा हो गए और उनमे पक्षी नीड बनाकर रहने लगे। घुटनो तक ऊँचे मिट्टी के वल्मीक चढ गए, और उनमे विषधर सर्प निवास करने लगे। कभी-कभी सर्प वल्मीक से निकलते, सरसराते ऊपर चढ जाते और समग्र शरीर पर लीला-विहार करते रहते। भूमि से अकुरित लताएँ पदयुगल को परिवेष्टित करती हुई भुजयुगल तक लिपट गई। इतना होने पर भी कैवल्य नही मिला, नही मिला। तप का ताप चरमबिन्दु पर पहुँच गया, फिर भी अन्तर का कल्मष गला नही, मन का मालिन्य धुला नही। इतनी अधिक उग्र, इतनी अधिक कठोर साधना प्रतिफल की दिशा मे शून्य क्यो, यह प्रश्न हर साधक के मन पर मडराने लगा। भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी को भेजा, इसलिए कि वह बाहर से अन्दर मे प्रवेश करे, अन्दर के अह को तोड गिराए। ब्राह्मी और सुन्दरी के माध्यम से भगवान् ऋषभदेव का सन्देश मुखरित हुआ।

"आज्ञापयति तातस्त्वां, ज्येष्ठार्य ! भगवानिदम् ।
हस्तिस्कन्धाधिरूढानाम् उत्पद्येत न केवलम् ॥"

—त्रिषष्टि० १।६।७८८

—हे आर्य, पूज्यपिता भगवान् ऋषभदेव तुम्हे सूचित करते हैं कि हाथी पर चढे हुओ को केवल ज्ञान नही हो सकता।

कैसा हाथी ? 'मैं बडा हूँ, अपने से छोटे बन्धुओ को कैसे वन्दन करूँ'—यह अहङ्कार का हाथी ही न? इसी हाथी पर से नीचे उतरना है। बाहुबली के चिन्तन ने अह से निरह की ओर मोड लिया और ज्योही वदन के लिए कदम उठाया कि केवल ज्ञान का महाप्रकाश जगमगा उठा। उक्त उदाहरण से क्या ध्वनित होता है ? यही कि भगवान् ऋषभदेव साधना के केवल बाह्य परिवेश तक ही प्रतिबद्ध नही थे। उनकी साधनाविषयक प्रतिबद्धता बाहर की नही, अन्दर की थी। उनकी साधना का मुख्य आधार तन नही, मन था। मन भी क्या, अन्तश्चैतन्य था। और भगवान् का यह दिव्य दर्शन जैन साधना का बीज मत्र हो गया। आदिकाल से ही जैन दर्शन तन का नही, मन का दर्शन है, अन्तश्चैतन्य का दर्शन है। वह साधना के बाह्य पक्ष को स्वीकारता है अवश्य, परन्तु अमुक सीमा तक ही। बाह्य सात है, अतर ही अनत है। अत अनत की उपलब्धि बाहर

मे नही, अन्तर मे । जब-जब साधक बाहर भटकता है, बाहर को ही सब कुछ मान बैठता है, तब-तब भगवान् ऋषभदेव के जीवन-प्रसङ्ग साधक को अन्दर की ओर उन्मुख करते हैं, हठ योग से सहज योग की ओर अग्रसर करते हैं।

भगवान् ऋषभदेव की निर्मल धर्मचेतना आज की भाषा मे कहे जाने वाले पथो—मतो—सम्प्रदायो से सर्वथा अतीत थी। उनका सत्य इन सब क्षुद्र परिवेशो मे बद्ध नही था। जब कभी प्रसग आया, उन्होने सत्य के इस मर्म को स्पष्ट किया है—बिना किसी छिपाव और दुराव के। राजकुमार मरीचि भगवान के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण कर लेता है, पर समय पर ठीक तरह साध नही पाता है। तितिक्षा की कमी, परीषहो के आक्रमण से विचलित हो गया, तो पथ-च्युत हो गया, परिव्राजक हो गया। इस पर, सम्भव है, और सबने धिक्कारा हो, परन्तु भगवान् सर्वतोभावेन तटस्थ रहे। मरीचि जैन श्रमण-परम्परा के विपरीत परिब्राजक का बाना लिए समवसरण के द्वार पर बैठा रहता, परन्तु इधर से कोई ननुनच नही। इतना ही नही, एक बार भरत चक्रवर्ती के प्रश्न के समाधान मे घोषणा की कि मरीचि वर्तमान कालचक्र का अन्तिम तीर्थङ्कर होगा। श्रमण परम्परा से उत्प्रव्रजित व्यक्ति के लिए भगवान् की यह घोषणा एक गम्भीर अर्थ की ओर सकेत करती है। वेष और पथ की सीमाएँ सत्य की सीमा को काट नही सकती। सत्य क्षीर-सागर के जल की भाँति सदा निर्मल एवं मधुर होता है, चाहे वह किसी भी पात्र मे हो, और जब भी कभी हो। वेष और पथ की सीमाओ को लाँघकर व्यक्ति मे आज नही, तो कल अभिव्यक्त होने वाले सत्य का इस प्रकार उद्घाटन करना, भगवान् ऋषभदेव की निर्मल सत्यनिष्ठा का एक अद्भुत उदाहरण है। मैं अनुभव करता हूँ, यदि कोई और होता तो ऐसी स्थिति मे कुछ और ही कहता या मौन रहता। परन्तु भगवान् ऋषभदेव देव क्या, वाधिदेव थे। जिन्होने पथभ्रष्ट मरीचि के धूमिल वर्तमान को नही, किंतु उज्ज्वल भविष्य को उजागर किया और यह सत्य प्रमाणित किया कि पतित से पतित व्यक्ति भी घृणापात्र नही है। क्या पता, वह कहा और कब जीवन की ऊँची से ऊँची बुलदियो को छूने लगे, आध्यात्मिक पवित्रता को पूर्णरूपेण आत्मसात् करने लगे। क्या आज हम उक्त

घटना पर से अपने प्रतिपक्षी खेमे के लोगो के प्रति सद्भावना का भावादर्श नही ले सकते ?

भगवान् ऋषभदेव जीवन के हर कोण पर उसी प्रकार दिव्य हैं, जिस प्रकार वैडूर्यरत्न। उनका जीवन आज की विषम परिस्थितियो मे भी अपने निर्मल चरित्र की आभा बिखेर रहा है। सत्य की खोज मे चल रहे हर यात्री के मन पर एक गहरी छाप डाल रहा है। उनका स्मरण होते ही तमसाच्छन्न जन-मानस मे एक दिव्य एव सुखद प्रकाश फैल जाता है। उनका जीवनचरित्र मानवचरित्र के निर्माण के लिए हर युग मे प्रेरणास्रोत रहा है और रहेगा।

स्थाणुरयं भारहार किलाभूद्
अधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकल भद्रमश्नुते,
नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।

—शाख्यायन आरण्यक १४।२

जो वेदो (शास्त्रो) को पढकर भी उनका अर्थ (मर्म, रहस्य) नही जानता है, वह केवल भार ढोने वाला मजदूर है, और है फूल एव फलो से हीन केवल सूखा ठूठ। अर्थ का ज्ञाता ही समग्र कल्याण का भागी होता है और अन्तत ज्ञान के द्वारा सब पापो को नष्ट कर नाक (दु खो से रहित स्वर्ग या मोक्ष) प्राप्त करता है।

●

जैन धारा

जे ममाइयमइ जहाइ, से जहाइ ममाइयं।
से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स नत्थि ममाइयं।

—आचारांग १।२।६

जो ममत्वबुद्धि का परित्याग करता है, वही वस्तुतः ममत्व=परिग्रह का त्याग कर सकता है।

वही मुनि वास्तव मे पथ (मोक्ष मार्ग) का द्रष्टा है– जो किसी भी प्रकार का ममत्व भाव नही रखता है।

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे,
जे अणण्णारामे, से अणण्णादसी।

—आचारांग १।२।६

जो 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि नही रखता है,वह 'स्व' से अन्यत्र रमता भी नही है। और जो 'स्व' से अन्यत्र रमता नही है, वह 'स्व' से अन्यत्र दृष्टि भी नही रखता है।

अप्पणो णामं एगे वज्जं पासई, णो परस्स।
परस्स णाम एगे वज्जं पासइ, णो अप्पणो।
एगे अप्पणो वज्जं पासइ, परस्स वि।
एगे णो अप्पणो वज्जं पासइ, णो परस्स।

—स्थानांग ४।१

कुछ व्यक्ति अपना दोष देखते , दूसरो का नही।
कुछ दूसरो का दोष देखते है, अपना नही।
कुछ अपना दोष भी देखते हैं, दूसरो का भी।
कुछ न अपना दोष देखते हैं, न दूसरो का।

दीणे णाम एगे णो दीणमणे।
दीणे णाम एगे णो दीणसकप्पे।

—स्थानांग ४।२

कुछ व्यक्ति शरीर व धन आदि से दीन होते हैं। किन्तु उनका मन और सकल्प बडा उदार होता है।

न भाइयव्व भयस्स वा, वाहिस्स वा,
रोगस्स वा, जराए वा, मच्चुस्स वा।

—प्रश्नव्याकरण २।२

आकस्मिक भय से, व्याधि (मन्दघातक कुष्ठादि रोग) से, रोग (शीघ्रघातक हैजा आदि) से, बुढापे से, और तो क्या, मृत्यु से भी कभी डरना नही चाहिए।

असविभागी, असंगहरुई . अप्पमाणभोई .
से तारिसए नाराहए वयमिणं।

—प्रश्न० २।३

जो असविभागी है—प्राप्त सामग्री का ठीक तरह वितरण नही करता है, असग्रहरुचि है—साथियो के लिए समय पर उचित सामग्री का संग्रह कर रखने मे रुचि नही रखता है, अप्रमाणभोजी है—मर्यादा से अधिक भोजन करने वाला पेटू है, वह अस्तेयव्रत की सम्यक् आराधना नही कर सकता।

बौद्ध धारा

अत्थेनेव मे अत्थो, किं काहसि व्यञ्जनं बहुं।

—विनयपिटक, महावग्ग १।१७।६०

मुझे सिर्फ अर्थ (भाव) से ही मतलब है। बहुत अधिक शब्दो से क्या करना है?

अतीतानुधावन चित्तं विक्खेपानुपतितं समाधिस्स परिपन्थो।
अनागतपटि कखन, चित्तं विकम्पित समाधिस्स परिपन्थो।

पटिसमिदा १। ।२।८

अतीत की ओर दौडने वाला विक्षिप्तचित्त समाधि का शत्रु है। भविष्यकी आकाक्षासे प्रकपितचित्त समाधि का शत्र है।

रज्जन्ति पि विरज्जन्ति, तथा किं जिय्यते मुनि।

थेरगाथा ३।२४७

लोक प्रसन्न होते हो या अप्रसन्न! भिक्षु इसके लिए नही जाता है।

यथा ब्रह्मा तथा एको, यथा देवो तथा दुवे।
यथा गामो तथा तयो, कोलाहलं ततुत्तरिं॥

—थेरगाथा ३।२४५

अकेला साधक ब्रह्मा के समान है, दो देवता के समान हैं, तीन गांव के समान हैं,इससे अधिक तो केवल कोलाहल-भीड है।

अंतो जटा वहि जटा, जटाय जटिता पजा।

—विसुद्धिमग्गो १।१

भीतर जटा (तृष्णा) है, बाहर जटा है, चारो ओर से यह प्रजा (संसार) जटा से जकडी हुई है।

विसुद्धी ति सब्बमलविरहितं अच्चंतपरिसुद्ध निब्बान वेदितब्ब।

—विसुद्धिमग्गो १।५

सब प्रकार के मलो से रहित अत्यत परिशुद्ध निर्वाण ही विशुद्धि है।

सब्बदा सीलसम्पन्नो, पञ्ञवा सुसमाहितो।
आरद्धविरियो पहितत्तो, ओघं तरति दुत्तरं॥

—संयुत्तनिकाय २।२।५

शीलसपन्न, बुद्धिमान, चित्त को समाधिस्थ रखने वाला, उत्साही और संयमी व्यक्ति कामनाओं के प्रवाह को तैर जाता है।

मनसा वा अग्रे कीर्तयति तद् वाचा वदति,
तस्मान् मन एव पूर्वरूप वागुत्तररूपम् ।

—शांख्यायनारण्यक अध्या० ७, कण्डिका २

मनुष्य सर्वप्रथम मन मे सोचता है, फिर उसी को वाणी से बोलता है, अत मन पूर्वरूप है और वाणी उत्तररूप ।

तपो हि स्वाध्याय ।

—तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक २ अनुवाक १४

स्वाध्याय स्वय एक तप है ।

हृदा पश्यन्ति मनसा मनीषिण ।

—तै० आ० ३।११

हृदय कमल मे नियमित (एकाग्र) हुए मन के द्वारा ही मनीषी (ज्ञानी) सत्य का साक्षात्कार करते हैं ।

मधु मनिष्ये मधु जनिष्ये मधु वक्ष्यामि मधु वदिष्यामि ।

—तै० आ० ४।१

मैं मन मे मधुर मनन (सकल्प) करूँगा, सकल्प के अनन्तर मधुर कर्मों का प्रारम्भ करूँगा, प्रारम्भ करने के अनन्तर समाप्ति-पर्यन्त कर्मों का निर्वाह करूँगा, और इस बीच मे सदैव साथियो के साथ मधुर भाषण करता रहूँगा ।

नाऽतपस्कस्याऽऽत्मज्ञानेऽधिगम कर्मशुद्धिर्वा ।

—मैत्रायणी आरण्यक ४ श्लो० ३

जो तपस्वी नही है, उसका ध्यान आत्मा मे नही जमता और इसलिए उसकी कर्मशुद्धि भी नही होती ।

समासक्त यदा चित्त, जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद् देव ब्रह्मणि स्यात् तत, को न मुच्येत बन्धनात् ।

—मै० आ० ६।३४-५

मनुष्य का चित्त जितना विषयो मे लीन होता है, उतना ही यदि वह ब्रह्म मे लीन हो जाए तो फिर कौन है जो बन्धन से मुक्त न हो ।

उपाध्याय अमरमुनि

मरण अ-मरण

भारतीय इतिहास के स्वर्णाक्षरो मे अकित सुविश्रुत राजगृह की पर्वत मालाओ पर साधना की एक महान ज्योति जली। तपस्वी श्री जगजीवन जी महाराज ने पैंतालीस दिन का सलेखना सथारा करके मृत्यु के भय और जीवन की ममता को परास्त कर दिया। दिनाक ५ फरवरी १९६८ को उनका राजगृह के साधनाशिखर उदयगिरि पर स्वर्गवास हुआ। उसी महान साधक आत्मा की स्मृति मे आगरा जैन सघ की ओर से आयोजित एक स्मृतिसभा मे उपाध्याय श्री जी ने भावविभोर शब्दो मे श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए एक भावना पूर्ण विश्लेषण प्रस्तुत किया।

मनुष्यजीवन का महत्व शरीर से या अन्य भौतिक समृद्धि की दृष्टि से नही है। उसका बल और सौन्दर्य पशु-पक्षियो से तोला जाता है, ऐश्वर्य देवताओ से। इसका स्पष्ट अर्थ है कि भौतिक दृष्टि से मनुष्य कोई महान्, अद्भुत या उपमायोग्य नही है। भौतिक ऐश्वर्य के प्रदर्शन में सम्राट् दशार्ण भद्र जैसे भी परास्त हो गए। जब दशार्ण भद्र अपने ऐश्वर्य के प्रदर्शन मे सब ओर छोर को नाप लेना चाहता है, पूरी शक्ति के साथ तैयारी करके वह भगवान् महावीर की दर्शनयात्रा को चलता है, तो देवराज इन्द्र उसके समक्ष अपने वैभव एव ऐश्वर्य का एक सामान्यसारूप उपस्थित करता है। दशार्णभद्र उस ऐश्वर्य की पर्वतीय ऊँचाई के सामने जब स्वय को एक क्षुद्र चीटी के समान रेगता हुआ पाता है, तो अहकार चूर-चूर हो जाता है। वह सोचता है—इस स्वर्गीय ऐश्वर्य के समक्ष एक सम्राट् का ऐश्वर्यप्रदर्शन किसी दरिद्र के फटे चिथडो की प्रदर्शनी से अधिक कुछ नही है। सम्राट् स्तब्ध रह जाता है। किन्तु इसी बीच भौतिक ऐश्वर्य से हटकर आध्यात्मिक ऐश्वर्य की ओर दृष्टि

जाती है, फलत: वह प्रभु के चरणो मे पहुँचकर समस्त भौतिक ऐश्वर्य का त्यागकर आत्मा का दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है। और अब पराजित करने आया देवराज शक्र सम्राट के चरणों मे झुक जाता है—"राजर्षि! आप अपनी विजय मे सफल हैं, मैंने ऐश्वर्य से आपको परास्त करना चाहा, किन्तु आपने अपने त्याग से मुझे परास्त कर दिया।"

यह विजय, साधना के क्षेत्र की विजय है। सम्राट् ने देवराज को पराजित किया, ऐश्वर्य के सग्रह से नही, किन्तु ऐश्वर्य के त्याग मे। भौतिक बल से नही, किंतु आध्यात्मिक बल से। मनुष्य के जीवन की जो वास्तविक विभूति है, सच्ची समृद्धि है, वह यह आध्यात्मिक बल ही है। साधना के क्षेत्र मे इसी बल को तोला जाता है। साधना का थर्मामीटर त्याग है, वैराग्य है। आत्म-सयम और इन्द्रियनिग्रह है। यही उसके महत्व की कसौटी है।

आज आप सव एक त्यागी सन्त की स्मृति मे एकत्र हुए हैं। श्री जगजीवन जी महाराज जो राजगृह के उदय गिरि पर साधना की अग्नि मे अपने तनमन को तपा रहे थे, वे अब कंचन हो गये। मल छट गया, कचन निखर उठा। वे जीवन के साधारण केन्द्र से आगे बढे। योग्य गुरु के चरणो मे स्वय, दो पुत्रियाँ और एक पुत्र ने आर्हती दीक्षा धारण की। और तब से जीवन मे साधना की जो विमल ज्योति जलाई थी, उसे अन्तिम क्षणो तक सतत प्रज्ज्वलित रखे बढते रहे, जीवन पथ पर! जीवन लीला के अन्तिम पटाक्षेप मे प्राय: साधारण मनुष्य अधकार मे भटक जाता है, दिग्मूढ हो जाता है। किंतु वे ऐसे प्रचण्ड साधक निकले, जो इस ज्योति मे निरन्तर त्याग वैराग्य का घृत सिचन करते रहे, और प्रकाश की ओर बढते रहे, बढते ही चले गए।

पूर्व भारत की विहार यात्रा मे कुछ दिन तक हमने उत्कल प्रदेश (उडीसा) मे साथ-साथ यात्रा की थी, लगभग सात सौ मील तक। मैंने देखा कि उनके जीवन के हर कण मे मधुरता छलक रही है। वृद्ध होने पर भी उनका मन और वचन मधुरता से छलाछल है। आमतौर पर कहा जाता है कि फल पकने पर मधुर होता है, मगर आदमी कडवा हो जाता है। परन्तु उनके लिए यह बात नही थी। वे तो मधुर से मधुरतर होते गए, सरल से सरलतर! आयु मे

वे मुझ से अधिक थे, फिर भी मेरे प्रति उनका भक्ति भाव, प्रेम और आदर सत्कार इतना अधिक होता था कि कभी-कभी मुझे सहज सकोच होने लग जाता था। मैं उन्हे इसके लिए कभी कुछ नकार की भाषा मे कहता भी था परतु वे थे कि अपने कर्तव्यबोध के पथ पर निर्मल, निश्छल, नि सकोच भाव से बराबर बढते ही जाते थे।

उन्होने भगवान् ऋषभ देव के जीवन चरित्र पर गुजराती भाषा मे कविता बद्ध एक पुस्तक लिख रखी थी। कलकत्ता चातुर्मास के पश्चात् जब हम मिले तो उन्होंने वह पुस्तक मुझे दिखलाई और कहा—' यह पुस्तक अभी तक कभी की प्रकाशित हो जाती, किंतु मैने आपसे भूमिका लिखवाने के लिए रोक रखी है। पुस्तक के लिए नही, किन्तु मेरे लिए आप इसकी भूमिका लिख दीजिए।" मैं उनका निश्छल स्नेह देखकर गद्-गद् हो गया। इतने वृद्ध होकर भी कितना विनय! कितनी सरलता!

राजगृह का इतिहास ढाई हजार वर्ष की साधना के साथ जुडा हुआ है। अनेक साधक आत्माएँ वहाँ आई, विपुलाचल पर साधना की ज्योति जलाई और अनन्त प्रकाश की ओर बढ गई। वह क्षेत्र वस्तुत सिद्ध क्षेत्र रहा है। साधको की तपो भूमि एव सिद्धिभूमि रहा है। भगवान् महावीर ने वहा चौदह चातुर्मास किए। अतिमुक्त स्कन्दक और धन्ना शालिभद्र जैसी महान आत्माएँ वही पहुँची और साधना की अग्नि मे अपने शरीर को घुन डाला। अन्तर्मल को क्षीण करके विशुद्ध कचन बन गए। तपस्वी जगजीवन जी महाराज ने ढाई हजार वर्ष के इस प्राचीन इतिहास को पुनः जीवित कर दिया, बीच मे साधना की श्रृ खला के जो तार टूट चुके थे, उन्होने उन तारो को पुन जोड दिया—, अपनी उग्र साधना के द्वारा।

जगजीवन जी महाराज ने सथारा किया था। सथारा, किसी कामना या भय से नही किया जा सकता। प्रलोभन और भय से व्यक्ति मर सकता है, पर साधना के द्वारा शरीर को इस प्रकार तप से तपा नही सकता। मन की आग नही बुझा सकता। मन से आसक्ति की ज्वाला को बुझा देने का नाम ही सथारा है। जीवन के प्रति मोह और ममता का त्याग करना हँसी खेल नही है। मृत्यु का भय मनुष्य को खाता रहता है। मृत्यु शब्द ही उसे भयानक प्रतीत होता है। मृत्यु की विभीषिका पर विजय प्राप्त कर लेना ही सथारा

है। भोजन छोड देना मात्र सथारा नही होता, अनशन अलग चीज है, सथारा अलग ! सथारा मे– 'जीवियासामरणभयविप्पमुक्के' का आदर्श झलकता है। न जीवन की ममता और न मृत्यु का भय ! न इस लोक की आसक्ति, न परलोक की आकाक्षा ! विनाशी तत्त्व से सम्पर्क तोडकर अविनाशी की ओर बढना, उसी पर दृष्टि केन्द्रित कर देना यह आत्मविजेता साधक का जिनत्व का मार्ग है। अविनाशी परम आत्म तत्त्व की इसी साधना का ही एक पवित्र रूप सथारा है।

श्री जगजीवनजी महाराज ने एक योद्धा की तरह मृत्यु को ललकारा। विनाशी भौतिक जीवन पर से अपने को हटाकर अविनाशी आत्म-तत्त्व पर अपने को केन्द्रित किया। वे अपने आत्म केन्द्र पर आसन जमाकर बैठ गए, मृत्यु का भय उन्हे विचलित नही कर सका। मृत्यु को उन्होने परास्त कर दिया। तप एव ज्ञान की ज्योति जलती रही, और वे उसमे कामना तथा वासना की आहुतियाँ देते गए। पैंतालीस दिन तक यह महायज्ञ निरन्तर चलता रहा। पाच फरवरी को उनका यह महायज्ञ समापन हुआ। सथारा सीझ गया। सीझने का अर्थ है—पक जाना। साधना पक गई ! सिद्धि की ओर बढ गई।

जैन परम्परा में साधना के द्वारा देहत्याग को 'मरना' नही कहा जाता। वस्तुतः वह 'मरण' नही, अ-मरण है। वह सीझना है, पकना है। मरण–कटु होता है, पकना मधुर ! यह तो प्रकाश से प्रकाश की ओर बढना है,समाधि से समाधि की ओर तथा आनन्द से आनद की ओर यात्रा करना है। मरण मे पराजय का भाव छिपा है। इसलिए साधक के देहत्याग को 'निर्वाण' कहा जाता है, समाधि-मरण कहा जाता है, विजययात्रा कहा जाता है। यह यात्रा मरण से अमरण की यात्रा है। अमरता की यात्रा है। उस अमरता के राही को सब की सादर सभक्ति कोटि कोटि श्रद्धाजलि !

उपाध्याय अमरमुनि

•

स्मृतियां उभरती रहेंगी

महास्थविर प्रवर्तक श्री पन्नालाल जी महाराज के स्वर्गवास पर आगरा श्री सघ की ओर से आयोजित स्मृति सभा मे कवि श्री जी के भाव पूर्ण उद्गार ।

महात्मा बुद्ध के निर्वाण पर शोकाकुल जनसमूह को सान्त्वना देते हुए देवेन्द्र शक्र ने कहा था—**अनिच्चा वत संखारा उप्पादवयधम्मिनो**-सभी सस्कार, उत्पन्न होने वाली वस्तुएँ अनित्य है, उत्पत्ति और क्षय स्वभाव वाले हैं। शरीर, धन-वैभव, ऐश्वर्य जो कुछ भी भौतिक है, विनाशी है, वह एक दिन उत्पन्न होता है, और एक दिन विनष्ट। उत्पत्ति और विनाश की, जन्म और मरण की कडी के बीच मे बधा हुआ है जीवन ।

परन्तु प्रश्न है कि जीवन क्या है ? मात्र आयु की लम्बी डोरी का नाम जीवन नही है। जीवन है वह, जो जीने की कला से जीया जाय। जो जीवन विनाशी से अविनाशी की ओर बढता है, मृत्यु से अमृत की ओर गति करता है—वह अनित्य नही, नित्य है । चलाचल मे भी स्थिर है। भौतिक रूप मे भले ही वह नष्ट हो जाए, पर आध्यात्मिक रूप मे वह कभी नष्ट नही होता। अपने कर्तृत्व व अपनी विमल साधना ज्योति के रूप मे चिर युग तक स्मृतियो मे तैरता रहता है, वातावरण पर छाया रहता है।

महास्थविर श्री पन्नालाल जी म० भौतक रूप मे हमारे बीच मे नही रहे। किन्तु साधक का महत्व तो अभौतिक होता है। वे अपनी साधना की ज्योति, सेवा और सद्भाव की सुरुचि, जो हमारे बीच छोड गए है, वह अभौतिक है, अमरणशील है। जब कभी भी आप देखेगे, उन्हे अपने समक्ष विद्यमान पाएँगे, एक भद्रिक-सरल और

प्रसन्नात्मा साधक के रूप मे। समाज के वृद्ध, तरुण और बाल वर्ग मे शिक्षा और सद्संस्कारो के बीज जो उन्होने अपने श्रम से अकुरित किए हैं,वे अब लहलहाते वृक्ष रूप में पुष्पित हो रहे हैं, तब कौन कहता है कि श्री पन्नालाल जी महाराज का अभौतिक रूप हमारे बीच नही है ? जब जब उनके द्वारा सिंचित अंकुर वृक्ष रूप धारण करके धर्म और समाज को शीतल छाया और मधुर रस से आतृप्त करेगे तब तब अनायास ही उनकी मधुर स्मृतियाँ, उनका विशुद्ध कर्तृत्व युग पटल पर उभरता रहेगा।. उस स्थविर साधक आत्मा को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि ! दिवगत आत्मा की शान्तिकामना हमे करे, यह तो मात्र औपचारिक बात है, वस्तुत साधक अपनी शान्ति का निर्माता स्वय ही होता है, और वह यही पर अगले जीवन की शान्ति का सूत्रपात करके जाता है।

●

यत्सर्वं नेति ब्रूयात् पापिकाऽस्य कीर्तिर्जायेत सैनं तत्रैव हन्यात्।

—ऐतरेयारण्यक, आर २ अध्या०३ कण्डिका ६

जो लोभी मनुष्य प्रार्थी लोगो को सदैव 'ना ना' करता रहता है, तो जन समाज मे उसकी अपकीर्ति (निन्दा) होती है और वह अपकीर्ति उसको घर मे ही मार देती है, अर्थात् जीता हुआ भी वह निन्दित मरे के समान हो जाता है।

अथ खल्विय दैवी वीणा भवति।

—ऐत० आ० ३।२।५

यह शरीर निश्चित ही दैवी वीणा है।

●

उपाध्याय अमरमुनि

साधन केवल साधन है। साधन अपने आप मे न अच्छा होता है, न बुरा। सब कुछ साधक के विवेक पर निर्भर है कि वह प्राप्त साधन का कब, कहाँ, कैसा और किसलिए उपयोग करता है। तेज धारवाला चाकू योग्य डाक्टर के हाथ मे आकर फोडे का आपरेशन करता है, रोगी को जीवन-दान देता है और वही किसी क्रूर हत्यारे के हाथ मे पहुँचकर निरपराध व्यक्ति के प्राण भी ले सकता है।

\+ +

इच्छापूर्ति मे सुख होता है, और उसके अभाव मे दु ख। धर्मोपदेशक कहते हैं कि जरूरतमन्द की जरूरत पूरी करो, उसका उपकार करो और पुण्य कमाओ। परन्तु प्रश्न है कि मानव की क्या सभी इच्छाओ को पूरा करना चाहिए और इस प्रकार उसे सुखी बनाकर पुण्यार्जन करना चाहिए? समाधान है कि सभी इच्छाएँ पूर्ण करने के योग्य नही हैं। हजारों ही इच्छाएँ गलत होती हैं, उनकी पूर्ति से न उस व्यक्ति का भला होता है और न समाज का ही। तत्काल होने वाला क्षणिक सुख वास्तविक सुख नही है। सुख वह जो दूरगामी हो, जिसका अन्त तक परिणाम सुखद हो। किंपाक फल जैसे विषफल खाने मे मधुर होते हैं, मनुष्य वाह-वाह कर उठता है, भूख भी बुझती है। परन्तु अन्तिम परिणाम उसका मृत्यु है। इस स्थिति मे तात्कालिक क्षणिक सुख का सुखत्व की दृष्टि से कुछ अर्थ नहीं रहा। वह मूलत दुःख ही है। अतः इच्छाओ का विश्लेषण करो, उन्हे जाचो, परखो, उनके दूरगामी शुभाशुभ परिणमनो का आकलन करो, तभी उनकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। इच्छाएँ अपनी हो, चाहे दूसरो की। वे ही इच्छाएँ पूर्ति के योग्य होती हैं, जो सुखद के साथ हितकर भी हों, हमे पतन की ओर न लेजाकर उत्थान की ओर ले जाती हो। जो व्यक्ति और अन्तत समष्टि के हित को भी अपने अन्दर लिए हुए हो। अस्तु केवल इच्छा पूर्ति करना ही उपकार नही है, अपितु योग्य एव हितकर इच्छाओ की पूर्ति करना ही उपकार है।

१—जीवन-दर्शन

लेखक—गोपीचन्द धाडीवाल
प्रकाशक पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसस्थान, जैनाश्रम हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी—५। आकार २० × ३० × १६, पृष्ठ ६८, मूल्य ३ रुपये।

जीवन-दर्शन में सकलित पाच विवेचनात्मक निबन्ध जैनाश्रम के मासिक पत्र 'श्रमण' मे समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। इन निबन्धो मे एक अध्ययनशील चिन्तक की निर्भय विचारशैली का स्पष्ट प्रतिबिम्ब झलक रहा है। लेखक ने अध्यात्म, धर्म, कर्म, अहिंसा जैसे विषयो पर काफी गहराई एव आधुनिक चिन्तन के आलोक मे अच्छा प्रकाश डाला है।

धर्म केवल परलोक का सौदा खरीदने के लिए सिक्का मात्र नही है, यह तो जीवन का एक उदात्त और स्पष्ट दर्शन है। रूढिवादी और कुण्ठाग्रस्त मानस उसे विकृत एव खण्डित रूप मे देखता रहा है, इसीलिए वह जीवन का दर्शन न रहकर, मात्र चिन्तन का भार बन गया है। लेखक ने सयत, किन्तु उग्र शब्दो मे धर्म की स्वीकृति के साथ इस सत्य की घोषणा की है कि 'धर्म इस जीवन मे सुखदायी है, इसमे सन्देह नही, किन्तु जिस रूप मे धर्म बताया जाता है या आचरित होता है, उस रूप मे नही।' लेखक धर्म को जीवन के कण-कण मे व्याप्त देखना चाहता है।

कही-कही लेखक चिन्तनवेग मे बहकर उग्र अवश्य बन गया है, किन्तु अन्तत वह धर्म के नाम पर छाए अन्धविश्वासो के आवरण को चीरकर उसका 'सत्य शिव सुन्दरम्' रूप ही प्रतिबिम्बित करता है। सभी निबन्ध सुन्दर विचार-सामग्री प्रस्तुत करते हैं। धर्म के सम्बन्ध

मे भ्रान्त धारणाएँ एव अनबूझ जिज्ञासा रखने वाले युवक-मानस के लिए पुस्तक अवश्य पठनीय है।

२—कला अकला

लेखक—मुनि रूपचन्द्र

प्रकाशक · आदर्श साहित्य सघ, चुरु : आकार २२×३६×१६ पृष्ठ ७२

मूल्य ३) पक्की जिल्द, सुन्दर आवरण चित्र।

आधुनिक काव्यबोध दृश्य से अदृश्य की ओर उन्मुख हो रहा है। वह प्रकृति से उदासीन-मौन रहकर आत्म-व्यक्त होना चाहता है। अन्तर्जगत् की सवेदनात्मक अभिव्यक्ति आधुनिक काव्य बोध की मुख्य गति है।

'कला अकला' का उदीयमान कवि अन्तर्‌तम मे व्यक्त होना चाहता है। वह दृश्य को अदृश्य का, कला को अकला का सम्प्रेषण मात्र बनाना चाहता है। जीवन की कुण्ठाओ, विडम्बनाओ एव मूल्यहीन डगमगाती आस्थाओ के प्रति वह प्रतिपद सजग होकर साथियो को सावधान करने का उद्‌घोष लिए चल रहा है। उसकी दृष्टि पैनी है, पर कही-कही पुराने चश्मे से देखने के कारण धुधलके मे वह अटक कर रह जाती है।

कुल मिलाकर 'कला अकला' एक स्वस्थ सुन्दर एव चैतन्य पूर्ण दृष्टि है। कवि का आत्मबोध यत्र-तत्र आत्म केन्द्रित होते हुए भी जीवन व जगत् के साथ एकात्मानुभूति के स्वर गुन गुना रहा है। इस सुन्दर व कलापूर्ण अ-कला के लिए तरुण लेखक शतश· धन्यवादार्ह है। पुस्तक सग्रहणीय व पठनीय है।

—'सरस'

हमारे तीन नये प्रकाशन

१ **गुलजारे शाइरी**

सयोजक सुरेश मुनि, शास्त्री — आकार २० × ३० × १६
पृष्ठ ३२८ — नयनाभिराम तिरगा आवरण
पक्की जिल्द मूल्य केवल ३) रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक मे उर्दू साहित्य की चुनिन्दा सरस, हृदयग्राही लगभग तीन हजार शायरी सकलित है। उर्दू के सभी प्रमुख शायरो के ओजस्वी और भावपूर्ण शेर एक जगह और वह भी अलग-अलग विषय-शीर्षको मे विभक्त होने से उर्दू शायरी के प्रति थोडा बहुत भी लगाव रखने वाले रसेच्छु के लिए यह बहुत उपयोगी एव आकर्षक सग्रह सिद्ध होगा, इसमे कोई शक नही। टिप्पण मे कठिन शब्दो के अर्थ दे दिए जाने से पुस्तक की उपयोगिता मे चार चाद लग गए है।

छपाई व कागज सुन्दर है, आवरण बहुत ही आकर्षक एव नयनाभिराम है। इतने पर भी जनहित की दृष्टि से मूल्य बहुत कम-सिर्फ तीन रुपया। डाक खर्च अतिरिक्त।

२. **विचार ज्योति**

लेखक : हीरामुनि 'हिमकर' — आकार २० × ३० × १६
पृष्ठ ११२ — मूल्य १-५०
सुन्दर आवरण, पक्की जिल्द।

श्री हीरामुनि जी के सरल एव जनोपयोगी १२ निबन्धो का यह सग्रह सर्वसाधारण पाठको के लिए अच्छी विचार सामग्री प्रस्तुत करता है। प्राचीन एव नवीन चिन्तन का सामञ्जस्य भी निबन्धो मे काफी सीमातक सुरक्षित रहा है। सभी लेख पठनीय हैं। छपाई सफाई उत्तम। पक्की जिल्द और सुन्दर आवरण।

३. **प्रेरणाप्रदीप**

लेखक विनोद मुनि — आकार २० × ३० × १६
पृष्ठ १०८ — मूल्य १-००

प्रेरणा-प्रदीप नाम से ही स्पष्ट है कि इसमे जीवन निर्माण की प्रेरणा देने वाली सामग्री सकलित हुई है। सेवा, साहस, उदारता प्रामाणिकता विनय, श्रम-निष्ठा आदि विविध सद्गुणो की प्रेरणा जगाकर आत्मविकास की ओर प्रेरित करने वाली २५ कहानियां इस सग्रह मे सकलित की गई हैं। सभी कहानियां सरल व सुन्दर हैं। विशेषकर बालको मे कहानी के माध्यम से शुभ सस्कार जगाने के लिए आज के युग मे इन कहानियो की उपयोगिता और भी अधिक है। अक्षर बडे टाइप मे होने के कारण बालक, वृद्ध व सामान्य शिक्षित जनो के लिए भी सुवाच्य है। पुस्तक सग्रहणीय व पठनीय है।

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

Reg. No L. 2043

१९६६-६७ के प्रकाशन

एक साथ मंगाने पर विशेष सुविधा

		मूल्य
१,	अध्यात्म प्रवचन	५)
२	ऋषभ देव एक परिशीलन	३)
३	धर्म और दर्शन	४)
४.	सूक्ति त्रिवेणी (जैन धारा, प्रथम खण्ड)	४)
५.	,, ,, (बौद्ध धारा द्वितीय खण्ड)	३)
६.	गुलजारे-शाइरी	३)
७	जैन इतिहास की प्राचीन कथाएं (कथा माला २)	१)
८.	जैन इतिहास की प्रेरक कथाएं (,, ३)	१)
९.	जैन इतिहास की प्रसिद्ध कथाएं (,, ४)	१)
१०	प्रत्येक बुद्धों की जीवन कथाएं (,, ५)	१)
११.	जैन धर्म	)५०
१२.	विचार ज्योति	१)५०
१३.	प्रेरणा प्रदीप	१)

उपर्युक्त सभी पुस्तकें एक साथ मंगाने पर २०% कमीशन तथा रेलभाडा व पेकिंग नि:शुल्क देने की व्यवस्था की घोषणा की जाती है। यह सुविधा वीर जयंती वि० स० २०२५ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तक के लिए ही रहेगी।

अतः साहित्यानुरागी सज्जन शीघ्र सूचित करें।

पोस्ट पार्सल से मगाने पर डाक शुल्क देना होगा।

—व्यवस्थापक

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एव प्रेम प्रिंटिंग प्रेस द्वारा मुद्रित।

अलौकिक जीवन पुष्प

एक अलौकिक पुष्प खिला था,
जो फिर कभी न मुरझाया।
महक उठा जन-जन का साँस,
भू पर स्वर्ग उतर आया॥

सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस् की,
सुरभि आज भी महक रही।
वीर जिनेश्वर-चरण स्पर्श पा,
धन्य-धन्य हो गई मही॥

—उपाध्याय अमरमुनि

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

Reg No L 2043

१९६६-६७ के प्रकाशन

एक साथ मंगाने पर विशेष सुविधा

	मूल्य
१, अध्यात्म प्रवचन	५)
२. ऋषभ देव एक परिशीलन	३)
३ धर्म और दर्शन	४)
४ सूक्ति त्रिवेणी (जैन धारा, प्रथम खण्ड)	४)
५. ,, ,, (बौद्ध धारा द्वितीय खण्ड)	३)
६. गुलजारे-शायरी	३)
७ जैन इतिहास की प्राचीन कथाएं (कथा माला २)	१)
८. जैन इतिहास की प्रेरक कथाएं (,, ३)	१)
९. जैन इतिहास की प्रसिद्ध कथाएं (,, ४)	१)
१० प्रत्येक बुद्धों की जीवन कथाएं (,, ५)	१)
११. जैन धर्म	)५०
१२. विचार ज्योति	१)५०
१३. प्रेरणा प्रदीप	१)

उपर्युक्त सभी पुस्तकें एक साथ मंगाने पर २०% कमीशन तथा रेलभाडा व पेकिंग नि शुल्क देने की व्यवस्था की घोषणा की जाती है। यह सुविधा वीर जयंती वि० स० २०२५ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तक के लिए ही रहेगी।

अतः साहित्यानुरागी सज्जन शीघ्र सूचित करें।

नोट :—पोस्ट पार्सल से मगाने पर डाक शुल्क देना होगा।
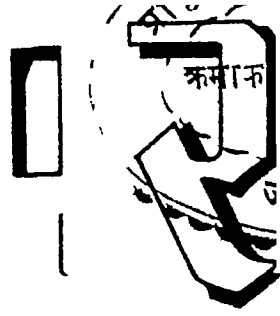
—व्यवस्थापक

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एव प्रेम प्रिंटिंग प्रेस द्वारा मुद्रित।

अलौकिक जीवन पुष्प

एक अलौकिक पुष्प खिला था,
जो फिर कभी न मुरझाया।
महक उठा जन-जन का मानस,
भू पर स्वर्ग उतर आया।।

★

सत्य, अहिंसा, त्याग, तपस् की,
सुरभि आज भी महक रही।
वीर जिनेश्वर-चरण स्पर्श पा,
धन्य-धन्य हो गई मही।।

—उपाध्याय अमरमुनि

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

अप्रैल, १९६५ महावीर जयन्ती विशेषांक

श्री अमर भारती

महावीर जयन्ती विशेषांक

वर्ष ५ अप्रैल—१९६८ अक ४

पढ़िए .. पृष्ठों पर.

★

★

प्रेरणा

श्री अखिलेश मुनि

मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

★

दिशा निर्देशन

श्री विजय मुनि 'शास्त्री'

★

सपादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०

★

व्यवस्था

रामधन शर्मा बी० ए०, 'साहित्य रत्न'

★

प्रकाशक

सोनाराम जैन

मत्री

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

★

मूल्य :

: एक सौ एक रुपया

वार्षिक : छ रुपया

प्रति : पचास पैसे

मुद्रक

प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा

आवरण :

प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा-३

वंदना

जयइ जगजीवजोणी-वियाणओ जगगुरू जगाणदो ।
जगणाहो जगबधू जयइ जगप्पियामहो भयव ॥
जयइ सुयाण पभवो, तित्थयराण अपच्छिमो जयइ ।
जयइ गुरु लोगाण, जयइ महप्पा महावीरो ॥
भद्द सव्वजगुज्जोयगस्स, भद्द जिणस्स वीरस्स ।
भद्द सुरासुरनमसियस्स, भद्द धुयरयस्स ॥

—नन्दीसूत्र

सम्पूर्ण जगत् एव समग्र जीवयोनियो के (रहस्य के) विज्ञाता, जगद्‌गुरु, प्राणिमात्र को आनन्द देने वाले, चर-अचर प्राणियो के नाथ एव बन्धु, जगत्‌पितामह भगवान की जय हो।

समग्र श्रुतज्ञान के मूलस्रोत, वर्तमान अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर, समस्त लोक के गुरु (पूजनीय) महान आत्मा महावीर की जय हो।

समग्र विश्व को अपने ज्ञानालोक से प्रकाशमान करने वाले, रागद्वेष के विजेता, महान वीर, देव-दानवो द्वारा अभिवन्दित, कर्म-मल से रहित, परम पवित्र भगवान वीर हमारा भद्र करने वाले हैं अर्थात् सब लोक का मगल-कल्याण करने वाले हैं।

●

दयाद्मत्यागसमाधिनिष्ठ,

नयप्रमाणप्रकृताजसार्थम् ।

अधृष्यमन्यैरखिलै प्रवादैर्--
जिन ! त्वदीय मतमद्वितीयम् ॥६१।

सर्वान्तवत् तद्गुणमुख्यकल्प
सर्वान्तशून्य च मिथोनपेक्षम् ।
सर्वापदामन्तकर निरन्तं
सर्वोदय तीर्थमिद तवैव ॥६२।

—आचार्य समन्तभद्र युक्त्यनुशासन

हे प्रभो ! आपका दर्शन विश्व मे अद्वितीय (सर्वश्रेष्ठ) है, क्योकि उसमे दया (अहिंसा), दम (आत्म-सयम), त्याग (अपरिग्रह), एव समाधि (प्रशस्त शुद्ध ध्यान) पर पूर्ण निष्ठा के लिए बल दिया गया है। नय एव प्रमाण के द्वारा प्रत्येक पदार्थ का युक्तियुक्त स्पष्ट विवेचन किया गया है। अन्य तार्किक कभी भी उसे बाध्य--परास्त नही कर सकते। इस प्रकार वह (आचार एव विचार विधि से युक्त) अद्वितीय दर्शन है।

हे वीर प्रभु ! आपका यह प्रवचन--रूप शासन सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय आदि अशेष अन्तों (धर्मों) से युक्त होने के कारण सर्वान्तवान् है, तथा गौण मुख्य की अपेक्षादृष्टि से सन्निहित है, चू कि जो दर्शन परस्पर अपेक्षारहित एव सर्वान्तशून्य होते हैं, उनमे पदार्थ-व्यवस्था गडबडा जाती है, किन्तु आपका दर्शन बहुत ही सुव्यवस्थित है। इसलिए ही आपका दर्शनरूप तीर्थ प्राणि जगत् की सब आपदाओ का अन्त करने वाला और किसी भी दार्शनिक द्वारा निरन्त-अन्त पाने जैसा नही है। समस्त जगत् के अभ्युदय का कारण होने से आपका यह तीर्थ वस्तुत ही सर्वोदय तीर्थ है।

●

पुक्खर व अलेवे अ संखो इव निरंजणे ।
जीवे वा अप्पडिग्घाए गयण व निरासए ॥६॥
वाए वा अपडिबद्धे कुम्मो वा गुत्तइंदिए ।
विप्पमुक्को विहगुव्व खग्गिसिंगव्व एगगे ॥७॥
वासी चदणकप्पे य समाणे लेट्ठुकचणे ।
समे पूयावमाणेसु समे मुक्खे भवे तहा ॥११॥

—आचार्य अभयदेव (महावीर स्तोत्र)

भगवान् महावीर का जीवन कमल की तरह विषयो से सर्वथा निर्लिप्त, शंख की तरह उज्ज्वल-निर्मल, जीव आत्मा की भाति साधना पथ पर अप्रतिहतगतिशील, एव गगन की तरह निरवलब— दूसरो के आलबन की अपेक्षा से मुक्त था।

वे वायु की भाति अप्रतिबद्ध (बन्धन रहित-अनासक्त) कूर्म की भाति गुप्तेन्द्रिय, पक्षी की भाति प्रतिरोधो से मुक्त तथा गेंडे के सीग की भाति आत्मभाव मे लीन एकाकी विहार करने वाले थे।

भगवान महावीर वसोले से लकडी की तरह चमडी छीलने वाले विरोधी और चन्दन का लेप करने वाले भक्त के प्रति एक समान शात भाव रखते थे। मिट्टी का ढेला और सोना, पूजा और निन्दा— दोनो द्वन्द्वो मे उनका एक समान भाव था, और तो क्या, ससार और मोक्ष के प्रति भी उनका मनोभाव एक समान था अर्थात् न ससार के प्रति घृणा और न मोक्ष के प्रति राग।

●

रूपमेव तव ब्रूते नाथ ! कोपाद्यपोहनम् ।
मणेर्मलस्य वैकल्य, महत केन कथ्यते ॥३४।५॥
अन्तर्ग्रन्थपरित्यागात्तस्य नैर्ग्रन्थ्यमाबभौ ।
भोगिनोऽन्यस्य निर्मोकत्यागवन्नावभासते ।३४।३११॥

—आचार्य गुणभद्र (महापुराणे-उत्तरपुराण)

हे नाथ ! आपकी योगमुद्रा का प्रशान्त-निर्मल रूप ही आपके भीतर क्रोध आदि दोषो का अभाव स्पष्ट रूप से सूचित कर रहा है। यह ठीक भी है, चूकि बहुमूल्य मणियो की तेजस्वी आभा अपने अन्दर की कलिमा आदि दोषो के अभाव को स्वत ही व्यक्त कर देती है, उसके लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नही रहती।

हे वीर प्रभो ! राग-द्वेष-ममत्व आदि अन्तरग परिग्रह का त्याग करने से आपकी निर्ग्रन्थता सम्यक्तया प्रतिभासित होने लगी थी। जिस प्रकार सर्प केवल काचली छोड देने भर से शोभित नही होता, उसी प्रकार केवल बाह्य-परिग्रह के त्याग से कोई शोभायमान नही लगता, वस्तुत अन्तर-परिग्रह का त्याग ही आपकी सच्ची शोभा थी।

●

कृतापराधे पि जने, कृपामन्थरतारयोः ।
ईषद् वाष्पार्द्रयोर्भद्र, श्रीवीर जिननेत्रयो ॥ १।२६॥

—आचार्य हेमचन्द्र (त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र)

हजारो-हजार अपराध करने वालो के प्रति भी वीर प्रभु के नेत्र सहज करुणा से आप्लावित होकर जो किंचित् वाष्पार्द्र हो जाते थे, अर्थात् करुणा से भीग जाते थे, वे करुणामय नेत्र हमारा भी मगल-कल्याण करे।

●

वीर पणु ते आतमठाणे, जाण्यु तुम ची वाणे रे।
ध्यान विनाणे शक्ति प्रमाणे, निज ध्रुवपद पहिचाणे रे।
वीर जिनेश्वर चरणे लागु।

—अध्यात्म योगी आनन्दघन (चोबीसी, महावीर स्तुति ६)

प्रभो! आत्म-स्थान (आत्म-स्वरूप) को प्राप्त करने के लिए वीरता चाहिए—यह आपकी वाणी से ज्ञात हुआ। किन्तु (जब उस वीरता की खोज करने चला तो यह स्पष्ट अनुभव हो गया कि) वीरता तो आत्म-स्थान अर्थात् आत्मा के भीतर ही है, उसे बाहर खोजने की जरूरत नही, सिर्फ ध्यान (प्रशात एकाग्र भावधारा) और विज्ञान (शास्त्र-स्वाध्याय) आदि के आधार पर कोई भी साधक अपनी शक्ति के अनुसार उस अपने ध्रुव स्वरूप को जान सकता है, अर्थात् प्राप्त कर सकता है। मैं उस दिव्य-आत्म-शक्ति का अवबोध कराने वाले वीर जिनेश्वर के चरणो मे नमस्कार करता हूँ।

●

स्वामी गुण ओलखी स्वामी ने जे भजै,
दरिशण शुद्धता तेह पामे।
ज्ञान-चारित्र-तप-वीर्य-उल्लास थी,
कर्म जीपी वसै मुक्ति धामे॥
तार हो तार प्रभु मुझ सेवक भणी।

—वाचक आचार्य देवचन्द्र जी (चौबीसी महावीर स्तुति)

हे प्रभो महावीर ! इस सेवक को भी अब भव सागर से पार उतार दो ! क्योकि मैंने आपके शुद्ध चिन्मय स्वरूप का दर्शन प्राप्त कर लिया है। वस्तुत जो आप के अनन्त ज्ञान-दर्शनमय, नि सग, दोषमुक्त स्वरूप को पहचान लेता है, उसी की दृष्टि(दर्शन) विशुद्ध होती है। और वही साधक ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, पुरुषार्थ आदि के सद् प्रयत्न से कर्म शत्रुओ को विजय करके शाश्वत सुखो का धाम-मुक्ति को प्राप्त करता है।

●

झील्या जे गगा जले, ते छीलर जल किम पैसे रे ?
जे मालती फूले मोहिया, ते बाव्रल जइ नवि बैसे रे ॥
एम अमे तुम गुण गोठशु ,रंगे राच्या ने वली माच्या रे,
ते केम परसुर आदरै ? जो परनारी वश राच्या रे ॥
गिरुआ रे गुण तुम तणा, श्री वर्धमान जिन राया रे।

—वाचक यशोविजय जी (चौबीसी, महावीर जिन स्तुति गा० ३-४)

जिस प्रकार पवित्र, शीतल गगाजल मे स्नान करने के बाद गदी तलैया मे नहाना कोई पसन्द नही करता, और प्रफुल्लित मालती पुष्प का रसास्वाद करने के पश्चात् भ्रमर बबूल के फूल पर जाकर नही बैठता, वैसे ही हे वर्धमान जिन ! आपकी अबाधित सर्वज्ञता एव असगता, अनासक्ति आदि गुणो पर मुग्ध होने वाले हम, पर ललनाओ के स्नेह पाश मे आसक्त अन्य देवो के प्रति कैसे आकर्षित हो सकते हैं ? अर्थात् हमारी श्रद्धा का केन्द्र तो आपके अलौकिक गुण ही हैं, हम तो उन्ही श्रेष्ठ गुणो का रस-पान करते रहेगे, हमारी श्रद्धा अन्यत्र कभी नही भटक सकती।

●

चोबीसमा महावीर, शूरवीर महाधीर,
वाणी मीठी खडखीर, सिद्धारथ नद है।
नारी-मोह विष जाण, घटमें वैराग आण,
जोग लियो जग भाण, टाल्यो मोह फद है।

महावीर-वाणी

१. जाए सद्धाए निक्खते तमेव अणुपालेज्जा,
विजहित्ता विसोत्तियं । —आचाराग १।१।३

जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, साधनापथ अपनाया है, उसी श्रद्धा के साथ विस्रोतसिका (मन की शका या कुण्ठा) से दूर रहकर उसका अनुपालन करना चाहिए ।

२. जे लोग अब्भाइक्खति, से अत्ताणं अब्भाइक्खति ।
जे अत्ताण अब्भाइक्खति, से लोग अब्भाइक्खति ।
—आचाराग १।१।३

जो लोक (अन्य जीव समूह) का अपलाप करता है, वह स्वय अपनी आत्मा का भी अपलाप करता है ।

जो अपनी आत्मा का अपलाप करता है, वह लोक (अन्य जीव समूह) का भी अपलाप करता है ।

३. वीरेहिं एव अभिभूय दिट्ठं, संजतेहिं सया अप्पमत्तेहिं ।
—आचारांग १।१।४

सतत अप्रमत्त—जाग्रत रहने वाले जितेन्द्रिय वीर पुरुषो ने मन के समग्र द्वन्द्वो को अभिभूत कर सत्य का साक्षात्कार किया है ।

४ तं परिण्णाय मेहावी,
इयाणिं णो, जमहं पुव्वमकासी पमाएण । —आचारांग १।१।४

मेधावी साधक को आत्मपरिज्ञान के द्वारा यह निश्चय करना चाहिए कि—"मैंने पूर्वजीवन मे प्रमादवश जो कुछ भूले की हैं, वे अब कभी नही करूंगा ।"

५ जे अज्झत्थं जाणइ, से वहिया जाणइ ।
जे वहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ।
एय तुलमन्नेसिं । —आचाराग १।१।४

जो अपने अन्दर (अपने सुख दुःख की अनुभूति) को जानता है, वह बाहर (दूसरो के सुख दु.ख की अनुभूति) को भी जानता है।

६ अतर च खलु इम सपेहाए,
धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए। —आचारांग १।२।१

अनन्त जीवन-प्रवाह मे, मानव जीवन को बीच का एक सुअवसर जान कर, धीर साधक मुहूर्त भर के लिए भी प्रमाद न करे।

७ अणभिक्कंत च वय सपेहाए, खणं जाणाहि पडिए।
—आचारांग १।२।१

हे आतमविद् साधक! जो बीत गया सो बीत गया, शेष रहे जीवन को ही लक्ष्य मे रखते हुए प्राप्त अवसर को परख!

८ लोभमलोभेण दुगुंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ।
—आचारांग १।२।२

जो लोभ के प्रति अलोभवृत्ति के द्वारा विरक्ति रखता है, वह और तो क्या, प्राप्त काम भोगो का भी सेवन नही करता है।

९ अणोहतरा एए नो य ओह तरित्तए।
अतीरगमा एए नो य तीर गमित्तए।
अपारगमा एए नो य पारं गमित्तए। —आचारांग १।२।३

जो वासना के प्रवाह को नही तैर पाए हैं, वे ससार के प्रवाह को नही तैर सकते।

जो इन्द्रियजन्य कामभोगो को पार कर तट पर नही पहुँच पाए हैं, वे ससार सागर के तट पर नही पहुँच सकते।

जो राग द्वेष को पार नही कर पाए हैं, वे ससार सागर से पार नही हो सकते।

१० सव्वे पाणा पिआउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला,
अप्पियवहा पियजीविणो, जीविउकामा
सव्वेसिं जीवियं पियं, नाइवाएज्ज कंचणं। —आचारांग १।२।३

सव प्राणियो को अपनी जिन्दगी प्यारी है। सव को सुख अच्छा लगता है और दु ख बुरा।

वध सवको अप्रिय है और जीवन प्रिय। सव प्राणी जीना चाहते हैं।

कुछ भी हो, सव को जीवन प्रिय है। अतः किसी भी प्राणी की हिंसा न करो।

११ वहुंपि लद्धु न निहे,
परिग्गहाओ अप्पाण अवसक्किज्जा। —आचाराग १।२।५

अधिक मिलने पर सग्रह न करे।
परिग्रह-वृत्ति से अपने को दूर रखे।

१२. गुरु से कामा, तओ से मारस्स अंतो,
जओ से मारस्स अतो, तओ से दूरे।
नेव से अंतो नेव दूरे। —आचारांग १।५।१

जिसकी कामनाएँ तीव्र होती है, वह मृत्यु मे ग्रस्त होता है, और जो मृत्यु से ग्रस्त होता है, वह शाश्वत सुख से दूर रहता है।

परन्तु जो निष्काम होता है, वह न मृत्यु से ग्रस्त होता है, और न शाश्वत सुख से दूर।

१३ वन्धप्पमोक्खो अज्झत्थेव।
—आचाराग १।५।२

वस्तुत. वन्धन और मोक्ष अन्दर मे ही है।

१४ तुमसि नाम त चेव ज हंतव्व ति मन्नसि।
तुमसि नाम त चेव ज अज्जावेयव्व ति मन्नसि।
तुमसि नाम तं चेव ज परियावेयव्व ति मन्नसि। —आचाराग १।५।५

जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।

[स्वरूप दृष्टि से सव चैतन्य एक समान है। यह अद्वैत भावना ही अहिंसा का मूलाधार है]

१५ जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।
जेण वियाणइ से आया। त पडुच्च पडिसखाए। —आचाराग १।५।५

जो आत्मा है, वह विज्ञाता है। जो विज्ञाता है, वह आत्मा है।

जिससे जाना जाता है, वह आत्मा है। जानने की इस शक्ति से ही आत्मा की प्रतीति होती है।

१६ **बुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा, बंधण परिजाणिया।**

—सूत्रकृतांग १।१।१।१

सर्वप्रथम बन्धन को समझो, और समझ कर फिर उसे तोडो।

१७. **अप्पणो य पर नालं, कुतो अन्नाणुसासिउ।**

—सूत्रकृतांग १।१।२।१७

जो अपने पर अनुशासन नही रख सकता, वह दूसरो पर अनुशासन कैसे कर मकता है?

१८. **एय खु नाणिणो सार, जं न हिंसइ किंचण।**
अहिंसा समय चेव, एतावन्त वियाणिया।

—सूत्रकृतांग १।१।४ १७

ज्ञानी होने का सार यही है कि किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। 'अहिंसामूलक समता ही धर्म का सार है' बस, इतनी बात सदैव ध्यान मे रखनी चाहिए।

१९. **सबुज्झह, किं न बुज्झह?**
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमति राइयो,
नो सुलभ पुणरावि जीवियं॥ —सूत्रकृतांग १।२।१।१

समझो! अभी इसी जीवन मे समझो, क्यो नही समझ रहे हो? मरने के बाद परलोक मे सबोधि का मिलना कठिन है।

जैसे बीती हुई राते फिर लौटकर नही आती, उसी प्रकार मनुष्य का गुजरा हुआ जीवन फिर हाथ नही आता।

२०. **सउणी जह पसुगु डिया,**
विहुणिय धसयई सियं रयं।
एव दविओवहाणव,
कम्म खवइ तवस्सि माहणे॥ —सूत्रकृतांग १।२।१।१५

मुमुक्षु तपस्वी अपने कृत कर्मों का वहुत शीघ्र ही अपनयन कर देता है, जैसे कि पक्षी अपने परो को फडफडाकर उन पर लगी धूल को झाड देता है।

२१ सामाइयमाहु तस्स ज,
जो अप्पाण भए ण दंसए। —सूत्रकृतांग १।२।२।१७

समभाव उसी को रह सकता है, जो अपने को हर किसी भय से मुक्त रखता है।

२२ उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी,
सिज्झिसु पाणा बहवे दगसि। —सूत्रकृतांग १।७।१४

यदि जलस्पर्श (जलस्नान) से ही सिद्धि प्राप्त होती हो, तो पानी मे रहने वाले अनेक जीव कभी के मोक्ष प्राप्त कर लेते ?

२३ जहा कुम्मे सअगाईं सए देहे समाहरे।
एव पावाई मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे। —सूत्रकृतांग १।८।१६

कछुआ जिस प्रकार अपने अगो को अन्दर मे समेट कर खतरे से वाहर हो जाता है, वैसे ही साधक भी अध्यात्म योग के द्वारा अन्तर्मुख होकर अपने को पाप वृत्तियो से सुरक्षित रखे।

२४. सव्व जग तु समयाणुपेही,
पियमप्पिय कस्स वि नो करेज्जा। — सूत्रकृताग १।१०।६

समग्र विश्व को जो समभाव से देखता है, वह न किसी का प्रिय करता है और न किसी का अप्रिय। अर्थात् समदर्शी अपने-पराये की भेद-वुद्धि से परे होता है।

२५ णो अन्नस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा,
णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा।
अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा,
कम्मनिज्जरट्ठाए धम्ममाइक्खेज्जा। —सूत्रकृताग २।१।१५

खाने पीने की लालसा से किसी को धर्म का उपदेश नही करना चाहिए।

साधक विना किसी भौतिक इच्छा के प्रशातभाव से एक मात्र कर्म-निर्जरा के लिए धर्म का उपदेश करे।

२६ सारदसलिल व सुद्ध हियया
विहग इव विप्पमुक्का
वसुंधरा इव सव्वफासविसहा। —सूत्रकृतांग २।२।३८

मुनि जनो का हृदय शरद्कालीन नदी के जल की तरह निर्मल होता है। वे पक्षी की तरह बन्धनो से विप्रमुक्त और पृथ्वी की तरह समस्त सुख-दुखो को समभाव से सहन करने वाले होते हैं।

२७. अदक्खु, व दक्खुवाहियं सद्दहसु। —सूत्रकृतांग २।३।११

नही देखने वालो! तुम देखने वालो की बात पर विश्वास करके चलो।

२८ असंगिहीयपरिजणस्स संगिण्हणयाए
अब्भुटठेयव्व भवति। —स्थानांग ८

जो अनाश्रित एव असहाय हैं, उनको सहयोग तथा आश्रय देने मे सदा तत्पर रहना चाहिए।

२९ गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए
अब्भुट्ठेयव्व भवति। —स्थानांग ८

रोगी की सेवा के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए।

३० अहिंसा तस-थावर-सव्वभूयखेमकरी। —प्रश्न व्याकरण २।१

अहिंसा, त्रस और स्थावर (चर-अचर) सब प्राणियो का कुशल क्षेम करने वाली है।

३१ सव्वपाणा न हीलियाव्वा, न निंदियव्वा। —प्रश्न० २।१

विश्व के किसी भी प्राणी की न अवहेलना करनी चाहिए, और न निन्दा।

३२ न कया वि मणेण पावएण पावगं किंचिवि झायव्व।
वईए पावियाए पावगं न किंचिवि भासियव्व। —प्रश्न० ३।१

मन से कभी भी बुरा नही सोचना चाहिए।
वचन से कभी भी बुरा नही बोलना चाहिए।

३३ जे य कते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई॥ —दशवैकालिक २।३

जो मनोहर और प्रिय भोगो के उपलब्ध होने पर भी स्वाधीनतापूर्वक उन्हे पीठ दिखा देता है—त्याग देता है, वस्तुतः वही त्यागी है।

३४ दिट्ठ मिय असंदिद्ध, पडिपुन्न विअजिय।
अयपिरमणुव्विग्ग, भास निसिर अत्तव ॥ —दशवैकालिक ८।४६

आत्मवान् साधक दृष्ट (अनुभूत), परिमित, सन्देहरहित परिपूर्ण (अधूरी कटी-छटी बात नही) और स्पष्ट वाणी का प्रयोग करे। किन्तु, यह ध्यान मे रहे कि वह वाणी भी वाचालता से रहित तथा दूसरो को उद्विग्न करने वाली न हो।

३५. जे य चडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठ सोयगय जहा ॥
—दशवैकालिक ६।२।३

जो मनुष्य क्रोधी, अविवेकी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त है, वह ससार के प्रवाह मे वैसे ही बह जाता है, जैसे जल के प्रवाह मे काष्ठ।

३६ जे आयरिय-उवज्झायाण, सुस्सूसा वयण करे।
तेसि सिक्खा पवड्ढ ति, जणलसित्ता इव पायवा।
—दशवैकालिक ६।२।१२

जो अपने आचार्य एव उपाध्यायो की शुश्रूषा-सेवा तथा उनकी आज्ञाओ का पालन करते है, उनकी शिक्षाए (विद्याएँ) वैसे ही वढती है जैसे कि जल से सीचे जाने पर वृक्ष।

३७. वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुवंधीणि महब्भयाणि। —दशवैकालिक ६।३।७

वाणी से वोले हुए दुष्ट और कठोर वचन जन्म-जन्मान्तर के वैर और भय के कारण वन जाते हैं।

३८ अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दतो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ॥
—उत्तराध्ययन १।१५

अपने आप पर नियन्त्रण रखना चाहिए। अपने आप पर नियन्त्रण रखना वस्तुत कठिन है। अपने पर नियन्त्रण रखने वाला ही इस लोक तथा परलोक मे सुखी होता है।

३९. वर मे अप्पा दतो, संजममेण तवेण य ।
माह परेहिं दम्मतो् बधणेहिं वहेहि य ॥ —उत्तराध्ययन १।१६

दूसरे वध और बन्धन आदि से दमन करे, इससे तो अच्छा है कि मैं स्वय ही सयम और तप के द्वारा अपना (इच्छाओ का) दमन करलू ।

४० अप्पाण पि न कोवए । —उत्तराध्ययन १।४०

अपने आप पर भी कभी क्रोध न करो ।

४१ सोही उज्जुअमूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिठ्ठई । —उत्तराध्ययन ३।१२

ऋजु अर्थात् सरल आत्मा की विशुद्धि होती है। और विशुद्ध आत्मा मे ही धर्म ठहरता है ।

४२. भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिव ।
—उत्तराध्ययन ५।३३

भिक्षु हो चाहे गृहस्थ हो, जो सुव्रती (सदाचारी) है, वह दिव्यगति को प्राप्त होता है ।

४३ परिजूरइ ते सरीरय, केसा पडुरया हवन्ति ते ।
से सव्वबले य हायई, समय गोयम ! मा पमायए ॥
—उत्तराध्ययन १०।२६

तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, केश पक कर सफेद हो चले हैं। शरीर का सब बल क्षीण होता जा रहा है, अतएव हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद न कर ।

४४ न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई । —उत्तराध्ययन ११।१२

सुशिक्षित व्यक्ति न किसी पर दोषारोपण करता है, और न कभी परिचितो पर कुपित ही होता है । और तो क्या, मित्र से मतभेद होने पर भी परोक्ष मे उसकी भलाई की ही बात करता है ।

४५ जा जा वच्चई रयणी, न सा पडिनियत्तई ।
धम्म च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ ॥
—उत्तराध्ययन १४।२५

जो रात्रिया बीत जाती हैं, वे पुन· लौटकर नही आती ।

किन्तु जो धर्म का आचरण करता रहता है, उसकी रात्रिया सफल हो जाती हैं।

४६. **जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख, जस्स वऽत्थि पलायणं।**
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कखे सुए सिया॥

—**उत्तराध्ययन १४।२७**

जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता हो, जो उससे कही भागकर बच सकता हो, अथवा जो यह जानता हो कि मैं कभी मरूगा ही नही, वही कल पर भरोसा कर सकता है।

४७. **सद्धा खम णे विणइत्तु राग।** —**उत्तराध्ययन १४।२८**

धर्म-श्रद्धा हमे राग (आसक्ति) से मुक्त कर सकती है।

४८. **राढामणी वेरुलियप्पगासे,**
अमहग्घए होइ हु जाणएसु। —**उत्तराध्ययन २०।४२**

वैडूर्य रत्न के समान चमकने वाले काच के टुकड़े का जानकार (जोहरी) के समक्ष कुछ भी मूल्य नही रहता।

४९. **सीहो व सद्देण न सतसेज्जा।** —**उत्तराध्ययन २१।१४**

सिंह के समान निर्भीक रहिए। केवल शब्दो (आवाजो) से न डरिए।

५०. **नाणेण दसणेण च, चरित्तेण तवेण य।**
खतीए मुत्तीए य, वढ्ढमाणो भवाहि य॥ —**उत्तराध्ययन २२।२६**

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप क्षमा और निर्लोभता की दिशा मे निरन्तर वर्द्धमान=बढते रहिए।
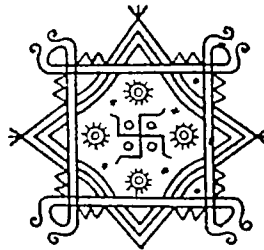
(आगमों के आधार पर संकलित)

१

उपाध्याय अमरमुनि

क्या अच्छा, क्या बुरा ?

कौशाम्बी नगरी मे महाराज सहस्रानीक का पौत्र तथा शतानीक का पुत्र उदायन राज्य कर रहा था। उदायन वैशाली नरेश महाराज चेटक का दोहित्र होता था और मृगावती का पुत्र। उदायन की बूआ शतानीक की 'बहन' जयती एक परम विदुषी श्राविका थी। वह जीव, अजीव आदि तत्वो की अच्छी जानकारी रखती थी।

भगवान महावीर एक बार विहार करते हुए कौशाम्बी के चन्द्रावतरण चैत्य मे पधारे। जयती श्राविका अपनी भाभी मृगावती के साथ धर्म देशना सुनने के लिए भगवान के समवसरण मे गई।

धर्म देशना के बाद जयती ने प्रभु से विनयावनत होकर पूछा—'भन्ते ! जीव (कर्मों के भार से) भारी क्यो हो जाता है ?

प्रभु ने कहा—जयन्ती ! जीव हिंसा आदि के कारण कर्मों से भारी होता है।

(हिंसा, असत्य आदि पापो तथा आश्रवो के सेवन से आत्मा कर्म संचय करता है, कर्म सचय से भारी होकर फिर नरक आदि अधोगति मे गमन करता है)

जयन्ती—भन्ते ! जीवो की भवसिद्धिकता (भव्यत्व, मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता) स्वाभाविक है या पारिणामिक ?

भगवान्—जयंती ! जीवो की भवसिद्धिकता स्वाभाविक (आत्मा का अपना सहज स्वभाव) है, पारिणामिक (प्रयत्न-कृत तथा बालत्व, युवकत्व एव वृद्धत्व आदि अवस्थाओ की तरह रूपान्तर का परिणमन) नही है।

जयती ने शका उपस्थित की—भन्ते ! यदि समस्त भवसिद्धिक जीव मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं, तो यह लोक कभी उन से रिक्त भी हो जाएगा ?

प्रभु ने समाधान किया —जयती सभी भवसिद्धिक (भव्य) जीवो मे मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता अवश्य है, पर अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी यह लोक कभी उनसे रिक्त नही होगा। जिस प्रकार कि सर्वाकाश की लम्बाई मे आदि अतरहित, किन्तु इधर-उधर दोनो ओर से परिमित—परिच्छिन्न एक श्रेणी मे से एक-एक परमाणु पुद्‌गल जितने आकाश प्रदेश (अविभागी खण्ड) निकालते-निकालते अनन्त काल बीतने पर भी वह श्रेणी रिक्त नही होती, उसी प्रकार भवसिद्धिक जीवो से भी यह ससार कभी रिक्त नही हो सकता।

जयती— भन्ते ! जीवो का सोए रहना अच्छा है, या जागते रहना ?[1]

भगवान्— जयती ! कुछ जीवो का सोए रहना अच्छा है, कुछ जीवो का जागते रहना।

जयन्ती— भन्ते ! किस दृष्टि से आप ऐसा कहते हैं ?

भगवान—जयन्ती ! जो जीव अधार्मिक हैं, अधर्म का अनुसरण करने वाले हैं, जिन्हे अधर्म ही प्रिय है, यावत् अधर्म के द्वारा अपनी अजीविका करते हैं, उन जीवो का सोते रहना अच्छा है।

अधार्मिक जीव सोये रहते हैं, तो बहुत प्राणियो को दुःख, शोक एव परिताप नही दे पाते, परपीडा के पापाचार से बचे रहते हैं। और अधार्मिक सोते रहे तो स्वय को तथा अन्य को अधार्मिक कार्यों में प्रवृत्त नही कर पाते हैं। अतः अधार्मिक जीवो का सोते रहना ही अच्छा है।

विपरीत इसके जो जीव धार्मिक हैं, धर्म का अनुसरण करने वाले हैं, जिन्हे धर्म ही प्रिय है .. यावत् .. धर्म के द्वारा ही अपनी आजीविका चलाते हैं, उन जीवो का जागृत रहना अच्छा है।

धार्मिक जीव जागते रहते हैं, तो बहुत प्राणियो के सुख यावत् ... शान्ति के लिए प्रवृत्ति करने रहते हैं, और धार्मिक जीव जागते रहे तो स्वय को तथा दूसरे लोगो को भी धार्मिक क्रियाओ मे सलग्न करते हैं। प्रवुद्ध रहने वाले धार्मिक जन अपने आप को धर्म जागरिका के द्वारा जागृत भी रखते हैं।

जयन्ती ने वल के सम्वन्ध मे पूछा—भन्ते ! वलवान् होना अच्छा है या दुर्वल होना ?[2]

भगवान ने उत्तर दिया—जयन्ती ! कुछ जीवो का बलवान होना अच्छा है तो कुछ का दुर्बल होना अच्छा है।

जयन्ती ने इसके लिए भी हेतु की जिज्ञासा की।

भगवान् ने सुप्त एव जागृत की भाँति अधार्मिक व्यक्ति का दुर्बल होना अच्छा बताया और धार्मिक का बलवान होना।

जयन्ती ने अपनी जिज्ञासा को आगे बढाया। अबकी बार उसने पूछा—भन्ते ! दक्ष (उद्यमी पुरुषार्थी) होना अच्छा है या आलसी होना ?

भगवान ने उक्त प्रश्न का समाधान भी धर्म और अधर्म के आधार पर ही दिया। भगवान् ने कहा—जयन्ती ! अधार्मिक जीवो का आलसी होना अच्छा है, ताकि वे परपीडा आदि पापाचार अधिक न कर पाए। और धार्मिक जनो का उद्यमी होना अच्छा है, ताकि वे अपने को, साथ ही दूसरो को अच्छी तरह धर्माचरण मे लगा सकें, तथा यथावसर अपने आचार्य, उपाध्याय, स्थविर (वृद्ध) आदि को तथा ग्लान (रोगी या अशक्त) शैक्ष, कुल, गण, सघ एव सार्धमिक साथियो की उचित परिचर्या-सेवा कर सके।

जयन्ती का अन्तिम प्रश्न इन्द्रियो के विषयोपभोग के सम्बन्ध मे था 'भन्ते ! श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियो के वशवर्ती होने से जीव क्या बाधता है ?

भगवान ने समाधान प्रस्तुत किया—जयन्ती ! जिस प्रकार क्रोध, मान आदि के कारण जीव कर्मों का बन्ध करता है और ससार मे परिभ्रमण करता है, उसी प्रकार इन्द्रियो के वश मे पडा हुआ ऐन्द्रियिक विषयो का दास जीव कर्मों का बन्ध करता है और ससार मे परिभ्रमण करता है।

भगवती सूत्र १२। २

---

१ सुत्तत्त भन्ते ! साहू, जागरियत्तं साहू ?

२ वलियत्त भन्ते ! साहू, दुब्वलियत्त ?

उपाध्याय अमरमुनि

२

कालोदायी के प्रश्न

राजगृह नगरी के उत्तर-पश्चिम मे गुणशील नामक चैत्य (उद्यान) था। चैत्य के निकट मे ही कालोदायी, शैलोदायी, सेवालोदायी आदि अनेक अन्यतीर्थिक (अन्य दार्शनिक) रहते थे।[1]

एक बार कालोदायी आदि अन्य तीर्थिक एक स्थान पर एकत्र हुए विविध प्रकार की धर्म चर्चा कर रहे थे। वार्तालाप के प्रसग मे उन्होने कहा—"श्रमण ज्ञातपुत्र (महावीर) पाच अस्तिकाय बतलाते हैं, जैसे कि धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय एव जीवास्तिकाय, उनमे चार अस्तिकाय को अजीव बतलाते है, जैसे कि धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय। एक जीवास्तिकाय को अरूपी जीवकाय बतलाते हैं। उन पाच अस्तिकाय मे श्रमण ज्ञात पुत्र चार अस्तिकाय को अरूपीकाय बतलाते हैं और एक पुद्गालस्तिकाय को रूपी, अजीव काय कहते हैं।" तो यह बात कैसे हैं? कैसे मानी जा सकती है?

(इस प्रकार वे परस्पर विचार चर्चा कर रहे थे) इसी बीच भगवान महावीर राजगृह के गुणशील चैत्य मे पधारे। भगवान के प्रमुख शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम भिक्षाचर्या के लिए जाते हुए उनके कुछ ही निकट से गुजरे।

जैसे ही इन्द्रभूति को अन्यतीर्थिको ने देखा तो वे परस्पर एक दूसरे से कहने लगे - देवानुप्रिय! अपने को पचास्तिकाय के सम्बन्ध मे जो शका है, वह निकट मे जाते हुए गौतम से पूछना चाहिए।[2]

वे परस्पर सहमत होकर गौतम के निकट आए और आकर

---

१. कालोदाई, सेलोदाई ‥ सखवालए, सुहत्थी गाहावई।

२ भगव गोयम पासेत्ता अन्नमन्न सद्दावेंति एव खलु देवाणुप्पिया! अम्ह इमा कहा अविप्पकडा, अयच ण गोयमे अदूर सामतेण वीईवयइ'।

बोले - हे गौतम ! तुम्हारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र पाच अस्तिकाय की प्ररुपणा करते हैं, यथा—धर्मास्तिकाय आदि। इनमे चार अरूपी काय हैं, एक पुद्गल रूपी काय है। हे गौतम ! यह बात कैसे हो सकती है ?

गौतम ने प्रत्युत्तर मे कहा—"देवानुप्रिय ! हम अस्तिभाव (विद्यमान) को नास्ति (अविद्यमान) नही कहते हैं,वैसेही नास्तिभाव को अस्ति (विद्यमान) भी नही कहते हैं। अस्तिभाव को अस्ति कहते हैं, नास्तिभाव को नास्ति कहते हैं, इसलिए हे देवानुप्रिय ! ज्ञान द्वारा तुम स्वय इस रहस्य को समझ सकते हो !" गौतम इस प्रकार प्रत्युत्तर देकर आगे चल पड़े और श्रमण भगवान महावीर की सेवा मे आकर यथापूर्व उपासना करने लगे।

श्रमण भगवान महावीर उस समय राजगृह मे महाकथा प्रतिपन्न[3] (विशाल जन समूह को धर्मोपदेश कर रहे) थे। कालोदायी भी प्रभु के समवसरण मे आया।

प्रभु ने कालोदायी को सबोधित किया—कालोदायी ! कभी तुम लोग एकत्र बैठे हुए पचास्तिकाय सम्बन्धी विचार चर्चा कर रहे थे? यह बात ठीक है ?

आश्चर्य-चकित हुए कालोदायी ने कहा—हाँ, प्रभो ! यह बात बिल्कुल सही है, यथार्थ है।

प्रभु ने कालोदायी के सशय का समाधान करते हुए कहा—"कालोदायी ! यह बात यथार्थ है। मैं पाच अस्तिकाय की प्ररूपणा करता हूँ, जैसे—धर्मास्तिकाय आदि। उनमे जीव को छोडकर चार अस्तिकाय अजीव रूप है, यावत् धर्मादि चार अरूपी काय हैं, पुद्गलास्ति काय रूपी है—ऐसा मैं कहता हूँ।"

कालोदायी ने पुन· श्रद्धावनत होकर पूछा—भन्ते ! अरूपी अजीव काय-धर्मास्ति, अधर्मास्ति आकाशास्ति काय मे कोई बैठने, सोने, खडा रहने एव लेटने मे समर्थ है ?

प्रभु ने उत्तर दिया—कालोदायी ! यह अर्थ समर्थ नही है।

(शेष पृष्ठ २३ पर)

---

३. महाकहा पडिवन्ने या वि होत्था।

उपाध्याय अमरमुनि

३

पहले कौन ?
अण्डा या मुर्गी ?

श्रमण भगवान महावीर का एक शिष्य था—रोह अनगार। रोह प्रकृति (स्वभाव) से बडा भद्र (सरल), कोमल, विनीत, शान्त तथा प्रकृति से ही अल्प क्रोध-मान-माया-लोभ वाला अत्यन्त मृदु एव निरभिमानी था। वह गुरु के आश्रय मे रहने वाला, किसी को सताप नही देने वाला और निपुण गुरु भक्त था।

रोह भगवान की निकटता मे ही रहता था। वह प्राय. खड़ा-खडा, ग्रीवा को नीचे झुकाए, ध्यानस्थ ध्यान—कोष्ठक मे प्रविष्ट तप और सयम से आत्मा को भावित करता हुआ रहता था।

एक बार यही रोह अनगार श्रमण भगवान महावीर की सेवा मे उपस्थित होकर जिज्ञासा करता हुआ बोला—भन्ते ! क्या यह लोक पहले है, और अलोक बाद मे है, या अलोक पहले हैं और लोक बाद मे ?

समाधान करते हुए प्रभु ने कहा—रोह ! लोक और अलोक पहले भी है, पीछे भी है, ये दोनो शाश्वत हैं, इसलिए इनमे कोई पूर्वापर का क्रम नही है।

रोह ने आगे प्रश्न किया—भन्ते ! क्या जीव पहले है, अजीव पीछे, या अजीव पहले है, जीव पीछे ?

प्रभु ने उत्तर दिया—रोह ! जैसे लोक के विषय में कहा, वैसा जीव के विषय मे समझना चाहिए।

इसी प्रकार भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक, सिद्धि-असिद्धि, सिद्ध-असिद्ध आदि के प्रश्न भी समझने चाहिए।

रोह के मन मे पुनः जिज्ञासा उठी—भन्ते ! क्या पहले अडा (उत्पन्न हुआ) है पीछे कुक्कुडी (मुर्गी) या पहले कुक्कुडी उत्पन्न हुई, पीछे अंडा ?

प्रभु ने प्रति प्रश्न किया—रोह ! अडा कहाँ से आया ?

रोह—भन्ते ! अडा कुक्कडी से उत्पन्न हुआ।

प्रभु—रोह ! कुक्कडी कहा से आई ?

रोह—भन्ते कुक्कडी अडे से उत्पन्न हुई।

प्रभु ने रोह का समाधान करते हुए कहा—रोह ! जैसे अडा और कुक्कडी-ये पहले भी थे, पीछे भी थे—यही शाश्वत क्रम है, इस मे पूर्वापर जैसा कोई एकान्त क्रम नही है।

रोह ने लोकान्त, अलोकान्त आदि के सम्बन्ध मे भी अनेक प्रश्न किए। प्रभु ने सब का समाधान किया। समाधान पाकर रोह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और विनय पूर्वक प्रभु को वन्दना करके उनके वचनो की सत्यता एव असदिग्धता पर विश्वास करता हुआ बोला—सेव भन्ते !—प्रभु, जैसा आपने कहा वैसा ही है।

—भगवती सूत्र० १।६

---

१ पुव्विभन्ते अडए पच्छा कुक्कुडी ? पुव्वि कुक्कुडी पच्छा अडए ?
रोह ! से ण अडए कओ ?
भयव ! कुक्कडीओ।
सा ण कुक्कडी कओ ?
भन्ते ! अडयाओ !

●

(शेष पृष्ठ २१ का)

(ऐसा नही हो सकता) प्रभु ने आगे कहा—हां, कालोदायी ! रूपी अजीवकाय-पुद्गलास्ति काय मे कोई भी बैठने-सोने आदि मे समर्थ है।

कालोदायी ने पुनः एक प्रश्न किया—भन्ते ! क्या रूपी अजीव पुद्गलास्ति काय को जीव के पाप कर्म का विपाक स्पृष्ट होता है ?

प्रभु ने कहा—कालोदायी ! यह अर्थ समर्थ नही है। किन्तु अरूपी जीव काय को पाप कर्म का विपाक अवश्य लगता है।[४]

प्रभु के यथार्थ समाधान से कालोदायी की शंकाएँ निर्मूल हो गईं। वह प्रबुद्ध होकर प्रभु के चरणो मे प्रव्रजित हो गया। ●

---

४ एयसि जीवत्थिकायसि अरूविकायसि जीवाणं पावा कम्मा पावफल विवाग संजुत्ता कज्जति।

उपाध्याय अमरमुनि

●

४

क्या सुख दुःख दिखाया जा सकता है?

एक बार श्रमण भगवान महावीर राजगृह के गुणशील चैत्य मे विहार कर रहे थे। गणधर गौतम ने राजगृह मे अन्यतीर्थिको (अन्य प्रावचनिको) से एक बात सुनी कि राजगृह मे जितने जीव हैं, उतने जीवो का बैर की गुठली जितना[1] चने जितना, कलाय (मटर) अथवा चावल जितना, उडद जितना, मूँग जितना, और तो क्या, यूका (जूं) एव लीख जितना भी सुख दु ख कोई बाहर निकाल करके दिखा नही सकता।"

गौतम के मन मे सशय हुआ, जिज्ञासा उठी और वे श्रमण भगवान महावीर की सेवा मे उपस्थित हुए। विनय पूर्वक वन्दना करके पूछा—भन्ते! अन्यतीर्थिक जो यह बात कहते हैं कि राजगृह के जीवो का किंचित् मात्र भी सुख दु.ख कोई दिखा नही सकता क्या यह ठीक है?

भगवान महावीर ने समाधान देते हुए कहा— गौतम! अन्य-तीर्थिको का यह कथन सगत नही है। (अपूर्ण व अस्पष्ट है) मै तो कहता हूं राजगृह के ही क्या, समस्त ससार के जितने भी जीव हैं, उन सभी के सुख दु ख का एक बैर की गुठली जितना भाग यावत् यूका तथा लीख जितना भाग भी कोई निकाल कर दिखाने मे समर्थ नही है।

गौतम ने पुन: प्रश्न किया—भन्ते! ऐसा क्यो नही हो सकता?

प्रभु ने कहा—गौतम! जैसे कोई महान शक्ति-समृद्धि वाला देव एक बहुत सूक्ष्म तीव्र गध का डिब्बा हाथ मे लेकर सहसा खोले और बस 'यह चला', इतना कहकर तीन चुटकी बजाने जितने अल्प समय मे सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के इक्कीस चक्कर काट कर आये तो उस देव के

---

१. कोलट्ठिगमायमवि....।

हाथ मे रहे खुले गध डिब्बे से (शीघ्र गति के कारण) उठे हुए गध पुद्गल क्या सपूर्ण जम्बूद्वीप को स्पर्श करते है ?[२]

गौतम ने स्वीकृति मे उत्तर दिया—हाँ, भगवन् स्पर्श करते हैं !

भगवान ने पुन प्रति प्रश्न किया—गौतम ! उन गन्ध पुद्गलो को क्या कोई बैर की गुठली जितने प्रमाण मे ...... यावत् यूका एव लीख जितनी मात्रा मे एकत्र करके दिखलाने मे समर्थ है ?

गौतम ने प्रत्युत्तर दिया—भन्ते ! यह अर्थ समर्थ नही है। कोई नही दिखा सकता !

भगवान् ने कहा—गौतम ! इसी हेतु से सुखादि भी नही दिखाए जा सकते हैं।

(सुख दु ख वस्तुत कोई रूपवान पदार्थ नही है, चेतन की मात्र एक अनुभूति, एक सवेदना है। उसे दिखा सकना सम्भव नही है। सम्पूर्ण रूपवान् पदार्थ भी कहाँ देखे ज सकते हैं ? कुछ मिट्टी, पत्थर जैसे स्थूल रूपवान पदार्थ ही देखे जा सकते हैं, गन्ध आदि सूक्ष्म रूपवान पदार्थ भी नही। जब गन्ध आदि रूपी पदार्थ ही नही दिखाये जा सकते, तो अरूपी सुख दु ख कैसे दिखाए जा सकते हैं ? चूँकि सुख दु ख आदि तो अरूप मनोनुभूति है, वह कैसे देखी जा सकती है ?)

—भगवती सूत्र ६।१०

●

२ एग मह सविलेवण गधसमुग्गग गहाय त अवद्दालेति....तिहि अच्छरा निवाएहिं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ता ण हव्व आगच्छेज्जा.... ।

उपाध्याय अमरमुनि

५

चार प्रश्न ?

भगवान महावीर के युग मे वाणिज्य ग्राम नामक सुन्दर नगर था। वहा सोमिल नामक एक धनाढ्य एवं विद्वान ब्राह्मण रहता था। वह अपने कुटुम्ब का नेता था, पाच सौ छात्र उसके सान्निध्य मे वेद-ग्रन्थो का अध्ययन करते थे। समृद्धि और विद्वत्ता मे उसकी अच्छी ख्याति थी।

एक बार वाणिज्य ग्राम मे श्रमण भगवान महावीर आए। सोमिल को भगवान के आने की सूचना मिली। उसके मन मे एक सकल्प उठा—श्रमण महावीर पाद विहार करते हुए यहाँ आए हैं तो मैं उनके निकट जाऊ और कुछ प्रश्न पूछू। यदि श्रमण मेरे प्रश्नो का सही उत्तर देगे तो मैं उन्हे वन्दना नमस्कार करूँगा, अन्यथा अपने तर्क से उन्हे निरुत्तर कर दूगा।

सोमिल अपने निश्चय के अनुसार स्नान आदि करके एक-सौ शिष्यो (छात्रो) को साथ मे लेकर पैदल चलता हुआ श्रमण महावीर जहाँ नगर के बाहर दूतिपलाश चैत्य मे विराजमान थे वहा आया और भगवान् के निकट उपस्थित होकर यो बोला—भन्ते! क्या तुम्हारे (दर्शन मे) यात्रा, यापनीय अव्याबाध तथा प्रासुक विहार हैं?

भगवान महावीर ने कहा—सोमिल! मेरे यात्रा भी है, यापनीय भी है, अव्याबाध तथा प्रासुक विहार भी है।

सोमिल ने पुन प्रश्न किया—भन्ते! तुम्हारी यात्रा क्या है।

भगवान ने समाधान किया—सोमिल! तप-विनय, सयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि योगो मे यतना—(प्रवृत्ति) यह मेरी यात्रा है।

सोमिल ने दूसरा प्रश्न आगे उठाया—भन्ते! तुम्हारा यापनीय क्या है?

प्रभु ने कहा- सोमिल ! यापनीय दो प्रकार के होते है। इन्द्रिय यापनीय और नो इन्द्रिय यापनीय !

सोमिल—भन्ते ! इन्द्रिय यापनीय का क्या अर्थ है ?

भगवान्—सोमिल ! श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय जिह्वेन्द्रिय एव स्पर्शनेन्द्रिय—ये पाँचो ही इन्द्रियाँ उपघात रहित, बाधा रहित—(सहज भाव मे) मेरे अधीन हैं इसलिए मेरा इन्द्रिय यापनीय है।

सोमिल— भन्ते ! नो इन्द्रिय यापनीय क्या है ?

भगवान—सोमिल ! मेरे क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारो कषाय नष्ट हो गए हैं, अत उदय मे नही आते इसलिए यह मेरा नो इन्द्रिय यापनीय है।

सोमिल ने समाधान प्राप्त किया। पुन. तीसरी जिज्ञासा दुहराई-भन्ते ! अव्याबाध क्या है ?

प्रभु ने उत्तर दिया—सोमिल ! मेरे शरीर के वात, पित्त, कफ और सन्निपात जन्य समस्त शरीर सम्बन्धी दोष उपशान्त होगए हैं, वे कभी उदय मे नही आते, यही मेरा अव्याबाध (बाधा-रहितता) है।

सोमिल ने पुन पूछा—भन्ते ! तुम्हारे प्रासुक विहार का अर्थ क्या है ?

भगवान—सोमिल ! मैं सदा निर्दोष एषणीय आराम, उद्यान, देवकुल, सभा, पर्व आदि वसतिओ मे, शुद्ध पीठ, फलक, शय्या सथारा आदि प्राप्त करके विहार (चर्या) करता हूँ। यही मेरा प्रासुक विहार (निर्दोष-चर्या) है।

इस प्रकार सोमिल ने अनेक प्रकार के सैद्धान्तिक एव अन्य भाषा शास्त्र सम्बन्धी प्रश्न किए। सभी का उपयुक्त समाधान पाकर उसका मानस महावीर के प्रति श्रद्धावनत हो गया। उसने श्रमण भगवान महावीर को भक्ति पूर्वक वदन नमस्कार किया और फिर धर्म का रहस्य समझकर श्रावक के बारह व्रत स्वीकार कर श्रमणोपासक बना।

—भगवती सूत्र० १८।१०

उपाध्याय अमरमुनि

●

९

धार्मिक का उपहास मत करो !

श्रावस्ती नगरी मे शख आदि अनेक तत्त्वज्ञ श्रावक (श्रमणोपासक) रहते थे। शख की धर्मपत्नी उप्पला भी धर्म के रहस्य की जानकार श्राविका (श्रमणोपासिका) थी।

एक बार भगवान महावीर श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य मे पधारे। श्रमण भगवान महावीर की धर्म देशना सुनने के लिए श्रावस्ती के हजारो नर-नारी एकत्र हुए। श्रावस्ती के श्रमणोपासको ने भगवान की धर्म देशना सुनकर कुछ तात्त्विक प्रश्न पूछे। समाधान पाकर प्रसन्न हुए और वापस श्रावस्ती नगरी की ओर जाने का विचार करने लगे।

शख ने अपने साथी श्रमणोपासको से कहा—देवानुप्रियो ! आज हम सब मिलकर अनेक प्रकार के स्वादिष्ट भोजन (खान-पान) तैयार करवाए और फिर स्वय खाते हुए, दूसरो को खिलाते हुए पाक्षिक पौषध का पालन करे।[1] श्रावको ने शख का वचन आदर पूर्वक स्वीकार किया और सब भोजन आदि की तैयारी मे जुट गए।

शंख के मनमे कुछ समय बाद एक सकल्प जगा—इस प्रकार भोजन पान आदि की विपुल तैयारी करके सबके साथ रसास्वाद लेते हुए पाक्षिक पौषध का अनुपालन करना मेरे लिए श्रेयस्कर नही है। मेरे अपने (आत्मा के) लिए तो यही श्रेयस्कर होगा कि मैं पौषधशाला मे जाकर अशन पान आदि समग्र आहार का त्याग करके ब्रह्मचर्य-

नोट :—जैन परम्परा मे पौषध के दो रूप प्राप्त होते हैं.—एक पौषधव्रत होता है, जिसमे गृह व्यापार, मणि-सुवर्ण, शरीर शृंगार आदि का त्यागकर ब्रह्मचर्यपूर्वक धर्माराधना की जाती है। किन्तु आज्ञा का त्याग नही किया जाता। आजकल का 'दया पोसा' उसीका रूप है। दूसरा पौषध वह है, जिसमे अन्य त्यागो के साथ आहार का भी त्याग होता है। यह प्रतिपूर्ण पौषध माना जाता है।

पूर्वक, मणि सुवर्ण का त्यागकर, माला, उद्वर्तन एव विलेपन को त्यागकर, शस्त्रादि छोड़कर, दर्भ सस्तारक (डाभ के सथारे) आसन पर अकेला एकान्त मे दूसरे से अनपेक्ष रहकर पौषध व्रत को ग्रहण करूँ।

शख ने अपनी धर्म पत्नी से पूछकर[2] सकल्प के अनुसार पौषध-व्रत स्वीकार किया और धर्म ध्यान मे लीन होकर धर्म जागरणा करने लगा।

उधर सभी श्रावको ने अपने-अपने घर पर अनेक प्रकार की भोजन सामग्री तैयार करवा कर एक दूसरे को निमत्रित किया, (सभी एकत्र हुए) किन्तु शख के नही आने पर कहने लगे—शंख श्रावक अभी आया नही है; अत. उसे बुलाना चाहिए। इस पर पुष्कली श्रावक शख को बुलाने के लिए उसके घर पहुँचा। पुष्कली श्रावक को अपने घर की ओर आता देखकर उप्पला सात-आठ कदम उसकी अगवानी करने गई, नमस्कार किया और आसन पर बिठा-कर आने का कारण पूछा।[3] पुष्कली ने शख से मिलने की इच्छा व्यक्त की तो उप्पला ने बताया वे पौषधशाला मे ब्रह्मचर्य पूर्वक धर्म जागरणा करते हुए पौषध ग्रहण किए हुए हैं। पुष्कली पौषध-शाला मे पहुँचा, शख को नमस्कार किया और कहा—हम सब ने आपके कथनानुसार अशनादि तैयार कर लिया है, अब सब आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

शख ने कहा—देवानुप्रिय! मुझे (आपके जाने के पश्चात्) आहार पान आदि का आस्वाद लेते हुए पौषध लेना उपयुक्त नहीं लगा, इसलिए मैंने अशनादि का त्याग करके ब्रह्मचर्य पूर्वक पौषध का पालन करने का निश्चय किया है। किन्तु तुम अपने पूर्व निश्चय के अनुसार वैसा ही करो, मैं अब नही आ सकता हूँ।[4]

फिर सभी श्रावक अपने पूर्व निश्चयानुसार आहारपानी आदि

---

१ विउल असण जाव साइम आसाएमाणस्स ४ पक्खिय पोसह पडिजागरमा-णस्स विहरित्तए।

२ उप्पल समणीवासिय आपुच्छइ।

३ सत्त-ट्ठ पयाइ अणुगच्छइ पोक्खलिं समणोवासग वदति आसणेणं उवनिमतेइ।

का आस्वाद लेते हुए, एक दूसरे को खिलाते हुए 'पाक्षिक' पौषध का अनुपालन करते रहे।

शख ने रात भर पौषध मे उत्कृष्ट धर्म जागरणा की। प्रात. काल होने पर वह भगवान महावीर को वन्दना करने गया।

इधर अन्य श्रावक भी एकत्र होकर भगवान को वन्दना करने आए। प्रभु की धर्म देशना सुनकर वे शख श्रावक के पास आए और उसे कल के व्यवहार पर उलाहना देने लगे। देवानुप्रिय ! तुम ने कल स्वय कहकर हम से विपुल अशन पान तैयार करवाया और फिर समय पर आये नही और पौपधशाला मे जाकर बैठ गए। यह तुमने स्पष्ट ही हमारी अवहेलना की है।[5]

भगवान महावीर ने श्रमणोपासको को आह्वान करते हुए कहा —"आर्यो ! तुम शख श्रावक की हीलना, निन्दा एव अपमान मत करो ! धर्म मे इसकी श्रद्धा है, प्रीति है, दृढता है। इसने रात्रि मे प्रमाद एव निद्रा का त्याग करके उत्तम सुदृष्टि जागरणा (सम्यग् दृष्टि ज्ञानी साधक की धर्म जागरणा) की है।"

प्रभु के वचनो से श्रावको का रोष शान्त हुआ। वन्दना करके उन्होने पूछा—"भन्ते ! क्रोध के वश हुआ आत्मा कौन-सा कर्म बाधता है ?"

प्रभु ने कहा—देवानुप्रिय ! क्रोध (मान, माया, लोभ भी) के वशीभूत हुआ आत्मा आयुष्य कर्म के अलावा बाकी सात कर्म प्रकृतियो के शिथिल बधन को दृढ बधन (मजबूत) करता है, कर्मो को दीर्घ स्थिति करता है, मद अनुभाग तथा अल्प प्रदेश वाली तथा अल्पस्थिति वाली कर्म प्रकृतियो को तीव्र अनुभाग एव बहुप्रदेशो वाली बनाता है। अनादि अनत दीर्घ-मार्ग वाले संसार कानन मे पर्यटन करता है।

भगवान महावीर का उपदेश सुन कर श्रमणोपासको का हृदय अपने क्रोध रूप पाप के प्रति भयभीत तथा द्रवित हुआ। वे शख श्रावक के निकट आकर विनय पूर्वक उससे क्षमा मागने लगे।[6]

(इस प्रकार प्रभु के प्रतिबोध से श्रावको मे परस्पर प्रेम, विनय एव क्षमा का वातावरण महक उठा। —भगवती सूत्र शतक १२।१

---

४ त छदेण देवाणुप्पिया ! तुम्हे विउल असण ४ जाव विहरह।

५. त सुट्ठण तुम देवाणुप्पिया ! अम्हे हीलसि।

६. सम्म विणएण भुज्जो भुज्जो खामेति।

उपाध्याय अमरमुनि

७ जागरण के तीन रूप !

भगवान महावीर के समवसरण मे एक बार श्रावस्ती के प्रमुख श्रमणोपासक शख, पुष्कली आदि धर्मचर्चा कर रहे थे। प्रसगवश प्रभु ने श्रमणोपासक शख की 'सुदृष्टि जागरिका' की चर्चा की।

जागरिका की चर्चा चलने पर गणधर गौतम की जिज्ञासा कुछ आगे बढ़ी। भगवान को वन्दना करके गौतम ने विनय पूर्वक पूछा—भन्ते! जागरिका (जागरण) कितने प्रकार की कही जाती है?

समाधान देते हुए प्रभु ने कहा—गौतम! जागरिका तीन प्रकार की है। यथा—बुद्ध जागरिका, अबुद्ध जागरिका और सुदर्शन (सुदृष्टि) जागरिका!

गौतम की जिज्ञासा तृप्त नही हुई, आगे पूछा—भन्ते! आप ऐसा किस हेतु (अपेक्षा) से कहते हैं?

भगवान ने उत्तर की व्याख्या समझाते हुए कहा—जो केवल ज्ञान-दर्शन के धारक (वीतराग) अरिहत भगवान सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा हैं, वे बुद्धजागरिका (केवल ज्ञानी होने से ज्ञान जागरण) जगते हैं?

अबुद्ध जागरिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए भगवान ने बताया—जो गृहत्यागी अनगार विषयो से सर्वथा विरक्त, ईर्या समिति आदि से युक्त, इन्द्रियो का गोपन (दमन) करने वाले गुप्तब्रह्मचारी हैं (अभी तक जिन्हे केवल ज्ञान नही हुआ है) उनकी (धर्म चिन्तना) जागरिका-अबुद्ध जागरिका कही जाती है।

तथा च जीव अजीव आदि तत्त्वो के जानकार सम्यग् दृष्टि, परिग्रह आदि भोगोपभोग की सामग्री का परिमाण करने वाले सुव्रती श्रमणोपासक हैं, वे जब धर्म चिन्तन करते हुए जागृत रहते हैं, तब उन्हे सुदर्शन जागरिका जगते हुए कहा जाता है।

(शेष पृष्ठ ३८ पर)

उपाध्याय अमरमुनि

लोक और मृत्यु की मीमांसा

श्रमण भगवान महावीर कृतगला नगरी के छत्र पलाशक नामक चैत्य मे पधारे। प्रभु की धर्म देशना सुनने के लिए नगर की भव्य जनता आई।

कृतगला के कुछ ही निकट मे श्रावस्ती मे गर्दभाल नामक तापस का शिष्य, कात्यायन गोत्रीय, परिव्राजक स्कन्दक वैदिक धर्म और दर्शन का पारगामी विद्वान था। वह लोकनीति और व्यवहार मे भी बहुत चतुर एव निपुण था।

श्रावस्ती मे इन दिनों वैशालिक श्रावक (भगवान महावीर का उपदेश सुनने वाला) पिगल नाम का निर्ग्रन्थ भी रह रहा था। एक बार पिगल निर्ग्रन्थ स्कन्दक परिव्राजक के निकट आया और उसको दृढता के साथ यह प्रश्न पूछने लगा—मागध![1] क्या यह लोक सान्त (अन्त वाला) है या अन्त रहित है? क्या जीव अन्त युक्त है, या अंत रहित? और जीव किस विधि से मरण प्राप्त करने पर ससार को घटाता है और बढाता है? मेरे इन प्रश्नो का उत्तर दो!

पिगल के प्रश्न सुनकर स्कन्दक स्तम्भित-सा रह गया। उसका मन शका ग्रस्त हो गया। और वह मौन होकर सोचता रहा।

स्कन्दक के मौन होने पर पिगल निर्ग्रन्थ ने पुनः उसकी ओर देखा, और प्रश्न फिर दोहराया। इस प्रकार दो-तीन बार प्रश्न करने पर स्कन्दक का मन (अपने शास्त्र ज्ञान के प्रति) शका एवं अविश्वास से खिन्न हो उठा। वह कुछ भी उत्तर न दे सका, चुपचाप मौन होकर बैठा रहा। उत्तर न पाकर पिगल अपने स्थान पर लौट गए।

---

१ इस सम्बोधन पर से मालूम पडता है, स्कन्दक मूलत मगध का रहने वाला था।

स्कन्दक खिन्न चित्तता की स्थिति में कुछ समय तक चुपचाप विचार मग्न बैठा रहा। इसी बीच उसने छत्रपलाशक चैत्य की ओर हजारो मनुष्यो को जाते-आते देखा। पूछने पर ज्ञात हुआ कि श्रमण भगवान महावीर पास ही कृतगला नगरी के छत्रपलाशक चैत्य मे पधारे हैं।

स्कन्दक के मन मे सहसा स्फूर्ति-सी आ गई। उसने सोचा—'श्रमण भगवान महावीर के निकट जाकर उनको वन्दना नमस्कार करू, कल्याण मगल रूप भगवान की पर्युपासना करू और फिर अपने मन मे उठ रहे इन प्रश्नो-सशयों का निराकरण करू।'—ऐसा सकल्प उठते ही स्कन्दक भगवान महावीर के समवसरण मे जाने की तैयारी करने लगा।

इधर श्रमण भगवान महावीर ने इन्द्रभूति गौतम को आमन्त्रित करके कहा—गौतम! आज तुम अपने पूर्व-परिचित व्यक्ति को देखोगे?

आश्चर्य भाव से गौतम ने पूछा—भगवन्! आज मैं किसे देखूंगा?

प्रभु ने उत्तर दिया—गौतम! तुम आज स्कन्दक नाम के परिव्राजक-तापस को देखोगे?

गौतम ने पुन पूछा—भन्ते! मैं उसे कब देखूंगा? कहा देखूंगा?

प्रभु गौतम को स्कन्दक की जिज्ञासा आदि के सम्बन्ध मे बता ही रहे थे कि कुछ ही समय मे स्कन्दक श्रमण भगवान महावीर की धर्म सभा मे पहुँच गया।

भगवान गौतम कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक को निकट मे आया देख कर शीघ्र ही अपने आसन से उठ खड़े हुए, उसके सामने आए और स्नेह-सिक्त शब्दो मे बोले—स्कन्दक! तुम्हारा स्वागत है। सुस्वागत! अन्वागत है।[२]

गौतम ने स्वागत के पश्चात स्कन्दक से पूछा—स्कन्दक! क्या आज तुम पिंगल निग्रन्थ के लोक अलोक आदि के प्रश्नो से कुछ असमजस में पड़ गए? क्या यह सच है?

२ हे खदया! सागय। खदया! सुस्सागय····।

गौतम की बात सुनकर स्कन्दक आश्चर्य-चकित हुआ गौतम से पूछने लगा—हे गौतम! ऐसा ज्ञानी और तपस्वी पुरुष कौन है जिस ने मेरे अन्तर्मन की यह गुप्त बात प्रकट की है।

गौतम ने स्कन्दक से कहा—स्कन्दक! मेरे धर्म गुरु, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान महावीर ऐसे उत्पन्न सप्राप्त) ज्ञान दर्शन वाले हैं, अर्हन्त हैं, जिन एव केवली हैं, वे भूत, भविष्य तथा वर्तमान की समस्त बातो को जानते हैं, उन्होने ही मुझे तुम्हारे अन्तःकरण की गुप्त बात कही है।

स्कन्दक के हृदय मे भगवान के प्रति अगाध श्रद्धा उमड आई) और वह गौतम से पूछने लगा—गौतम! आपके धर्माचार्य श्रमण भगवान के निकट जाकर मैं भी उनकी वन्दना, स्तुति यावत् पर्युपासना करना चाहता हूँ।

गौतम ने सहज भाव से कहा—स्कन्दक! जैसा तुम्हे योग्य लगे, करो, परन्तु श्रेय कार्य मे विलम्ब न करो।

स्कन्दक ने भगवान की सेवा मे जाने का निश्चय किया। भगवाान की प्रशान्त वीतराग मुद्रा अपूर्व शान्त एव दिव्य शोभा देखकर स्कन्दक अत्यन्त प्रमुदित एव प्रसन्न हुआ। उसने भक्ति-विभोर होकर भगवान् को तीन बार प्रदक्षिणा की यावत् पर्युपासना करने लगा।

भगवान् ने स्कन्दक परिव्राजक से कहा—स्कन्दक! पिंगलक निर्ग्रन्थ ने तुम से यह प्रश्न पूछा—लोक अन्तवाला है या अन्तरहित, यावत् तुम उन प्रश्नो पर असमजस मे पडकर खिन्न होगए और यहा आए, क्या यह सत्य है?

स्कन्दक ने विनयावनत होकर कहा—हा भन्ते! यह सत्य है, (मेरे मन मे इसी प्रकार का सकल्प उत्पन्न हुआ)।

भगवान ने समाधान देते हुए कहा—स्कन्दक! तुम्हारे मन मे जो प्रश्न उठा कि लोक सान्त हे या निरन्त? इस का उत्तर इस प्रकार है—

'लोक के चार भेद हैं। द्रव्य लोक, क्षेत्र लोक, काल लोक और भाव लोक। इन मे द्रव्यलोक एक है, अत सान्त है, क्षेत्रलोक भी असख्य कोटाकोटि योजन विस्तार वाला है, अतः यह भी अन्त

सहित है। किन्तु काल लोक का कोई अन्त नही है, क्योकि कभी वह नही था—ऐसा नही हुआ, उसकी कभी आदि नही थी, और भविष्य मे कभी अन्त भी नही होगा। वह ध्रुव, नित्य शाश्वत है। तथा भाव लोक भी अनन्त है। वह अनन्त वर्ण, गन्ध, रस स्पर्श-पर्यवरूप है, (अर्थात् अनन्त गुण पर्यायो का आधार होने के कारण भाव लोक की अनन्ता सिद्ध है)।

स्कन्दक प्रभु का तात्त्विक विवेचन ध्यानपूर्वक सुन रहा था। प्रभु ने आगे कहा—स्कन्दक ! लोक की भाति जीव की भी सान्तता एव निरन्तता जानी जा सकती है। द्रव्य से जीव एक द्रव्य हैं (इसलिए वह अनन्त नही हो सकता) अत: वह सान्त है, क्षेत्र से असख्य प्रदेशावगाढ (असख्य प्रदेशी क्षेत्र मे स्थित) होने से क्षेत्र दृष्टि से भी अन्त सहित है। काल दृष्टि से जीव अनादि, नित्य है, अत अनन्त है, इसी प्रकार अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन अनन्त चारित्र एव अनन्त अगुरुलघु पर्यायो से युक्त होने के कारण भाव दृष्टि से भी जीव अनन्त है।

स्कन्दक प्रभु के समक्ष विनयावनत बैठा क्रमश एक-एक प्रश्न का समाधान पाता गया।

मरण के सम्बन्ध मे स्कन्दक की जिज्ञासा का समाधान करते हुए प्रभु ने कहा—स्कन्दक ! बाल मरण (अज्ञान मरण) के द्वारा आयुष्य पूर्ण करने वाला जीव ससार की वृद्धि करता रहता है और पडित मरण (ज्ञान व समाधिपूर्वक मरण) प्राप्त करने वाला जीव संसार की अवधि घटाता है। (ज्ञान और समाधिपूर्वक मृत्यु प्राप्त करने वाला साधक मृत्यु से अमृत्यु की ओर जाता है, उसका मरण अमरण, परिनिर्वाण के लिए होता हैं। यदि भोगने जैसे कुछ कर्म शेष रह जाए तो देवत्व प्राप्त करता है।)

प्रभु के द्वारा अपनी शकाओ का समाधान प्राप्त कर स्कन्दक बहुत प्रसन्न हुआ। उसने प्रभु की वाणी द्वारा धर्म के विविध स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किया और आखिर में प्रभु के चरणो मे प्रव्रजित हो गया।

—भगवती सूत्र २।१

●

उपाध्याय अमरमुनि

●

९

नियति या पुरुषार्थ ?

सद्दाल पुत्र पोलासपुर नगर का सुप्रसिद्ध एव समृद्ध कु भकार था। वह मखलिपुत्र गोशालक के नियतिवाद का अनुयायी था।

एक बार श्रमण भगवान महावीर पोलास पुर के सहस्राम्र वन मे पधारे। भगवान के आगमन का सवाद सुनकर सद्दालपुत्र भी भगवान महावीर की धर्म सभा मे गया, वन्दन नमस्कार करके भगवान का धर्मोपदेश सुनने के लिए एक ओर बैठ गया।

धर्म कथा समाप्त होने के पश्चात् सद्दालपुत्र को सम्बोधित करके भगवान महावीर ने पूछा—सद्दालपुत्र! कल पूर्वान्ह मे अशोक-वाटिका मे भ्रमण करते हुए तुम ने कोई देव वाणी सुनी?

सद्दालपुत्र (आश्चर्यान्वित हुआ) बोला—हा भन्ते! सुनी।

…और उसी देव वाणी से प्रेरित होकर तुम यहा मेरी सन्निधि मे आये हो …?

हाँ, भन्ते! यह सत्य है!—सद्दालपुत्र ने कहा! (सद्दालपुत्र—अपने मन का गुप्त विचार प्रकट किए जाने पर सोचने लगा) ये श्रमण भगवान महावीर सचमुच महामाहन है, उत्तम ज्ञान आदि गुणो से युक्त हैं, तो मुझे इनकी सेवा करनी चाहिए। सद्दालपुत्र ने अपने विशाल कुभकारापण मे प्रभु को निवास करने के लिए प्रार्थना की। भगवान महावीर सद्दालपुत्र की आपणशाला मे पधारे।

एकबार सद्दालपुत्र कुछ अधपके, अधसूखे वर्तनो को बाहर धूप मे सूखने के लिए रखवा रहा था। भगवान ने सद्दालपुत्र को प्रतिबोध देने के लिए इस प्रसग को माध्यम बनाया और सद्दालपुत्र से पूछा—सद्दालपुत्र! ये भाण्ड आदि कहा से आए और कैसे उत्पन्न हुए?

सद्दालपुत्र ने कहा— 'भन्ते! पहले मिट्टी थी, उसे पानी मे भिगोया गया, फिर क्षार (राख) और करीव (गोबर) मिलाया गया, उसे

मला, गोदा और फिर पिण्ड बना कर चाक पर चढा दिया। इस प्रकार ये भाण्ड तैयार हो गए।"

"भद्र ! ये भाण्ड उत्थान, बल, वीर्य यावत् पुरुषकार (पुरुषार्थ) से उत्पन्न होते हैं या बिना पुरुषकार के ही बन जाते हैं ?"[1]

(इस प्रश्न पर सद्दालपुत्र अचकचा गया। पुरुषार्थ को स्वीकार कर लेने पर उसका अपना नियतिवाद खण्डित होता था। अतः कुछ क्षण असमजस मे रहा, फिर भी अपनी मान्यता के समर्थन में बोला)—भन्ते ! ये भाण्ड तो उत्थान यावत् पुरुषकार और प्रयत्न के बिना ही उत्पन्न होते हैं, चूंकि सब भाव तो पहले से ही नियत हैं।"

प्रभु ने प्रतिप्रश्न किया – सद्दालपुत्र ! तुम्हारे बाहर मे सूखते भाण्डो को कोई पुरुष चुरा कर ले जाये, अथवा इन्हे फोड डाले तो तुम क्या करोगे ?

—'भन्ते ! मैं उसे पीटूंगा, उसके हाथ-पैर तोड डालूंगा, और उसका ताडन तर्जन एव वध करूंगा।'

सद्दालपुत्र के उत्तर पर भगवान ने पुन प्रश्न किया—सद्दालपुत्र ! कोई अनार्य पुरुष तुम्हारी भार्या (पत्नी) अग्निमित्रा के साथ बलात्कार करने का प्रयत्न करे तो तुम क्या करोगे ?

सद्दालपुत्र ने उत्तर दिया—भन्ते ! मे उस दुष्ट पुरुष को पीटूंगा मारूंगा, रस्सियो से बाध डालूंगा, पैरो तले रोद डालूंगा, हाथ-पाँव तोड डालूंगा, यहाँ तक कि उसका वध भी कर डालूंगा।"

सद्दालपुत्र के उत्तर पर भगवान ने स्पष्टीकरण किया—सद्दाल पुत्र ! तुम्हारे नियतिवाद के अनुसार जब उत्थान, बल, वीर्य, पुरुष-कार और पराक्रम का अभाव हैं, सर्व भाव नियत हैं, तो कोई पुरुष तुम्हारे भाण्डो का अपहरण करता नही, उन्हे फोडता नही, और न ही कोई तुम्हारी पत्नी के साथ बलात्कार करता है? जबकि सब कुछ नियत है।[2] जो होना होता हैं, वह अपने आप होता चला जाता है, तो इस मे अन्य किसी पुरुष का क्या दोष है ?"

---

१ सद्दालपुत्ता ! एस ण कोलालभडे किं उट्ठाणेण जाव पुरिसक्कार परक्कमेण कज्जति ? उदाहु अणुट्ठाणेण …।

२ नोवा तुम त पुरिस आओसेज्जासि वा हणेज्जासि वा …जइ नत्थि उट्ठाणे इ वा जाव परक्कमे इ वा नियया सव्वभावा।

सद्दालपुत्र गभीरतापूर्वक प्रभु का विश्लेषण सुन रहा था। प्रभु ने आगे कहा—यदि वास्तव मे ही कोई पुरुष तुम्हारे वर्तन चुराता है उन्हे फोडता है, और तुम्हारी पत्नी के साथ बलात्कार करता है और तुम उस पर आक्रोश करते हो, तो तुम्हारा यह कथन मिथ्या है, कि—'सब कुछ नियत है, पुरुषार्थ का एकान्त अभाव है।'

भगवान के युक्ति पूर्ण विश्लेषण पर सद्दालपुत्र कुछ क्षण चिन्तन-मग्न हो गया। फिर वह श्रद्धापूर्वक भगवान को वन्दना करके बोला—भन्ते! आपका कथन यथार्थ है! सत्य है! मैं आपके पास धर्म का रहस्य जानना चाहता हू।

गवान से धर्म का स्वरूप समझकर सद्दालपुत्र आदर्श श्रमणोपासक बन गया।

—उपासक दशा सूत्र ७

●

(शेष पृष्ठ ३१ का)

(पलके खुली रखना ही वस्तुतः कोई जगना या जागरण नही है, किन्तु जो जीव अपने स्वरूप में जागृत रहता है, अपने कर्तव्य और धर्म की भावना से अनुप्राणित रहकर जो सद्चिन्तन पूर्वक समय यापन करता है, वही वस्तुतः जागरण है। यहाँ पर जागरिका से यही भाव अभिप्रेत है)

—भगवती सूत्र १२।१

●

उपाध्याय अमरमुनि

महावीर की दिव्यध्वनि !

महावीर की ध्वनि दिव्यध्वनि,
गूंज उठी जन-जन के मन में !

तुम्हीं स्वयं हो अपने कर्ता,[1]
हर्ता, अपने भाग्य-विधाता,
तुम्हें न कोई और गिराता,
तुम्हे न कोई और उठाता,
तुम खुद गिरते—
तुम खुद उठते—
और न कोई शत्रु तुम्हारा
और न कोई मित्र तुम्हारा
तुम खुद अपने रिपु होते हो,
तुम खुद अपने हितु होते हो,[2]
सब सत्यो का एक सत्य है
सब तथ्यो का एक तथ्य है
जैसी करनी वैसी भरनी
अपनी करनी पार उतरनी !

इधर उधर के द्वन्द्वों मे
क्यों उलझ रहे,
क्यो खिन्न हो-रहे ?
अपने-अपने कर्म सुधारो
डूबत नैया पार उतारो !
मन को,
तन को

१ अप्पा कत्ता विकत्ता य (उत्तराध्ययन)
२. अप्पा मित्तममित्त च (उत्तराध्ययन)

और वचन को
करो नियन्त्रित,
करो सयमित
फिर क्या पीड़ा ?
फिर क्या चिन्ता ?
जो कुछ भी है श्रेष्ठ विश्व में,
वह सब तुम को प्राप्त, सुलभ है !
सच्चे मन से
कर्म क्षेत्र में
उतर पडो, तो
तुम्हें न कोई कुछ दुर्लभ है !

●

महावीर की ध्वनि दिव्य ध्वनि,
गूंज उठी जन-जन के मन मे !

वस्तु क्षुद्र क्या,
और महत् क्या ?
अणु क्या ?
नभ क्या ?
रज क्या ?
गिरि क्या ?
सब असीम हैं, सब अनन्त हैं,
एक द्रव्य, पर गुण अनन्त हैं ! [3]
इसीलिए है सत्य असीमित
वाणी में बन्ध सकता कैसे ?
अंश-अंश ही वाच्य हुआ है,
सब कोई कह सकता कैसे ?
पूर्ण सत्यता
ज्ञात भले हो
किन्तु वाच्यता कभी नहीं है,
कभी नहीं है, कभी नहीं है !

---

३. दव्वओ ण एगे जीवे ⋯ ⋯भावओ ण अणंता णाणपज्जवा (भगवती)

पूर्ण वचन का आग्रह छोड़ो,
ऐकान्तिकता का मोह तोड़ो
अनेकान्त से जीवन-जोड़ो
'ही' को त्यागो
'भी' अपनाओ !
मन का द्वन्द्व,
वचन का विग्रह
दूर हटाओ, करो समन्वय !
यह सच है तो, वह भी सच है।
वह सच है तो, यह भी सच है।
केवल यह ही,
केवल वह ही,
'अल' नहीं है।

सभी वचन सापेक्ष सत्य हैं,
निरपेक्षित मिथ्या, अकथ्य हैं।
ऐकान्तिक निरपेक्ष मतों से,
खण्ड-खण्ड है, सत्य तंत्र सब
अनेकान्त ही
स्याद्वाद ही।
सब सत्यों मे मेल कराता
खण्ड-खण्ड को जोड़,
एक कर
पूर्ण सत्य का रूप दिखाता।

● ●

महावीर की ध्वनि दिव्यध्वनि,
गूंज उठी जन-जन के मन मे !

भाषा नहीं
भाव ही पूजित !
अर्चित,
और सदा अभिनन्दित !
भाषा स्वयं मूल में जड़ है,

उसका अच्छा और बुरा क्या ?
स्वर्णपात्र मे विषभक्षण से
कहा, किसी को लाभ हुआ है ?
लौहपात्र मे सुधापान से
कहां, किसी का बुरा हुआ है ?

भाषा नहीं नरक दे सकती
भाषा नहीं स्वर्ग दे सकती !
भाषा नहीं,
भाव देखिए !
वह कैसा है,
क्या कहता है !
स्वच्छ, समुन्नत भावों से ही
जीवन का निर्माण हुआ है ।
भाषा के वल पर क्या जग मे,
कभी-किसी का त्राण हुआ है ।[४]

भाषा का श्रेष्ठत्व
शब्द में नहीं !
भाव में परिलक्षित है
भाव से अनुबंधित है ।
सहज, सुगम भावों का बोधन
हो जिससे,
वह भाषा ही
व्यवहृत करना श्रेयस्कर है !
जनभाषा जनता की वाणी
जो भी हो, वह ही कल्याणी !

• • •

४. न चित्ता तायए भासा कुओ विज्जाणुसासण (उत्तराध्ययन)

(भगवान महावीर के पूर्व जन्मो मे किए जाने वाले सयम तप पराक्रम, पुरुषार्थ, विकास-ह्रास और पुर्नविकास आदि का पौराणिक दिग्दर्शन।)

उपाध्याय अमरमुनि

१

बोधिबीज की प्राप्ति !

इतिहास की कालगणना से अपरिमेय लाखो वर्ष पूर्व की यह कहानी है। जबूद्वीप मे जयती नाम की एक समृद्धिशाली नगरी थी। वहाँ शत्रुमर्दन नाम का एक प्रतापी राजा राज्य करता था।

शत्रुमर्दन राजा के राज्य मे पृथ्वीप्रतिष्ठानपुर नगर में नयसार नामक (ग्राम चिन्तक) नगर मुखिया रहता था। नयसार स्वभाव से बहुत ही सरल, विनयशील, मधुर भाषी एव परोपकार-परायण वृत्ति वाला था। धर्म को विधि विधान के रूप मे भले ही उसने नही जाना था, किंतु सामान्य गुणानुसारिता, नीति के नियम उसके जीवन मे सहजरूप से अनुस्यूत थे। यह स्वयं किसी का बुरा नही करता था, और न किसी की बुराई देखने जैसी कोई गलत आदत ही थी, जहा तक होता वह दूसरो के गुण देखता, उनकी प्रशसा करता, और उनका यथाशक्ति अनुसरण-अनुकरण भी करता।

अतिथि सेवा नयसार का एक विशेष सद्‌गुण था, जो उसके जीवन का अभिन्न क्रम बन गया था। प्रतिदिन वह किसी-न-किसी अतिथि—अभ्यागत की राह देखता और प्रसन्नतापूर्वक उसकी यत्किंचित् सेवा करता। नयसार का यह सहज गुण ही उसके जीवन क्रम को बदलने वाला सिद्ध हुआ।

एक बार शत्रुमर्दन राजा को भवन निर्माण के लिए इमारती

लकडी की आवश्यकता हुई। उसके लिए राजा ने नयसार को जगल मे जाकर बड़े-बडे जातिमान वृक्षो को काटकर लकडी लाने का आदेश दिया। नयसार खाने-पीने की सामग्री साथ में लेकर सेवको के साथ जगल मे गया और वृक्ष काटने मे जुट गया।

मध्यान्ह की चिलचिलाती धूप मे श्रम करते-करते नयसार थक गया, तो कर्मकरो को छुट्टी दी और एक सघन वृक्ष की छाया मे बैठ कर वह कुछ विश्राम करने लगा। भूख कडाके की लग आई थी, भोजन का समय भी हो चुका था, अतः नयसार ने अपनी भोजन सामग्री निकाली और हाथ मुँह धोकर भोजन करने बैठा।

प्रतिदिन की भाँति आज भी उसके मन मे यही बात आ रही थी कि किसी अतिथि को भोजन खिला कर फिर खाऊँ ? पर यह अरण्य ! साय-साय करता जगल ! चिलचिलाती मध्यान्ह की धूप ! ऐसे समय में कौन अतिथि आए ? फिर भी सहज स्वभाव-वश उत्सुकता पूर्वक नयसार की आँखे दूर-दूर तक किसी अतिथि के आने की प्रतीक्षा मे घूम रही थी।

मध्यान्ह की आग उगलती भूमि पर नगे पैर और नगे सिर कुछ मुनियो को मार्ग से भटके हुए आकुल—व्याकुल स्थिति मे इधर-उधर घूमते हुए नयसार ने देखा। मुनियो के शरीर पर पसीना चू रहा था, भूख-प्यास से आँखें गडी जा रही थी, गला सूखने के कारण बोला नही जा रहा था, फिर भी उनकी मुख मुद्रा पर अपूर्व सौम्यता और विलक्षण शान्ति थी। नयसार को अतिथि मिल गए और वे भी सुपात्र ! उसका हृदय प्रसन्नता से झूम उठा।

हृदय मे उमडते हुए उल्लास और प्रसन्नता के साथ नयसार ने मुनियों की सेवा की। उन्हे शुद्ध भिक्षान्न दिया। भक्ति और सद्भाव से प्राप्त भिक्षा मुनियो के लिए तृप्ति-दायक सिद्ध हुई।

मुनियो ने कुछ देर वृक्ष की शीतल छाया में विश्राम किया, फिर दिन ढलने पर जाने लगे तो नयसार स्वय उनके साथ दूर तक गया, और नगर का सीधा एव सरल मार्ग बतलाया। त्यागी और सत्पुरुपो की सेवा का यह पहला अवसर उसके अन्तर जीवन मे अपूर्व उल्लास और आनन्द जागृत कर रहा था। न जाने क्यो आज उसे इतनी आत्मिक-प्रसन्नता और शान्ति पहली बार जीवन मे

अनुभव हो रही थी। यह भक्ति भीनी प्रसन्नता उसके चेहरे पर नाच रही थी।

नयसार के हृदय की निरपेक्ष प्रेम, भक्ति और सहज उल्लास-मुनियों से छिपा नही रहा। उसे भव्य और धर्म का पात्र समझ कर धर्म की मुख्य-मुख्य बातें उसे समझाई। धर्म (सम्यग् दर्शन) का बीज उसकी भक्ति-भीनी उर्वर मानस भूमि मे अकुरित हो उठा।

मुनि आगे चले गए, नयसार अपना काम करके घर आ गया। उसका निर्दोष कर्तव्य-परायण जीवन अब ज्योतिर्मय जीवन बन गया। धर्म एव सद्बोधि का बीज अनेक सद्गुणों के रूप मे पल्लवित होने लगा। वह अपने आप मे एक अदभुत कृतार्थता, एक अपूर्व प्रसन्नता अनुभव करने लगा।

कहना नही होगा कि नयसार के अन्तर्हृदय मे अकुरित यही धर्म बीज, आगे चलकर अनेक घात-प्रत्याघात, उत्थान-पतन के बीच विकसित होता-होता सताईसवें भव मे तीर्थंकर महावीर के रूप मे महावृक्ष का रूप धारण करके समग्र विश्व को कृतार्थ करने वाला सिद्ध हुआ।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र १०।१

●

विचार-जल

विकार की कुत्सित कालिमा जमी,
विचार का ले जल साफ कीजिए।
महान है दर्पण चित्त-शुद्धि का;
निजातमा का फिर दर्श लीजिए॥

— 'अमर माधुरी' से

●

उपाध्याय अमरमुनि

२

उच्चता का अभिमान !

भगवान ऋषभदेव के युग की कहानी है। ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत की महारानी वामादेवी ने एक तेजस्वी बालक को जन्म दिया। बालक की देह सूर्य किरण जैसी तेजस्वी देखकर भरत ने उसका नाम 'मरीचि' रखा।[1]

भगवान् ऋषभदेव ने कर्मयुग की नवीन व्यवस्था सचालित करके भरत के हाथो मे राज्य का सचालन सोपा और स्वय भोग-वैभव का त्याग करके उत्कट तप साधना करने लगे।

भगवान् ऋषभदेव के साथ कच्छ, महाकच्छ आदि अनेक मित्र राजा भी उनका विरह सहन न करने के कारण राज्य त्याग करके प्रव्रजित हुए। ऋषभदेव की साधना अत्यन्त कठोर थी, वे निराहार निर्जल रहकर एकान्त मे आत्म-चिन्तन करते रहते। साथ मे प्रव्रजित होने वाले राजा गण इन कष्टो से व्यग्र हो उठे। वे पुन गृह-वास मे लौटना नही चाहते थे, और इधर इतने कष्ट सहन करने को क्षमता भी उनमे नही थी, इसलिए वे वन मे कन्द-मूल, वन-फल खाकर जीवन यापन करने वाले 'तापस' बन गए।

भगवान ऋषभदेव ने दीर्घकाल तक तपस्या करने के पश्चात् एक दिन पुरिमताल (अयोध्या का उपनगर) पुर के शकटमुख उद्यान मे ध्यानमग्न बैठे हुए केवलज्ञान प्राप्त किया।

उसी दिन प्रात काल चक्रवर्ती भरत माता मरुदेवा (ऋषभदेव की माता) को नमस्कार करने के लिए गए थे। मरुदेवा को पुत्र ऋषभदेव की याद आ गई। मातृ-स्नेह वश उनकी आखें छलछला रही थी। भरत को आया देखकर उनका हृदय और भी स्नेह-द्रवित

---

१ 'नयमार' का जीव मरण प्राप्त कर स्वर्ग मे गया था और वहाँ से आयुष्य पूर्ण करके यहाँ मरीचि के रूप मे अवतरित हुआ।

हो उठा। भरत ने पूछा—दादी मां, आज तुमको किस बात की पीडा हो रही है ?

मरुदेवा नें गद्-गद् स्वर मे कहा—"बेटा ! मा को अपनी पीड़ा द्रवित नही कर पाती, किन्तु अपनी सन्तान की पीडा और कष्ट देख कर उसका हृदय टूक-टूक हो जाता है !"

"मा ! तुम्हारे तो हम सब पुत्र प्रसन्न हैं, कोई ऐसा नहीं जिसकी चिन्ता आपको करनी पड़े, फिर किस की चिन्ता तुम्हे सता रही है"—चक्रवर्ती भरत ने यह कहा और माता के मुख की ओर देखा तो देखाकि आखो से अश्रु की अविरल धारा बह रही है।

भरत अवसन्न रह गए—"माता, यह क्या ?"

"बेटा ! राज्य लक्ष्मी पाकर तुम आज आनन्द मे हो. तुम्हे लगता है सब कोई तुम्हारी तरह ही आनन्द मे होगे ? पर, कभी अपने पिता का भी ख्याल किया ? वह सुकुमाल फूल-सा कोमल मेरा ऋषभ कहा-कहा वन-जगलो मे भूखा-प्यासा भटकता होगा ? सर्दी-गर्मी, धूप-छाह की कौन सुध लेता होगा उसकी ? कितना दीर्घ काल व्यतीत हो गया, कभी खबर भी ली थी मेरे उस लाल की ?" कहते-कहते मरुदेवा का हृदय तेज धूप मे रखे नवनीत की तरह पिघलने लगा एव आखो से पुन. अश्रुजल बरसने लगा।

वार्तालाप चल ही रहा था कि उद्यान रक्षक ने आकर चक्रवर्ती को बधाई दी—"अर्हत् ऋषभदेवजी को अभी-अभी शकटमुख उद्यान मे केवलज्ञान प्राप्त हुआ है।"

हर्षगद्गद् भरत ने माता मरुदेवा को ऋषभदेव के आगमन का शुभ सवाद दिया तो माता मरुदेवा के हृदय का कण-कण खिल उठा। वह ऋषभदेव को देखने के लिए आतुर हो उठी। भरत ने तैयारी की, मरुदेवा हाथी पर बैठकर भगवान् से मिलने चली। समवसरण के निकट पहुँचते ज्योही देवदुन्दुभि, देवताओ का जय-जयकार, इन्द्रध्वजा आदि तीर्थंकर की विभूति देखी, और पास बैठे भरत ने भगवान् की सातिशय समृद्धि का वर्णन किया, तो माता मरुदेवी के हृदय मे अनेक स्तरो पर मोड पर मोड लेती हुई भावना का अन्तत: ऐसा निर्मल और शान्त उद्रेक उठा कि हाथी पर बैठे-बैठे ही मरुदेवा केवलज्ञान प्राप्त करके सदा के लिए सिद्ध, बुद्ध एव मुक्त हो गई।

चक्रवर्ती भरत आदि अनेक प्रतापी राजा, राजकुमार एव हजारो हजार अन्य स्त्री पुरुषो ने भगवान ऋषभदेव की पहली धर्म देशना सुनी। पूर्व जन्म के सस्कार प्रबुद्ध होने से राजकुमार मरीचि ने भी भगवान ऋषभदेव के पास दीक्षा ग्रहण की। मरीचि कुमार बड़े उत्साह और मनोबल के साथ श्रमण-धर्म का पालन करता रहा।

एक बार भयकर ग्रीष्मऋतु मे मरीचि-श्रमण पाद-विहार कर रहा था। नीचे से जलती हुई धरती, और ऊपर से अगारे बरसाती धूप! मार्ग मे तृष्णा से व्याकुल मरीचि का दुर्बल मन घबरा गया। श्रमण जीवन के कष्टो से उसका मनोबल टूट गया, वह सोचने लगा—"इन कष्टों को मैं सहन नही कर सकता, अतः कोई सरल मार्ग खोजना चाहिए।"

मरीचि सांसारिक भोग सुखो से तो विरक्त था, किन्तु श्रमण धर्म की कठोर साधना मे भी वह अपने को असमर्थ पा रहा था। वह किसी बीच के सरल, साथ ही सुखद मार्ग की खोज मे था। उसने धूप से बचने के लिए पैरो मे पादुका, तथा सिर पर छत्र रखना प्रारम्भ किया। भूख-प्यास लगने पर सचित्त जल, फल फूल तथा गर्मी लगने पर स्नान आदि का उपयोग करने लगा। हाथ से केश लु चन के स्थान पर उसने मु डन अथवा जटा धारण करना स्वीकार किया। इस प्रकार मरीचिने ऋषभदेव की कठोर साधना का सरलीकरण करके तापस धर्म के रूप मे अपनी धर्म साधना सतत चालू रखी।

मरीचि अच्छा प्रवक्ता था। उसके उपदेश से आकृष्ट होकर अनेक मनुष्य उसके पास दीक्षा लेने आते, किन्तु मरीचि उन्हे स्वय दीक्षा न देकर भगवान् ऋषभदेव के निकट भेज देता और दीक्षा दिला देता। वह अपनी दुर्बलता को समझता था, इसलिए वह कभी भी स्पष्ट कर देता—"मैं अपनी दुर्बलता के कारण सम्पूर्ण आचार पालन नही कर सकता, तुम्हें आत्म-साधना करनी हो तो धर्म-सारथी भगवान् ऋषभदेव के चरणो मे दीक्षा ग्रहण करो।" मरीचि की इस स्पष्ट वादिता का भी श्रोताओ पर प्रभाव पडता और वे उसके भक्त बन जाते।

एक बार भगवान् ऋषभदेव अयोध्या नगरी मे पधारे। चक्रवर्ती

भरत भगवान् का धर्मोपदेश सुनने के लिए आये। धर्मदेशना सुनकर भरत प्रभु की स्तुति करने लगे—"भगवन्! आप जैसे महान पुरुष जगत मे सूर्य के समान हैं, जब-जब हम लोग प्रमाद-निद्रा मे निमग्न हो जाते हैं, तब-तब आप अपना ज्ञान प्रकाश विकीर्ण करते हुए यहा पधारते हैं और अज्ञान अन्धकार व प्रमाद-निद्रा को नष्ट करते हैं। भगवन्! कोटि जन्मो के पुण्य से ही आप जैसे धर्म चक्रवर्ती का सत्सग प्राप्त हुआ है, कौन जाने आपके वाद इस मोह-निद्रा-निमग्न जगत् को धर्म का दिव्य प्रकाश प्राप्त होगा कि नही?"

भगवान ऋषभदेव ने सम्राट भरत की स्तुति का उत्तर देते हुए कहा—"भरत! जगत का अनादिक्रम कभी रुकता नही, जिस प्रकार इस भरतखण्ड मे तुम्हारे जैसे ही ग्यारह चक्रवर्ती और होने वाले हैं, वैसे ही मोह-निद्रा मे सुप्त जगत् को जागृत करके धर्म मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए मेरे जैसे तेईस तीर्थंकर इस भरतखण्ड मे और होगे।"

प्रभु का समाधान पाकर भरत का हृदय आनन्दित हो गया। जिज्ञासा और कुतूहलवश उपस्थित विशाल परिषद् की ओर सकेत करके भरत ने पूछा—"भगवन्! इस परिषद् मे कोई ऐसा भाग्यशाली है जो भविष्य मे आपके समान ही धर्म का दिव्य सन्देश देकर इस भरत क्षेत्र को कृतार्थ करेगा?"

भगवान् ऋषभदेव ने भरत के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"भरत! इस परिषद् मे ही ऐसा पुरुष विद्यमान है।"

कुतूहल से आतुर हुए भरत ने कहा—"भगवन्! वह ऐसा महान पुण्य शाली आतमा कौन है?

"तुम्हारा पुत्र मरीचि!"—भगवान ने उत्तर दिया।

"हैं!"—भरत के नयन और वाणी कुतूहल से विस्फारित हो रहे थे। उसने प्रभु के उत्तर को आश्चर्यपूर्वक दुहराया—"क्या मेरा पुत्र मरीचि?"

"हाँ, भरत! तुम्हारा ही पुत्र मरीचि! वह इसी परिषद् मे विचारो को निर्मल और पवित्र बनाता हुआ, धर्म ध्यान मे लीन एकान्त मे बैठा है। वह अपने कर्म मल को धोता हुआ सर्व प्रथम इस भरत क्षेत्र मे त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव बनेगा। फिर पश्चिम महाविदेह क्षेत्र मे तुम्हारे समान समृद्धिशाली प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा, और अनेक जन्मो मे साधना करता करता, इसी

भरतक्षेत्र मे महावीर नाम का अन्तिम धर्मोपदेष्टा तीर्थंकर बनेगा।"

भगवान की भविष्यवाणी सुनकर भरत का हृदय हर्ष मे झूम उठा। यह खुश खबर सुनाने को आतुर हुए भरत मरीचि के निकट आए, और उस भावी तीर्थंकर को वन्दन करते हुए वोले—'मरीचि! तुम धन्य हो! तुम महान पुण्यशाली हो!"

भरत को यो सहसा भाव-विभोर होकर स्तुति करते देख मरीचि आश्चर्य-चकित हुआ देखने लगा। भरत ने कहा—"भगवान ऋषभ-देव ने कहा है—'तुम इस भरत क्षेत्र के प्रथम वासुदेव बनोगे, फिर प्रियमित्र चक्रवर्ती बनोगे और अन्त मे अन्तिम तीर्थंकर महावीर बनोगे! भविष्य मे प्राप्त होने वाली इस महानता का मैं अभी से अभिनन्दन करता हूँ! शत-शत अभिवन्दन!"

अपने भविष्य का विराट और उज्ज्वलतम दर्शन पाकर मरीचि वासो उछलने लगा—अहा! मैं कितना भाग्यशाली हूँ, कैसा महान है मेरा कुल! मेरे दादा प्रथम तीर्थंकर! मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती और मैं प्रथम वासुदेव! और फिर चक्रवर्ती एव अन्तिम तीर्थंकर!

भविष्य का गौरव दर्शन आत्म सतुष्टि के लिए होता है, किन्तु जव कभी व्यक्ति आत्म-विस्मृत होकर उसके दर्प मे स्वय को भुला देता है और आत्म-गौरव के मिथ्या स्वप्न मे भ्रमित हो जाता है तो उसके लिए वह महान परिताप का भी कारण बन जाता है।

मरीचि आत्म-विस्मृत हो गया। वह बहुत समय तक अपने भाग्य और अपने कुल-खानदान की प्रशसा करता रहा। आत्मिक उच्चता की जगह, वश व जाति की उच्चता पर ही वह केन्द्रित हो गया। कथाकार आचार्य का कथन है कि इस जातीय दर्प के कारण मरीचि को भविष्य मे भिक्षाजीवी कुलो मे जन्म ग्रहण करना पडा।

मरीचि भगवान ऋषभदेव के निर्वाण के कुछ काल पश्चात् मृत्यु प्राप्त कर स्वर्ग मे गया।

— त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १।३—तथा १०।१

●

उपाध्याय अमरमुनि

•

३

दर्प और क्रोध: पतन का दुराहा

भरत क्षेत्र मे पोतनपुर नामक नगर था। वहाँ पर प्रजापति नामक एक प्रतापी राजा राज्य करता था। प्रजापति की पटरानी थी भद्रा। भद्रा ने एक महान बलशाली पुत्र को जन्म दिया, माता पिता ने पुत्र का 'अचल' नामकरण किया। यही अचल इस चालू अवसर्पिणी काल के प्रथम बलदेव हुए।

राजा की एक अन्य रानी मृगावती ने एक महान तेजस्वी एव पराक्रमी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के गर्भस्थ होने पर ही रानी ने सात महा स्वप्न देखे थे। इससे राजा रानी को विश्वास हुआ कि यह बालक अप्रतिम बलशाली और कठोर अनुशासक कोई वासुदेव होगा। बालक की पीठ पर तीन अस्थिबधन होने के कारण उसका नाम 'त्रिपृष्ठ' रखा गया। अचल और त्रिपृष्ठ कुमार मे परस्पर अत्यधिक स्नेह था। दोनो प्रायः साथ-साथ ही रहा करते थे। तन दो, मन एक।

राजा प्रजापति रत्न पुर के सम्राट अश्वग्रीव के अधीनस्थ था। अश्वग्रीव अपने युग का अतुल बलशाली एव महान पराक्रमी प्रति-वासुदेव राजा था। बड़े-बड़े राजा-महाराजा उसके नाम से ही काँपते थे, फलत सब कोई विनय पूर्वक उसकी सेवा के लिए तत्पर रहते। शक्ति और समृद्धि की, यश और कीर्ति की चोटी पर पहुँचते-पहुँचते एक और उसका हृदय वैभव-मद मे चूर हो रहा था, तो दूसरी ओर कोई अज्ञात तीखी पीडा उसके अन्तर्हृदय को कचोटती रहती। शत्रुओ पर निष्कटक शासन करते हुए भी कभी-कभी कोई गभीर भय और भविष्य की अनिश्चितता जैसे उसके हृदय को दहला देती। अश्वग्रीव तीन खड का विजेता होते हुए भी कभी-कभी अपने को दीन और असहाय-सा अनुभव करता और बड़े-बड़े भविष्यवेत्ता ज्योतिषियो से अपने आयु, बल और वैभव की स्थिरता के सम्बन्ध मे शकाए करता रहता।

एक वार अश्वग्रीव ने किसी सुप्रसिद्ध भविष्यवेत्ता से पूछा—"मेरा यह ऐश्वर्य, यह समृद्धि ज्यो की त्यो स्थिर रहेगी या नही? मेरा कोई प्रतिस्पर्धी तो इस संसार मे पैदा नही होगा।"

भविष्यवक्ता ने शास्त्रीय गणित का हिसाब लगाया। फलित देखते ही उसकी मुखाकृति मलिन हो गई। वह सत्य बात कहने मे अचकचाने लगा।

सम्राट ने कहा—"गणितज्ञ! भय मत खाइए! जो भी हकीकत है, आप निर्भय होकर स्पष्ट कहिए।"

ज्योतिषी ने विनयपूर्वक धीमे से कहा—"सम्राट! आपका प्रति स्पर्धी इस ससार मे पैदा हो चुका है।"

अश्वग्रीव हतप्रभ-सा देखने लगा—"मेरा प्रति स्पर्धी कौन है? कहा है? उसकी पहचान क्या है?"

"महाराज! जो पराक्रमी वीर आपके चंडवेग दूत को अपमानित व ताडित करेगा, और शालि क्षेत्र के भयंकर सिंह को मार डालेगा, वही आपका प्रतिस्पर्धी, आपका काल होगा।"

अश्वग्रीव का हृदय दहल उठा। किन्तु फिर भी वह ऊपर से जोश और रोष दिखलाता हुआ गर्ज पडा—मेरा प्रतिस्पर्धी इस ससार मे जीवित ही नही रह सकता। मैं अभी से उसका पता लगाकर मैदान साफ किए देता हूँ, न रहेगा बास न बजेगी वासुरी!"

सम्राट के निर्देश के अनुसार भरत क्षेत्र के पराक्रमी राजा और राजकुमारो की सूची तैयार हुई। राजा प्रजापति के त्रिपृष्ठ कुमार के नाम पर सव की दृष्टि टिक गई। उसके असाधारण पराक्रम की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। परीक्षा लेने के लिए सम्राट ने खूव दल वल के साथ महावली चडवेग दूत को पोतनपुर भेजा।

पोतनपुर मे राजा प्रजापति के दरवार मे सगीत की महफिल जमी हुई थी। मधुर और भाव पूर्ण सगीत का समा वधा था और पूरा दरवार वीणा (पुगी) पर नाग की तरह झूम रहा था। अचानक तूफान की तरह चडवेग राज-सभा मे प्रविष्ट हुआ। सनसनी के साथ पूरी महफिल स्तब्ध रहगई। दरवारी गण सम्भ्रान्त

एव विभ्रान्त-से हुए चडवेग का स्वागत करने को सहसा खड़े होगए। राजा प्रजापति स्वय आसन से उठकर उसके स्वागत के लिए आगे बढे और पूरे सम्मान के साथ उसे राज्य-आसन पर बिठलाया।

राजकुमार त्रिपृष्ठ मधुर सगीत मे डूबा हुआ एक और उच्च आसन पर बैठा था। अचानक रग मे भग हुआ देख कर उसकी चेतना ऊपर उभर कर आई। उसने पास मे खडे एक दरबारी से पूछा—क्यो, क्या है? सगीत सहसा बन्द क्यो हो गया? यह कौन बदतमीज व्यक्ति है, जो बिना अनुमति व पूर्व सूचना के अचानक ही राज सभा मे घुस आया? पिता जी ने उसे डाटा भी नही, उलटा सम्मान देकर आसन पर बिठा रखा है?

दरबारीने समझाते हुए चुपके से कहा—कुमार! जरा धीमे बोलिए। यह कोई ऐरा-गेरा नही, महाराजाधिराज अश्वग्रीव का मुख्य दूत महाबली चडवेग है। इसे किसी भी राज-सभा मे प्रविष्ट होने के लिए अनुमति लेने की आवश्यकता नही। इसे रोकना मौत को निमत्रण देना है! बड़े-बड़े राजा महाराजा इसकी कृपा-दृष्टि की भीख मागते रहते हैं। चडवेग जिस पर प्रसन्न होता है, उस पर भाग्य प्रसन्न रहता है, और चडवेग जरा भी अप्रसन्न हुआ कि बस, विपत्तिया बरसने लगती हैं। इसके बल का क्या ठिकाना? अपने मुष्टि प्रहार से पर्वतीय चट्टान को भी चकनाचूर कर दे। चडवेग यानी भरत क्षेत्र के राज्य शासन की एक प्रचड महान शक्ति! महाराज अश्वग्रीव की आँख और कान! इसीलिए सब राजा लोग इसे हर कीमत पर प्रसन्न रखना चाहते हैं।

दरबारी की बात सुनकर त्रिपृष्ठ कुमार दात किटकिटाने लगा। इतनी हीनता! इतनी कायरता! एक तुच्छ दूत के समक्ष महान् क्षत्रिय राजा हाथ जोड कर प्रसन्नता की भीख मागे? त्रिपृष्ठ को लगा, जैसे हजार-हजार बिच्छुओ ने उसे एक साथ डस लिया हो, वह तिलमिला उठा। किन्तु पिता के सम्मान को रखते हुए गभीर होकर इतना ही बोला—"देखना, जब यह वापस लौटने लगे तो मुझे बताना।"

चडवेग ने राजा को कुछ आवश्यक सूचनाए दी। प्रजापति ने उन सब पर विनय पूर्वक अपनी स्वीकृति दी और खूब स्वागत

सम्मान तथा बहुमूल्य उपहारो के साथ चडवेग को पोतन पुर से विदा किया।

कुमार त्रिपृष्ठ को चडवेग के जाने की सूचना मिली। वह अपने बड़े भाई अचल और कुछ साथियो के साथ उसके पीछे हो लिया। मार्ग मे उसने चडवेग को ललकारा—"अरे ओ बदतमीज! तेरी यह हिम्मत! बिना आज्ञा लिए ही राजसभा में घुस आया और सगीत का मजा किरकिरा कर डाला? दो कौडी का नौकर, राजा के बराबर बैठता है? ठहर जरा, तुझे सभ्यता और शिष्टता सिखलाता हूँ।"

चडवेग महाकाल की तरह घूर कर त्रिपृष्ठ कुमार की ओर देखने लगा। जीवन मे पहली बार उसे एक सामान्य युवक राजकुमार से इतनी कडी बात सुनने को मिली थी। एक प्रचण्ड हुँकार के साथ राजकुमार को डाटने के लिए रुक गया।

त्रिपृष्ठ कुमार ने साथियो को आदेश दिया—"पीट डालो इस बदमाश को! लूट लो वह सब कुछ! जो यह पिता जी से धौस में ले आया है।" बस तुरन्त ही अचल एव अन्य राजकुमारो ने चडवेग को चारो ओर से घेर लिया, खूब जी भर कर पीटा, अग-अग धुन डाला। उसके कुछ सेवक बचकर भाग निकले, बाकी बचे-खुचे लोगो को मार पीट कर बदहवाल कर डाला।

प्रजापति राजा को इस घटना की खबर लगी तो पसीना-पसीना हो गया। वह घबरा उठा, और तुरन्त अपने प्रधान को चडवेग के पास भेजकर विनय पूर्वक क्षमा याचना की और पुनः राजसभा मे बुलाया। राजा ने उससे हाथ जोड कर क्षमा मागी—मेरे नासमझ मूर्ख बच्चो ने आपका तेज-प्रताप जाने बिना ही जो दुश्चेष्टा की है, उसके लिए मुझे बहुत दु:ख है, आप क्षमा कीजिए! बच्चो के [illegible] को भूल जाइए। महाराज अश्वग्रीव के कानो तक यह बात [illegible] गई तो पता नही क[illegible] हो जायेगा।"

प्रजापति के विनय पूर्ण वचन, तथा लाचारी और दीनता भरी बातो से चडवेग का क्रोध शान्त हुआ। उसने आश्वासन दिया कि महाराज अश्वग्रीव से वह वह कोई शिकायत नही करेगा।" किन्तु इधर चडवेग के पहुँचने से पहले ही उसके अन्य सुभटो ने महाराज

अश्वग्रीव को सब हाल कह दिया था। अश्वग्रीव ने समझ लिया कि यह त्रिपृष्ठ कुमार ही उसका प्रतिस्पर्धी होगा। ज्योतिषी के द्वारा की गई वह पहले की भविष्यवाणी अब आखो के समक्ष साकार होती दीखने लगी। चडवेग के अपमान से भी अधिक उसे अपनी मृत्यु का भय कचोट ने लगा।

अश्वग्रीव के राज्य मे तु गगिरि पर्वत की उपत्यकाओ मे धान्य के विशाल क्षेत्र थे। उस क्षेत्र मे एक क्रूर सिह ने भयकर आतक फैला रखा था। वह सिह-रक्षको को जब भी देखता, बिजली की तरह लपकता, मार डालता और गायब हो जाता। आस-पास के क्षेत्रो की जनता भी उससे अत्यन्त आतकित रहती थी। जनता की पुकार पर अश्वग्रीव ने सुरक्षा के लिए अपने अधीनस्थ राजाओ को बारी-बारी वहा पहरा देने की व्यवस्था की थी। क्रुद्ध हुए अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ कुमार आदि को परिताप देने के लिए राजा प्रजापति को आदेश दिया कि—"तु गगिरि पर जाकर सिह के उपद्रवो से शालिक्षेत्र की रक्षा कीजिए।"

अपनी बारी के बिना शालिक्षेत्र मे जाने का आदेश पाकर प्रजापति को चिन्ता व क्षोभ हुआ। उसने पुत्रो से कहा—"चडवेग के साथ तुम ने जो दुर्व्यवहार किया उसका यह कटु परिणाम आया है, खैर 'जो आया है, उससे अब डरने से क्या होगा ? मैं शालिक्षेत्र मे जा रह हूँ....,"

त्रिपृष्ठ कुमार ने पिता को रोका—पिता जी! आप मत जाइए! इस सामान्य से कार्य के लिए आप क्यो कष्ट उठा रहे हैं ? हमे अवसर दीजिए सिह-क्रीडा का भी आनन्द आयेगा और जनता की सेवा भी होगी।" आग्रह करके दोनो कुमार शखपुर की ओर चल पडे। वहा जाकर उन्होने गोपालको से पूछा—यहा आने वाले अन्य राजा सिह से किस प्रकार रक्षा करते हैं ?"

रक्षक गोपालको ने बिना किसी सैन्य सज्जा के दो कोमलांग कुमारो को सिहसे रक्षा करने आया देखकर पहले तो आश्चर्य किया, फिर कहा—रक्षा के लिए आने वाला राजा और सामन्त शालिक्षेत्र के चारो ओर चतुरगिनी सेना को खडी करके एक दुर्ग (किल्ला) सा बना लेते हैं, और इस प्रकार जब तक धान्य की फसल कट नही जाती वे सिह से क्षेत्र की रक्षा करते हैं।

त्रिपृष्ठकुमार ने कहा—"इतनी देर तक कौन इन्तजार करे? चलो, मुझे बतलाओ, वह सिंह कहा रहता है? अकेला जाकर ही मै उसे मार डालता हूँ, और तुम सबको हमेशा के लए भय-मुक्त कर देता हूँ।"

कुमार के अद्भुत शौर्य और साहस पर गोपालकों को बडा आश्चर्य आ रहा था। दोनो भाई अश्वरथ मे बैठकर सिंह की गुफा की तरफ चल पडे। रथ घट की ध्वनि और जन कोलाहल को सुन कर सिंह पूछ उछालता और गर्जता हुआ गुफा मे से बाहर निकल-कर सामने आया। त्रिपृष्ठ ने कहा—सिंह नि:शस्त्र है और पदाति भी है। रथ मे बैठकर शस्त्रो से इसे मारा तो क्या मारा? यह बराबर का न्यायोचित युद्ध नही हुआ। कुमार ने शस्त्र रथ मे छोडे और कूदकर नीचे आ खडा हुआ। ज्योही सिंह घोर गर्जना कर कुमार पर झपटा और खाने को मुह फाडा कि कुमार ने दृढता से उसके जबडो को पकड लिया। एक हाथ से ऊपर का जबडा और दूसरे से नीचे का जबडा पकडकर एक ही झटके मे यो चीर डाला जैसे कोई पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्र को चीर डाले।

अजेय कहे जाने वाले भयानक सिंह को यो चीर गिराया देखकर गोपालको ने कुमार पर पुष्प वर्षा की और उसके शौर्य की महिमा गाते हुए उछलने लगे।

कथाकार ने बताया है कि मृत्यु मुख मे पडा वह केशरी सिंह इस बात पर दु ख और रोष करता तरफडा रहा था कि मैं अपूर्व पराक्रमी वनराज एक नि शस्त्र बालक के द्वारा यो-चीर दिया गया। तब कुमार के सारथि ने सिंह की यह मन. स्थिति समझी, निकट आया और स्नेह सिक्त शब्दो मे उसे आश्वासन देने लगा—वनराज! अफसोस मत करो! किसी सामान्य पुरुष के हाथो तुम्हारी मृत्यु नही हुई। तुम पशुओ मे सिंह हो, तो यह कुमार मनुष्यो मे सिंह के समान त्रिपृष्ठ वासुदेव है। वस्तुत तुम्हारी वीर पुरुष के हाथ वीर मृत्यु हुई है।

कुमार ने मृत सिंह का चर्म लेकर नगर की ओर चलते हुए रक्षक गोपालको से कहा—"जाओ! अश्वग्रीव को खुश खबर दो! अब भर पेट धान्य खाए और निर्भय होकर सोए।"

अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ का सदेश सुना तो मारे भय और क्रोध के तमतमा उठा, उसने त्रिपृष्ठ को समाप्त कर डालने का निश्चय किया। प्रजापति के पास सदेश भेजा—या तो कुमारो को मेरे पास भेज दे, अन्यथा युद्ध के लिए सज्ज हो जाइए।

सत्ता और प्रतिस्पर्धा के द्वन्द्वो का आखिरी निर्णय युद्ध-स्थल में ही होता है। एक ओर त्रिपृष्ठ कुमार एव उनकी छोटी-सी नगण्य सेना तथा दूसरी ओर भरत क्षेत्र का पराक्रमी सम्राट अश्वग्रीव और सुसज्जित विशाल सेना। त्रिपृष्ठ कुमार के अद्भुत शौर्य के समक्ष अश्वग्रीव की सेना टिक नही सकी। स्वय अश्वग्रीव सेना का नेतृत्व करता हुआ आगे आया और त्रिपृष्ठ कुमार पर अपना चक्र फेंका। कुमार ने उसी चक्र से अश्वग्रीव का शिरोच्छेदन कर डाला। विजयी त्रिपृष्ठ कुमार पर देवताओ ने पुष्प वृष्टि करते हुए गगन भेदी जय-घोष के साथ उसके लिए भरत क्षेत्र के प्रथम वासुदेव होने की घोषणा की।

त्रिपृष्ठ वासुदेव को सगीत बहुत प्रिय था। एक बार राज-प्रासाद मे सगीत का रगारग कार्यक्रम चल रहा था। मधुर स्वर लहरियो के आरोह अवरोह के साथ वासुदेव स्वय झूम रहे थे। सगीत की मस्ती मे झूमते-झूमते वासुदेव की आँखे बीच मे कुछ झपकने लग गईं।

वासुदेव ने शय्यापालक से कहा—"मुझे नीद लग जाए तो सगीत का कार्यक्रम बन्द कर देना।"

शय्यापालक स्वय सगीत के बहाव मे बह रहा था, विशेष ध्यान दिए बिना ही उसने वासुदेव की आज्ञा पर "जैसा स्वामी का आदेश है वैसा ही होगा" कह दिया। वातावरण की शान्ति और तन्मयता मे वासुदेव को नीद लग गई, किन्तु शय्यापालक संगीत मे ऐसा तन्मय हो रहा था कि उसे स्वामी के आदेश का कुछ ध्यान ही नही रहा। सभा मे वैसा ही रग जमा रहा, सगीत का सरगम गूजता रहा।

वासुदेव की नीद खुली, सगीत की ध्वनियाँ वैसे ही मुखरित होती देखी तो भृकुटि तन गई। शय्यापालक की ओर देखकर गर्ज उठे—"मेरे आदेश के अनुसार सगीत बन्द क्यो नही किया गया?

वासुदेव का कोप! लाल अगारो सी प्रदीप्त आँखे! शय्यापालक थर-थर काँप उठा! भय और आशका से वह दिगमूढ-सा हो

गया। हाथ जोड़कर कहा—"स्वामी! अपराध क्षमा हो! सगीत के आनन्द मे ध्यान ही नही रहा, आपकी आज्ञा का विस्मरण हो गया ?"

वासुदेव का निर्मम क्रोध! आज्ञा की अवहेलना का अदम्य दर्प! हुँकार भरती, तमतमाती वाणी गूँज उठी—सगीत श्रवण के मोह मे मेरी आज्ञा की अवगणना! जानते हो इसका क्या परिणाम आ सकता है? और फिर वासुदेव का आदेश हुआ। शय्यापालक को सामने स्तम्भ से बाँध कर खडा कर दिया और खौलता हुआ सीसा उसके कानो मे उडेल दिया गया। खौलता हुआ सीसा कानो मे जाते ही तडफते हुए शय्यापालक के प्राण पखेरु उड गए। इस करुण-मृत्यु से दर्शको का हृदय काप उठा, किन्तु क्रोध और दर्प के मद मे चूर वासुदेव अपने कृत्य पर दो क्षण भी सोचने के लिए नही रुके।

उन्मत्त यौवन, सत्ता का मद और साधन सामग्रियो की प्रचुरता! त्रिपृष्ठ वासुदेव के जीवन का पतन अब कौन रोक सकता था! विविध इन्द्रियो के विपयो मे गृद्ध होकर अनेक प्रकार के क्रूर कर्म करते हुए त्रिपृष्ठ वासुदेव ने सातवी नरक के योग्य घोर पाप कर्मो का उपार्जन किया।

प्रथम नयसार और तत्पश्चात् अन्य भवो मे सरलता और सयम साधना के द्वारा आत्म विकास का जो मार्ग प्रशस्त हुआ था, यहाँ आकर पतन की अग्रसर हो गया।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित १०।१

(शेप पृष्ठ ५९ का)

कर्मो के अनेक दलिक तपस्या की प्रदीप्त महाज्वाला मे शुष्क, जीर्ण काष्ठ की तरह जल कर भस्म होते गए। उनकी आत्मा उज्ज्वल-उज्ज्वलतर होती गई।

नन्दन मुनि ने एक लाख वर्ष तक घोर तपश्चर्या की। किसी भी प्रकार की स्पृहा व आकाक्षा से रहित होकर उन्होने दर्शनशुद्धि, विनय सम्पन्नता, अनतिचार शीलव्रत, सतत ज्ञानाभ्यास, सघ-सेवा आदि वीस विशिष्ट स्थानो की आराधना की, जिनकी फलश्रुति के रूप मे उन्होने तीर्थंकर नामक महान् पुण्यकर्म की उपार्जना की।

नन्दन मुनि साधना की उत्कृष्ट स्थिति मे पहुँचकर आखिर समाधि पूर्वक विशुद्ध भावो से आयुष्यपूर्ण कर प्राणत देवलोक मे महान् समृद्धिशाली देवता हुए। नन्दन मुनि का जीव स्वर्ग से आयुष्य पूर्ण करके भगवान महावीर के रूप मे अवतरित हुआ।

त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र १०।१

उपाध्याय अमरमुनि | ४

•

निर्मल तपःज्योति

भरत क्षेत्र की छत्रा नगरी मे जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। राजा की यथार्थ नाम-गुण सपन्न भद्रा नाम की रानी थी। भद्रा ने एक सुन्दर पुण्यशाली पुत्र रत्न को जन्म दिया। पुत्र जन्म से परिवार मे और राज्य मे अत्यधिक आनन्द होने के कारण उसका नाम 'नन्दन' रखा गया।

'नन्दन' कुमार के सस्कार बचपन से ही कुछ विलक्षण थे। राज-परिवार मे जन्म लेकर और राज्य का उत्तराधिकारी होने पर भी वह हृदय से अत्यधिक सरल, शान्त एव भक्ति परायण था। राजा जितशत्रु ने कुमार को योग्य अवस्था मे आने पर राज्य भार सोप कर स्वय दीक्षा ले ली थी, नन्दन राज्य का सचालन कुशलता पूर्वक कर रहा था, किन्तु उसका हृदय सतत एकान्त चिन्तन, सत्सग एव भगवद् भक्ति मे ही लगा रहता था।

एक बार नगर मे पोट्टिलाचार्य नामक महान आचार्य आए। नन्दन राजा ने उनका उपदेश सुना, तो उसके श्रद्धा-प्रवण हृदय मे ससार त्याग की भावना तीव्र हो गई। कर्तव्य पालन के लिए उसने राज्य व्यवस्था सभाली थी, पर कर्तव्य से भी ऊँचा आत्म-साधना का पथ है, अत नन्दन राजा अपने उत्तराधिकारी को राज्य देकर स्वय पोट्टिलाचार्य के पास प्रव्रजित हो गए।

नन्दन मुनि की प्रव्रज्या शुद्ध वैराग्य-प्रेरित थी। उनके विरक्त हृदय मे ध्यान, तपस्या और सेवा की पावन गगा प्रवाहित हो रही थी। वे मास मास क्षपण की तपस्या करने लगे, और तपस्या के साथ-साथ निर्मल प्रशान्त ध्यान तथा ग्लान एव वृद्ध मुनि जनो की सेवा, स्वाध्याय आदि की अखण्ड-आराधना से नन्दन मुनि उत्कृष्ट आत्म-साधना के पथ पर बढते चले गए।

त्रिपृष्ठ वासुदेव आदि के भवो मे किए गए घोरातिघोर पाप

(शेष पृष्ठ ५८ पर)

पजाब उनका विशेष कर्म क्षेत्र रहा है। और वहा की जनता की अगाध श्रद्धा उनके तेजस्वी और कर्मयोगी व्यक्तित्व को प्राप्त हुई थी।

बहुत से व्यक्ति थोडी-सी जन-श्रद्धा पाकर गदरा जाते हैं। निन्दा को जहर बताया गया है, किन्तु मै मानता हूँ, निन्दा से भी अधिक उग्र जहर है श्रद्धा का। श्रद्धा यो जहर नही है, किन्तु उसकी दुष्पाच्यता की दृष्टि से ही मैं आपको बता रहा हूँ कि निन्दा का उग्र विष पचाने वाले भी श्रद्धाको नही पचा सकते। वे गदरा जाते हैं, दर्प और जन-श्रद्धा के अभिनिवेश मे वे अपने को सातवें आसमान से भी ऊचा गिनने लग जाते हैं। परन्तु प्रवर्तक शुक्लचन्द्र जी महाराज को मैंने बहुत निकट से देखा जैसे-जैसे जन-श्रद्धा, लोक-भक्ति और आदर सत्कार उन्हे प्राप्त हुआ, वे वैसे-वैसे विनम्र, सरल एव सौम्य बनते गए।

उनका वचन मधुर था, मन भी मधुरतर! उनका दैहिक वर्ण भी काफी साफ—शुक्ल—उजला था और मन तो और भी शुक्ल!

वास्तव मे वे श्रमण सघ के एक महाप्राण निष्ठावान् सत थे। मधुर प्रवक्ता और मूक सेवाभावी! उन्होने समाज और धर्म की बहुत-बहुत सेवा की है, पर सेवा करके भी वे सदा विनम्र और मधुर बने रहे। सादडी सम्मेलन मे जब स्थानक वासी जैन श्रमण सघ के ऐक्य सगठन का दिव्य घोष ध्वनित हुआ, तो उन्होने निर्मल मन से अपना पूर्व साम्प्रदायिक युवाचार्य पद त्याग दिया। प्रसगवश मनुष्य किसी बडी चीज का त्याग कर देता है, किन्तु अन्दर मे कुण्ठा घर कर लेती है। परन्तु स्वर्गीय प्रवर्तक श्री जी को इसके लिए सर्वथा निर्लिप्त देखा गया। वे युवाचार्य जैसा महान पद, जिसके लिए कितने जोड-तोड लगाए जाते हैं, दौड धूप की जाती है, सर्प-कचुकवत् त्यागकर सदा प्रसन्न रहे। कोई भी मलाल मुख तथा वाणी पर कभी नही देखा। वे कहा करते थे, सघहित एव सघ सगठन के लिए मुझसे जो भी अपेक्षा है, वह मैं सहर्ष करने के लिए सदा प्रस्तुत हूँ। ऐसे थे विलक्षण दिव्यजीवन के धनी प्रवर्तक श्री जी यथा नाम तथा गुण। यही 'सत्य शिव सुन्दर' उनके जीवन का आदर्श रूप हमे उनके पश्चात् भी प्रेरणा एव मार्ग दर्शन करता रहेगा।

तीर्थंकर भगवान महावीर का जीवन-वृत्त
समय व संख्याओं में

—

१ जन्म	(आज से २५६७ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला १३)	ईस्वी पूर्व ५९९ विक्रम स० पूर्व ५४३
२, अभिनिष्क्रमण	(३० वर्ष की आयु मे मार्गशीर्ष कृष्णा १०)	ई०पू० ५६९ वि०पू० ५१३
३ तपश्चरण	(बारह वर्ष साढे छह मास)	
४. कैवल्य प्राप्ति	(४३ वें वर्ष, मे मध्यम पावा के निकट ऋजुवालिका नदी के किनारे पर)	ई०पू० ५५६ वि०पू० ५०० वैशाख शुक्ला १०
५ सघ स्थापना	(पावापुरी मे दूसरी धर्मदेशना के अवसर पर)	ई०पू० ५५६ वि०पू० ५००

६. सघ का विस्तार

श्रमण,	सख्या	१४,०००
श्रमणी,	सख्या	३६,०००
उपासक	सख्या	१,५९०००
उपासिका	सख्या	३,१८०००

७. सघ मे प्रमुख व्यक्ति

प्रमुख श्रमण इन्द्रभूति गौतम (ब्राह्मण कुमार)
प्रमुख श्रमणी आर्या चन्दनबाला (राजकुमारी)
प्रमुख उपासक गाथापति आनन्द (कृषक)
प्रमुख उपासिका गाथापति रेवती (कृषक-व्यापारी)

परिनिर्वाण	(पावापुरी मे ७२॥ वर्ष की आयु मे, कार्तिक कृष्णा १५)	ई०पू० ५२७ वि०पू० ४७०
प्रथम पट्टधर	आर्य सुधर्मा स्वामी	ई०पू० ५२७-५०७

पूर्ण रूप से जागृत हो उठती है। आप अपने पास अधिक संग्रह न रखें, तिजोरिया और पेटियां न भरे, यह एक निषेधात्मक रूप हैं। किन्तु जो पास मे है, उसका क्या करे, उसकी ममता किस प्रकार कम करे ? इसके लिए कहा है कि 'दान करो।' मनुष्य ने जो अपनी सुख-सुविधा के लिए साधन जुटाएँ हैं, उन्हे अकेला ही उपयोग मे न ले, बल्कि समाज के अभावग्रस्त और जरूरतमन्द व्यक्तियो मे बाटकर उपयोग करे।

दान का अर्थ यह नही है कि किसी को यो ही एक आधा टुकडा दे डाला कि दान हो गया। दान अपने मे एक बहुत उच्च और पवित्र कर्तव्य हैं। दान करने से पहले पात्र की आवश्यकता का मन मे अनुभव करना, पात्र के कम्पन के प्रति विचारो मे अनुकम्पन होना और सेवा की प्रबुद्ध लहर उठना, दान का पूर्व रूप है। "जैसा मैं चेतन हूँ, वैसा ही चेतन यह भी है, चेतनता के नाते दोनो मे कोई अन्तर नही है, इसलिए अखण्ड एव व्यापक चैतन्य-सम्बन्ध के रूप मे हम दोनो सगे बन्धु है, और इस प्रकार एक दो ही क्यो, सृष्टि का प्रत्येक चेतन मेरा आत्म बधु है, मेरी बिरादरी का है"—यह उदात्त कल्पना पवन आपके मानस मानसरोवर को तरगित करे, आप स्नेहार्द्र वन्धु भाव से दान करे—दान नही, सविभाग करे, बटवारा करे—यह है दान की उच्चतम विधि। दान की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा है-"सविभागो दान"—समवितरण अर्थात् समान बटवारा दान है। भाई-भाई के बीच जो बँटवारा होता है, एक दूसरे को प्रेम पूर्वक जो दिया-लिया जाता है, उससे न किसी के मन मे अह जगता है और न दीनता। चू कि भाई को बराबर का एक साझीदार, या अपने समान ही अधिकारी मान लिया जाता है, फलतः देने वाले को अहकार का और लेने वाले को दीनता का शिकार होना पड़े-ऐसा कोई प्रश्न ही नही रहता। ठीक इसी प्रकार आप जब किसी को कुछ अर्पण करने चलते हैं, तो उसे 'समविभागी' याने बराबर का समझकर, जो उसके उपयुक्त हो और जिस वस्तु की उसे आवश्यकता हो, उसका वितरण को उसमे तुच्छ मानने की भावना नही उठती और नही दीनता का सकल्प ही जगता है।

●

दिनाक २६ फरवरी को जालधर मे प्रवर्तक पण्डितरत्न श्री शुक्ल चन्द्र जी महाराज का स्वर्गवास हो गया। कवि श्री जी के सान्निध्य मे आगरा श्री संघ की ओर से दिवगत आत्मा को श्रद्धाञ्जलि देने के लिए एक स्मृति सभा आयोजित की गई। सभा मे भाव प्रवण मुद्रा मे उपाध्याय श्री जी द्वारा प्रस्तुत प्रर्वतक श्री शुक्लचद्र जी महाराज के भव्य जीवन का उज्ज्वल दर्शन पढिए ..।)

उपाध्याय अमरमुनि

एक विनम्र, सौम्य मूर्ति

एक बार श्रमण भगवान् महावीर ने अपने प्रवचन मे मानव-स्वभाव पर विश्लेषण करते हुए कहा—कुछ ही मनुष्य सच्चे अर्थों मे मनुष्य होते है, उनका जीवन आदर्शों से अनुप्राणित एक ज्योतिर्मय जीवन होता है। वे जहा जन्म लेते हैं वह धरा उनसे कृतार्थ होती है, जिस राष्ट्र और समाज को वे अपना कर्म क्षेत्र बनाते हैं, वे राष्ट्र और समाज उनके गौरवमय कर्तृत्व से तथा प्राणवान व्यक्तित्व से तेजस्वी बन जाते हैं। वे प्रज्वलित ज्योति होते हैं, एक दीप शिखा ! जो जीवन भर अन्धकार से लडती रहती है, अपने परिपार्श्व को आलोकित करती रहती है, किंतु कभी अपने कर्तृत्व का पैमाना बनाकर किसी को दिखाने नही जाती। भगवान् महावीर के मूल शब्दो मे—अठ्ठ करे णाम एगे णो माणकरे !" वे अर्थ अर्थात् सेवा आदि महत्वपूर्ण कार्य निरन्तर करते जाते हैं, मौन और शान्त, निस्पृह भाव से, किंतु कभी भी उसके फल की आकाक्षा नही करते, अपने कृर्तत्व पर कभी अभिमान नही करते।

भगवान महावीर के इस व्यक्तित्व-विश्लेषण पर मैं सोचता हूँ तो प्रवर्तक श्री शुक्लचन्द्र जी महाराज का जीवन चित्र मेरे समक्ष उभर जाता है। आप लोग आज उनकी स्मृति सभा मे उपस्थित हुए है। मुझे ऐसा लगता है कि उनकी पुण्य स्मृतिया पुञ्जीभूत होकर हमारे समक्ष आज उनके आदर्शों की जीवन कथा गा रही है।

उपाध्याय अमरमुनि

करुणा, मैत्री और दान

करुणा

विचार करिए—एक व्यक्ति को प्यास लगी है, गला सूख रहा है, वह ठंडा पानी पी लेता है, या मजे से शर्बत बनाकर पी लेता है, प्यास शान्त हो जाती है। क्या इसमे कुछ पुण्य हुआ ? कल्याण का कुछ कार्य हुआ ? या सात-वेदनीय का बंध हुआ? कुछ भी तो नही! अब यदि आप वही पर किसी दूसरे व्यक्ति को प्यास से तडपता देखते हैं, तो आपका हृदय करुणा से भर आता है और आप उसे पानी पिला देते हैं, उसकी आत्मा शान्त होती है, प्रसन्न होती है और इधर आपके हृदय मे भी एक शान्ति और सन्तोष की अनुभूति जगती है। यह पुण्य है, सत्कर्म है। अब इसकी गहराई मे जाकर जरा देखिए कि यह करुणा का उदय क्या है? निवृत्ति है या प्रवृत्ति? और पुण्य क्या है ? अपने वैयक्तिक भोग, या अन्य के प्रति अर्पण ? जैन परम्परा ने व्यक्तिगत भोगो को पुण्य नही माना है। अपने भोग-सुखो की पूर्ति के लिए जो आप प्रवृत्ति करते हैं, वह न करुणा है, न पुण्य है। किंतु जब वह करुणा, समाज के हित के लिए जागृत होती है, उसकी भलाई के लिए प्रवृत्त होती है, तब वह पुण्य और धर्म का रूप ले लेती है। जैन धर्म की प्रवृत्ति का यही रहस्य है। समाज के लिए अर्पण, वलिदान और उत्सर्ग की भावना उसके प्रत्येक तत्व-चिन्तन पर छाई हुई है। उसके हर चरण पर समष्टि के हित का दर्शन होता है।

मैत्री

जैन परम्परा के महान् उद्गाता अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महा-

वीर ने एक बार अपने शिष्य समुदाय को सम्बोधित करके कहा था- "मेत्ति भूएसु कप्पए" "तुम प्राणिमात्र के प्रति मैत्री की भावना लेकर चलो।" जब साधक के मन मे मैत्री और करुणा का उदय होगा, तभी स्वार्थान्धिता के गहन अन्धकार मे परमार्थ का प्रकाश झलकेगा। मैत्री की यह भावना क्या है ? निवृत्ति है या प्रवृत्ति ? आचार्य हरिभद्र ने मैत्री की व्याख्या करते हुए कहा है—"**परहित चिन्ता मैत्री।**" दूसरे के हित, सुख और आनन्द की चिन्ता करना, जिस प्रकार हमारा मन प्रसन्नता चाहता है उसी प्रकार दूसरो की प्रसन्नता की भावना करना'—इसीका नाम मैत्री है। मैत्री का यह स्वरूप निषेध रूप नही, किन्तु विधायक है। निवृत्ति मार्गी नही, किन्तु प्रवृत्ति-मार्गी है। जब हम दूसरो के जीवन का मूल्य और महत्व मानते हैं, अपनी ही तरह उससे भी स्नेह करते हैं, तो जब वह कष्ट मे होता है, तो उसको सहयोग करना, उसके दु ख मे भागीदार बनना और उसकी पीडाएँ बाटकर उसे शान्त और सन्तुष्ट करना—यह जो प्रवृत्ति जगती है, मन मे सद्भावो का स्फुरण होता है,—बस यही है मैत्री का उज्ज्वल रूप।

दान

●

जैन दर्शन के आचार्यों ने बताया है कि साता वेदनीय कर्म का बन्ध किन-किन परिस्थितियो मे होता है, और किस प्रकार के निमित्तो से होता है। उन्होने बताया है कि ससार मे जो भी प्राणी हैं, चाहे तुम्हारी जाति के हो, बिरादरी के हो, या देश के हो, अथवा किसी भिन्न जाति, बिरादरी या देश के हो, उन सबके प्रति करुणा का भाव जागृत करना, उनके दु.ख के प्रति सवेदना और सुख के लिए कामना करना, यह तुम्हारे साता वेदनीय के बन्ध का प्रथम कारण है।

दूसरा कारण बताया गया है—व्रती, सयमी और सदाचारी पुरुषो के प्रति अनुकम्पा का भाव रखना। गुण श्रेष्ठ व्यक्ति का आदर सम्मान करना, उनकी सेवाभक्ति करना, उनकी यथोचित आवश्यकताओ की पूर्ति का समय पर ध्यान रखना, साता वेदनीय का द्वितीय बन्ध हेतु है।

और तीसरा साधन है–दान। यहा आकर सामाजिक चेतना

पजाब उनका विशेष कर्म क्षेत्र रहा है। और वहा की जनता की अगाध श्रद्धा उनके तेजस्वी और कर्मयोगी व्यक्तित्व को प्राप्त हुई थी।

बहुत से व्यक्ति थोडी-सी जन-श्रद्धा पाकर गदरा जाते हैं। निन्दा को जहर बताया गया है, किन्तु मैं मानता हूँ, निन्दा से भी अधिक उग्र जहर है श्रद्धा का। श्रद्धा यो जहर नही है, किन्तु उसकी दुष्पाच्यता की दृष्टि से ही मैं आपको बता रहा हूँ कि निन्दा का उग्र विप पचाने वाले भी श्रद्धाको नही पचा सकते। वे गदरा जाते है, दर्प और जन-श्रद्धा के अभिनिवेश मे वे अपने को सातवें आसमान से भी ऊचा गिनने लग जाते हैं। परन्तु प्रवर्तक शुक्लचन्द्र जी महाराज को मैंने बहुत निकट से देखा जैसे-जैसे जन-श्रद्धा, लोक-भक्ति और आदर सत्कार उन्हे प्राप्त हुआ, वे वैसे-वैसे विनम्र, सरल एव सौम्य बनते गए।

उनका वचन मधुर था, मन भी मधुरतर ! उनका दैहिक वर्ण भी काफी साफ—शुक्ल—उजला था और मन तो और भी शुक्ल !

वास्तव मे वे श्रमण सघ के एक महाप्राण निष्ठावान् सत थे। मधुर प्रवक्ता और मूक सेवाभावी ! उन्होने समाज और धर्म की बहुत-बहुत सेवा की है, पर सेवा करके भी वे सदा विनम्र और मधुर बने रहे। सादडी सम्मेलन मे जब स्थानक वासी जैन श्रमण सघ के ऐक्य सगठन का दिव्य घोष ध्वनित हुआ, तो उन्होने निर्मल मन से अपना पूर्व साम्प्रदायिक युवाचार्य पद त्याग दिया। प्रसगवश मनुष्य किसी बडी चीज का त्याग कर देता है, किन्तु अन्दर मे कुण्ठा घर कर लेती है। परन्तु स्वर्गीय प्रवर्तक श्री जी को इसके लिए सर्वथा निर्लिप्त देखा गया। वे युवाचार्य जैसा महान पद, जिसके लिए कितने जोड-तोड लगाए जाते हैं, दौड धूप की जाती है, सर्प-कचुकवत् त्यागकर सदा प्रसन्न रहे। कोई भी मलाल मुख तथा वाणी पर कभी नही देखा। वे कहा करते थे, सघहित एव सघ सगठन के लिए मुझसे जो भी अपेक्षा है, वह मैं सहर्ष करने के लिए सदा प्रस्तुत हूँ। ऐसे थे विलक्षण दिव्यजीवन के धनी प्रवर्तक श्री जी यथा नाम तथा गुण। यही 'सत्य शिव सुन्दर' उनके जीवन का आदर्श रूप हमे उनके पश्चात् भी प्रेरणा एव मार्ग दर्शन करता रहेगा।

तीर्थंकर भगवान महावीर का जीवन-वृत्त समय व संख्याओं में

१	जन्म	(आज से २५६७ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला १३)	ईस्वी पूर्व ५९९ विक्रम स० पूर्व ५४३
२,	अभिनिष्क्रमण	(३० वर्ष की आयु मे मार्गशीर्ष कृष्णा १०)	ई०पू० ५६९ वि०पू० ५१३
३.	तपश्चरण	(बारह वर्ष साढे छह मास)	
४	कैवल्य प्राप्ति	(४३ वें वर्ष, मे मध्यम पावा के निकट ऋजुवालिका नदी के किनारे पर)	ई०पू० ५५६ वि०पू० ५०० वैशाख शुक्ला १०
५	सघ स्थापना	(पावापुरी मे दूसरी धर्मदेशना के अवसर पर)	ई०पू० ५५६ वि०पू० ५००

६. सघ का विस्तार

श्रमण,	सख्या १४,०००
श्रमणी,	सख्या ३६,०००
उपासक	सख्या १,५९०००
उपासिका	सख्या ३,१८०००

७. सघ मे प्रमुख व्यक्ति

प्रमुख श्रमण इन्द्रभूति गौतम (ब्राह्मण कुमार)
प्रमुख श्रमणी आर्या चन्दनबाला (राजकुमारी)
प्रमुख उपासक गाथापति आनन्द (कृषक)
प्रमुख उपासिका गाथापति रेवती (कृषक-व्यापारी)

८	परिनिर्वाण	(पावापुरी मे ७२॥ वर्ष की आयु मे, कार्तिक कृष्णा १५)	ई०पू० ५२७ वि०पू० ४७०
९	प्रथम पट्टधर	आर्य सुधर्मा स्वामी	ई०पू० ५२७-५०७

Reg. No L.

- हितैषी ग्राहकों से निवेदन

- श्री अमर भारती का वार्षिक शुल्क भेजते समय मनिआर्डर मे यथा स्थान अपना नाम, पता व पुरानी ग्राहक सख्या (यदि ग्राहक हैं तो) अवश्य लिखिए।

- जब आप को पुराना चन्दा समाप्त होने की सूचना मिल जाती है तो, कृपया वी०पी० का इन्तजार न कीजिए। तुरन्त मनीआर्डर द्वारा शुल्क भेज दीजिए। मनिआर्डर द्वारा अपना शुल्क भेजने मे आपको आर्थिक बचत भी होगी, और सुविधा भी रहेगी।

- श्री अमर भारती के सम्बन्ध मे पत्र व्यवहार यथासम्भव हिन्दी मे कीजिए, आप साथ में अपनी ग्राहक सख्या का उल्लेख करेंगे तो उत्तर व जानकारी शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त हो सकेगी।
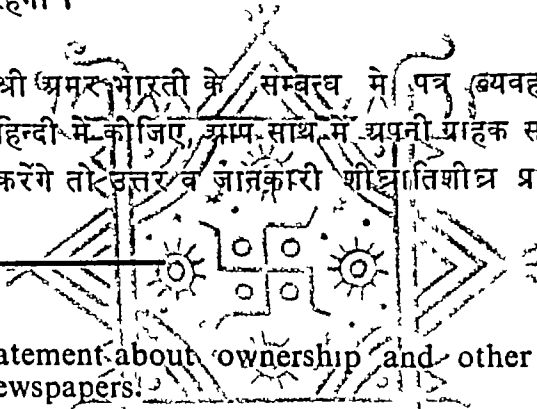
—व्यवस्थापक

Statement about ownership and other particulars of the newspapers:

"SHRI AMAR BHARTI"

(*Form IV under Rules 8*)

Place of publication	Lohamandi, Agra
Periodicity of publication	Monthly
Printer's name	Shri Keshri Singh (Indian)
Owner's name	Sanmati Gyan Peeth (Regd)
Publisher's name	Shri Sona Ram Jain (Indian)
Editor's name	Shri Virendra Kumar Saklecha

I, Sona Ram Jain, hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

Sona Ram Jain
Sig of Publisher

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित एव प्रेम प्रिंटिंग प्रेस द्वारा मुद्रित।

साधना का विवेक

दो अतियों के मध्य शुद्ध,
जैनत्व विराजित रहता है।
धर्म नहीं अतिवादी होता,
निरतिवादी रहता है।
देह नहीं शोषित करना है,
और न पोषित करना है।
शोषित-पोषित-मध्य संयमित,
रहता निरति विचरना है ॥

—उपाध्याय अमरमुनि

मई, १९६८

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

जैन दर्शन के 'कर्मफल-भोग' सिद्धान्त का तात्त्विक एव व्यावहारिक विश्लेषण ।

उपाध्याय अमरमुनि

भोग से अभोग की ओर

जैनदर्शन ने आत्मा को जिस प्रकार कर्म का कर्ता माना है, उसी प्रकार भोक्ता भी माना है। भोग के बिना वह एक क्षण भी नही रह सकता। आत्मा की प्रत्येक अवस्था मे भोग की प्रक्रिया निरन्तर चालू रहती है। यहा तक माना गया है कि मुक्त अवस्था मे भी भोग चलता है। वहाँ किसी बाह्य वस्तु का या बाह्य सुख आदि का भोग नही रहता, किन्तु आत्मिक आनन्द का भोग तो चलता ही है। मोक्ष मे आत्मा को अनन्त सुख मानने का अभिप्राय यही तो है कि वहाँ आत्मा को आध्यात्मिक सुख का अनन्त भोग चलता रहता है।

जव ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है, तो आत्मा को अनन्त ज्ञान प्राप्त होता है, दर्शनावरण के क्षय से अनन्त दर्शन! वेदनीय कर्म के क्षय से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है, वह सुख किसी प्रकार का भौतिक सुख नही, किंतु आध्यात्मिक सुख होता है, और वह वस्तुनिष्ठ नही, किन्तु स्वनिष्ठ सुख होता है। जो आत्मा की अनाकुलता रूप है, आत्मा की प्रशान्त अवस्था है। वैसे ही अन्तराय कर्म का क्षय होने से दान, लाभ, भोग आदि सव प्रकार के अन्तराय क्षीण हो जाते हैं और आत्मा मे ये अनतशक्तिया जागृत हो जाती है।

क्या भोग, क्या अभोग?

प्रश्न हो सकता है कि फिर भोग का त्याग करने को कहा जाता

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

अमृत-वाणी

जो उ पर कपत दट्ठूण न कंपए कढिणभावो।
एसो उ निरणुकंपो, अणपच्छाभावजोएणं ॥

—बृहत्कल्प भाष्य १३२०

जो कठोरहृदय पुरुष दूसरे को पीडा में प्रकंपमान देखकर भी [illegible]य प्रकम्पित नहीं होता, वह निरनुकंप (अनुकम्पारहित) [illegible]ाता है। चूंकि अनुकम्पा का अर्थ ही है—कांपते हुए को देखकर [illegible]पित होना।

●

अप्पाहारस्स न इंदियाइं विसयेसु संपतत्ति।
नेव किलम्मइ तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि।

—बृहत्कल्प भाष्य [illegible]

जो साधक अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रिया विषय [illegible] ओर नहीं दौड़तीं। तप का प्रसंग आने पर भी वह [illegible] होता, और न ही सुरस भोजन में आसक्त होता है।

श्री अमर भारती

वर्ष ५ मई—१९६८ अंक

पढ़िए.. पृष्ठों पर

★

★

प्रेरणा
श्री अखिलेश मुनि
मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

★

दिशा निर्देशक
श्री विजय मुनि 'शास्त्री'

★

सम्पादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'
वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०

★

व्यवस्था :
रामधन शर्मा बी० ए०, 'साहित्य-रत्न'

★

प्रकाशक
सोनाराम जैन
मन्त्री
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

★

मूल्य

आजीवन एक सौ एक रुपया

वार्षिक : छ रुपया

एक प्रति पचास पैसे

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

जो उ पर कपत दट्ठूण न कंपए कढिणभावो ।
एसो उ निरणुकपो, अणपच्छाभावजोएण ।।

—बृहत्कल्प भाष्य १३२०

जो कठोरहृदय पुरुष दूसरे को पीडा से प्रकपमान देखकर भी स्वय प्रकम्पित नही होता, वह निरनुकप (अनुकम्पारहित) कहलाता है । चूँकि अनुकम्पा का अर्थ ही है—कापते हुए को देखकर कपित होना।

●

अप्पाहारस्स न इदियाइ विसयेसु सपतत्ति ।
नेव किलम्मई तवसा, रसिएसु न सज्जए यावि ।

—बृहत्कल्प भाष्य १३३१

जो साधक अल्पाहारी होता है, उसकी इन्द्रियां विषय भोग की ओर नही दौड़ती । तप का प्रसग आने पर भी वह क्लान्त नही होता, और न ही सरस भोजन मे आसक्त होता है ।

●

जैन दर्शन के 'कर्मफल-भोग' सिद्धान्त का तात्विक एव व्यावहारिक विश्लेषण ।

उपाध्याय अमरमुनि

भोग से अभोग की ओर

जैनदर्शन ने आत्मा को जिस प्रकार कर्म का कर्ता माना है, उसी प्रकार भोक्ता भी माना है। भोग के बिना वह एक क्षण भी नही रह सकता। आत्मा की प्रत्येक अवस्था मे भोग की प्रक्रिया निरन्तर चालू रहती है। यहा तक माना गया है कि मुक्त अवस्था मे भी भोग चलता है। वहाँ किसी बाह्य वस्तु का या बाह्य सुख आदि का भोग नही रहता, किन्तु आत्मिक आनन्द का भोग तो चलता ही है। मोक्ष मे आत्मा को अनन्त सुख मानने का अभिप्राय यही तो है कि वहाँ आत्मा को आध्यात्मिक सुख का अनन्त भोग चलता रहता है।

जब ज्ञानावरण कर्म का क्षय होता है, तो आत्मा को अनन्त ज्ञान प्राप्त होता है, दर्शनावरण के क्षय से अनन्त दर्शन ! वेदनीय कर्म के क्षय से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है, वह सुख किसी प्रकार का भौतिक सुख नही, किंतु आध्यात्मिक सुख होता है, और वह वस्तुनिष्ठ नही, किन्तु स्वनिष्ठ सुख होता है। जो आत्मा की अनाकुलता रूप है, आत्मा की प्रशान्त अवस्था है। वैसे ही अन्तराय कर्म का क्षय होने से दान, लाभ, भोग आदि सब प्रकार के अन्तराय क्षीण हो जाते हैं और आत्मा मे ये अनतशक्तिया जागृत हो जाती हैं।

क्या भोग, क्या अभोग ?

प्रश्न हो सकता है कि फिर भोग का त्याग करने को कहा जाता

है तो उसका क्या अर्थ है ? भोग जब निरन्तर चालू रहते हैं तो उनका त्याग कैसे हो सकता है ?

बात यह है कि बाह्य वस्तुओ का मर्यादाहीन भोग साधना के लिए त्याग की अपेक्षा रखता है। यह साधक जीवन की स्थिति है। भौतिकभोग से यथाक्रम अभोगरूप आत्म-भोग अवस्था में जाने की स्थिति आत्मा मे स्वत जागृत हो जाती है। वह ऊपर से थोपी नही जाती !

भोग के तीन रूप

●

आत्मा जब किसी पदार्थ का भोग-उपभोग करता है, तब उसके रूप, रस, गध आदि की एक विशिष्ट अनुभूति करता है। वर्तमान काल मे जिस वस्तु का इन्द्रियो द्वारा भोग किया जा रहा है, उस वस्तु का भी वह भूत और भविष्य मे मन के द्वारा भोग उपभोग करता रहता है।

भोजन करने से पहले ही भोजन की आसक्ति मन मे जग जाती है। उसके रस-गध आदि की मधुर कल्पना से मुँह मे पानी छूटने लग जाता है। वस्तु का भोग इन्द्रियो द्वारा अभी नही हुआ है, किंतु मन ने भोजन का आस्वाद ले लिया। भोजन के प्रति अनुराग और आसक्ति से भोजन की क्रिया मन ने प्रारम्भ करदी है। इस क्रिया को भोग से पहले भोग कहा जाता है।

इसी प्रकार भोजन कर चुकने के बाद भी भोग की क्रिया बद नही होती, उस भोग के साथ राग के ततु जब तक नही टूटते, तब तक भोग चालू रहता है। जब-जब उस भोग की स्मृतिया ताजा होती हैं, उसकी यादे उभरने लगती हैं, तब-तब मन आकुल और आतुर हो जाता है। स्मृति के माध्यम से वस्तु के साथ मन का सपर्क जुड जाता है। वह स्मृति किसी सुखभोग के साथ जुडी है तो, मन मे आज भी उस वस्तु के प्रति राग या आसक्ति प्रबल हो उठती है, और यदि स्मृति किसी दु खभोग के साथ सम्बद्ध है, तो मन मे द्वेष, घृणा या नफरत के भाव पैदा हो जाते हैं।

मन एक ऐसा खजाना है, वह एक बार जो कर गुजरता है उसकी स्मृतियो को भविष्य के लिए अपने भीतर जमा कर लेता है। स्थितियाँ

बदल जाती है, पर स्मृतियाँ नही बदलती। भोग की यह प्रक्रिया जागृत अवस्था मे भी चलती है, स्वप्न अवस्था मे भी। स्वप्न मे किसी को धन प्राप्ति हो गई, मन इच्छित वस्तु मिल गई तो, वह नाच उठता है। किसी को कोई भयानक स्वप्न आ गया तो भय की भावना से थर्थर् काप उठता है। भय का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी-कभी स्वप्न टूट जाने के बाद भी मनुष्य कापता रहता है। स्वप्न की स्मृति मात्र से सिहर उठता है। स्वप्न मे इन्द्रियाँ जरूर सुप्त रहती है, किंतु मन जागृत रहता है, वहा भोग इद्रियो के द्वारा नही, मन के द्वारा होता है।

भोगावली क्या है ?

●

इस प्रकार आत्मा भोग के पहले भी भोग करता है, भोग के समय भी, और भोग कर चुकने के बाद भी। भोग की ये तीन अवस्थाएँ हैं और तीनों अवस्थाओ मे भोग के साथ राग और द्वेष की वृत्ति जुड़ी रहती है। इसी कारण भोग की परम्परा दीर्घ से दीर्घतर होती चली जाती है। कभी यह परम्परा टूटती नही। एक जन्म मे ही नही, किंतु जन्म जन्मान्तरो तक भोग की यह अनन्त शृंखला चलती रहती है।

हमारे यहा आर्द्रककुमार का उदाहरण आता है वह राजकुमार दीक्षा लेने को प्रस्तुत होता है तो देववाणी होती है—"अभी दीक्षा मत लो, भोगावली कर्म बाकी है।" आर्द्रक कुमार प्रारब्ध के भोग को चुनौती देकर दीक्षा ले लेता है और घोर तपस्या करता है। जगलों में, देव मन्दिरो मे, खण्डहरों मे जाकर एकान्त साधना करता है, ध्यान करता है, और शरीर को कृश कर डालता है। किंतु जब प्रारब्ध के भोग का ज्वार उमडता है तो वह साधक उसके समक्ष टिक नही सकता, वह जाता है। हहराती हुई नदी की उफनती हुई लहरों से लडने वाला साधक किसी छोटी-सी तलैया मे ही डूब जाता है। और चौवीस वर्ष तक फिर भोग के चक्कर मे पडा रहता है।

यह प्रारब्ध के भोग का चक्कर है। जैन परिभाषा मे इसे भोगावली कहते हैं। प्रारब्ध के इस भोग को व्यक्ति भोगकर ही समाप्त कर सकता है, त्याग करके नही।

तीर्थंकर जैसे समर्थ आत्माओं को भी प्रारब्ध के भोग को भोग कर ही समाप्त करना पडता है। भगवान महावीर ने भी संसार मे रहकर प्रारब्ध का भोग भोगा। विवाह किया, गृहस्थ के सब कार्य किए। हमारे दिगम्बर भाई श्वेताम्बरो की इस बात पर नाराज हो जाते हैं कि लो इन्होने भगवान महावीर का विवाह करवा दिया।

मैं सोचता हूँ विवाह करना इतना बड़ा क्या विवाद हो गया ? आप भगवान महावीर का विवाह न भी मानें तो क्या शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ के विवाह से भी इन्कार कर सकते हैं। वे चक्रवर्ती का राज्य भोगकर तीर्थंकर हुए हैं। और एक-एक चक्रवर्ती के कितनी रानिया बतलाई गई हैं, उसकी कितनी बडी भोग भूमिका है, क्या यह भी बतलाने की जरूरत है ?

बात यह है कि जैन दर्शन का विचार-बिन्दु बिल्कुल स्पष्ट है कि—चाहे तीर्थंकर हो, चक्रवर्ती हो, या अन्य कोई व्यक्ति ! प्रारब्ध का भोग प्रत्येक आत्मा को भोगना ही है। तीर्थंकर चक्रवर्ती की भूमिका पर रहते हुए भी यह जानते थे कि यह भोग, मुक्ति का मार्ग नही है, यह आत्मभाव की भूमिका नही है, किंतु फिर भी चक्रवर्ती का साम्राज्य भोगा। भोगकाल मे भी अमुक अश में उदासीनता रही और फिर आखिर मे दीक्षा लेकर तपः साधना भी की।

भोग में अभोग दृष्टि

●

जब आत्मा के लिए यह कहा जाता है कि वह अपने कृतकर्मों को भोगे बिना मुक्त नही हो सकता—'वेइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेइत्ता' तब इसका अर्थ इतना ही नही है कि पाप कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही होता। जिस प्रकार पाप कर्म है, उसी प्रकार पुण्य भी कर्म है। पाप से छुटकारा नही हो सकता तो पुण्य से भी बिना भोगे छुटकारा कैसे होगा ?

दुःख एक बन्धन है तो सुख भी एक बन्धन है। दोनों ही कैद है। दोनो को ही भोगकर समाप्त किया जाता है। बिना भोगे नही।

अध्यात्म की दृष्टि यह है कि जिस प्रकार पाप कर्म या दुःख के भोग मे समता रखी जाती है उसी प्रकार पुण्य कर्म या सुख भोग में

भी समता रखी जाए। न सुख मे राग हो, और न दुःख में द्वेष! सुख दुख को प्रारब्ध का भोग मानकर शान्त भाव से भोगते रहना, यह भोग मे भी अभोग दृष्टि है। यह अभोग दृष्टि जब जिस आत्मा में जागृत होती है, तो वह पुण्य पाप दोनो को ही हेय समझने लग जाता है, दोनो को ही 'पिंजरा' समझता है।

जम्बूकुमार की भाषा मे सुख **'रतना जड़ियो पींजरो'** रत्नजटित पिंजरा है। तोते को चाहे आप लोहे के पिंजरे मे रखिए या सोने के रत्नजटित पिंजरे मे। क्या वह सोने के पिंजरे पर गर्व करेगा और प्रसन्न होगा कि मेरा पिंजरा सोने का है? या उससे मुक्त होकर स्वतत्र विहार के लिए लालायित रहेगा? उसके सामने प्रश्न यह नही है कि पिंजरा कैसा है? बल्कि प्रश्न है कि उससे मुक्त कैसे हो?

यही स्थिति ज्ञानी की है, वह भोग करता है, किंतु उसकी वासना से लिप्त नही होता। सुख और दुख मे, राग-द्वेष के विकल्प नही करता। वर्तमान के भोग मे ही नही, किंतु अतीत और भविष्य के भोग के प्रति भी उसके मन मे किसी प्रकार की आसक्ति नही रहती। उसकी स्मृतियो मे भोग बसा हुआ नही रहता। वह चक्रवर्ती के भोग भोग चुका है या भयकर नारकीय वेदनाएँ—न उन भोगो की कल्पना मे उन्मत्त होता है और न वेदनाओ की कल्पना से त्रस्त ही। उसके सामने दृष्टिकोण यही रहता है कि भोग को भोगकर समाप्त करना है, जो कर्जा है उसको चुकाना है। और इस दृष्टि से वह भोग मे भी अमुक अशो मे अभोगवृत्ति से चलता रहता है।

कर्म का बीज क्या है?

●

इस विवेचन के साथ एक प्रश्न भी खडा हो सकता है कि जब प्रारब्ध का भोग, भोगकर ही समाप्त करना है, तब फिर उसमे हस्तक्षेप करना ही नही चाहिए। जो प्राप्त है, उसे भोगते रहना चाहिए।

बात यह है कि प्रारब्ध के भोग को तो भोगना ही है, किंतु यदि सामान्य आत्मा की तरह ही भोगते रहे तो यह भोग का चक्र कभी समाप्त नही होगा।

प्रारब्ध का भोग भोगा, भोगते समय रागद्वेष की वृत्ति प्रबल हुई, और फिर नये कर्म का बन्ध हो गया, फिर उसको भोगा, और फिर रागद्वेष के वश नूतन कर्म बन्धन! इस प्रकार भोग और बन्धन और फिर भोग और फिर बन्धन, इस चक्र से आत्मा कभी मुक्त ही नही हो सकेगी।

शास्त्रो मे बताया है कि कर्म एक बीज है। बीज से फल पैदा होते हैं, फल से फिर बीज और बीज से फिर फल। बीज और फल की यह अनन्त कड़ी कही समाप्त नही हो पाती। बीज से फल की परम्परा को समाप्त करने का तरीका यही है कि बीज को समाप्त कर दिया जाए। आचार्य उमास्वाति ने एक श्लोक मे कहा है—

> **"दग्धे बीजे यथात्यत प्रादुर्भवति नाकुर।**
> **कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाकुरः।"**

जैसे बीज जला डालने पर फिर अकुर पैदा नही होता, वैसे ही कर्म बीज को नष्ट कर देने पर पुनर्भव-जन्म और मरण रूपी अंकुर उत्पन्न नही हो सकते।

कर्म बीज को जला डालने का माने क्या है? क्या कर्म कोई वस्तु है, जिसे आग लगाकर जला दिया जाए? इसका अर्थ इतना ही है कि कर्म-फल-भोग के समय रागद्वेष की वृत्ति न रहे। जब राग द्वेष न रहेगा, या उसकी मन्दता रहेगी तो नया कर्म बन्ध नहीं होगा, और नया कर्म बध नही होगा तो उसे भोगने के लिए पुनर्जन्म लेना नही पड़ेगा। न रहेगा बास और न बजेगी बासुरी।

कर्म बीज को नष्ट करने का यही एक उपाय है कि राग द्वेष की वृत्ति को क्षीण किया जाए। रागद्वेष की वृत्ति जब मन्द रहती है, तो उस समय नया कर्म बन्ध होगा भी तो वह बहुत ही प्रभावहीन होगा, उसकी शक्ति (पावर) बहुत कम होगी, वह शीघ्र ही विपाक मे आकर समाप्त हो जायेगा। यह मद-मदतर एव मदतम की भूमिका आत्मशुद्धि विधायक चतुर्थ सम्यगदर्शन गुणस्थान से प्रारम्भ होकर १०वें गुणस्थान तक चलती है। गुणस्थान की आध्यात्मिक दशा ज्यो-ज्यो आगे बढती है त्यो त्यो कषायभाव की मन्दता होती चली जाती है। उस दशा में जो भी कर्मबन्ध होता है, बहुत ही प्रभावहीन। न उसके रसमे तीव्रता रहती है और न स्थिति में।

रही हैं। देश मे आजादी के नाम पर उच्छृ खलता, अनुशासन-हीनता, कौमवाद और भाषावाद जैसे दैत्य जग रहे हैं। भूख, गरीबी, अशिक्षा मे कोई खास कमी नही हुई है। भ्रष्टाचार, रिश्वत, मिलावटखोरी, तोड-फोड और हिंसा तथा अपराध की घटनाएँ पहले से अधिक बढ रही हैं। ये सब आसार ऐसे हैं, जो हमे कठिनाई से प्राप्त आजादी की सुरक्षा के लिए सावधान करते हैं और साथ ही यह सोचने को मजबूर करते हैं कि क्या राष्ट्रपिता गाधी जी के स्वराज्य और रामराज्य की कल्पना इस भारत भूमि पर कभी चरितार्थ हो सकेगी ?

आज से लगभग ६-७ वर्ष पूर्व मैंने स्व० श्री नेहरू जी आदि राष्ट्र के कुछ शीर्षस्थ नेताओ को अपने मन के इस क्षोभ और आशका से अवगत किया था और प्रस्ताव किया था कि रामराज्य की कल्पना को साकार करने के लिए देश मे नैतिकता, चरित्रनिष्ठा और राष्ट्रीय भावना का प्रसार होना बहुत जरूरी है। श्री मुरारजी भाई ने परामर्श दिया था कि "यह दायित्व जितना सरकार का है, उससे भी अधिक जनता का है। अत जन-चेतना को जागृत करने के लिए हम जनता के आदमियो को भी इसमे हाथ बँटाना चाहिए।"

हमने आदरणीय उपाध्याय श्री अमर मुनि जी एव स्व० डा० हरिशकर शर्मा आदि के सत्परामर्श से सन् ६३ मे नैतिक नागरिक सघ की स्थापना की और जनता मे समय-समय पर नैतिकता, सदाचार, सेवा आदि के कार्यक्रमो द्वारा जन-चेतना को जागृत करने का प्रयत्न करते आए हैं।

राष्ट्रपिता गाधीजी की 'रामराज्य' की कल्पना कैसे चरितार्थ हो सकती है, इस विषय पर आज हमने हमारे विचारक पत्रकार श्री अक्षयकुमार जैन एव तत्त्वचिन्तक श्रद्धेय उपाध्याय अमर मुनि जी से मार्गदर्शन पाने के लिए इस परिचर्चा का आयोजन किया है।

•

राष्ट्रीय चेतना : व्यक्तित्व का भान

[विचारक : श्री अक्षय कुमार जैन]

मैं पूर्णत तो यह नही मानता कि हमारा देश आगे नही बढ

रहा है। ससार का कोई भी देश पीछे नही लौटता, यह एक ध्रुव सत्य है।

मैंने शहरो मे भी देखा है। देहातो मे भी देखा है, जहाँ मेरा जन्म हुआ उस छोटे से गाव को भी मैंने देखा है, आजादी के पहले और बाद मे काफी अन्तर आया है, प्रगति और विकास हुआ है, होता जा रहा है—यह मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ।

पर, मैं देखता हूँ कि जैसे-जैसे हम तरक्की करते गए हैं, वैसे-वैसे हमारी इच्छाएँ, एव आकाक्षाएँ भी बढती गई हैं। तरक्की की गति बहुत धीमी है, और आकाक्षाएँ बडी तेजी से आगे जा रही हैं। जिस गाँव मे स्कूल नही था, वहा आज हायरसैकेन्ड्री स्कूल बन गए तो गाव वाले चाहते हैं कि क्यो न हमारे गाव मे इन्जिनियरिंग एवं मेडीकलकालेज खुल जाए, इन्जिनियरिंग एवं डाक्टरी पढने के लिए हमारे लडके बाहर क्यो जाएँ ? मतलब यह है कि तरक्की के साथ प्यास बढती गई है, इच्छाएँ आगे दौडती गई हैं और उसका अन्त कहाँ होगा, मैं नही कह सकता ?

भ्रष्टाचार : अतृप्त प्यास का परिणाम

हमारे देश मे आज भ्रष्टाचार की शिकायत है, रिश्वत की शिकायत है और यह आजादी के बाद अधिक बढ़ी है। मेरे विचार मे यह उसी अतृप्त प्यास का परिणाम है।

सन् १९४७ मे जब हम आजाद हुए थे, उन दिनो हमारे अन्दर एक विचित्र वातावरण था। एक राष्ट्रीयभाव गूँज रहा था और वह सबको परस्पर जोड़े हुए था। तब न रिश्वत की शिकायत थी, न भ्रष्टाचार की। किन्तु धीरे-धीरे वातावरण बदल गया। हमारे में से ही कुछ लोग शासक बन गए, कुछ अधिकारी। और जब उन्होने देखा कि कुछ अपने रिश्तेदार हैं, मित्र हैं, जान-पहचान वाले हैं, उनका भी कुछ काम बनना चाहिए तो भ्रष्टाचार फैलने लगा।

हम रिश्वत किसलिए देते हैं कि हमारा काम कही बिगड़ न जाए ? काम जल्दी से हो जाए। चाहे वह सही है या गलत, पर हो जाना चाहिए। सीधे तरीके से न हो तो रिश्वत देकर उसे करवाया जाए, किन्तु हमारा अपना काम हो जाना चाहिए।

सूक्ष्म सम्पराय १०वें गुणस्थान में पहुँचने पर तो कषायाश इतना मन्दतम हो जाता है कि उसमे नवीन कषाय कर्म बाधने की शक्ति ही नही रहती। पूर्ण वीतराग गुणस्थान पर पहुँचते ही आत्मा राग-द्वेष से बिल्कुल मुक्त हो जाता है। इस प्रकार कर्म बीज जलकर भस्म हो जाता हैं।

मैंने आपसे प्रारम्भ मे बताया कि आत्मा कर्मों का कर्ता है, इसी लिए भोक्ता भी है। जब कर्म के आन्तरिक कारण समाप्त हो जायेंगे, वे कारण है राग और द्वेष, तब आत्मा बाहर मे कर्म करते हुए भी अन्दर मे अकर्म दशा को प्राप्त कर लेगा। उस अवस्था मे जितना भी पुराना भोग है, वही शेष रह जायेगा, वह भोग समाप्त होते ही आत्मा मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जायेगा।

जैनदर्शन भोगत्याग से भी अधिक भोगासक्ति के त्याग पर बल देता है। जब तक जीवन है, बाह्य भोग के त्याग की एक सीमा होती है। शरीर है तो समय पर भोजन भी चाहिए, वस्त्र, पात्र, निवास आदि भी चाहिए। त्यागी से त्यागी भी जीवन की मूल आवश्यकताओ से हमेशा के लिए बचकर नही चल सकता। सर्व साधारण लोगो को भ्रान्ति मे रखने के लिए भोगोपभोग से अपने को सर्वथा मुक्त बताते रहना, अलग बात है, परन्तु जीवन की यथार्थ स्थिति अपने मे कुछ अलग ही है। जैन परिभाषा के अनुसार भोजन, पान, वस्त्र, पात्र एव निवास आदि सब भोगोपभोग की सीमा में आते हैं। अतः जैनदर्शन ने इस सम्बन्ध मे स्पष्ट निर्णय दिया है कि जीवन मे उसी भौतिक भोगोपभोग का त्याग आवश्यक है, जो मर्यादाहीन, अनैतिक, दूषित एव अनावश्यक हो। जीवन की मूलभूत आवश्यकताओ का विश्लेषण करना आवश्यक है। और जो मर्यादा-प्रधान, नैतिक, निर्मल एव आवश्यक भोगोपभोग ग्राह्य हैं, परन्तु उनका भी अनासक्त भाव से ही उपभोग होना चाहिए। नैतिक बाह्यभोग भी अन्तरग मे अनासक्त दृष्टि रहने से एक प्रकार का अभोग ही, त्याग ही बन जाता है। यही भोग और त्याग का वास्तविक निष्कर्ष है। मूलत. रागद्वेष की तीव्रता कम करने का ही जैनधर्म का उपदेश है। और यही वह मार्ग है जिस पर चलकर साधक भोग से अभोग की ओर बढ सकता है, कर्म से अकर्म की ओर अग्रसर हो सकता है।

●

क्या रामराज्य की कल्पना चरितार्थ हो सकती है?

दिनांक ३१-३-६८ को आगरा कालेज के आडिटोरियम हाल मे नैतिक नागरिक सघ आगरा की ओर से एक विचार-गोष्ठी 'का आयोजन किया गया। सगोष्ठी का विषय था—"वर्तमान परिस्थितियो मे गाधीजी के रामराज्य की कल्पना कैसे चरितार्थ हो सकती है ?"

शीर्षक जितना लम्बा और आकर्षक था, उससे भी लम्बी और आकर्षक थी विद्वानो की परिचर्चा ! विचारको की स्फूर्त चिन्तनिकाए। सगोष्ठी मे मुख्य विचारक थे 'नवभारत टाइम्स' के सपादक श्री अक्षयकुमार जैन एव प्रसिद्ध तत्वचिन्तक उपाध्याय श्री अमरमुनि। सयोजन किया था नैतिक नागरिक संघ के सस्थापक राष्ट्रीय चेतना एव चरित्रनिष्ठा-के सबल-आदर्श सेठ अचलसिहजी एम० पी० ने, और श्रोताओं मे थे नगर के अनेक वकील, पत्रकार, लेखक, पुस्तक प्रकाशक, अध्यापक, जनसेवक एव विशिष्ट नागरिक।

विचार-परिचर्चा बहुत ही महत्वपूर्ण और चिन्तन को नई दिशा देने वाली थी। श्री अमर भारती के प्रिय पाठक इस परिचर्चा से लाभान्वित होगे, इस विश्वास के साथ परिचर्चा के कुछ विचार-बिन्दु यहा अकित किए जारहे हैं।

—सम्पादक

आजादी के बाद

[सयोजकीय – सेठ अचलसिहजी एम० पी०]

आजादी के सघर्ष मे हम जिस जोश और उत्साह के साथ स्वराज्य की स्वर्णिम कल्पना के पीछे तन, मन, धन का उत्सर्ग कर रहे थे और जो आशाएँ बाध रहे थे वे आजादी के बाद वैसे ही गायब हो गईं जैसे घनघोर घटा पछमी हवा से। रामराज्य की हमारी कल्पना, कल्पना रह गई। हम सोचते थे स्वराज्य मिलेगा, हर आदमी को पेट भर अच्छा खाना मिलेगा, काम मिलेगा, बच्चो को उचित शिक्षा मिलेगी। जीवन की सुख-सुविधा एव विकास के सब साधन प्राप्त होगे। किन्तु हमारी वे आशाएँ आज निराशा मे बदल

रही हैं। देश मे आजादी के नाम पर उच्छृ खलता, अनुशासन-हीनता, कौमवाद और भाषावाद जैसे दैत्य जग रहे हैं। भूख, गरीबी, अशिक्षा मे कोई खास कमी नही हुई है। भ्रष्टाचार, रिश्वत, मिलावटखोरी, तोड़-फोड और हिंसा तथा अपराध की घटनाएँ पहले से अधिक बढ रही हैं। ये सब आसार ऐसे हैं, जो हमे कठिनाई से प्राप्त आजादी की सुरक्षा के लिए सावधान करते हैं और साथ ही यह सोचने को मजबूर करते हैं कि क्या राष्ट्रपिता गाधी जी के स्वराज्य और रामराज्य की कल्पना इस भारत भूमि पर कभी चरितार्थ हो सकेगी ?

आज से लगभग ६-७ वर्ष पूर्व मैंने स्व० श्री नेहरू जी आदि राष्ट्र के कुछ शीर्षस्थ नेताओ को अपने मन के इस क्षोभ और आशका से अवगत किया था और प्रस्ताव किया था कि रामराज्य की कल्पना को साकार करने के लिए देश मे नैतिकता, चरित्रनिष्ठा और राष्ट्रीय भावना का प्रसार होना बहुत जरूरी है। श्री मुरारजी भाई ने परामर्श दिया था कि "यह दायित्व जितना सरकार का है, उससे भी अधिक जनता का है। अत जन-चेतना को जागृत करने के लिए हम जनता के आदमियो को भी इसमे हाथ बँटाना चाहिए।"

हमने आदरणीय उपाध्याय श्री अमर मुनि जी एव स्व० डा० हरिशकर शर्मा आदि के सत्परामर्श से सन् ६३ मे नैतिक नागरिक सघ की स्थापना की और जनता मे समय-समय पर नैतिकता, सदाचार, सेवा आदि के कार्यक्रमो द्वारा जन-चेतना को जागृत करने का प्रयत्न करते आए हैं।

राष्ट्रपिता गाधीजी की 'रामराज्य' की कल्पना कैसे चरितार्थ हो सकती है, इस विषय पर आज हमने हमारे विचारक पत्रकार श्री अक्षयकुमार जैन एव तत्त्वचिन्तक श्रद्धेय उपाध्याय अमर मुनि जी से मार्गदर्शन पाने के लिए इस परिचर्चा का आयोजन किया है।

●

राष्ट्रीय चेतना : व्यक्तित्व का भान

[विचारक . श्री अक्षय कुमार जैन]

मैं पूर्णत तो यह नही मानता कि हमारा देश आगे नही बढ

रहा है। ससार का कोई भी देश पीछे नही लौटता, यह एक ध्रुव सत्य है।

मैंने शहरो मे भी देखा है। देहातो मे भी देखा है, जहाँ मेरा जन्म हुआ उस छोटे से गाव को भी मैंने देखा है, आजादी के पहले और बाद मे काफी अन्तर आया है, प्रगति और विकास हुआ है, होता जा रहा है—यह मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ।

पर, मैं देखता हूँ कि जैसे-जैसे हम तरक्की करते गए हैं, वैसे-वैसे हमारी इच्छाएँ, एव आकाक्षाएँ भी बढती गई हैं। तरक्की की गति बहुत धीमी है, और आकाक्षाएँ बडी तेजी से आगे जा रही हैं। जिस गाँव मे स्कूल नही था, वहा आज हायरसैकेन्ड्री स्कूल बन गए तो गाव वाले चाहते हैं कि क्यो न हमारे गाव में इन्जिनियरिंग एवं मेडीकलकालेज खुल जाए, इन्जिनियरिंग एव डाक्टरी पढने के लिए हमारे लडके बाहर क्यो जाएँ? मतलब यह है कि तरक्की के साथ प्यास बढती गई है, इच्छाएँ आगे दौडती गई हैं और उसका अन्त कहाँ होगा, मैं नही कह सकता?

भ्रष्टाचार : अतृप्त प्यास का परिणाम

•

हमारे देश मे आज भ्रष्टाचार की शिकायत है, रिश्वत की शिकायत है और यह आजादी के बाद अधिक बढी है। मेरे विचार मे यह उसी अतृप्त प्यास का परिणाम है।

सन् १९४७ मे जब हम आजाद हुए थे, उन दिनो हमारे अन्दर एक विचित्र वातावरण था। एक राष्ट्रीयभाव गूँज रहा था और वह सबको परस्पर जोड़े हुए था। तब न रिश्वत की शिकायत थी, न भ्रष्टाचार की। किन्तु धीरे-धीरे वातावरण बदल गया। हमारे में से ही कुछ लोग शासक बन गए, कुछ अधिकारी! और जब उन्होने देखा कि कुछ अपने रिश्तेदार हैं, मित्र हैं, जान-पहचान वाले हैं, उनका भी कुछ काम बनना चाहिए तो भ्रष्टाचार फैलने लगा।

हम रिश्वत किसलिए देते हैं कि हमारा काम कही बिगड़ न जाए? काम जल्दी से हो जाए! चाहे वह सही है या गलत, पर हो जाना चाहिए। सीधे तरीके से न हो तो रिश्वत देकर उसे करवाया जाए, किन्तु हमारा अपना काम हो जाना चाहिए।

इस प्रकार हमारे अन्दर राष्ट्रीय-दृष्टिकोण लुप्त होता गया। समस्या को हम राष्ट्रीयदृष्टि से नही, किन्तु व्यक्तिगत दृष्टि से सोचने लगे। राष्ट्रीयहित की जगह व्यक्तिगत हित, जिसे हम स्वार्थ या खुदपरस्ती कहते हैं, वह हमारे ऊपर हावी हो गया है।

राष्ट्रीय भावना से सोचें

●

मैं जब अमेरिका गया तो बीच मे बहुत देर होने से घर की बहुत-सी चिट्ठियाँ एक ही साथ मुझे मिली। मै सडक पर चलता-चलता ही उन्हे खोलता गया, लिफाफा फैकता गया और चिट्ठियाँ पढता-पढता चलने लगा। मैने देखा सडक पर झाडू देने वाली एक महिला, जिसे हम मेहतरानी कहते हैं, मेरी ओर देखकर हँसने लगी। मैंने पूछा क्या बात है, आप क्यो हँस रही है? तो उसने मेरे द्वारा सडक पर डाले गए लिफाफो की ओर सकेत करके कहा—"ये रास्ते मे मत डालिए! इससे गन्दगी फैलती है, शहर गन्दा होता है, बीमारी फैलती है और इस प्रकार हमारे राष्ट्र को इससे क्षति होती है।"

मुझे एक झटका लगा। मैं सोचता रहा, उन लोगो मे सोचने का दृष्टिकोण क्या है? सडक पर झाडू देने वाली एक औरत भी हर पहलू को राष्ट्रीय दृष्टि से सोचती है।

वहाँ बसो मे कडक्टर नही रहते। यानी लोग अपने आप मशीन पर सिक्का डाल देते हैं और टिकट ले लेते हैं। वे यह सोचते है कि यदि बस किराए की चोरी की तो सरकार वह नुकसान टैक्स लगाकर हम से ही वसूल करेगी।

मै रूसकी यात्रा पर जब मास्को गया तो एक दिन मैंने अपने एक भारतीय मित्र के घर जाने का विचार किया। टैक्सी ड्राइवर पता जानता नही था, और मुश्किल यह कि वह अँग्रेजी नहीं समझ रहा था और मैं रूसी नही जानता था। तभी हमने एक स्टोर मे झाडू लगाने वाली महिला से वह पता पूछा। वह अंग्रेजी जानती थी, उसने ड्राइवर को समझा दिया, किन्तु फिर भी ड्राइवर के ठीक समझ मे नही आया। मैंने उससे कहा—क्या आप हमारे साथ चलकर बता सकती है?

वह बड़ी खुशी से बोली—हाँ चलिए! और कार मे मेरे बराबर आकर बैठ गई, निस्सकोच!

मैंने देखा कि वहाँ की झाड़ू लगाने वाली महिला मे भी कितना आत्म-गौरव है। अपने व्यक्तित्व को वह किसी से हीन नही समझती। मै एक शाही मेहमान था और वह एक झाड़ू लगाने वाली औरत! किन्तु वह अपने व्यक्तित्व को किसी से हीन नही समझती थी! उसने मार्ग मे मुझसे पूछा—क्या आपने हमारा क्रेमिलन देखा? उसका यह वाक्य मेरे हृदय को छू गया। क्रेमिलन वहाँ का राष्ट्रपति भवन है। उसके शब्द मे जो 'हमारा क्रेमिलन' वाक्य था, वह कितने ज्वलन्त राष्ट्रीय भाव का परिचायक था?

मैं सोचता हूँ आजादी के बाद भौतिक प्रगति करते हुए भी हमारे भीतर इस प्रकार का राष्ट्रीय भाव और अपने व्यक्तित्व को हीन नही समझने का सकल्प नही जगा है।

हमारे देश मे निवृत्ति की परम्परा थी, लोग पैसा कमाते और उसे सार्वजनिक कार्यों मे खर्च कर देते थे। और वे जनता के आदर-पात्र होते थे। आज लोग पैसा तो कमाते हैं, पर यह समझने लगे हैं कि सार्वजनिक कार्यों मे खर्च करना तो सरकार का काम है। पैसा उनके पास इकट्ठा होता जाता है और वे जनता के घृणापात्र बन जाते हैं। वर्गविद्वेष, प्रान्तीय-विग्रह इन्ही घृणाओ के परिणाम हैं। इसका इलाज यही है कि हमारे भीतर राष्ट्रीय भावना जगे। हम अपने व्यक्तित्व को हीन नही समझे और अपने व्यक्तित्व के समान ही प्रत्येक व्यक्तित्व का आदर करे।

वैसे रामराज्य की कोई एक परिभाषा नही की जा सकती। किन्तु रामराज्य का रूप जो आप देखना चाहते है, स्वराज्य का स्वरूप जो आप बनाना चाहते है वह तभी बन सकेगा जब हमारी राष्ट्रीय चेतना एक होगी, हम परस्पर अपनत्व की अनुभूति करेंगे।

●

रामराज्य आ सकता है?

[विचारक · उपाध्याय श्री अमरमुनि]

रामराज्य की परिकल्पना के सम्बन्ध मे चल रही विचार परि-

चर्चा को श्री अक्षयजी ने काफी आगे तक बढा दिया है। आज के विषय मे जो कहना चाहिए था वह काफी कुछ कह दिया गया है, अब मैं उस विचार अक के आगे कोई अक रखना नही चाहता; सिर्फ एक बिन्दु रख देना चाहता हूँ। आप समझते हैं एक बिन्दु रख देने से संख्या कितनी अधिक आगे बढ जाती है।

बात यह है कि 'रामराज्य' की चर्चा करके हमने एक ऐसा प्रश्न सामने रख दिया है जिसकी कल्पना अनन्त अतीत के साथ चलती आई है, वर्तमान मे भी चल रही है, और कह नही सकते कब तक चलती रहेगी। पर, उसकी कोई एक ऐकान्तिक परिभाषा आज तक नही लिखी जा सकी! न स्वय प्राचीन ऋषिमुनि लिख पाए, न गाँधीजी ही लिख सके। प्रत्येक युग में उसकी परिभाषाएँ भिन्न-भिन्न होती रही हैं, परिस्थितियो के सन्दर्भ मे रामराज्य की परिकल्पना भिन्न-भिन्न रूप धारण करती रही है। बदलना, बदलना और फिर बदलना—यही क्रम रहा है और रहेगा विश्वचक्र का।

रामराज्य और स्वराज्य

●

मैं समझता हूँ गाधीजी के 'रामराज्य' का अर्थ केवल स्वराज्य नही था, अपितु सुराज्य था। रामराज्य का स्वरूप बहुत विराट्, बहुत व्यापक है। रामराज्य का माने है भारतीय सस्कृति का उज्ज्वलतम चित्र! वह पूरे भारत के चिन्तन और गौरव का प्रतीकार्थ है। रामराज्य एक वह स्थिति है—जो अणु से लेकर महत् तक को परिव्याप्त किए हुए हैं। उपनिषद् के शब्दो मे—"अणोरणीयान् महतो महीयान्" का रूप रामराज्य की कल्पना मे छिपा है।

मैंने कहा—रामराज्य का अर्थ स्वराज्य मात्र नही है, स्व-राज्य तो एक पहली भूमिका है। आज का स्व-राज्य तो उस भूमिका से बहुत नीचे हैं। स्व-राज्य का अर्थ है, जनता अपने को राज्य से अलग नही समझे। शासन-सूत्र के साथ एकत्व की अनुभूति करे, शासन, शासक और शासित तीनो के बीच आत्मीयता की एक कड़ी जुड़ी रहे। स्वराज्य मे वर्ग होते हैं, भेद भी होते हैं, वर्ग और सीमाएं समाप्त नही होती, किन्तु जनता उन वर्गो मे रहकर भी वर्ग-भेद अनुभव नही करती, बटी नही होती। जिस प्रकार आमके एक महा-

वृक्ष की टहनिया पत्ते, फूल, फल आदि का वर्ण व रूप भिन्न-भिन्न होते हुए भी आम्रत्व सबके भीतर एक समान परिव्याप्त रहता है। उसी प्रकार हम सब जो प्रान्त, भाषा आदि के रंग-रूप मे भिन्न प्रतीत होते है, किंतु राष्ट्रीय-भाव का अखण्ड आम्रत्व सबके भीतर परिव्याप्त होना चाहिए। एक राष्ट्रीय चेतना की विराट अनुभूति ही स्वराज्य की मूल भूमिका है।

स्वार्थ और परमार्थ

●

मैं स्वार्थ और परमार्थ मे कोई विशेष अन्तर नही समझता। एक व्यक्ति का सीमित हित, एक व्यक्ति की सीमित आकाँक्षा स्वार्थ है, और सबका हित, सबकी आकाँक्षा-परमार्थ है। एक का स्वार्थ जब सबके लिए समर्पित होता है, राष्ट्रीय भाव से ओत-प्रोत होता है, उसके भीतर विराट् मानवीय चेतना जागृत होती है तो, वह स्वार्थ निश्चित ही परमार्थ हो जाता है। दर्शन की भाषा मे कहा जाए तो एक के स्वार्थ मे सबका स्वार्थ और सबके स्वार्थ मे एक का स्वार्थ जब अन्योन्याश्रित रूप से समाहित होता है, तो वही परमार्थ हो जाता है।

स्वराज्य से सुराज्य की भूमिका स्वार्थ को परमार्थ मे बदलने की भूमिका है। व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए झगडना और उनको सर्वोपरि महत्व देना स्व-राज्य और सुराज्य दोनो के लिए ही घातक है। मेरे विचार मे रामराज्य की कल्पना साकार करने के लिए स्व-राज्य के साथ सुराज्य की कल्पना को पहले साकार करना होगा। और वह व्यक्तिगत हितो, स्वार्थों और आकाँक्षाओ का बलिदान किए बिना कथमपि सभव नही है।

रामराज्य का चित्र

●

मैने बताया आपसे कि रामराज्य की एक परिभाषा कभी नही बन सकी। प्रत्येक युग में इस कल्पना का रूप कुछ बदलता-सा रहा है। फिर भी मूलभूत बात एक ही है, वह यह कि राष्ट्र का जीवन निर्मल हो, स्वच्छ हो। समाज का चरित्र ऊँचा हो, व्यक्ति-व्यक्ति मानवता के भव्य शिखरो पर विचरण करे, समष्टि के व्यापक हित मे चिन्तन हो, चिन्तन के साथ कर्म हो।

छान्दोग्य उपनिषद् मे एक सवाद आता है। कुछ ऋषि एक देश की सीमा के पास से होकर सीधे आगे निकल जाते हैं। उस देश के राजा को जब मालूम होता है कि वे हमारे जनपद से बाहर-बाहर चले जा रहे हैं तो राजा आकर ऋषियो से प्रार्थना करता है- "मेरे जनपद मे ऐसा क्या दोष है ? क्या बुराई है ? कि आप उसे यो छोडकर सीधे-ही बाहर-बाहर चले जा रहे हैं ?" राजा ने अपने देश के चरित्र का भव्य चित्र उपस्थित किया—

> न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
> नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणीकुतः ?

मेरे देश मे कोई चोर-उचक्के नही रहते। कृपण और कंजूस भी जो कि देश के कलक होते है और जो समृद्धि को बटोर कर उस पर साँप बने बैठे रहते हैं, मेरे जनपद मे नही है, श्रीमान् अपनी समृद्धि का देश के हित मे नियोजन करने वाले हैं। कोई शरावी, और दुराचारी नही है। असस्कारी, मूर्ख और अनपढ लोग भी नही है। स्वेच्छाचारिता और उच्छृखलता भी मेरे जनपद मे नही है, तब फिर क्या कारण है कि आप उसे योही छोडकर आगे चले जा रहे हैं।"

मै समझता हूँ राजा ने अपने राष्ट्र का एक सच्चा प्रतिबिम्ब ऋषियो के समक्ष प्रस्तुत किया है। रामराज्य का कोई रूप हो सकता है तो यह एक रूप है। आदर्श राज्य की यह एक परिभाषा है। जिस देश मे चोर और तस्कर नही, जनता श्रम करके धनोपार्जन जरूर करती हो, किंतु उस धन और समृद्धि का उपयोग अपने स्वार्थ और सुख चैन के लिए ही नही, किंतु राष्ट्र की समृद्धि के लिए करती हो, वह देश कितना महान हो सकता है। जैसा कि अक्षयजी ने कहा—अमेरिका और रूस की जनता मे एक राष्ट्रीय-सभ्यता का रूप मिलता है, वह रूप उस सम्राट के शब्दो मे भी आया है--'नानाहिताग्निर्नाविद्वान्' कोई भी असस्कारी; असभ्य और मूर्ख नही है। अनुशासन हीनता की कोई शिकायत जिस देश मे नही होती हो, वह देश कितना आदर्श देश हो सकता है, आप कल्पना कीजिए ! मेरे विचार मे यह एक आदर्शराष्ट्र का चित्र है, और यह रामराज्य का एक सुन्दर प्रतीक भी है।

●

गाँधी जी के रामराज्य का स्वप्न क्या था, वे जीवित रहते तो उसे क्या रूप देते इस सम्बन्ध मे आज कोई क्या कह सकता है ? किंतु यह निश्चित है कि उनके चिन्तन मे भारतीय सस्कृति और परम्परा के ही परमाणु घुले-मिले थे, भारतीय सस्कृति का चिन्तन ही उनमे व्याप्त था। भारतीय सस्कृति और परम्परा के चिन्तन की उपज ही 'गाँधी जी थे' यह कहना चाहिए। तो फिर मानना चाहिए कि भारतीय सस्कृति के अनुरूप ही उनकी कल्पना और उनके स्वप्न होते, और उस स्वप्न का ही एक चित्र उक्त आदर्श राष्ट्र की कल्पना मे झलक रहा है।

जैसा कि अक्षयजी ने कहा है—'देश मे भौतिक समृद्धि निरन्तर बढ़ रही है' यह ठीक है, किंतु उसके साथ तृष्णा एव आकाक्षाएँ भी बढ़ती रही है, और साथ ही कर्म तथा श्रम मे निष्ठा कम होती जा रही है।

आवश्यकता और इच्छा दो अलग-अलग चीज है। आवश्यकता जीवन की मूलभूत अनिवार्यता है, जीवन जीने के लिए उसकी पूर्ति होनी ही चाहिए। किंतु आवश्यकता के साथ असीम इच्छाएँ जब जुड जाती हैं तो, एक समस्या खडी हो जाती है। आज आवश्यकता के नाम पर इच्छाओ की सुरसा मुँह फैला रही है, और इस जीवन के हनुमान को निगल जाना चाहती है। रामायण मे बताया है—जब सुरसा अपना मुह फैलाती गई और हनुमान भी अपने आपको फैलाते गए तो दोनो मे होड लग गई। समस्या सुलझी नही, किंतु जब हनुमान ने सूक्ष्म रूप बनाया तो तुरन्त उसके मुह से पार हो गए।

इच्छाओ की सुरसा के सामने जीवन को फैलाते गए तो कभी भी समस्या नही सुलझेगी। जीवन को सूक्ष्म बनाना होगा, हमे सिमटना होगा, आवश्यकताओ को सक्षिप्त करना होगा, तभी इच्छाओ के द्वन्द्व से पार हो सकेगे।

यह ठीक है कि-जीवन की आवश्यकताएँ आज पहले से अधिक बढ गई हैं। किसी रूप मे यह प्रगति का सूचक भी माना जा सकता है, किंतु आवश्यकता तो बढती है, मगर उसे पूर्ति करने के लिए

उचित श्रम और कर्म नही बढता है तो आवश्यकता समस्या बन जाती है। आवश्यकता और कर्म मे सन्तुलन होना चाहिए। इस असन्तुलन का ही परिणाम आज लूट-खसोट, भ्रष्टाचार, रिश्वत और मुनाफाखोरी के रूप मे जीवन का सरदर्द बन रहा है। यदि आवश्यकता के साथ कर्म बढता रहे, श्रमनिष्ठा जगती रहे तो शायद यह समस्या पैदा ही नही होगी कि जनसख्या और बढती गई तो क्या खिलायेगे ? उचित कर्म और श्रम राष्ट्र की समृद्धि बढाता जाता है, जीवन मे सुख का द्वार खोलता जाता है। ऋग्वेद के ऋषि ने तो श्रम और कर्म के प्रतीक हाथ को ही भगवान के रूप मे देखा है —

> अयं मे हस्तो भगवानय मे भगवत्तर ।
> अय मे विश्वभेषजोऽय शिवाभिमर्शनः ॥

यह मेरा हाथ ही भगवान् है, भाग्य का निर्माता है और भगवान ही क्या, भगवान से भी श्रेष्ठ है। यह हाथ ही विश्व के समस्त रोगो की औषधि है, इसके स्पर्शमात्र से सृष्टि के सब सकट दूर हो कर कल्याण का द्वार खुल जाता है।

मै देखता हूँ आज जनता मे श्रम-निष्ठा की कमी होती जा रही है, कर्म करने की वृत्ति दुर्बल होती जा रही है, और साथ ही आवश्यकताएँ निरन्तर बढ रही हैं। जीवन का स्तर बढ रहा है, इच्छाएँ प्रतिस्पर्धा का रूप ले रही है।

इच्छा अहंकार का रूप है

●

मैंने बताया आपसे कि इच्छा और आवश्यकता मे अन्तर करना होगा। भूख लगती है, तो उसे शान्त करने के लिए रोटी चाहिए, वह रोटी चाहे पत्तल मे मिले या थाली मे। हमे तो भूख शान्त करनी है। मगर जब प्रश्न रोटी का नही, किंतु थाली का अड जाता है, थाली पीतल की चाहिए, या चाँदी की चाहिए। यहाँ क्षुधा पूर्ति का प्रश्न नही रहता, किंतु अहकारपूर्ति का प्रश्न आ जाता है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को यह अहकार का प्रश्न ही परेशान करता है। व्यक्ति के अन्तर्तम को कचोटता रहता है, उसे कभी शान्त नही रहने देता। स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्र मे जो समस्याएँ

पैदा हुई हैं, तथा व्यक्ति आज पहले से अधिक क्षुब्ध एवं अशान्त प्रतीत होता है, और इस क्षोभ के मारे स्वराज्य को, स्वतन्त्रता को कोसने लगा है, उसका कारण भी यही है कि व्यक्ति की इच्छाएँ, आकाँक्षाए बहुत तीव्र हो गई हैं, और उनकी पूर्ति होना बहुत कठिन है। जैसा कि अक्षयजी ने कहा—हमने स्व-राज्य से बहुत ज्यादा आकाक्षाएँ की, और उनकी पूर्ति करपाना किसी भी नवोदित राष्ट्र के लिए आसान नही है, इसीलिए जनता को स्वराज्य से निराशा हुई है और आज वह अशान्त, क्षुब्ध और बौखलाई हुई-सी है।

रामराज्य के आधार-स्तम्भ

●

आपके मन मे प्रश्न पैदा हो सकता है कि क्या स्वराज्य और रामराज्य की कल्पना फिर मात्र मिट्टी का खिलौना बनकर रह जाएगी ? केवल स्वप्नो और काव्यो की वस्तु ही बनी रहेगी ?

दरअसल बात ऐसी नही है। गाँधीजी ने रामराज्य की जो कल्पना दी थी वह कोई आकाश से टपककर नही आई थी। गाँधी जी भारतीय चिन्तन एव सस्कृति की उपज थे, इसलिए उनकी राम-राज्य की कल्पना भी भारतीय चिन्तन एव सस्कृति की ही देन है। भारतीय सस्कृति मे रामराज्य की कल्पना को चरितार्थ करने वाले दो प्रमुख तत्त्व रहे हैं—सयम और करुणा।

सयम का अर्थ बहुत व्यापक है, वह कुछ नियत काल की साधना मात्र नही है, वह तो जीवन का अभिन्न अग है। जब तक हम अपने आपको सयमित और अनुशासित नही कर लेते हैं, तब तक समाज मे सुख और शान्ति के साथ जी नही सकते। सयम इच्छाओ को सीमित करता है, आकाँक्षाओ के आगे एक रेखा खीच देता है, जो हमारे व्यक्तित्व को खण्डित होने से बचाती है। और करुणा मानव को अपनी उपलब्धियो को दूसरे जरूरतमन्दो के लिए उत्सर्ग करने को बिना किसी दवाब के सहज भाव से प्रेरित करती है। व्यक्तित्व का अवमूल्यन तभी रुकेगा, जब हम अपने आपको सयमित, स्वस्थ, एव करुणार्द्र कर पाएँगे।

अपना सही मूल्यांकन करिए

मैं देखता हूँ, वर्तमान का जन-जीवन एक सबसे खतरनाक मानसिक बीमारी से आक्रान्त हो रहा है, वह है अपना मूल्य गिराने की बीमारी। कल्पना कीजिए– आप पैदल चल रहे हैं, सामने से कोई साइकिलवाला आगया और सर्‌सर्‌ करता आपके बगल से निकल गया तो आपके मन मे एक हीन-सकल्प उठ गया कि—"इसके पास साईकिल है, हम पैदल हैं। आपने अपना मूल्य कम समझ लिया और साईकिल को महत्व दे दिया। साईकिल वाले का मूल्य बढा दिया। स्कूटरवाले को देखा तो साईकिल वाले ने अपना मूल्य कम कर दिया और स्कूटर वाले को अपने से बडा समझने लगा। कार वाला कोई सामने आ गया तो बस, आप अपनी नजर मे ही अपने को तुच्छ और हीन समझने लग गए। कार वाले को बहुत महत्व दे दिया। कार के समक्ष स्कूटर का मूल्य गिर गया। अपनी नजर मे अपना मूल्य गिराने की यह वृत्ति बहुत खतरनाक है।

मैं सोचता हूँ मूल्यॉकन की यह दृष्टि बदलनी होगी। हमे अपने व्यक्तित्व का भान करना होगा, और अपना मूल्य समझना होगा। क्या आपका अपना मूल्य कुछ नही है? भौतिक वस्तुओ के भावा-भाव से ही आपका मूल्य बढता-घटता है? आप अपने महान् मूल्य को क्यो गिराते है? अपने व्यक्तित्व को गिराने से व्यक्ति गिर जाता है, समाज गिर जाता है और राष्ट्र गिर जाता है।

प्राचीन भारत मे मूल्याकन की पद्धति कुछ और थी। व्यक्तित्व के पैमाने कुछ बड़े और अच्छे थे। वहा भौतिक विकास का मूल्य नही होता, किंतु चरित्र का मूल्य होता था। बडी बडी सत्ताए चरित्र के सामने नतमस्तक होती थी। सम्राट और सेनापति त्यागी ऋपियो के चरणो मे झुके रहते थे।

जैसा कि मैंने सुना है—स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका गए, तो उनके शरीर पर तो वही एक साधारण सी चादर कधे पर, और एक लुंगी, बस जो यहॉं, वही वहा!

धनकुवेर अमेरिका के कुछ लोगो ने कहा (जो अपने को नई सभ्यता और सस्कृति के दावेदार समझते थे) आपकी यह कैसी सस्कृति है? कैसी सभ्यता है?

स्वामीजी जरा मुस्कराए और बोले—जी हा, आपकी सस्कृति मे और मेरी सस्कृति मे अन्तर हैं । आपके यहाँ सस्कृति का निर्माण दर्जी करते हैं और मेरे देश मे चरित्र करता है।

मेरे विचार मे यही एक विकल्प है जो हमारे दृष्टिकोण को नया मोड दे सकता है, हमारी मूल्यांकन पद्धति को बदल सकता है, और हमे अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व की गौरवानुभूति करा सकता है।

आजकल कुछ हीनस्तर की बातो का बहुत अधिक विज्ञापन हो रहा है। 'भ्रष्टाचार बढ रहा है. रिश्वत, बेईमानी, डाका, हत्याएँ और अराजकता फैल रही है, देश रसातल. की ओर जा रहा है आदि।' हमारे अक्षयजी जैसे पत्रकारो ने भी इन बातो को बहुत महत्व दे दिया है, और जनता ने भी। प्रतिदिन अखबारो मे ऐसी ही, अभव्य घटनाएँ खास सुर्खियो मे स्थान पाती हैं, जनता की मनो वृत्ति भी विचित्र है, जब कोई ऐसी सनसनीखेज खबर नही होती तो पढने वाले कहते हैं कि "अरे आज तो कोई खास खबर ही नही है। मारो भी गोली अखबार को।" मेरी समझ मे विज्ञापन की यह पद्धति गलत है। इससे देश का उत्थान होने वाला नही है। अपराध और हिंसा को महत्व देने से हमारा दृष्टिकोण भी अपराधी बनता जाएगा। भारत एक विशाल राष्ट्र है। इतने बडे देश मे कुछ ऐसी घटनाओ का हो जाना कोई बडी बात नही। और आज ही क्यो,ऐसी घटनाए कब नही होती थी ? रामराज्य में भी घटनाएँ होती थी, कृष्ण के युग मे भी घटनाए होती थी, किन्तु तब उनको इतना महत्व नही दिया जाता, विज्ञापन नही होता था, आज वे घटनाएँ अखबारो की सुर्खियो मे आती हैं। परन्तु जीवन तो देवासुर-सग्राम है। यहाँ रावण है तो राम भी तो है, कस है तो कृष्ण भी तो है, बुरी घटना होती हैं तो अच्छी घटनाएँ भी तो बहुत होती है, ईमानदारी और राष्ट्र प्रेम के उज्ज्वल उदाहरण भी तो सामने आते हैं, किंतु वे सब अखबारो की तलछट मे चले जाते हैं और सुर्खियो मे वे ही गलत घटनाएँ ही चमकती रहती है।

मैं सोचता हूँ गाधीजी के रामराज्य की कल्पना को चरितार्थ करने के लिए सबसे पहले हमे मूल्याकन की इस पद्धति को बदलना होगा। अपनी नजर को सही करना होगा। अपने व्यक्तित्व का

मूल्य समझना होगा। वह धन या सत्ता से नही, किंतु अपने आत्म-वल एव चरित्र से ही होगा। और इसी आधार पर समूचे राष्ट्र का मूल्य आँकना होगा। राष्ट्रीय जीवन मे सयम और चरित्र की प्रधानता स्थापित करनी होगी। तपोनिष्ठ बनना होगा। तप का अर्थ सिर्फ सहन करना ही नही, किंतु सहिष्णुता, उदारता और श्रमनिष्ठा को महत्व देना है। प्रत्येक व्यक्ति मे राष्ट्रीय चेतना जगेगी, राष्ट्रीय गौरव की अनुभूति होगी और राष्ट्र उनके गौरवशाली व्यक्तित्व से, उनके चरित्र और आत्मबल से समृद्ध होगा तो फिर रामराज्य की कल्पना परियो के देश की कहानी नही, किंतु इसी धरती का जीता जागता चित्र होगा, ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।

सम्पादन

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

●

आत्मोन्नति का मार्ग :

पापी जो कि मिले सहर्ष उसको धर्मी बना लीजिए,
भूला जो कि मिले सहर्ष उसको रास्ता बता दीजिए।
द्वेषी जो कि मिले सहर्ष उसको प्रेमी बना लीजिए,
आत्मोन्नति का मार्ग है बस, यही स्वान्ते जचा लीजिए।

—अमर माधुरी से

●

[श्री अमरभारती के मार्च अक मे 'आदियुग का महाप्राण व्यक्तित्व भगवान ऋषभदेव' शीर्षक से उपाध्यायश्री जी का एक ऐतिहासिक विचार विश्लेषण प्रकाशित हुआ। चिन्तन की गहराई का स्पर्श जिन्हे हुआ, पढ़कर वे आनन्द विभोर हो उठे। किंतु वस्तु-विचार को देखने के कुछ बधे-बधाए रूढ़िगत दृष्टिकोण ऐसे भी थे जो ऊपरी शब्द-सतह पर ही तैरते रहे। सतही तैराकी मे मणियां नही मिलती, मिलता है कुछ और ही! वही उन्हे मिला। कुछ सामान्य जिज्ञासुओ की दृष्टि भी चु धिया गई और उनके डगमगाते प्रश्न सामने आए।

श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी का स्वास्थ्य इधर मे काफी अस्वस्थ रहा। किंतु श्री डोसीजी की साधारण पाठको को गुमराह करने वाली कुछ लच्चर तर्कों व शाब्दिक-हेराफेरी का समाधान भी आवश्यक था, उसी दृष्टि से जिज्ञासुओ के सही समाधान के लिए यहा पर हम उनका महत्वपूर्ण विचारविश्लेपण प्रस्तुत कर रहे हैं।

—सम्पादक]

उपाध्याय अमरमुनि

क्या भगवान ऋषभदेव का वर्षीतप तप नहीं था ?

भगवान् ऋषभदेव, आज के इतिहासविदो की कालगणना से परे सुदूर पौराणिक युग के महापुरुष है।[1] उनके नाम की प्रतिध्वनि विश्व के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ वेदो[2] तक मे सुनाई देती हैं। इससे भी पहले की सिंधु घाटी सभ्यता मे भी कुछ ऐसे ध्यान-

१ (क) वायुपुराण, पूर्वार्ध ५ अ० श्लो० ३३
(ख) कूर्मपुराण अ० ४१ श्लो० ३७
(ग) श्रीमद्‌भगवत पचम स्कन्ध।

२ (क) ऋग्वेद ४।५८।३
(ख) भारतीय दर्शन का इतिहास, डा० राधाकृष्णन् जिल्द १ पृ० २८७।

मुद्रा के प्रतीक मिले हैं, जिनका सम्बन्ध कुछ पुरातत्त्वविद् ध्यान-योगी भगवान् ऋषभदेव से जोडते हैं।

जबकि हजार-पन्द्रह सौ वर्ष प्राचीन कहे जाने वाले इतिवृत्तो मे ही अनेक प्रक्षिप्त अंश जुड जाते है, अनुश्रुतियो के अबार लग जाते है, सच्ची झूठी किवदतियो की अनेक परतें जम जाती हैं, तब भगवान् ऋषभदेव तो लाखो वर्ष पहले, जैन भाषा के अनुसार तो करोडो वर्ष[3] पहले हो चुके हैं। अत उनकी जीवन घटनाओ से सम्बन्धित जो इतिवृत्त आज उपलब्ध हैं, नही कहा जा सकता कि उनमे भूतार्थ कितना है, और भक्ति एव कल्पना के प्रवाह मे जमा हुआ अभूतार्थ कितना है ? काल की परत पर परत और परत पर परत इतनी जम गई है कि उन सबको भेदकर अन्दर के घटित मूलार्थ को निकालना किसी भी प्रतिभा के लिए सहज नही रहा है।

वैदिक परम्परा के पुराणो मे भगवान् ऋषभदेव के विभिन्न वर्णन है, जो एक-दूसरे से टकराते है। जैन परम्परा मे भी ऐक्य नही है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही कुछ दूर साथ रहते हैं, और फिर अलग पड़ जाते हैं। एक परम्परा के आचार्य और कथाकार भी परस्पर विभिन्न बोलिया बोलते है। ऐसी स्थिति मे किसी एक एकात का दावेदार बनकर चर्चा के मैदान मे उतरने का साहस या दु साहस कुछ भी कहिए, कोई तटस्थ विचारक तो कर नही सकता। हाँ, कोई अन्य करे तो करे, ऐसे व्यामोहो की चिकित्सा का अभी तक धरती पर कोई प्रबन्ध हुआ नही है। भविष्य मे कभी होगा भी, मैं भला क्या कह सकता हूँ ?

भगवान् ऋषभदेव के जीवन की घटनाएँ काफी पुराने समय से विवादास्पद हैं, और उन्होने साम्प्रदायिक मान्यताओ का रूप ले लिया है, जिन्हे चुनौती देना, आफत मोल लेना है। इसीलिए कई विचारक सिर्फ फुसफुसाहट करके रह जाते हैं, सार्वजनिक मच पर न मुह खोलते है और न कुछ लिखते हैं। फिर भी मानव की सहज सत्य-जिज्ञासा किसी-न-किसी रूप मे ऊपर उभर कर आ ही जाती है। कुछ ऐसी ही बात भगवान् ऋषभदेव के वर्षीतप के सम्बन्ध में हो गई है।

---

३ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, कल्प सूत्र आदि।

भगवान् आदिनाथ ने जब मुनि दीक्षा धारणा की, तब मानव-सभ्यता का आदिकाल था। भगवान् ने जनता को कर्मक्षेत्र मे तो उतार दिया था, वनवासी सभ्यता से नगरवासी सभ्यता का सूत्रपात भी कर दिया था, परन्तु धर्मक्षेत्र मे अभी तक कोई काम नही हुआ था। अत. भगवान् दीक्षा लेकर जब यथावसर आहार के लिए जनता के द्वार पर गए तो भिक्षा-दान से अपरिचित स्त्री पुरुष मणिमाणिक्य, मुक्ता, अश्व, गज और तो क्या कन्याएँ भी भेंट के रूप मे अर्पण करने को प्रस्तुत होते, किन्तु भिक्षा कोई नही देता था, अत भगवान् मौन भाव से वापस लौट आते। अगले दिन फिर जाते और फिर यो ही लौट आते। वर्ष भर इधर उधर यो ही आहार की इच्छा लिए घूमते रहे, पर आहार मिला नही और इस प्रकार आहार की तलाश मे घूमते-फिरते काल लम्बा होता गया, और वर्ष पूरा हो गया। इसी सन्दर्भ मे कुछ लेखक अन्तराय कर्म की बात भी कहते हैं। उनका कहना है कि भगवान् आहार तो लेना चाहते थे, परन्तु लोग भिक्षादान से अनजान थे और भगवान् को अन्तराय कर्म का उदय था, इसलिए आहार मिला नही। अन्ततः वर्ष के बाद बैशाख शुक्ला तृतीया को श्रेयास के द्वारा पारणा हुआ।[४] यह एक धारणा है, जो प्राय श्वेताम्बर परम्परा मे प्रचलित है।

दूसरी धारणा दिगम्बर परम्परा की है। आचार्य जिनसेन जैसे श्रुतधर आचार्यों ने लिखा है कि भगवान् ऋषभदेव ने छह मासी का उत्कृष्ट तप किया। और अन्त मे कच्छ महाकच्छ आदि को क्षुधा-वश भ्रष्ट जानकर चिन्तन किया कि मुझे भविष्य के साधको के लिए आहार ग्रहण करने की परम्परा प्रतिष्ठापित करनी चाहिए, फलत· आहार ग्रहण करने के लिए चले, परन्तु तत्कालीन जनता अन्नदान की विधि जानती न थी, इसलिए आहार न मिला। अन्तत· वर्ष की समाप्ति पर राजकुमार श्रेयाँस के द्वारा पारणा हुआ।[५]

वर्षीतप के सम्बन्ध मे इस प्रकार दोनो परम्पराओ मे दो विचार धाराएँ हैं। अब प्रश्न यह है कि इनमे से कौन सत्य के निकट

---

४ (क) वर्षान्ते पारण व्यधात्—आवश्यक कथा

(ख) राघशुक्लतृतीयाया दानमासीत् तदक्षयम्। —त्रिषष्टि० १।३।३०१

५। पुराणसार सग्रह ३।४१

है, और कौन नही ? आज हम जिस स्थिति मे है, बिना किसी साधक-बाधक प्रमाण के क्या निर्णय कर सकते हैं ? फिर भी कुछ युक्तियाँ हैं, कुछ तर्क हैं, जिनके आधार पर दोनो पक्षो के औचित्य एव अनौचित्य का विचार किया जा सकता है। इसके लिए साम्प्रदायिक पक्षापक्ष से ऊपर उठना होगा, और चिन्तन को निष्पक्ष दिशा मे ले जाना होगा। कोई क्या कहेगा, निन्दा होगी या स्तुति ? यह विकल्प सत्यशोधक के पथ का सबसे बड़ा रोडा है, इसे सत्साहस की ठोकर से अलग करना ही होगा। और मैंने ऐसा ही कुछ किया भी है। चिन्तन के प्रारम्भिक क्षणो से ही मेरे मन को प्रचलित श्वेताम्बर मान्यता झकझोर रही थी, यही कि जब प्रतिदिन आहार की इच्छा लिए भगवान् चर्या करते थे, नही मिलता था तो लौटकर आ जाते थे, तब यह तप क्या हुआ ? हम इसे वर्षीतप कहते हैं, प्राचीन आचार्यों ने भी वर्षीतप कहा है। परन्तु तप मे आहार का विकल्प विद्यमान हो, और वह प्रतिदिन हो, भले ही परिस्थिति की प्रतिकूलता से आहार न मिलता हो तो वह तप कैसे हो सकता है ? अनशन तप प्रत्याख्यान स्वरूप है, वह अदर में आहार के विकल्प का परिहार है। अन्तर मे आहार की इच्छा रहते हुए भी यदि बाहर मे परिस्थितिवश आहार न मिला, तो उस अतीत के अलाभ को तप मे कैसे सम्मिलित किया जा सकता है ? यह तो स्पष्ट ही अलाभ परीषह है। अलाभ परीषह को समभाव से सहन करना और निराहार रहना, एक अलग बात है और अनशन तप अपने मे एक अलग प्रक्रिया है। अलाभ परीषह को सह लेने की पद्धति उत्तराध्ययन सूत्र के परीषह अध्ययन मे यह बताई है कि "आज नही मिला, तो चलो, कोई बात नही। क्या है, कल मिल जाएगा"।[६] इस प्रकार कल होने वाले लाभ की कल्पना के सहारे आज के अलाभ को सहन किया जा सकता है। क्या भगवान् ऋषभदेव भी इसी चिन्तनपद्धति से प्रतिदिन कल, कल और कल की कल्पना के पथ पर आगे बढते गए और वर्ष पूरा कर गए। मेरे मन को तो यह नही जचता है। साधारण कोटि के साधक के लिए परीषह अध्ययन की चिन्तन प्रक्रिया का औचित्य है। परन्तु तीर्थंकर भगवान् जैसे महान् आत्मा के लिए इस प्रकार अलाभ परीषह को आगामी लाभ की आशा पर सहते जाना,

६ अज्जेवाहं न लब्भामि अवि लाभो सुए सिया। —उत्तराध्ययन २।३१

आगे बढते जाना,और वह भी इतना लम्बा कि एक वर्ष, उचित नहीं ज्ञात पडता। और फिर उसे वर्षीतप कहना, तो कैसे सगत हो सकता है? इस प्रकार के वर्षीतप की अपेक्षा तो यह अच्छा है कि वर्षीतप माना ही न जाए, और दीक्षा के अगले दिन ही पारणा मान लिया जाए। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे षष्ठ भक्त का उल्लेख है, जो भगवान ने दीक्षा से पहले ही स्वीकृत कर रखा था। दीक्षा लेने के बाद भगवान् आहार के लिए उठे, परन्तु भिक्षादान से अनभिज्ञ जनता द्वारा आहार नही मिला, फलत एक वर्ष तक निराहार रहे, ऐसा कुछ वर्णन जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति मे नही है। इसलिए आगम के आधार पर उक्त वर्षीतप की घटना को स्वीकार ही न करें, तो क्या आपत्ति है? यदि आगमेतर साहित्य के आधार पर स्वीकार करते हैं, तो फिर उसका रूप कुछ और होना चाहिए और वह होना चाहिए वर्षीतप की मर्यादा के ठीक अनुकूल। केवल अलाभ के कारण वर्षीतप का हो जाना, वर्षीतप को गौरवशिखरारूढ नही करता।

यह ठीक है कि जनता भिक्षादान से अनभिज्ञ थी, परन्तु प्रश्न है कि यह तो भगवान् जानते ही थे और दो चार बार जाने पर तो साधारण से साधारण व्यक्ति को भी पता लग जाता है कि वस्तुत क्या स्थिति है? क्या भगवान् को इतना भी पता नही लगा? यदि लगा, और वस्तुत लगा ही, तो फिर इसमे क्या तुक है कि जानबूझ कर भी बार-बार दान से अपरिचित अनजान लोगो के वहा जाना, और उन्हे परेशानी मे डालना। भगवान के साथ चार हजार व्यक्ति, जो केवल अनुकरण पर भिक्षु बन गये थे, बुभुक्षित फिरते रहे, भगवान् का मुख देखते रहे, भगवान् मौन रहे, और आखिर मरता क्या न करता, बेचारे इधर-उधर भटक गए, कही के न रहे। भगवान् अपनी आखो के समक्ष यह सब देखते रहे, और कुछ भी बोध न दे पाए। तर्क हो सकता है कि भगवान् मौन रहते थे। तीर्थंकर साधनाकाल मे मौन रहते हैं, अत: वे न जनता को कुछ समझा सकते थे, और न साथ के भटकते भिक्षुओ को ही। मैं सोचता हूँ, क्या यह तर्क प्राणवान् है? मेरी अन्तरात्मा का उत्तर है—बिल्कुल नही। यह तर्क सम्भव है पुराकाल मे कुछ लोगो का समाधान करता रहा हो,पर आज तो बिल्कुल नही। यह ठीक है कि तीर्थंकर साधनाकाल मे प्राय मौन रहते हैं। परन्तु मौन रहना, एकान्त नही है,

सर्वथा नही है, सर्वदा नही है। यदि ऐसा होता तो भगवान् महावीर साधनाकाल मे कैसे बोलते ? भगवान् महावीर ने गौशालक को तेजो लेश्यालब्धि की साधनाविधि बतलाई है, और बतलाया है खेत के एक पौधे का भविष्य। भगवती सूत्र[७] उक्त वर्णनो का साक्षी है। कथा ग्रन्थो मे[८] अन्य भी कितने ही वर्णन भगवान् महावीर के छद्मस्थकालीन वार्तालाप के उपलब्ध हैं। अब विचारणीय प्रश्न है कि ऐसा क्यो हुआ ? क्या तीर्थंकर महावीर भगवान् ऋषभ से निकृष्ट कोटि के तीर्थंकर थे ? क्या उन्होने वास्तव मे ही तीर्थंकरत्व की मर्यादा का ठीक तरह पालन नही किया? सम्भव है कोई शब्दस्पर्शी शास्त्राभिमानी विकृत मस्तिष्क 'हाँ' मे उत्तर दे। परन्तु मैं 'हाँ' मे उत्तर नही दे सकता। उत्तर क्या, मै ऐसा कुछ सोच भी नही सकता। मैं ही क्या, कोई भी सचेतन मस्तिष्क ऐसा विकृत एव अनर्गल विकल्प नही कर सकता। सही बात यह है कि तीर्थंकरो का यह साधनाकालीन मौन का प्रवाद केवल प्रायोवाद है, सर्वथा सर्वदावाद नही। अस्तु, भगवान् ऋषभदेव यदि बोल लेते तो कोई अघटित घटित नही हो जाता। यह क्या बात कि भक्तिप्रवण लोग भिक्षा से अनजान मणि, मुक्ता, अश्व, गज एव कन्या आदि लिए पीछे पीछे फिर रहे है, भगवान् नही लेते, तो हैरान है कि आखिर भगवान् चाहते क्या हैं ? एक दो दिन नही, दस-वीस दिन नही, महीने-दो महीने भी नही, पूरे वर्ष यह क्रम चलता है, जैसा कि कहा जाता है, प्रतिदिन चलता है, और भगवान् मौन है, सही स्थिति को जानते हुए भी प्रतिदिन यही भिक्षोपलब्धि का कार्यक्रम दुहराते हैं। न लोगो को समझाते हैं, और न स्वय समय आया न जानकर एकान्त साधना मे लीन होते हैं। अपने सामने साथ के समागत भिक्षु कहे जाने वाले साथी कुछ भी समझ न पाकर भटक रहे है, पथभ्रष्ट हो रहे हैं। भगवान देख रहे है, परन्तु मौन हैं, कुछ कह नही सकते। यह चित्रण बडा ही करुण है। मेरे चिन्तन को स्पर्श नही करपाता,

---

७ भगवती सूत्र, १५ वाँ शतक।

८ (क) त्रिषष्टि० १०।३।२५-३१

(ख) आवश्यक चूर्णि पत्र २६९-७०

(ग) त्रिषष्टि० १०।१ सर्ग ४

कतई स्पर्श नही कर पाता । अतः मैं अब से नही, काफी समय से चिन्तन मे रहा हूँ, और मैने तब निर्णय किया था कि भगवान प्रारभ से ही तप की साधना मे रहे है। श्वेताम्बर परम्परा वर्षी तप मानती हैं।[९] तो मैंने माना कि वर्षीतप ही उनका चालू रहा। इस बीच एकान्त ध्यानयोग की साधना मे लीन रहे। कब कौन साथ के गए आए, इस देखभाल से वे दूर रहे, आतमस्थ रहे। अतः प्रतिदिन की भिक्षा चर्या और भिक्षा अभाव के प्रपच को अवकाश ही नही रहता, और न साथियो को भटकते जानकर, साक्षात् पथभ्रष्ट होते देखकर भी बोध न देने का आरोप ही उन पर आता है। अब रही जनता की भिक्षादान से अनभिज्ञता और अलाभ की बात, जिसका कि उल्लेख ग्रन्थो मे है। मैं उसको भी नकारता नही हूँ। यह सब दीक्षा काल से न मानकर, वर्षीतप के बाद पारणाकाल मे मानना, ठीक लगता है। श्रीजिनसेन आदि आचार्यों ने ऐसा ही कहा भी है।[१०]

---

९ (क) आरोवणा निष्फन्न, छउमत्थे ज जिणेहिमुक्कोसा।
तं तस्स उ तित्थे, ववहरण घन्नपिडग च।
—व्यवहार भाष्य उ० १

छद्मस्थे छद्मस्थकाले यत् जिनै स्वस्व कालापेक्षया
उत्कृष्टतप कर्म्म कृत तस्य तीर्थे तावत्प्रमाणमेवा
रोपणानिष्पन्न तप कर्म्म व्यवह्रियते।
—व्यवहार भाष्य उ० १ मलयगिरि वृत्ति

सवच्छर तु पढमे मज्भिमगाणट्ठमासिय होइ।
छम्मास पच्छिमस्स उमाणभणियं त उक्केस॥
—व्यवहार भाष्य उ० १

उपर्युक्त व्यवहार भाष्य एव उसकी मलयगिरि वृत्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन-जिन तीर्थंकरो ने अपने छदमस्थकाल में जो उत्कृष्ट तप किया वह उनके शासनकाल का उत्कृष्ट तप कर्म होता था। जैसे प्रथम तीर्थंकर का एक वर्ष मध्य तीर्थंकरो का अष्ट-मास एव चरम तीर्थङ्करका उत्कृष्ट तप कर्म षट्मास था।

(ख) न गृह्णाम्यभिग्रहाय, —त्रिषष्टि० ०१।३।२४१

(ग) वर्षीतपनो पारणु करवा। —स्वामी रतनचन्द्रजी

१० (क) महापुराण २०वां पर्व,

(ख) त्रिषष्टि० १।३।२५३—२६३।

वर्षीतप की मान्यता से भी यह ठीक बैठ जाता है। यदि उल्लेखानुसार वर्ष तक अभावमूलक अनाहारी रहने का और तदनुसार ही वर्षीतप मानने का एकान्तवाद है, तो फिर वर्ष तो दीक्षाग्रहण के दिन चैत्र कृष्णा नवमी को ही पूरा हो जाता है, अतः इसी दिन पारणा हो जाना चाहिए था। किंतु पारणा होता है वैसाख शुक्ला अक्षय तृतीया को, जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र आदि प्राचीन आचार्यों ने माना है, और जो परम्परा आज तक प्रचलित भी है। भिक्षा न मिलने के कारण केवल अभाव के आधार पर ही वर्षीतप माना जाता है तो यह बारह महीने से बढकर तेरह महीने से कुछ ऊपर क्यो है? बारह महीने का वर्षीतप न कहकर तेरह महीने का तप कहना चाहिए। पर, ऐसा न पहले कहा गया है और न अब कहा जाता है। इस पर से मेरी मान्यता यह बनी है कि बारह महीने का तप तो वर्षीतप था, और बाद मे भगवान् ने पथभ्रष्ट भिक्षुओ की स्थिति को जानकर, एव भविष्य के साधको के लिए आहार ग्रहण करने की परम्परा प्रतिष्ठापित करने के लिए, आहार ग्रहण का विचार किया, और भिक्षाचर्या के लिए चले। उस समय हस्तिनागपुर जाते हुए बीच मे भिक्षा विधि से अनजान लोगो ने भगवान् को आहार न देकर मणि, मुक्ता आदि अर्पण करना चाहा। और इस प्रकार हस्तिनागपुर आते-आते एक महीना और ऐसे ही निकल गया। परन्तु आचार्यों ने इसे तप के रूप मे स्वीकृत नही किया, केवल अलाभ के कारण निराहार-निरशन भर माना। तप केवल वर्षीतप ही रहा। यह है भगवान् ऋषभदेव के वर्षीतप के सम्बन्ध मे मेरा अपना चिन्तन, मनन, तर्क एव निर्णय। और यह सब आज का नही, काफी समय पहले का है। और मैं अपनी सुदूर की विहार यात्राओ मे, अनेक स्थानो पर, यथाप्रसग बिना किसी सकोच के इसे दुहराता भी रहा हूँ।

ऊपर जिस निर्णय पर मै पहुँचा हूँ, वह केवल मेरे मस्तिष्क के व्यक्तिगत तर्कों पर ही आधारित नही है। इधर मेरे तर्क गतिशील रहे और उधर श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्परा के आचार्यों के मूर्धन्य ग्रन्थो का अध्ययन भी चलता रहा। मैं ज्यो-ज्यो अध्ययन के पथ पर आगे बढ़ा, मुझे कुछ ऐसे प्रमाण मिलते गए, जिससे मेरा पूर्व निर्धारित विश्वास अधिकाधिक पुष्ट होता गया। मेरी एक

आदत है कि जब तक मुझे कोई प्रमाण न मिले, तब तक मै अपने तर्कों की व्यक्तिगत चर्चा तो कर लेता हूँ परन्तु सार्वजनिक रूप से उन्हे प्रचारित कम ही करता हूँ। जब मुझे आचार्य जिनसेन, दामनन्दी तथा अमरसूरी आदि के प्रमाण उपलब्ध हो गए तो मैंने उन्हे सार्वजनिक मच पर भी उपस्थित करना प्रारम्भ कर दिया।

कुछ समय पूर्व मुझे "ऋषभदेव एक परिशीलन" ग्रन्थ पर भूमिका लिखने का आग्रहपूर्वक प्रसग मिला। मैंने भगवान् ऋषभदेव के महामहिम, गुरुगम्भीर, दिव्य जीवन का विश्लेषण करते हुए भक्तिप्रवण भावना से भूमिका लिखी, और वह कुछ विचारको को इतनी अधिक पसन्द आई कि अमरभारती के सम्पादक ने उसे अमर भारती मे प्रकाशित कर दिया। मैंने उसमे आचार्य जिनसेन के महा पुराण को प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया था, ताकि जिज्ञासु जनता को पता चले कि इस विचार का प्रतिपादक केवल मैं ही नही, प्राचीन आचार्य भी उक्त विचार के अलमबरदार रहे हैं।

परन्तु अभी कुछ दिन हुए एक सज्जन से मालूम हुआ कि सम्यग् दर्शन (आध्यात्मिक भाव नही, एक समाचार-पत्र) उक्त लेख पर बहुत बोखला गया है। इस पर सम्यग्दर्शन का वह तथाकथित अक पढा, तो मैं हैरान कि यह क्या? इतना अधिक होहल्ला क्यो? शब्दो की अविवेक पूर्ण उछाल क्यो? मेरे लेख मे ऐसा तो कुछ नही था, जिस पर इतना बेतुका शोरशराबा मचाया जाए! मैं जानता हूँ, प्रत्येक मनुष्य की अपनी एक प्रकृति होती है। सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से ही कोई मनुष्य अपनी मूलप्रकृति से इधर-उधर होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन के सम्पादक डोशी जी का पत्रकार होने के नाते दायित्व कुछ और है। उन्हे इतना अधिक छिछला नहो होना चाहिए। खैर, यह तो अपना-अपना स्वभाव है, अपनी-अपनो आदत है। मैं प्रस्तुत की चर्चा करूगा, जिसका मुझ से सम्बन्ध है।

मैं भगवान् ऋषभदेव को वर्षीतप जैसे उग्रतप का साधक घोर तपस्वी एव महान् ध्यानयोगी बताता हूँ, सम्यग् दर्शन इसे कपोल-कल्पित एव जिन धर्म के गौरव को गिराने वाला कहता है। यह भगवान के गौरव को ध्यानयोग मे नही, किन्तु वर्ष भर तक भिक्षा की इच्छा लिए इधर उधर घूमने फिरने मे देखता है। मुझे तो क्या, किसी भी सह-

दश साधक को यह उचित नहीं जान पड़ता. यदि श्री डोसीजी इसी मे गौरवानुभूति करते हैं, तो करे ? अपनी अपनी धारणा है, इसमें दूसरा कोई क्या कर सकता है ?

भगवान् ऋषभदेव ने आहार लेने की अन्ततोगत्वा जो धारणा बनाई, उसके लिए मैंने आचार्य जिनसेन का प्रमाण उद्धृत किया है, जिसे सम्यग्दर्शन कुत्सित मनोवृत्ति कहता है। कुत्सितता कहाँ है, यह तो दोनो लेखो को तटस्थ दृष्टि से पढने वाला विचारक सहज ही जान सकता है, उसके लिए डोसीजो स्वयं 'बाबा वाक्य प्रमाणम्' नहीं होगे।

जीवन भर निराहार रहने की प्रतिज्ञा और फिर उसे भग करने की बात कौन कहता है? मेरा और प्राचीन आचार्यों का आशय इतना ही है कि पहले आहार लेने का विचार नही हुआ, ध्यानसाधना मे लीन रहे, और इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के अनुसार षण्मासान्त मे तथा श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वर्षान्त मे आहार लेने का विचार किया, और उसमे पथभ्रष्ट होने वाले साथ के निष्क्रान्त साधको की स्थिति भी ध्यान मे थो। साधक के लिए अमुक मर्यादा में आहार लेना भी आवश्यक है—इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए उस आदियुग मे भगवान् ने आहार ग्रहण करने के लिए मुख्य रूप से कदम उठाया, न कि लम्बी क्षुधा को सहन करने मे असमर्थ होने के कारण। सम्यग्दर्शन के सम्पादक इसमे जिन धर्म को गिराने कहते है। अन्धेरे मे बहुत दूर की सूझी। मेरे कथन मे . और जिनधर्म का गौरव गिरता है या डोसीजी के कथन —यह पाठको पर छोड रहा हूँ।

भगवान् ऋषभदेव का आहार ग्रहणसम्बन्धी चिन्तन, जो मैंने उपस्थित किया है, डोसीजी उसे कपोलकल्पित कहते है, और कहते हैं कि यह अधम कृत्य मध्यममार्ग की स्थापना के लिए किया गया है। खेद है, मेरे प्रति किए जाने वाले रोषावेश मे डोसीजी महान् श्रुतधर आचार्य जिनसेन का भी अपमान कर गए हैं। आचार्य जिनसेन महान् आगमधर हैं। उनकी ज्ञानगरिमा आज ही नही, सहस्राधिक वर्षों से सुविश्रुत है। जैन जगत् के वृन्द इने गिने ज्योतिर्धर आचार्यों मे जिनसेन का भी महत्वपूर्ण स्थान है। धवला जैसा महाकाय तत्त्वग्रन्थ उनकी अपूर्व कर्म सैद्धान्तिक एव अन्य दार्शनिक

दय साधक को यह उचित नहीं जान पड़ता, यदि श्री डोसीजी इसी मे गौरवानुभूति करते है, तो करे ? अपनी अपनी धारणा है, इसमे दूसरा कोई क्या कर सकता है ?

भगवान् ऋषभदेव ने आहार लेने की अन्ततोगत्वा जो धारणा बनाई, उसके लिए मैंने आचार्य जिनसेन का प्रमाण उद्धृत किया है, जिसे सम्यग्दर्शन कुत्सित मनोवृत्ति कहता है। कुत्सितता कहाँ है, यह तो दोनो लेखो को तटस्थ दृष्टि से पढने वाला विचारक सहज ही जान सकता है, उसके लिए डोसीजी स्वयं 'बाबा वक्य प्रमाणम्' नहीं होगे।

जीवन भर निराहार रहने की प्रतिज्ञा और फिर उसे भग करने की बात कौन कहता है? मेरा और प्राचीन आचार्यों का आशय इतना ही है कि पहले आहार लेने का विचार नही हुआ, ध्यानसाधना मे लीन रहे, और इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के अनुसार षण्मासान्त मे तथा श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वर्षान्त मे आहार लेने का विचार किया, और उसमे पथभ्रष्ट होने वाले साथ के निष्क्रान्त साधको की स्थिति भी ध्यान मे थी। साधक के लिए अमुक मर्यादा में आहार लेना भी आवश्यक है—इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए उस आदियुग मे भगवान् ने आहार ग्रहण करने के लिए मुख्य रूप से कदम उठाया, न कि लम्बी क्षुधा को सहन करने मे असमर्थ होने के कारण। सम्यग्दर्शन के सम्पादक इसमे जिन धर्म को गिराने की बात कहते है। अन्धेरे मे बहुत दूर की सूझी। मेरे कथन मे भगवान् का और जिनधर्म का गौरव गिरता है या डोसीजी के कथन मे ? यह पाठको पर छोड रहा हूँ।

भगवान् ऋषभदेव का आहार ग्रहणसम्बन्धी चिन्तन, जो मैंने उपस्थित किया है, डोसीजी उसे कपोलकल्पित कहते है, और कहते हैं कि यह अधम कृत्य मध्यममार्ग की स्थापना के लिए किया गया है। खेद है, मेरे प्रति किए जाने वाले रोषावेश मे डोसीजी महान् श्रुतधर आचार्य जिनसेन का भी अपमान कर गए हैं। आचार्य जिनसेन महान् आगमधर है। उनकी ज्ञानगरिमा आज ही नही, सहस्राधिक वर्षों से सुविश्रुत है। जैन जगत् के गन्द इने गिने ज्योति ...र आचार्यो मे जिनसेन का भी महत्वपूर्ण स्थान है। धवला जैसा ...काय तत्त्वग्रन्थ उनकी अपूर्व कर्म सैद्धान्तिक एवं अन्य दार्शनिक

तलस्पर्शी विद्वत्ता का परिचायक है। महापुराण जैसे अन्य ग्रन्थो मे भी उनका निर्मल पाण्डित्य झलक रहा है। खेद है, डोसीजी की दृष्टि मे वे भी अधमकृत्य करने वाले हैं।

और डोसीजी को यह भी भ्रम है कि वस्तुत वह विचार भगवान् ऋषभदेव के चिन्तन के रूप मे उल्लिखित है, अथवा यह स्वय मेरी ही कपोलकल्पना है ? इस सम्बन्ध में अपनी ओर से कुछ न लिखकर महापुराण का वह पूरा का पूरा प्रसंग, सुप्रसिद्ध दिगम्बर जैनविद्वान् प० पन्नालाल, साहित्याचार्य के हिन्दी अनुवाद के साथ उद्धृत कर रहा हूँ,

प्रपूर्यन्तेस्म षण्मासा तस्याथो योगधारिणः।
गुरोर्मेरोरिवाचिन्त्यमहात्म्यस्याचलस्थिते. ॥१॥

अथानन्तर—जिनका माहात्म्य अचिन्त्य है और जो मेरुपर्वत के समान अचल स्थिति को धारण करने वाले हैं, ऐसे जगद्गुरु भगवान् वृषभ देव को योग धारण किए हुए जब छह मास पूर्ण हो गए।

ततोऽस्य मतिरित्यासीद् यतिचर्या-प्रबोधने।
कायस्थित्यर्थंनिर्दोषविषवाणान्वेषणं प्रति ॥२॥

तब यतियो की चर्या अर्थात् आहार लेने की विधि बतलाने के उद्देश्य से शरीर की स्थिति के अर्थ निर्दोष आहार ढूढने के लिए उनकी इस प्रकार बुद्धि उत्पन्न हुई—वे ऐसा विचार करने लगे।

अहो भग्ना 'महावशा बतामी नवसयता'।
सन्मार्गस्यापरिज्ञानात् सद्योऽमीभि परीषहै ॥३॥

—कि बडे दु ख की बात है कि बड़े-बडे वशो मे उत्पन्न हुए ये नव दीक्षित साधु समीचीन मार्ग का परिज्ञान न होने के कारण इन क्षुधा आदि परीषहो से शीघ्र ही भ्रष्ट हो गए।

मार्गप्रबोधनार्थंच मुक्तेश्च सुखसिद्धये।
कायस्थित्यर्थमाहार दर्शयामस्ततोऽधुना ॥४॥

इसलिए अब मोक्ष का मार्ग बतलाने के लिए और सुखपूर्वक मोक्ष की सिद्धि के लिए शरीर की स्थिति अर्थ आहार लेने की विधि दिखलाता हूँ।

न केवलमय काय कर्शनीयो मुमुक्षुभि।
नाप्युत्कटरसै पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनै ॥५॥

मोक्षाभिलाषी मुनियो को यह शरीर न तो केवल कृश ही करना चाहिए और न रसीले तथा मधुर मन चाहे भोजनो से इसे पुष्ट ही करना चाहिए।

वशे यथास्युरक्षाणि नोतधावन्त्यनूत्पथम् ।
तथा प्रयतितव्यं स्याद् वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ॥६॥

किन्तु जिस प्रकार ये इन्द्रियाँ अपने वश मे रहे और कुमार्ग की और न दौडे उस प्रकार मध्यम वृत्ति का आश्रय लेकर प्रयत्न करना चाहिए।

दोषनिर्हरणायेष्टा उपवासाद्युपक्रमा. ।
प्राणसन्धारणायायम् आहार सूत्रदर्शित: ॥७॥

वात, पित्त और कफ आदि दोष दूर करने के लिए उपवास आदि करना चाहिए। तथा प्राणधारण करने के लिए आहार ग्रहण करना भी जैन शास्त्रो मे दिखलाया गया है।

काय क्लेशो मतस्तावन्न सक्लेशोऽस्ति यावता ।
सक्लेशो ह्यसमाधान मार्गात् प्रच्युतिरेव च ॥८॥

काय क्लेश उतना ही करना चाहिए जितने से सक्लेश न हो। क्योकि सक्लेश हो जाने पर चित चचल हो जाता है और मार्ग से भी च्युत होना पडता है।

सिद्ध्यै सयमयात्राया तत्तनुस्थितिमिच्छुभि· ।
ग्राह्यो निर्दोष आहारो रसासङ्गाद्विनर्षिभि· ॥९॥

इसलिये सयमरूपी यात्रा की सिद्धि के लिए शरीर की स्थिति चाहने वाले मुनियो को रसो मे आसक्त न होकर निर्दोष आहार ग्रहण करना चाहिए।

भगवानिति निश्चिन्वन् योगं सहृत्य धीरधी
प्रचचाल महीं कृत्स्ना चालयन्निव विक्रमै ॥१०॥

इस प्रकार निश्चय करने वाले धीर वीर भगवान् वृषभ देव योग समाप्त कर अपने चरण निक्षेपो (डगो) के द्वारा मानो समस्त पृथ्वी को कपायमान करते हुए विहार करने लगे।

—*'महापुराण' पर्व २०

* भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा प्रकाशित वि० स० २००७

विचारशील पाठक देख सकते हैं कि उक्त सन्दर्भ में भगवान के आहार ग्रहण सम्बन्धी मेरे पूर्व लेख के पक्ष मे तीन स्थानो पर वर्णन आया है कि भगवान ने किस दृष्टि से आहार ग्रहण करने का विचार किया। पहला है—'ततोऽस्य मतिरित्यासीद् यतिचर्याप्रबोधने'—दूसरा है 'दर्शयामस्ततोऽधुना'— और तीसरा है— 'भगवानिति निश्चिन्वन् योग संहृत्य धीर धी।' क्या यह सब मेरा अपना कपोलकल्पित है? क्या यह आहार ग्रहण करने की दृष्टि से किया गया चिन्तन और मध्यम मार्ग भगवान् के अपने चिन्तन के रूप मे उल्लिखित नही है, झूठ-मूठ ही मैंने अपनी ओर से भगवान् के नाम मढ दिया है? लेखन की ईमानदारी का तकाजा है कि जो भी लिखा जाए पहले अच्छी तरह जाच-परख कर लिखा जाए। कुछ अशिक्षित सम्प्रदायान्ध लोगो को छोड़कर शेष जनता बेवकूफ नही है, जैसाकि कुछ आलोचक समझते हैं।

आचार्य जिनसेन के 'मध्यम वृत्ति' शब्द को लेकर डोसीजी ने जो कीचड उछाला है, उससे न तो आचार्य जिनसेन का कुछ बिगडा है, और न मेरा ही। मालूम होना चाहिए, आचार्य जिनसेन किस परम्परा के हैं! जिनसेन, कठोरचर्या के पक्षपाती नग्न दिगम्बर परम्परा के हैं। तथ्य यह है कि आचार्य श्री का यह वचन जैनदर्शन के मूल हार्द को प्रकट करता है। जैन धर्म निरतिवादी है, अतिवादी नहीं। दो अतियो के बीच जो है, वह मध्यम है और वही जैनदर्शन का प्राचीन उद्घोष है, आज का नही। धर्म साधना का अनतत्व अन्तरग के भाव पक्षमे होता है, बाहर के द्रव्यपक्ष मे नही। बाहर का द्रव्य सीमित होता है, असीम नही। बाह्य तप एव आचार, असीम कैसे हो सकता है? अन्दर के भाव पर आधारित अभ्यन्तर तप एव आचार, मुख्य रूप से ध्यान एव उत्सर्ग ही असीम होता है। मध्यम मार्ग से केवल यही अभिप्राय है, कभी समय मिला तो इसका भी विस्तार से विवेचन किया जाएगा और बताया जाएगा कि वस्तु स्थिति क्या है? आलोचक जो यह अनर्गल प्रलाप कर रहे हैं कि "अमर भारती" का मध्यम मार्ग धर्माधर्म मिश्रित है, यह सर्वथा मिथ्या है। इससे बडा झूठ और क्या होगा? क्या डोसीजी का सम्यग्दर्शन असत्य को कोई पापाचार नही मानता?

भगवान् के आहार ग्रहण करने के सम्बन्ध मे जो विचार आचार्य

जिनसेन ने लिखे है, वे केवल उनके अपने अकेले के ही नही है। आचार्य दामनन्दी भी अपने 'पुराणसार सग्रह' के आदिनाथचरित्र मे सक्षेपत ऐसा ही लिखते हैं —

> जगदीशो बुभुक्षादीन् सहमानोऽपि तान् विभु
> धर्मसस्थितये चक्रे गोचराग्रगवेषणम् ॥
>
> —तृतीयसर्ग, श्लोक ४०

प० गुलाबचन्द्र जैन व्याकरणाचार्य ने उक्त श्लोक का हिन्दी अनुवाद किया है—**भूख प्यास सहने की शक्ति होते हुए भी वे भगवान धर्मस्थापना के निमित्त** अर्थात् यतियो की चर्या प्रकट करने के लिए छह माह की तपस्या के बाद गोचरी के लिए निकले।

आचार्य दामनन्दी का **'धर्मसस्थितये'** शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। भगवान् ने आहार ग्रहण का विचार धर्म की स्थापना के निमित्त किया। साधक के लिए तप जैसे धर्म है उसी प्रकार समय पर आहार लेना भी धर्म है। बिना आहार लिए लम्बे जीवन मे साधना का प्रवाह आगे बढ ही नही सकता।

श्रीडोसीजी को आचार्य जिनसेन के विरोध मे जब कोई इधर-उधर गति नही मिली तो वे उनके दिगम्बरत्व को आगे रखते हैं और कहते है कि वह हमारे श्वेताम्बर परम्परा के लिए मान्य नही है। "वे तो केवलज्ञानी का आहार करना भी नही मानते। सभव है इसी दृष्टि से उन्होने लिखा हो।" बडी विचित्र मनः स्थिति है। आचार्य दिगम्बर हो या श्वेताम्बर, यह मुख्य नहीं है। मुख्य है—तत्त्वदर्शन। केवल दिगम्बर आचार्य होने से अमान्य हो, और श्वेताम्बर होने से मान्य, यह सत्यशोधक की दृष्टि नही होती। सत्यशोधक की दृष्टि तत्त्व पर होती है। अनेक दिगम्बर जैनाचार्यों के तत्व वचन श्वेताम्बर जैनाचार्यों ने बहुमानपूर्वक अपने ग्रन्थो मे उद्धृत किए हैं। यदि किसी मान्यता मे साम्प्रदायिक मनोवृत्ति की गन्ध आती हो, तब तो उसकी मान्यता-अमान्यता विचारणीय हो जाती है। परन्तु उक्त कथन मे तो साम्प्रदायिक भावना का कुछ भी स्पर्श नही है। क्या डोसीजी अपनी बुद्धि को नापने के क्षुद्र गज से ही दूसरो के गम्भीर बुद्धि तत्व को भी नाप रहे है? केवलज्ञानी के आहार एव अनाहार मे उक्त वर्णन का सम्बन्ध जोडकर तो कमाल ही कर दिया। कितना

बडा दम्भ है मनुष्य का अपने अह के प्रति ? साधारण-से-साधारण पाठक भी देख सकता है कि आचार्य जिनसेन आहार-ग्रहण के विरोध मे नही, अपितु आहार-ग्रहण की स्थापना मे सक्रिय है। प्रस्तुत मे उनका झुकाव स्पष्ट ही यथावसर आहार ग्रहण के विधिपक्ष की ओर है, निषेधपक्ष की ओर नही।

श्री डोसीजी श्वेताम्बर आचार्यों की बात करते है, कोई आपत्ति नही, वह भी उपस्थित है। निर्युक्ति आदि कुछ ग्रन्थ चरित्र ग्रन्थ नही है,वे केवल सक्षिप्त नोट्स हैं। उनके आधार पर चरित्रसम्बन्धी किसी विवाद का 'हाँ' या 'ना' मे कोई स्पष्ट उत्तर नही दिया जा सकता। अत: चरित्र ग्रन्थ, विशेषत वे चरित्रग्रन्थ जो विस्तार से जीवन घटनाओ की चर्चा करते है, निर्णय की दृष्टि से अधिक उपयुक्त हो सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र, जिनको डोसीजी ने भी बड़े हर्षोल्लास से उद्धृत किया है, मैं भी उन्हे अपने विचार के पक्ष मे उद्धृत करता हूँ। यह ठीक है कि श्वेताम्बर परम्परा की एक धारणा का वह पहले उल्लेख कर देते है। परन्तु वह उनका स्वय का अभिमत नही प्रतीत होता। किसी बात का उल्लेख भर कर देना, अलग बात है, और अपने स्वय के अभिमत के रूप में किसी सिद्धान्त का उल्लेख करना अलग बात है। "वर्ष के अन्तमे कच्छ महाकच्छ आदि को पथभ्रष्ट देखकर भगवान् ने विचार किया कि साधक के लिए धर्म साधनार्थ आहार ग्रहण करना आवश्यक है। बिना आहार के शरीर टिक नही सकता। यदि मै अब भी गत दिवसो की तरह आहार नही ग्रहण करूँगा और अभिग्रह धारण के रहूँगा, तो मेरा शरीर तो टिका रहेगा, परन्तु जिस प्रकार ये चार हजार भिक्षु भोजनाभाव से पीडित होकर भग्न हो गए, उसी प्रकार भविष्य के दूसरे मुनि भी भग्न हो जाएँगे। इस प्रकार हृदय मे विचार कर भगवान् भिक्षा के लिए गजपुर नगर (हस्तिनागपुर) पधारे। "यह भाव है, जो आहार ग्रहण करने के लिए त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र मे आचार्य हेमचन्द्र ने भगवच्चिन्तन के रूप मे अकित किया है। डोसीजी ने ऐसे ही मेरे विचार पर अमर भारती के माध्यम से भगवान की भूल बतानेवाला कुत्सित मनोवृत्ति वाला एवं भगवान् को बुद्धिहीन कहने वाला कहा है। भगवान क्या थे, बुद्धिहीन थे, या विचारक थे, यह मुझसे नही आचार्य जिनसेन तथा आचार्य हेमचन्द्र

से पूछिए। यहा मैं आचार्य हेमचन्द्र के मूल श्लोक और उनका श्वेताम्बर विद्वान् के द्वारा किया गया अक्षरशः गुजराती अनुवाद दे रहा हूँ, ताकि हठाग्रही तो क्या, हाँ तटस्थ विचारक अवश्य सत्य के निकट पहुँच सकेंगे और देख सकेंगे कि श्वेताम्बर दिगम्बर मतभेद के नाम पर जो हल्ला मचाया गया है, वह कितना अर्थहीन है ?

आर्यानार्येषु मौनेन विहरन् भगवानपि
संवत्सर निराहारश्चिन्तयामासिवानिदम् ।।१।३।२३६

भगवान ऋषभस्वामी आर्य अनार्य देशमा मौन पणे विचरता हता, एक वर्ष पर्यन्त निराहार पणे रहेला प्रभुए विचार्यु ।

प्रदीपा इव तैलेन पादपा इव वारिणा ।
आहारेणैव वर्त्तन्ते शरीराणि शरीरिणाम् ।।२३९।।

के दीपक जेम तेल वड़े ज बलै छे, अने वृक्ष जेम जलथी ज टके छ तेम प्राणीओना शरीर पण आहारथी ज रहे छे।

द्विचत्वारिंशता भिक्षा दोषैर्भृ शमदूषित ।
स तु वृत्त्या मधुकर्या काले ग्राह्योऽनगारिणा ।।२४०।।

ते आहार पण बेंतालीस दोष रहित होय तो साधुए माधुकरी वृत्ति थी भिक्षा बडे योग्य अवसरे ग्रहण करवो युक्त छे।

अद्यापि यदि वाऽहारमतिक्रान्त दिनेष्विव ।
न गृण्हाम्यभिग्रहाय किन्तूत्तिष्ठे पुनर्यदि ।।२४१।

गयेला दिवसोनी पेठे हजीपण आहार नही लेता, हूँ अभिग्रह करीने रहीश तो मारूं शरीर तो रहशे।

अमी सहस्राश्चत्वारः इवाऽभोजन पीडिताः ।
तदा भङ्गं ग्रहीष्यन्ति, भाविनो मुनयोऽपरे ।।२४२।।

–परन्तु जेम आ चार हजार मुनियो भोजन नही मलवा थी पीडित थइ भग्न थया तेम बीजा मुनियो भंग पामशे।

स्वामी मनसि कृत्यैवं भिक्षार्थं चलितस्ततः ।
पर गजपुरं प्राप पुरमण्डलमण्डनम् ।।२४३।।

आवो विचार हृदयमा धारी ने प्रभु भिक्षा माटे सर्व नगरमा मडनरूप गजपुर नगरे आव्या ।*

आचार्य जिनसेन दिगम्बर है और आचार्य हेमचन्द्र श्वेताम्बर है। दोनो ही अपनी अपनी परम्परा के ख्यातनामा मूर्धन्य विद्वान् हैं। तटस्थ पाठक देख सकते हैं—भगवान् ऋषभदेव द्वारा आहार ग्रहण करने के उद्देश्य एव तत्सबन्धी उनके अपने चिन्तन मे क्या अन्तर है? दोनो ही आचार्यों की उक्त वर्णन शैली एव विचार पद्धति एक जैसी है, और भगवान् के चिन्तन के रूप मे ही उपस्थित की गई है।

श्वेताम्बर परम्परा के एक और महामनीषी आचार्य अमरसूरी भी अपने पद्मानन्द महाकाव्य मे, जो तीर्थंकर चरित्र सम्बन्धी एक महाकाय प्रसिद्ध ग्रन्थ है, भगवान् ऋषभदेव का चरित्र वर्णन करते हुए प्रायः वही विचार भगवान् के चिन्तन के रूप मे उपस्थित करते हैं, जो आचार्य जिनसेन एव आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थो मे प्रस्तुत किए हैं।

प्रस्तुत प्रश्न का काफी विस्तार के साथ स्पष्टीकरण हो चुका हैं। तत्त्वजिज्ञासु की दृष्टि से यदि यह सब विचारा जाए तो सभव है सशय का अन्धकार कुछ क्षीण हो और सत्य का उजाला हो। सत्य की उपासना के लिए पूर्वाग्रह का त्याग आवश्यक है। मैं आशा करता हू, अधिक नही तो कुछ भव्य आत्माओ की विचार परिणति तो अवश्य ही पूर्वाग्रह मुक्त सत्योन्मुखी होगी।

---

* त्रि० श० पु० च० पर्व १ सर्ग ३ पृ० ११२ गुजराती भाषान्तर श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर।

उपाध्याय अमरमुनि

वैर की लम्बी परम्परा

श्रावस्ती नगरी मे त्रिविक्रम नाम का एक राजा था। एक बार राजा त्रिविक्रम सुन्दर नीले अश्व पर बैठ कर भ्रमण करने को निकला। नगर से वाहर निकलते ही दाई और एक पक्षी बड़े कर्ण-कटु स्वरो मे वोलने लगा। पक्षी का बोलना राजा को बहुत बुरा लगा। उसने तुरन्त वाण खीच कर पक्षी पर निशाना मारा कि वृक्ष की ऊँची टहनी से छटपटाता हुआ दीन पक्षी राजा के सामने आकर गिर गया। मरते हुए पक्षी की वेदना देखकर राजा का मन पसीज उठा। उसे अपने आवेश पूर्ण दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप होने लगा, निरर्थक एक निरपराध दीन प्राणी की हत्या से उसका मन दु खी हो गया। राजा आगे चला तो एक मुनि को ध्यान मे खडा देखा। राजा ने घोड़े से उतर कर मुनि के चरणो मे नमस्कार किया। मुनि ने ध्यान पूर्ण करके राजा को दया और करुणा का उपदेश सुनाया। पक्षी की हत्या से राजा के मन मे पश्चात्ताप तो हो ही रहा था, मुनि के उपदेश ने उसकी सुप्त दया को जगा दिया। राजा का मन उद्विग्न था, वह ससार त्याग कर मुनि के चरणो में दीक्षित हो गया।

राजर्षि त्रिविक्रम ने अनेक प्रकार की उग्र तपस्याएँ करके शरीर को कृश कर डाला। तप प्रभाव से उन्हे तेजस् लब्धि (तेजो लेश्या) भी प्राप्त हो गई।

एक वार राजर्षि किसी जगल मे विहार करते हुए जा रहे थे। वहा एक भील ने मुनि को देखा तो वह आग बबूला होकर मुनि को लाठियो से पीटने पर उतारु हो गया। यह भील उसी पक्षी का जीव था, पूर्व वैर के कारण उसे मुनि को देखते ही क्रोध उबल पडा था। भील के घातक प्रहारो को राजर्षि समतापूर्वक सहन नही कर सके, अपने मुनिव्रत को भूल गए, मनमे क्षत्रिय तेज जग उठा।

क्रोधोन्मत्त होकर मुनि ने तेजोलेश्या के द्वारा भील को वही भस्म कर डाला।

मुनि के द्वारा भस्म किये जाने पर भील उसी जगल मे सिंह के रूप मे पैदा हुआ।

एक बार राजर्षि को विहार करते हुए मार्ग मे वही सिंह मिल गया। सिंह राजर्षि को देखते ही गुर्राकर उन पर लपका। राजर्षि ने अपने प्राण बचाने के लिए तेजोलब्धि का प्रयोग करके सिंह को वही राख की ढेरी बना दिया।

सिंह मर कर हाथी की योनि मे उत्पन्न हुआ। वैर के सस्कार गाढ से गाढतर होते जा रहे थे। वहाँ भी राजर्षि को देखते ही उन्हे रोद डालने के लिए ज्योही हाथी ने दौड लगाई कि राजर्षि ने उसे भी भस्म कर डाला। हाथी मर कर जगल मे खू खार साँड बना। पूर्व वैर के कारण एक दिन वह भी मुनि को अपने नुकीले सीगो से चीर डालने के लिए सामने आया। मुनि ने उसे भी क्षण-भर मे स्वाहा कर डाला। साड मरकर भयकर सर्प की योनि मे उत्पन्न हुआ। मुनि को देखकर सर्प के हृदय मे वैर की लहर उमड पडी। वह भयकर फु कार कर विपज्वाला उगलता हुआ मुनि को काटने दौडा। मुनि के पास तो अपना शस्त्र था ही, तुरन्त उन्होने सर्पराज को जला डाला। सर्प का जीव ब्राह्मण के रूप मे उत्पन्न हुआ, वहाँ पर भी उसने मुनि का पीछा नही छोडा। ब्राह्मण एक दिन राजर्षि को देख कर उनकी निन्दा करने लगा। राजर्षि अपने सयम और साधुव्रत को भूल गए, अपमान सहन नही कर पाए, कुपित होकर तेजोलेश्या द्वारा ब्राह्मण को भी भस्म कर दिया। मरते-मरते ब्राह्मण के हृदय मे शुद्ध विचार जग पड़े। विचारों की शुद्धता के कारण वह आयुष्य पूर्ण करके वाराणसी मे महाबाहु नाम का एक राजा बना।

महाबाहु ने एक बार किसी मुनि को जाते देखा तो उसे पूर्व जन्म की स्मृतियाँ (जाति-स्मरण ज्ञान) हो आई। पीछे के सात जन्मो मे वह किस प्रकार एक मुनि के द्वारा बार-बार भस्म किया गया, यह देखकर राजा का हृदय खिन्न हो गया। राजा ने इधर उधर उन मुनि का पता लगाया, पर कही भी पता नही लगा। आखिर राजा ने एक अर्ध-श्लोक बनाकर शहर मे उद्घोषणा करवाई कि "जो इस श्लोक को पूरा कर देगा, उसे एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ दी जाएँगी।"

एक लाख स्वर्ण मुद्रा ! किसे न चाहिएँ ? समस्या पूर्ति के अनेक प्रयत्न हुए, परन्तु जैसी राजा चाहता था, वह पूर्ति न हो सकी। नगर के लोग इस अर्ध-श्लोक को इधर-उधर घूमते फिरते कभी मन मे तो, कभी वाणी से दुहराते रहते। उनके लिए यह अर्ध-श्लोक स्वय एक समस्या बन गया।

एक बार त्रिविक्रम राजर्षि विहार करते हुए वाराणसी आए, बाहर उद्यान मे ठहरे। इधर से एक ग्वाला जा रहा था, जो अपन धुन में उस श्लोक को ऊँची आवाज से गा रहा था—

"विहगः शबरः सिंहो, द्वीपी, सढः, फणी, द्विजः।"

राजर्षि श्लोक सुनते ही विचारमग्न हो गए। आँखो के सामने अतीत की सब घटनाएँ नाचने लग गईं। अपने क्रोधवश किए गए दुष्कृत्य पर तीव्र पश्चात्ताप होने लगा। पश्चात्ताप की स्थिति मे ही सहसा उनके मुँह से निकल पड़ा—

"येनामी निहता कोपात् स कथ भविता ह हा !"

—हन्त ! जिसने उन सब को क्रोधवश मार डाला, अब भविष्य मे उसका क्या होगा ?

ग्वाले ने मुनि के मुँह से श्लोक के दो चरण सुने तो तुरन्त रटलिए और राजा के पास दौड कर श्लोक का उत्तरार्ध सुनाया और कहा—"मैंने यह श्लोक पूरा किया है, एक लाख स्वर्ण-मुद्राएँ दीजिए।"

राजा ने ग्वाले को स्वर्ण मुद्राएँ तो दे दी, पर पूछा कि—"सच बताओ ! यह श्लोक किसने पूर्ण किया है ?"

ग्वाले ने राजा को मुनि का नाम बताया। राजा तत्काल मुनि के पास आया और अपने पूर्व जन्मो के वैर की बात कहते हुए मुनि से क्षमा मागने लगा।

राजा को तो पश्चात्ताप था ही, वह क्षमा माग ही रहा था, परतु इधर मुनि को भी बहुत अधिक पश्चात्ताप हो रहा था, अत. उन्होने भी राजा से क्षमा माँगी। क्षमा के आदान-प्रदान से दोनो ने अपने हृदय को निर्मल बनाया। मुनि ने जनता को उपदेश देते हुए अपने जीवन की इस घटना का वर्णन किया और समझाया कि परस्पर मे वैर और विग्रह के परिणाम कितने कटु और जन्म-जन्म तक दु ख देने वाले होते है। —उपदेश प्रासाद, स्तभ३ व्याख्यान ४०

●

उपाध्याय अमरमुनि

मनुष्य पाप क्यो करता है ?

इसका उत्तर सस्कृत के एक विचारक ने दिया है - **सर्वारम्भा-स्तण्डुला प्रथस्मूला** —सब काम मुट्ठी भर अनाज के लिए होते हैं। मनुष्य को जब भूख सताती है तो वह उसे शान्त करने के लिए पाप, अधर्म सब कुछ करने लगता है—

—'बुभुक्षित किं न करोति पाप,
क्षीणा नरा निष्करुणा भवति।'

पर वास्तव मे क्या पेट की भूख इतनी बडी है कि उसके लिए ही यह सब कुछ करना होता है ? वह विकट अवश्य होती है, किंतु विराट् नही होती, बहुत ही सीमित होती है।

मनुष्य के पेट का गड्ठा—जिसे सस्कृत मे उदरदरी कहते है,बहुत छोटा है, सीमित है, किंतु मन का गड्ढा--मनोदरी—उदरदरी से बहुत बडा है, असीम है और उसी को भरने के लिए अधिकाश पाप होते हैं।

पर आश्चर्य यह है कि पाप करके भी आज तक कोई उस गड्ढे को भर नही पाया।

\+ + ×

प्रसिद्ध सन्त डायोजिनीज ने एक बार उदरदरी को भरने मे सलग्न मनुष्यो को लक्ष्य करके कहा था—"जिन घरो मे सामग्री भरी होती है, उनमे चूहे भरे हो सकते हैं। उसी तरह जो लोग बहुत खाते हैं वे रोगो से भरे हो सकते है।"

\+ + +

बुद्धि के चमत्कार	विजय मुनि	१ ००
मङ्गल-वाणी	अखिलेश मुनि	२·००
जय-वाणी	मधुकर मुनि	३·५०
मङ्गल-पाठ	अखिलेश मुनि	०·१५
आलोचना-पाठ	विजय मुनि	०·५०
सन्मति-सन्देश	सुरेश मुनि	०·५०
तीन बात	उपाध्याय अमर मुनि	०·२५
चार बात	पं० मुनि श्री लक्ष्मीचन्द जी	०·२५
जीवन-सूत्र	हेम मुनि	०·५०
उपदेश रत्नमाला	विजय मुनि	०·२०
जैन बाल शिक्षा भाग १	उपाध्याय अमर मुनि	० ३०
,, ,, ,, भाग २	,, ,, ,,	०·४०
,, ,, ,, भाग ३	,, ,, ,,	० ५०
,, ,, ,, भाग ४	,, ,, ,,	०·६५
भक्तामर स्तोत्र (व्याख्या सहित)	,, ,, ,,	० ५०
महावीराष्टक-स्तोत्र	मुनि रामकृष्ण जी	०·२५
सत्य हरिश्चन्द्र	उपाध्याय अमर मुनि	२·००
संगीत माधुरी	सुरेश मुनि	१ २५
संगीतिका (साधा० सं०)	उपाध्याय अमर मुनि	१·५०
गीत गुंजार	कीर्ति मुनि	० ६२
आदर्श कहानी	कीर्ति मुनि	०·६२
शान्ति जिन स्तुति	हेम मुनि	०·१२
सन्मति महावीर	सुरेश मुनि	१·२५
दिव्य ज्योति	कासीराम चावला	१·५०
उपासक आनन्द	उपाध्याय अमर मुनि	३·००
अहिंसा-दर्शन	,, ,, ,,	४ ५०
सत्य-दर्शन	,, ,, ,,	२·५०
अस्तेय-दर्शन	,, ,, ,,	१ ५०
ब्रह्मचर्य-दर्शन	,, ,, ,,	३ ५०
अपरिग्रह-दर्शन	,, ,, ,,	२ ००
अमर भारती	,, ,, ,,	३ ००
प्रकाश की ओर	,, ,, ,,	३ ००

साधना के मूल मत्र	,, ।, ,,	२·००
प्रेम सुधा	पजाब केसरी प्रेमचन्द्र जी म०	२·००
उज्ज्वल वाणी भाग १	महासती उज्ज्वल कुमारी	३·००
उज्ज्वल वाणी भाग २	,, ,, ,,	२·२५
श्रावक-धर्म	, ,, ,,	२·००
स्मरण शक्ति के चमत्कार	श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'	२००
उपाध्याय अमर मुनि · व्यक्तित्व और कृतित्व	विजय मुनि	३ ००
भूले भटके राही	विजय मुनि	० ५०
कल्याण मन्दिर	उपाध्याय अमर मुनि	०·६२
पथ के दीप	श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'	१.५०
उपाध्याय अमरमुनि एक अध्ययन	विजय मुनि	४.००
चमकते मोती, दमकते हीरे	,, ,-	१.२५
जीवन के कलाकार	,, ,,	०.२५
जीवन की सस्कृति	जमुनालाल जैन	१ ००
योगशास्त्र एक परिशीलन	उपाध्याय अमरमुनि	० ७५
कुछ सुनी : कुछ देखी	मुनि लाभचन्द्र जी	२.००
पचशील	उपाध्याय अमरमुनि	१ २५
सिद्धि के सोपान	मुनि सन्तबाल जी	१.७५
गुरुदेव-जीवन एक परिचय	श्री विजयमुनि	०.७५
पर्युषण प्रवचन	उपाध्याय अमरमुनि	३ २५
अमर आलोक	उपाध्याय अमरमुनि	१.२५
कर्मवाद	श्री सुरेश मुनि	१.००
अमर शतक	श्री शारदाचरण दीक्षित	०.५०
अमर सगीत	उपाध्याय अमरमुनि	०.२५
धर्मवीर सुदर्शन	,, ,, ,,	२ ००
आगम युग का जैन दर्शन	प० दलसुख मालवणिया	५ ००
समाज और संस्कृति	उपाध्याय अमरमुनि	३ २५
वीर स्तुति	उपाध्याय अमरमुनि	०.५०
कुछ फूल . कुछ पखुडियाँ	श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'	०.५०
जैन धर्म	डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री	० ५०
भगवान् महावीर की बोध कथाए	उपाध्याय अमर मुनि	१ ००

तथागत बुद्ध ने अधिक और बार-बार खाने वाले को रोगी कहा है। भोजन करने वालो की तीन श्रेणिया बताई गई है—

१. एक बार (क्षुधा शान्ति के लिए) खाने वाले—योगी।
२. दो बार (क्षुधा व स्वाद के लिए) खाने वाले भोगी।
३ बार-बार (विना किसी विवेक के) खाने वाले रोगी या पशु।

× + ×

योगी अर्थात् सयत आत्मा साधक का लक्षण तीर्थंकर महावीर ने यही बताया है—

—"अप्पपिण्डासि पाणासि, अप्पभासेज्ज सजए।"

साधक को कम खाना चाहिए, और कम बोलना चाहिए।

+ + +

लोग पूछते हैं, आत्मा है तो दिखाई क्यो नही देता?

पर यह बतलाइए—आत्मा को देखने के लिए आपके पास दृष्टि कौन सी है? आखे कैसी हैं?

बाहर की आखे तो मैटर हैं, पुद्गल है, मूर्त है। मैटर से मैटर ही ग्रहण होता है, भौतिक साधन से अभौतिक वस्तु कैसे दिखाई दे सकती है? देह से देहातीत-अदेही कभी स्पृष्ट हो सकता है? भगवान् महावीर के समक्ष जब गणधर गौतम ने यही प्रश्न उपस्थित किया, तो समाधान की भाषा मे महावीर ने कहा—'नो इन्दियगेज्झ अमुत्तभावा'—आत्मा अमूर्त है, वह मूर्त आखो से ग्रहण नही हो सकती।

+ + +

आत्मा को देखने के लिए ज्ञान की दिव्य-दृष्टि चाहिए। निर्मल ज्ञान और अनुभूति से ही उसकी सत्ता को देखा जा सकता है।

●

सन्मति ज्ञान पीठ के आजीवन सदस्य बनिए

आज तक का प्रकाशित उपलब्ध साहित्य प्राप्त कीजिए
और भविष्य में प्रकाशित होने वाला साहित्य
घर बैठे प्राप्त करते रहिए

आजीवन सदस्यता के नियम हैं

५०००) रु० प्रधान स्तभ	१०००) रु० स्तभ
५००) रु० सरक्षक	२५१) रु० सदस्य

प्रकाशित साहित्य की सूची

सामायिक सूत्र (सभाष्य)	उपाध्याय अमर मुनि	४.५०
श्रावक प्रतिक्रमण-सूत्र (सव्याख्या)	विजय मुनि	१·००
लघु सामायिक-सूत्र (,,)	,, ,,	० २५
भारतीय सस्कृति की दो धाराएँ	डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री	० ३१
जैन-दर्शन	प्रो० मोहन लाल मेहता	४ ००
नय-वाद	प० फूलचन्द जी "श्रमण"	१·५०
जैनत्व की झाँकी	उपाध्याय अमर मुनि	१·२५
अनेकातवाद एक परिशीलन	विजय मुनि	०·७५
नय कणिका	सुरेश मुनि	० ३७
पच्चीस बोल	विजय मुनि	०·७५
तत्वार्थ-सूत्र	अखिलेश मुनि	०·७५
अहिंसा तत्व-दर्शन	उपाध्याय अमर मुनि	३ ००
महामन्त्र नवकार	,, ,, ,,	१ ५०
आदर्श कन्या	,, ,, ,,	१ ००
भागो नही, बदलो	सुरेश मुनि	०·२५
गुलाब और काँटे	विजय मुनि	१ ००
पतझर और वसन्त	,, ,,	२ ००
जीवन के चलचित्र	उपाध्याय अमर मुनि	२ ००
पीयूष-घट	विजय मुनि	१·५०
गागर मे सागर	विजय मुनि	१·००

बुद्धि के चमत्कार	विजय मुनि	१ ००
मङ्गल-वाणी	अखिलेश मुनि	२·००
जय-वाणी	मधुकर मुनि	३·५०
मङ्गल-पाठ	अखिलेश मुनि	०·१५
आलोचना-पाठ	विजय मुनि	०·५०
सन्मति-सन्देश	सुरेश मुनि	०·५०
तीन बात	उपाध्याय अमर मुनि	० २५
चार बात	प० मुनि श्री लक्ष्मीचन्द जी	० २५
जीवन-सूत्र	हेम मुनि	०·५०
उपदेश रत्नमाला	विजय मुनि	०·२०
जैन बाल शिक्षा भाग १	उपाध्याय अमर मुनि	० ३०
,, ,, ,, भाग २	,, ,, ,,	०·४०
,, ,, ,, भाग ३	,, ,, ,,	०·५०
,, ,, ,, भाग ४	,, ,, ,,	०·६५
भक्तामर स्तोत्र (व्याख्या सहित)	,, ,, ,,	० ५०
महावीराष्टक-स्तोत्र	मुनि रामकृष्ण जी	० २५
सत्य हरिश्चन्द्र	उपाध्याय अमर मुनि	२·००
सगीत माधुरी	सुरेश मुनि	१ २५
सगीतिका (साधा० स०)	उपाध्याय अमर मुनि	१·५०
गीत गुजार	कीर्ति मुनि	० ६२
आदर्श कहानी	कीर्ति मुनि	०·६२
शान्ति जिन स्तुति	हेम मुनि	०·१२
सन्मति महावीर	सुरेश मुनि	१·२५
दिव्य ज्योति	कासीराम चावला	१·५०
उपासक आनन्द	उपाध्याय अमर मुनि	३ ००
अहिंसा-दर्शन	,, ,, ,,	४ ५०
सत्य-दर्शन	,, ,, ,,	२ ५०
अस्तेय-दर्शन	,, ,, ,,	१ ५०
ब्रह्मचर्य-दर्शन	,, ,, ,,	३ ५०
अपरिग्रह-दर्शन	,, ,, ,,	२ ००
अमर भारती	,, ,, ,,	३ ००
प्रकाश की ओर	,, ,, ,,	३ ००

साधना के मूल मत्र	,, ।, ,,	२·००
प्रेम सुधा	पजाब केसरी प्रेमचन्द्र जी म०	२·००
उज्ज्वल वाणी भाग १	महासती उज्ज्वल कुमारी	३·००
उज्ज्वल वाणी भाग २	,, ,, ,,	२·२५
श्रावक-धर्म	, ,, ,,	२·००
स्मरण शक्ति के चमत्कार	श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'	२००
उपाध्याय अमर मुनि · व्यक्तित्व और कृतित्व	विजय मुनि	३ ००
भूले भटके राही	विजय मुनि	० ५०
कल्याण मन्दिर	उपाध्याय अमर मुनि	०·६२
पथ के दीप	श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'	१.५०
उपाध्याय अमरमुनि एक अध्ययन	विजय मुनि	४.००
चमकते मोती, दमकते हीरे	,, ,-	१ २५
जीवन के कलाकार	,, ,,	०.२५
जीवन की सस्कृति	जमुनालाल जैन	१.००
योगशास्त्र एक परिशीलन	उपाध्याय अमरमुनि	० ७५
कुछ सुनी . कुछ देखी	मुनि लाभचन्द्र जी	२.००
पचशील	उपाध्याय अमरमुनि	१ २५
सिद्धि के सोपान	मुनि सन्तबाल जी	१ ७५
गुरुदेव-जीवन एक परिचय	श्री विजयमुनि	०.७५
पर्युषण प्रवचन	उपाध्याय अमरमुनि	३ २५
अमर आलोक	उपाध्याय अमरमुनि	१ २५
कर्मवाद	श्री सुरेश मुनि	१.००
अमर शतक	श्री शारदाचरण दीक्षित	०.५०
अमर सगीत	उपाध्याय अमरमुनि	०.२५
धर्मवीर सुदर्शन	,, ,, ,,	२ ००
आगम युग का जैन दर्शन	प० दलसुख मालवणिया	५ ००
समाज और संस्कृति	उपाध्याय अमरमुनि	३ २५
वीर स्तुति	उपाध्याय अमरमुनि	०.५०
कुछ फूल . कुछ पखुडियाँ	श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'	०.५०
जैन धर्म	डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री	० ५०
भगवान् महावीर की बोध कथाए	उपाध्याय अमर मुनि	१ ००

जैन इतिहास की प्राचीन कथाए	,, ,, ,,	१.००
जैन इतिहास की प्रेरक कथाएं	,, ,, ,,	१.००
जैन इतिहास की प्रसिद्ध कथाएँ	,, ,, ,,	१.००
प्रत्येक बुद्धो की जीवन कथाए	,, ,, ,,	१.००
अध्यात्म प्रवचन	,, ,, ,,	५.००
ऋषभदेव : एक परिशीलन	देवेन्द्र मुनि	३.००
धर्म और दर्शन	,, ,,	४.००
प्रेरणा प्रदीप	विनोद मुनि	१.००
विचार ज्योति	हीरा मुनि	१.५०
गुलजारे-शाइरी	सुरेश मुनि	३ ००
सूक्ति त्रिवेणी भाग १	उपाध्याय अमर मुनि	४.००
,, ,, भाग २	,, ,, ,,	३.००
,, ,, भाग ३	,, ,, ,,	६ ००
,, ,, (सम्पूर्ण)	,, ,, ,,	१२ ००
अहिंसा की बोलती मीनारे	श्री गणेशमुनि शास्त्री	३.५०

●

वह साधक साधना के मार्ग मे कभी अटकता नहीं, जो सदा सत्य को खोजता रहता है।

अटकता वह है जिसकी साधना में छल और मन मे दुर्बलता होती है।

दीनता और दुर्बलता-असत्य की सगी बहनें हैं।

\+ \+ \+

बडी-बडी पाठ्य पुस्तकें पढ जाने के बाद भी आज का विद्यार्थी अपने को अशिक्षित एव अयोग्य-सा क्यो महसूस कर रहा है ?

जब तक जीवन की शिक्षा के सबसे महत्वपूर्ण अग उनमे विकसित नही होते, उनकी शिक्षा अधूरी ही रहेगी। वे महत्त्वपूर्ण अग हैं— विवेक, जिज्ञासा, उच्च कल्पना और साहस पूर्ण जीवन बिताने की कामना।

सन्मति ज्ञान पीठ के प्रकाशनों पर

विद्वानों का अभिमत

१. सूक्ति त्रिवेणी —उपाध्याय ग्रमरमुनि

भारतीय सस्कृति का स्वरूप दर्शन करने के लिए यह नितान्त ग्रावश्यक है कि भारतवर्ष मे प्रचलित ग्रौर प्रतिष्ठित विभिन्न सस्कृतियो का समन्वयात्मक दृष्टि से ग्रध्ययन हो। भारतवर्ष की प्रत्येक सस्कृति की ग्रपनी एक विशिष्ट धारा है। वह उसी सस्कृति के विशिष्ट रूप का प्रकाशक है। यह बात सत्य है परन्तु यह बात भी सत्य है कि उन सस्कृतियो का एक समन्वयात्मक रूप भी है। जिसको उन सब विशिष्ट सस्कृतियो का समन्वित रूप माना जा सकता है, वही यथार्थ भारतीय सस्कृति है। प्रत्येक क्षेत्र मे जो समन्वयात्मक रूप है, उसका ग्रनुशीलन ही भारतीय सस्कृति का ग्रनुशीलन है। गगा-जमुना तथा सरस्वती इन तीन नदियो की पृथक् सत्ता ग्रौर माहात्म्य रहने पर भी इनके परस्पर सयोग से जो त्रिवेणी सगम की ग्रभिव्यक्ति होती है उसका माहात्म्य ग्रौर भी ग्रधिक है।

वर्तमान ग्रन्थ के सकलनकर्ता परमश्रद्धेय उपाध्याय ग्रमरमुनि जी श्वेताम्बर जैन परम्परा के सुविख्यात महात्मा हैं। वे जैन होने पर भी विभिन्न सास्कृतिक धाराग्रो के प्रति समरुपेण श्रद्धा सम्पन्न हैं। वैदिक, जैन तथा बौद्ध वाङ्मय के प्राय पचास ग्रन्थो से उन्होने चार हजार सूक्तियो का चयन किया है ग्रौर साथ ही साथ उन सूक्तियो का हिन्दी ग्रनुवाद भी सन्निविष्ट किया है।

तीन धाराग्रो के सम्मेलन से उद्भूत यह सूक्ति-त्रिवेणी सचमुच भारतीय सस्कृति के प्रेमियो के लिए एक महनीय तथा पावन तीर्थ बनेगी।

किसी देश की यथार्थ सस्कृति उसके बहिरग के ऊपर निर्भर नही करती है। ग्रपितु व्यक्ति की सस्कृति नैतिक उच्च ग्रादर्श, चित्त शुद्धि, सयम, जीव सेवा, परोपकार तथा सर्वभूतहित साधन की इच्छा, सतोष, दया, चरित्रबल, स्वधर्म मे निष्ठा, परधर्म-सहिष्णुता, मैत्री, करुणा, प्रेम, सद्विचार प्रभृति सद्गुणो का विकास ग्रौर काम क्रोधादि रिपुग्रो के नियन्त्रण के ऊपर निर्भर करती है। व्यक्तिगत धम, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म, जीवसेवा, विश्व कल्याण, प्रभृति गुण ग्रादर्श सस्कृति के ग्रग हैं। नैतिक, ग्राध्यात्मिक तथा दिव्य जीवन का ग्रादर्श ही सस्कृति का प्राण है।

"ज्ञाने मौन क्षमाशक्तौ त्यागे श्लाघा विपर्यय" इत्यादि ग्रादर्श उच्च सस्कृति के द्योतक हैं। जिस प्रकार व्यष्टि मे है उसी प्रकार समष्टि मे भी समझना चाहिए।

सकलनकर्ता ने वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, प्रभृति ग्रन्थो से सकलन किया है। जैन धारा मे आचाराग सूत्र, सूत्रकृतागसूत्र, स्थानागसूत्र, भगवतीसूत्र दशवैकालिसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र और आचाय भद्रवाहु के तथा आचार्य कुन्दकुन्द के वचनो से तथा भाष्य साहित्य, चूर्णि साहित्य से सूक्तियो का सचयन किया है। बौद्ध धारा मे सुत्तपिटक, दीर्घनिकाय, मज्झिमनिकाय, सयुक्त निकाय, अगुत्तर निकाय, धम्मपद उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, थेरगाथा, जातक, विशुद्धिमग्गो प्रभृति ग्रन्थो से सग्रह किया है।

देश की वर्तमान परिस्थिति मे इस प्रकार की समन्वयात्मक दृष्टि का व्यापक प्रसार जनता के भीतर होना आवश्यक है। इससे चित्त का सकोच दूर हो जाता है। मैं आशा करता हूँ कि श्रद्धेय ग्रन्थकार का महान् उद्देश्य पूर्ण होगा और देशव्यापी क्लेशप्रद भेदभाव के भीतर अभेद दृष्टि स्वरूप अमृतरस का सचार होगा। इस प्रकार के ग्रन्थो का जितना अधिक प्रचार हो उतना ही देश का कल्याण होगा।

—पद्मविभूषण, महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज

२. धर्म और दर्शन

—श्री देवेन्द्रमुनि

मुनि देवेन्द्र जी ने इस पुस्तक मे मुख्यता से जैन दर्शन की मान्यताओ का दिग्दर्शन और विवेचन किया है। जैन मत आत्यन्तिक रूप से एक युक्ति-सगत रचना है। जड-चैतन के नित्य द्वैत के आधार पर वह रचना हुई और उसके शिल्प-कौशल पर स्तब्ध रह जाना पडता है। भेद-प्रभेद का विश्लेषण वहां अगाध है। तर्क की कोई त्रुटि सहसा नही देखी जा सकती। लेखक ने उसको सक्षिप्त किन्तु साभिप्राय परिचय प्रस्तुत किया है और सराहना के भाव के साथ। जैन मान्यता को दूसरी दार्शनिक मान्यताओ के सदर्भ मे देखा-परखा भी गया है और सभी मतवादो मे समन्वय और समीकरण खोजने का प्रयास है। पुस्तक की उपादेयता उससे बढ जाती है। पर, अन्त मे यह याद रखना होगा कि धर्म एक और अद्वैत है। यदि नाम भिन्न है तो केवल उस तत्त्व-वैशिष्ट्य के नाते जिसका सहारा लेकर अमुक धर्मानुयायी अपना जीवन साधते हैं। अर्थात् अमुक मत-वैशिष्ट्य अपने आप मे कम या अधिक सत्य नही है। सत्यता यदि मत को प्राप्त होती हैं तो धार्मिक के धर्म भाव की अपेक्षा और अनुपात मे ही।

श्री देवेन्द्र मुनि इस प्राञ्जल पुस्तक के लिए हम सबकी बधाई के पात्र हैं।

/३६, दरियागज दिल्ली —जैनेन्द्रकुमार
६-२-६८

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
...म प्रिंटिग प्रेस द्वारा मुद्रित।
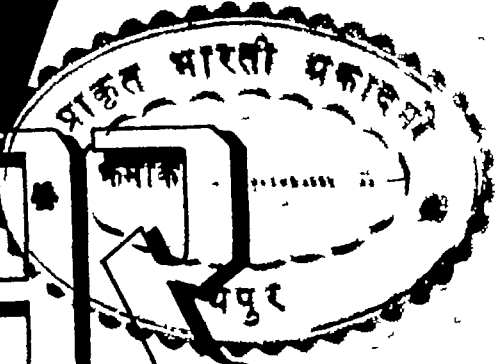
जून, १९६८

जीवन की लौ

जीवन श्रेष्ठ, वही जीवन है,
जिसकी परिणति निज-पर-हित में।
केवल निज अथवा केवल पर,
ग्राह्य नहीं है जीवन-पथ में॥

उभयमुखी दीपक की लौ है,
निज पर को प्रद्योतित करती।
ज्योतिर्मय जीवन की लौ भी,
निज-पर का हित साधन करती॥

—उपाध्याय अमरमुनि

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

श्री अमर-भारती

वर्ष ५ | जून—१९६८ | अंक ६

पढ़िए . पृष्ठो पर...

★

★

प्रेरणा
श्री अखिलेश मुनि
मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

★

दिशा निर्देशक
श्री विजय मुनि 'शास्त्री'

★

संपादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'
वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०

★

व्यवस्था
रामधन बी० ए०, 'साहित्यरत्न'

★

प्रकाशक
सोनाराम जैन
मंत्री
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

★

मुद्रक :
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा

आवरण :
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

जो तु गुणो दोसकरो, ण सो गुणो दोस एव सो होती ।
अगुणो वि य होति गुणो, जो सुन्दरणिच्छओ होति ॥

—निशीथ भाष्य ५८७७

जो गुण दोष का कारण है, वह वस्तुत गुण होते हुए भी दोष ही हैं। और वह दोष भी गुण है, जिसका कि परिणाम सुन्दर है, अर्थात् जो गुण का कारण है।

●

मद्दवकरण णाण तेणेव य जे मद समुवहति ।
ऊणगभायणसरिसा अगदो वि विसायते तेसिं ॥

—निशीथ भाष्य ६२२२

ज्ञान मनुष्य को मृदु बनाता है, किंतु कुछ मनुष्य उससे भी मदोद्धत होकर अधजल-गगरी की भाति छलकने लग जाते हैं, उन्हे अमृत स्वरूप औषधि भी विष बन जाती है।

●

उपाध्याय अमरमुनि

साधना की तेजस्विता

मनुष्य के जीवन का प्रमुख लक्ष्य है—उत्थान। ऊपर उठना-

उत्क्रामात. पुरुष! मावपत्था.।

—अथर्ववेद ८।१।४

—ऊपर उठते रहो, आगे बढते रहो! पुरुष! तुम नीचे मत गिरो! यही उसकी हृदयतन्त्री का शाश्वत स्वर-गुंजन रहा है।

उत्थान और विकास के मार्ग अनेक हैं, अपनी-अपनी रुचि के अनुसार मनुष्य उन मार्गों का चुनाव करता है और उस पर बढता चला जाता है। बात यह है कि मार्ग तो मिल जाता है, और उस पर मनुष्य चल पडते हैं। किंतु चलने मे जब तक श्रद्धा और विश्वास नही होता, तब तक उस चलने में कोई आनन्द नही है। उस चलने की कोई उपलब्धि नही होती, उस चलने से मकसद पूरा नही होता।

मनुष्य जिस मार्ग पर भी चले, श्रद्धा का बल उसके साथ होना चाहिए। विश्वास की लौ जलती रहनी चाहिए। जिसके कदमो मे श्रद्धा का बल है, हृदय मे विश्वास का प्रकाश है, वह जिधर भी चलता है, मार्ग मिलता जाता है। ज्योति जगमगाती रहती है, उन्नति-पर-उन्नति करता हुआ सिद्धियो के द्वार खोलता चला जाता है।

मार्ग से मतलब है—जीवन की साधना। वह साधना छोटी है या बडी है—यह कोई प्रश्न नही है। शास्त्र तो कहते हैं-यह विचार ही गलत है। साधना का क्या छोटा और क्या बड़ा? वह तो महासागर की तरह अनन्त और असीम है। गंगा बह रही है, निर्मल

जल हिलोरे ले रहा है, आप पूछे कि इसमे पानी कितना है? कितना जल मिलेगा ? यह कोई पूछने की बात है ? वहां तो जल का अपार प्रवाह बह रहा है, यह देखिये कि आपका पात्र कितना बडा है ? लोटा है, या घडा है ? जितना बडा पात्र होगा, उतना ही पानी आप ले सकेंगे। यदि अजलि मे पानी भर रहे हैं तो वह उसी हिसाब से मिलेगा और कलश भर रहे हैं तो कलश के हिसाब से पानी प्राप्त हो जाएगा।

साधना गगा की धारा है। उसके पानी की तह को नापने की उधेड़बुन मे पड़ने की जरूरत नही, जरूरत इस बात की है कि आपकी श्रद्धा का पात्र कितना बडा है, यह देखें! जैसी श्रद्धा होगी, वैसा ही पानी मिल जायेगा। पानी की कोई सीमा नही है, सीमा आपके पात्र की है। देखना यह है कि आपकी श्रद्धा का पात्र साधना का कितना जल ग्रहण कर सकता है?

बीज में विशाल वृक्ष

●

श्रद्धा एक बीज है। साधना के खेत मे जैसा बीज डाला जायेगा, वैसा ही वृक्ष, पौधा या लता का रूप प्रस्फुटित होगा। अभी-अभी मैं धन्ना-शालिभद्र की जीवन गाथा देख रहा था। शालिभद्र ने अपने पूर्व जीवन मे दान की श्रद्धा का बीज डाला था, वह कितने विराट् वृक्ष के रूप मे लहलहाया, यह देखकर बड़ा आश्चर्य होता है। उसके विशाल वैभव, और ऐश्वर्य के महावृक्ष को देखकर यह कल्पना नही की जा सकती कि श्रद्धा का वह छोटा-सा बीज कभी इतने बड़े विराट् वृक्ष के रूप मे भी लहलहा सकता है?

वृक्ष के लिए छोटा-सा बीज ही बोया जाता है। वृक्ष कभी नही बोया जाता। यदि आप फल-फूल के लिए किसी बड़े वृक्ष को ही लाकर लगा देंगे, तो फल तो क्या, वह वृक्ष ही सूखकर समाप्त हो जाएगा। एक नन्हा-सा बीज, जिसमे न कोई ऊँचाई है, न मोटाई, न पत्र हैं, न पुष्प हैं, न कोई शाखा है, न प्रशाखा है, उसमे इन सबका कुछ भी अस्तित्व नही दिखाई दे रहा है। पर उस नन्हे से बीज मे सम्पूर्ण वृक्ष का अस्तित्व छिपा पडा है। वही बीज समय पाकर महावृक्ष के रूप मे फलता-फूलता है, ससार को अपनी शीतल-

सघन छाया देता है। शताब्दियो तक मधुर फलो से हजारो प्राणियो को आनन्दित करता रहता है।

साधना के क्षेत्र मे यह श्रद्धा का वीज किसी सत्कर्म के रूप मे डाला जाता है। वीज की महत्ता इसमे नही कि आप वीज ज्यादा डालते है या कम? सघन डाल रहे हैं या विरल! पर वीज की महत्ता उसकी विशुद्धि, तेजस्विता और शक्ति मे है। वह कर्म से विशुद्ध किया गया है या नही? उसमे श्रद्धा का तेज कितना है, विश्वास की शक्ति कितनी है? यही देखा जाता है। जव वह वीज डाला जाता है तो उसका कोई अस्तित्व हमारी आँखो के सामने नही रहता, वह भूमि गर्भ मे छिप जाता है। पर समय पाकर जव महा-वृक्ष के रूप मे लहलहाता है, धरती को आच्छादित करता है, तव हम उस वीज की विशुद्धि, तेजस्विता, शक्ति और सामर्थ्य की कल्पना करके आश्चर्य मे डूव जाते हैं।

आगमो और प्राचीन साहित्य मे हम पढते आए है कि जव कभी किसी का विशेप वैभव ऐश्वर्य और समृद्धि देखी जाती है तो उसके पूर्व भव के वारे मे प्रश्न खडा होता है कि इसने क्या साधना की थी? कैसा तप किया होगा? पूर्व जन्म का प्रश्न उस वीज का प्रश्न है जो किसी मधुर और उत्कृष्ट फल वाले वृक्ष को देखकर सहज मे ही तरगित हो उठता है कि यह वीज कहा का है? किस प्रदेश, या किस नर्सरी का है।

शास्त्रो मे आता है कि जव आत्मा स्वर्ग मे देव रूप मे उत्पन्न होता है तो वहा के देवता और देवियां उससे सवसे पहला प्रश्न पूछते हैं—"किं वा दच्चा, किं वा भोच्चा, किं वा समायरित्ता?" आपने क्या दान किया था, क्या भोजन और क्या आचरण किया था कि इस स्वर्ग के सुखो मे आप आए हैं? यहा सवसे पहला जो प्रश्न होता है वह यह नही कि आपने क्या खाया, पर यह है कि आपने क्या दिया? किस सत्कर्म का वीज डाला था कि यह ऐश्वर्य का महावृक्ष आज फल उठा है।

ससार के खेत मे प्राणी जैसा वीज डालता है वैसा ही फल प्राप्त करता है। यदि पुण्य का वीज डाला जाता है, तो वहाँ मधुर और स्वादिष्ट फलो वाला वृक्ष लहलहा उठता है। और यदि पाप

का बीज बोया जायेगा तो विष वृक्ष फूट पड़ेगा। उसके नुकोले और जहरीले काटे भी अवश्य पैदा होगे।

यह जीवन, विचित्र पुष्प है

●

शालिभद्र को हुए आज ढाई हजार वर्ष वीत गए। ससार मे आज उसके कुल और वश का कोई आदमी हमारे सामने नही रहा है। पर फिर भी सस्कृत, प्राकृत, गुजराती, और राजस्थानी भाषा की हजारो गाथाएँ उसकी स्मृतियो मे गुथी हुई हैं। ऐसे भी ग्रन्थ मैंने देखे हैं, जिनमे शालिभद्र के जीवन को स्वर्णमय चित्रो मे अकित किया हुआ है। वे आज भी उसके अपार ऐश्वर्य की कहानी सुनाते हैं।

शालिभद्र का यह ऐश्वर्य हमारे इतिहास मे जीवित क्यो रहा? मैं कभी कभी इस प्रश्न पर सोचता हूँ और सोचता चला जाता हूँ। ससार मे कितने करोडपति-अरबपति हो गए और चले गए। कितने चक्रवर्ती सम्राट आए और समय के प्रवाह मे बह गए। कितने ही गगनचुम्बी महल खडे हुए और काल की आधी के झोको से गिर पडे। ससार किसी वीते हुए को याद नही करता। फिर शालिभद्र की मधुर-गाथाए आज तक क्यो गाई जाती रही है? इतिहास ने उसे क्यो अमर वनाए रखा है?

बात यह है कि पुष्प खिलता है तो उसकी मधुर सुगन्ध से वातावरण अपने आप महक उठता है। पवन से कहने की जरूरत नही कि इस मधुर मादक सौरभ को ससार मे बाटती चलो, यह तो अपने आप होता चला जाता है। पर, पुष्प जब तक खिला रहता है तभी तक महक देता है, मुरझाकर मिट्टी मे मिला कि ससार से उसका अस्तित्त्व मिट जाता है। किंतु मनुष्य का जीवन एक ऐसा विचित्र पुष्प है, जो खिलता है तो फिर हजारो लाखो वर्ष तक ससार को अपनी मधुर सुगन्ध से आल्हादित, उल्लसित करता ही चला जाता है। भौतिक शरीर मिट जाने के बाद भी उसकी महक और गमक ससार के वायुमण्डल मे छाई रहती है। यह पुष्प तो एक बार खिलना चाहिए, महकना चाहिए, फिर युग-युग तक महकता ही रहता है। शालिभद्र जैसो का जीवन पुष्प जब खिला, तो

ससार का वायुमण्डल उसकी भीनी गध से ऐसा आल्हादित हुआ कि युग-युगान्तर तक उसकी सुरभि मिट नही सकी। इतिहास उस पुष्प की मधुर गध को आज तक भुला नही सका।

सत तुलसीदासजी के सामने जब प्रश्न आया कि प्रभु का नाम बड़ा है या रूप? तो उन्होने कहा—प्रभु के रूप से भी नाम बडा है। रूप तो देह के साथ समाप्त हो जाता है, किंतु नाम युग-युग तक ससार को प्रेरणाएँ देता रहता है। इन्सान के मन मे जब जब अंधकार छा जाता है, तो किसी महापुरुष का नाम उसके सामने ज्योति बनकर चमक उठता है और रास्ता मिल जाता है।

संस्कृति का दर्शन

●

शालिभद्र के पूर्व जीवन की उस घटना पर जब हम विचार करते है, जब कि वह एक ग्वाले के रूप मे घूमता है। गरीब चरवाहा, जिसे पेट भर के सादा भोजन भी नसीब नही होता था, एक दिन खीर खाने के लिए मचल उठता है। जब वह देखता है कि पड़ोसियो के घरो मे बच्चे खीर खाकर त्यौहार मना रहे है, तो उसका हृदय भी खीर खाने के लिए तड़प उठता है। वह दौड़कर मा के पास आता है और खीर खाने की हठ पकड लेता है। गरीब मा के पास खीर कहा? पेट भर धान भी तो नही था। बच्चा रोने लग जाता है। उसका रोना सुनकर पास-पडौस की औरते पूछती हैं और जब देखती हैं कि क्या खीर के लिए रो रहा है? तो कोई चावल ला देती हैं, कोई दूध दे जाती है और कोई चीनी। कहती हैं—बच्चे को रुलाओ मत, खीर खिलादो।

मैं सोचता हूँ भारतवर्ष की वह भी एक संस्कृति थी। वह युग था जिसमे मनुष्य मे मनुष्यता के दर्शन होते थे। ऐसा नही है कि उस समय भारत मे कोई दरिद्र नही था। सभी धनाढ्य और वैभव-शाली थे, भारत कोई सोने की चिडिया थी। उस समय भी दरिद्रता और गरीबी थी और वह काफी थी। पर वह गरीबी, धन की गरीबी थी, मन की गरीबी नही थी। इसलिए गरीबी होते हुए भी आज की तरह गरीबी का हाहाकार नही था। लोगो के मन मे प्रेम और सहयोग की भावना थी। एक दूसरे के दुःख और गरीबी

को बाँट लेते थे। एक की पीड़ा, एक की गरीबी, एक की नही होती थी, पास-पड़ोस का सहृदय समाज उसमे भागीदार बनकर उसकी पीडा हलकी कर देता था। सस्कृति का यह सच्चा दर्शन उस युग की घटित घटनाओ मे आज भी बोल रहा है। इसलिए गरीबी होते हुए भी उस युग मे गरीबी की पीड़ा इतनी नही थी। लोगो मे सहानुभूति और सहृदयता के सस्कार थे।

एक बार मैं उपाश्रय के गवाक्ष मे खडा देख रहा था कि साधारण से कपडो मे एक छोटी-सी लडकी दही लेकर प्रसन्नता से चली आ रही थी। कुछ लोग सामने से निकल रहे थे, लडकी से टकरा गए। बिचारी के हाथ का दही चारो ओर सडक पर बिखर गया। लोगो की यह तो आजकल आदत बन गई है कि चलते हैं तो अधे होकर। जैसे ट्रायल ले रहे हो कि कभी मौका पड गया तो चल सकेंगे कि नही ? भारत का दर्शन तो कहता है कि चींटी को भी देखकर चलो, पर यहा तो बडे-बड़े प्राणी भी दिखाई नही देते। अदर की आख बन्दकर के ऐसे चलते हैं कि चलते-चलते परस्पर टकरा जाते हैं। जो कमजोर और दुर्बल हो, वह गिर जाता है।

तो बिचारी लडकी दही गिरने से रोने लग गई। लोग-बाग इकट्ठे हो गये कि क्या हुआ ? लडकी को समझाने लगे कि, 'चली जा, कुछ नही हुआ, रो मत !' पर वह तो रोती गई, रुकी नहीं। लोगो ने बहुत समझाया, उपदेश दिया चुप होने का। मगर रोना बन्द नही हुआ, उसे दीख रहा था कि मा से कितनी जिद्द करके दही के लिए पैसा लिया है, अभी जाते ही वह दो चार चपत जड ही देगी। मैं देखता रहा कि उपदेश देने वाले तो बहुत आ रहे हैं, पर कोई सहयोग और सहानुभूति का हृदय लेकर नहीं आया। आखिर एक सज्जन आये, और पूछा—'बेटी, क्या हुआ, दही गिर गया ? रो मत, लो पैसे, दही और ले आ !" बस लडकी का रोना बद हो गया। वह उछलती-कूदती चली गई।

मैंने सोचा–यह है सही समाधान करने वाला। जीवन मे उपदेश देने से समाधान नही होता, समाधान होत है कर्म से। गरीबी और दरिद्रता का समाधान आप उपदेश से करना चाहे तो कैसे होगा ? वह तो सहयोग और सहानुभूति की मांग करता है। भूखे को आपका

तत्त्वज्ञान नही चाहिए, उसे तो दो रोटी चाहिए। पेट भरा हो तो वह तत्त्वज्ञान की बात भी समझ सकता है, पर 'भूखे भजन न होय गोपाला।'

प्राचीन भारत के जीवन मे इस सस्कृति का स्पष्ट दर्शन होता है कि लोग एक दूसरे के दु:ख और गरीबी को बॉट लेते थे। सुख मे वे सहयोगी बनते थे, और दु:ख मे सहभोगी।

सगम चरवाहा था, पूर्व जन्म मे शालिभद्र अत्यन्त दरिद्र. गरीबी से पीडित था। लेकिन समाज का वातावरण इतना मधुर था कि गरीबी की पीडा कही एक जगह घनीभूत नही होने पाती थी। समाज उसे बाँट लेता था। पास-पडोस की औरतो ने बालक को रोते देखा तो उसे समझाने की कोशिश नही की बल्कि उसका समाधान किया और वस्तुत वह सही समाधान था।

सगम की मॉ खीर बनाती है, बेटे को थाली मे परोस कर खुद बाहर कुँए पर पानी के लिए चली जाती है, सगम गरमागरम खीर को ठण्डी करने मे लगा है,और इसी बीच वे तपोधन मुनि, जिन्हे सगम कई बार देख चुका था, पहाडियो और नदी के किनारे जब गायें चराने जाता, तो इन मुनि को वृक्ष के नीचे ध्यान लगाए देखता, वह सोचता रहता—ये कब खाते होगे? कब भिक्षा लेने को जाते होगे? कभी तो इधर-उधर घूमते नही देखा। पर आज जब देखा कि भिक्षा के लिए मुनि घूम रहे हैं, तो उसके हृदय मे श्रद्धा का वेग उमड पडा। हृदय हिलोरे लेने लग गया। मुनि को अपने द्वार पर आया देखा तो प्रार्थना कर घर मे लाया और वही खीर, जिस खीर के लिए वह रो-रोकर ऑखे सुजा रहा था, मॉ को तग किए जा रहा था, सहज श्रद्धा और भक्ति से मुनि के पात्र मे देने को तैयार हो गया। मुनि ने भी देखा कि इसकी भावना बढ रही है, बडा वेग है उसमे, श्रद्धा उमड रही है, तो इस भावना को ठेस नही पहुँचाना चाहिए। मनुष्य मे सत्कर्म का तीव्र वेग कभी कभी उमडता है, और जब उमडता है तब उसे और वेग देना चाहिए, ताकि वह बढता ही चला जाए। सद्भाव की जो लौ जलती है उसे उत्साह का और तेल देकर प्रज्वलित करना चाहिए ताकि वह महाप्रकाश बनकर जीवन को आलोकित करदे। अगर उस भावना को जरा भी

ठेस पहुँचा दी, लौ बुझा डाली तो मैं समझता हूँ इससे बढकर और क्या अहित किया जा सकता है किसी का ?

लौ बुझने न दो

●

बुद्ध के जीवन की घटना है, एक बार बुद्ध श्रावस्ती मे भिक्षा के लिए जा रहे थे। मार्ग मे बडे-बड़े श्रेष्ठी साहूकार हाथ जोड़े खड़े थे, प्रार्थना कर रहे थे। एक बच्चे ने मुट्ठी मे धूल ले रखी थी। बुद्ध को देखा तो उसने मुट्ठी बढ़ादी बुद्ध की तरफ कि 'लो !'

बुद्ध ने पात्र बच्चे के सामने कर दिया। बच्चे ने उसमे धूल डाल दी। लोग चिढ गए, "अरे ! क्या कर डाला ?"

बुद्ध ने लोगो को शान्त किया—"रोष मत करो। बच्चे मे देने का जो पवित्र सकल्प जगा है, उसे तोडने की चेष्टा मत करो। जो कल्पवृक्ष का अकुर फूटा है, उसे कुचलने का प्रयास मत करो। देने का सकल्प कितना उच्च है। कोई बात नहीं, आज धूल दे रहा है, यह धूल ही इसकी प्रिय चीज है। कल बडा होगा, सकल्प इसके जागृत रहे तो बहुत बडा दानी भी बन सकता है।"

अनन्त अनन्त काल से मनुष्य लेने की बात करता रहा है। अधिकार, धन, सत्ता सब कुछ ग्रहण करने की ही सोचता रहा है। देने की बात तो कभी-कभी उसके दिमाग मे काली घटाओ मे बिजली की तरह चमक जाती है।

मैं बहुत बार देखता हूँ, मनुष्य का स्वभाव कुछ विचित्र है। प्रथम तो देने का विचार और सकल्प जगता ही नही, और कभी-कभार जग पडा तो आस-पास मे कुछ चौधरी ऐसे मिल जाते हैं कि उसे विकसित ही नही होने देते। "वहाँ क्या करेगा देकर, क्यो फालतू दे रहा है।" कुछ कहते हैं—"अभी क्या देना है, बाद मे कभी दे देना।" इस प्रकार की बातें करके दान के इन कोमल अकुरो को वही कुचल डालते हैं। वे इसी जोड-तोड़ मे अपनी चौधर जमाए रखते हैं। मैं सोचता हूँ—मनुष्य के पवित्र सकल्पो को इस प्रकार मिटा देना बहुत बडा पाप है।

सगम की भावनाओ को मुनि ने ठेस नही पहुँचाई। मुनि ने पात्र

रख दिया। सगम भी ऐसा हर्ष-विह्वल हुआ कि बस, भरी हुई थाली पूरी-की-पूरी उलट भाव से उड़ेल दी। कुछ कथाकार कहते हैं कि उसने पहले तो आधी खीर देनी चाही, फिर देते-देते यकायक सबकी सब फिसलकर मुनि के पात्र में गिर पडी। यह फिसलने की बात मुझे तो फिसलती ही मालूम देती है। यह बात अटपटी-सी है, संगम की चढती भावना से मेल नही खाती, अस्तु!

विचारने की बात यह है कि एक ओर सगम की वह स्थिति जो खीर खाने के लिए रो रहा था, और दूसरी ओर अपनी थाली मे परोसी वही खीर, मुनि के पात्र में सबकी सब उड़ेल देता है। कितनी तीव्र और उच्च भावना रही होगी उसकी? एक रद्दी अखबार भी दूसरे को देने से पहले कितना विचार किया जाता है और यह सगम अपनी अत्यन्त प्रिय वस्तु, और वह भी खाने की वस्तु, वह भी रो-धोकर कठिनाई से प्राप्त, यो की यो उड़ेल देता है, यह कोई साधारण बात नही है।

भावावेश मे एक बार दे भी दिया, पर बाद मे पछताने लग गए, विचार, चिन्ता करने लग गए तो वह देना क्या देना रहा? देते समय जो प्रसन्नता और भावातिरेक होता है, वही बाद मे भी बना रहे, तब तो वह दान है। शास्त्र मे कहा गया है—सत्कर्म करने से पहले हृदय को प्रसन्न रखो, श्रद्धा से गद्-गद् होकर करो। सत्कर्म कर चुकने के बाद भी हृदय को प्रसन्न और प्रफुल्ल रखो। यदि सत्कर्म करते समय हृदय प्रसन्न नही रहा, भावना मे तीव्रता नही रही, तो वह बीज ही नि सत्त्व हो गया। यदि सत्कर्म कर लेने के बाद मन मे जोड-तोड होता है, कुछ पश्चात्ताप होता है, तो समझ लीजिए बड़ी मेहनत से बीज तो डाल दिया, पर तत्काल ही पश्चात्ताप की आग से जल कर भस्म भी हो गया। किया कराया सब गुडगोबर!

चार बातें दुर्लभ

●

सगम की भावनाओ का विश्लेषण करे तो देखेगे कि उनमे कितना उत्कट प्रवाह है। बीज यह भले ही छोटा-सा है कि मुनि को अन्न दान कर दिया, किंतु उस बीज मे शक्ति और तेजस्विता का

अपार स्रोत छिपा दिखाई देता है। जिन परिस्थितियो मे वह दे रहा है, वे परिस्थितिया क्या है ? जहा मिठाई का ढेर लगा हो और उसमे से थोड़ा-सा टुकडा दे दिया, तो कोई खास बात नही। किन्तु जिसके पास एक ही टुकडा खाने के लिए हो और भूख से बिलखते-बिलखते ग्रास लिए हाथ ऊपर मुँह तक जा रहा हो, और अचानक रुक जाये, अपने मुह मे जाता-जाता, दूसरे के मुह मे चला जाये और फिर भी वही प्रसन्नता, वही आनन्द ! कितनी [illegible] बात है!

एक आचार्य ने कहा है—

> दानं दरिद्दस्स, पहुयस्स खंती,
> इच्छानिरोहो य सुहोइयस्स ।
> तारुण्णए इन्दियनिग्गहो य,
> चत्तारि एयाणि सुदुक्कराणि ।

गरीब का दान, समर्थ की क्षमा, साधन सम्पन्न का इच्छा निरोध और जवानी मे इन्द्रिय निग्रह—चार बातें अत्यन्त दुर्लभ हैं।

गरीब का दान वास्तव मे बडी चीज । मानसिक विश्लेषण करने पर पता चलेगा कि एक करोडपति—हजार रुपये का दान देते समय दान के वास्तविक आनन्द की वह अनुभूति और संवेदना नही कर सकता, उसके हृदय मे वह करुणा और श्रद्धा नही छलक सकती, जो एक गरीब के हृदय मे एक पैसा दान देने से उमडती है। जो आदमी एक रुपया रोज कमाकर यदि एक पैसा दान करता है तो उसके हृदय मे जो समर्पण और त्याग का प्रवाह उमडता है, वह सौ रुपया कमाकर दस रुपया देने वाले के हृदय मे कैसे उमड सकता है ?

पाटन के महामन्त्री उदयन का नाम आपने सुना होगा। उसके पुत्र वाहड ने एक बार शत्रुञ्जय तीर्थ का पुनरुद्धार करने का निश्चय किया। राज्य के सेठ साहूकारो के अधिक आग्रह पर उनका सहयोग भी लिया गया। तीर्थ उद्धार का कार्य जब सम्पन्न हुआ तो दान दाताओ की नामावली घोषित की गई। बाहड ने स्वय नाम पढने शुरू किए, और सबसे पहला नाम जब भीम नाम के मजदूर का आया तो लाख-लाख स्वर्णमुद्रा देने वाले सेठ भी चकित रह

गए। भीम ने दान दिया था सिर्फ 'सात पैसे !' सब लोग मन्त्री के इस कार्य पर दग थे।

बाहड ने श्रेष्ठीजनो को सम्बोधित करके कहा—"बन्धुओ ! मैंने स्वय और आप सबने जो कुछ दिया है, वह अपनी सपत्ति का एक छोटा-सा भाग ही दिया है। परन्तु भीम ने जो सात पैसे दिए हैं, वे पता नही कितने दिनो के कठोर परिश्रम के बाद बचा-कर दिए हैं। इसलिए उसने तो अपना सर्वस्व ही अर्पण कर दिया। मैं समझता हूं उसका दान सबसे बडा दान है।"

बात यह है कि गरीब का दान बिना तीव्र इच्छा और श्रद्धा के नही दिया जा सकता। वह पैसे-पैसे को अपने खून से तोलता है। इसलिए सम्पन्न के दान से भी अधिक महत्व गरीब के दान का है। लाखो स्वर्ण मुद्रा देने वालो से भी भीम के सात पैसे ज्यादा महत्व के थे। उसके सात पैसो मे जो त्याग और श्रद्धा की सच्ची निष्ठा थी वह सेठो के लाख रुपयो मे भी नही आसकती। मैं कह रहा था कि इसीलिए माना गया है 'दान दरिद्दस्स' ! दरिद्र का दान दुर्लभ है।

समर्थ की क्षमा—जिसके पास शक्ति है, ताकत है, वह यदि क्षमा करता है तो उसका महत्व है, वह क्षमा है। यदि आप कमजोर और लाचार हैं, हृदय तो उबल रहा है, पर हाथ पॉव नही चलते, और कह दिया कि हमने क्षमा किया है तो यह कैसी क्षमा ? यह तो लाचारी है। कवि दिनकर की एक उक्ति है—

"क्षमा शोभती उस भुजग को जिसके पास गरल हो।"

यही बात इच्छा निरोध के सम्बन्ध मे है। जब मन मे वेग उठते हैं, काम के, क्रोध के तूफान मचलते हैं उस समय उन पर काबू करना, मन पर नियत्रण करना, बहुत कठिन साधना है। भूख-प्यास आदि शरीर के वेगो को रोकना उतना कठिन नही है, जितना कि मन के वेगो को रोकना। मन के वेग हठपूर्वक नही रोके जा सकते, और यदि रोकने की चेष्टा की जाती है तो वे अन्य विकृत रूपो मे फूट पडते हैं, उन्हे तो आध्यात्मिक विचार और चिंतन से ही रोका जा सकता है।

जब आपके पास सुख भोग के साधन उपलब्ध हैं, इन्द्रिया सक्षम

हैं उस समय मे इच्छाओ का दमन करना, सचमुच मे आदर्श-साधना है।

चौथी बात आचार्य ने बतलाई है कि जवानी मे इन्द्रिय निग्रह की। जवानी दीवानी होती है। कहा जाता है जगत के सब अँधे एक ओर, और जवानी का अँधा एक ओर। जवानी मे आँख खोल कर चलना, कही भटकना नही, बहुत बडी बात है।

सगम की मनोभूमि पर हम यही बात देख रहे हैं, उसका दान वास्तव मे कितना महत्त्व का है। खीर या घी देना कोई महत्त्व की बात नही है, किन्तु दान का महत्त्व और चमत्कार तो पवित्र भावना मे छिपा है। भावना कितनी प्रबल और तेजस्वी है कि अपनी प्यारी खीर देकर भी वह प्रसन्न है। अपूर्व आनन्द की अनुभूति कर रहा है। वह दान की बडाई करने इधर-उधर नही दौडता है, यहाँ तक कि माँ को भी नही कहता है कि मैने खीर साधु को दे दी। माँ पूछती है—बेटा, खीर खा चुका? तो कहता है—हाँ, खा चुका।

मैं आपसे कहना यही चाहता था कि श्रद्धा का यह बीज ही आगे चलकर महावृक्ष के रूप मे लहलहाता है, जिसके अपार पत्र, पुष्प और फल देखकर हम आज भी दाँतो तले अगुली दबा लेते हैं। उसके ऐश्वर्य का जो रोचक वर्णन किया गया है, उसके सौन्दर्य, सुकुमारता और वैभव की गाथाएँ जो घर-घर गाई जाती हैं, शायद उस पर आपका मन भी गद् गद् हो उठता होगा कि देखो, थोडी-सी खीर ने क्या चमत्कार दिखा दिया। पर मैं कहता हूँ कि खीर थोडी या ज्यादा, खीर अथवा रोटी, इस पर अटकना गलत है, महत्व जो है वह अडिग श्रद्धा का है। उस बीज का है जिसमे यह महावृक्ष पैदा करने की शक्ति छिपी थी।

शालिभद्र के जीवन मे सिर्फ ऐश्वर्य और वैभव के दर्शन करना उसके जीवन का अधूरा दर्शन है। जीवन के जो घटक तत्त्व हैं, निर्माण करने वाली भूमिका है उनको देखिए। और आगे देखना चाहे तो यह देखिए कि इतने ऐश्वर्य मे पलापुसा सुकुमार शरीर, जो सम्राट श्रेणिक की गोद मे बैठने से भी खेद-खिन्न हो गया था। परन्तु जब मन प्रबुद्ध होता है, तो वही कुसुम-कोमल शरीर कठोर तपः साधना मे संलग्न हो जाता है। तपस्या से इतना जर्जर और

क्षीण हो जाता है कि जब राजगृह मे भगवान की आज्ञा लेकर धन्ना शालिभद्र भिक्षा के लिए निकलते हैं तो भगवान् महावीर कहते हैं—"शालिभद्र ! आज तुम्हे अपनी माँ के हाथ से भिक्षा मिलेगी।' धन्ना शालिभद्र उसी महल के द्वार पर भिक्षा मागने पहुँचते हैं, जिसके वैभव-विलास मे एक दिन डूबे हुए थे। उसके स्वामी थे, आज वहा भिक्षुक बनकर गए है और मजे की बात तो यह है कि दोनो ही खाली लौट आते हैं। भद्रा सेठानी प्रभु का आगमन सुन कर दर्शन करने की तैयारी मे जुट रही है। घर मे कुछ भी तैयारी नही है, मुनि को आया देखकर कहती है कि महाराज ! आज तो कुछ भी योग नही है, हम सब भगवान् के दर्शन करने को जा रही हैं, सुना है प्रभु के साथ ही धन्ना और शालिभद्र मुनि भी पधार रहे हैं, इसलिए आज प्रात से ही हम सबको बडा उछाह लग रहा है उनके दर्शन का।"

आप सोचिए—माँ बेटे को नही पहचान पा रही है, कितना क्षीण हो गया होगा वह सुकुमार शरीर ? और मुनि की भी निस्पृहता क्या गजब है कि जिसके दर्शनो के लिए माँ इतनी अधिक आतुर हो रही है, वे स्वय सामने खड़े हैं, पर अपनी पहचान दिए बिना ही लौट जाते हैं, एक घर का पुत्र है, एक दामाद ! न वे पहचान पाते हैं और न ये पहचान देते हैं। जिस शान्त और निस्पृह भाव से गए थे उसी शान्त और निस्पृह भाव से लौटकर चले जाते हैं, और मार्ग मे उसी ग्वालिन के हाथ से, जो पूर्व भव की माँ है, भिक्षा मिलती है।

मैं इस कथानक पर सोचता-सोचता कुछ क्षण रुक जाता हूँ। साधना की कितनी ऊँची भूमिका थी यह ! वैराग्य और निस्पृहता की कसौटी है कि माँ को बेटा अपनी पहचान नही दे रहा है कि "तू जिसके दर्शनो के लिए आतुर हो रही है वह मैं ही हूँ तेरा बेटा !" जैसे साधना की इस ऊँचाई पर माँ बेटे की कल्पना ही समाप्त हो गई है। मोह और ममता का सोता सूख गया है।

एक प्राचीन कहानी आती है कि एक श्रेष्ठी पुत्र ने दीक्षा ली। बहुत वर्षों तक उस वह नगर मे लौटकर नही आया। उसकी माँ पुत्र के दर्शनो के लिए आँखें बिछाए बैठी थी, किसी भी आने जाने वाले

भिक्षु से पूछती—"महाराज ! अमुक भिक्षु मेरा पुत्र है। वह कहाँ हैं? मिले तो उन्हे कहना, कभी इधर भी दर्शन देते जाएँ।"

बहुत वर्षों बाद एक भिक्षु के कहने पर वह साधु आया। तपस्या से उसका शरीर इतना जीर्ण और दुर्बल हो गया था कि माँ पहचान भी नही पाई। सन्त ने वहा चातुर्मास किया, चार महीने बिताये, पर कभी मा को अपनी पहचान नही दी। ऐसा कुछ भी स्नेह और भाव नही जताया कि मा उन्हे पहचान सके। चातुर्मास बिताकर लौट गए। कुछ दिनो बाद वही भेजने वाला भिक्षु वहाँ आया, माँ ने अपने पुत्र के बारे मे पूछा—"कि वे कहा हैं ? आपने उन्हें कहा नही ? आपको कही मिले या नही ?"

भिक्षु ने कहा—"अरे ! अभी तो वह यहा चातुर्मास बिताकर गया है, तू कैसी बात कर रही है ?"

माँ की आखो मे हर्ष के आसू छलछला गये कि मेरा माँ बनना धन्य हो गया, जिसका बेटा इतना महान् साधक बन गया कि चार मास के लम्बे समय मे भी माँ को यह जतलाया तक नही कि तेरा बेटा हूँ ! कितना वैरागी और कितना निर्मोही है मेरा बेटा !

शालिभद्र का जीवन इसी भूमिका पर पहुँच जाता है। माँ के द्वार पर जाकर उसे जतलाते तक नही कि मैं ही शालिभद्र हूँ। निर्मोह-साधना की कितनी ऊचाई है यह ? एक ओर वह वैभव-विलास मे पगा जीवन ! जहाँ कभी महल से नीचे नही उतरे। मालूम नही कि श्रेणिक कोई हमारा राजा है या किराना माल है। और दूसरी ओर जब उस जीवन को छोडकर त्याग मार्ग पर चल पडे तो इतनी उग्र साधना ! इतनी विरक्ति ! और इतना निर्मोही जीवन ! कभी उस वैभव-विलास की स्मृति तक विचारो मे नही जगी।

भगवान् महावीर ने कहा है—भोगो को भोग कर याद करना साधना का सबसे बडा विष है। वह साधना और वह त्याग क्या, जिसमे विषय तो छूट गये हो, पर विषयो का रस नही छूटा हो ! विषय का रस जब तक मन से नहीं छूटता, तब तक पता नही साधक त्याग वैराग्य की ऊँचाई पर चलता-चलता कब उस रस की मादकता

से मूर्छित होकर विषयो के गड्ढे मे गिर पड़े। त्याग तो वह है कि जब तक उदय का भोग था, भोगा, भोग लिया और छोडा तो ऐसा छोडा कि उसकी कल्पना भी मन से मिट गई। उसकी स्मृति भी समाप्त हो गई। साधना की यह उच्चतम भूमिका है। शालिभद्र इसी भूमिका पर पहुँचे और साधना की अमर ज्योति जलाकर प्रकाशस्तभ बन गए। उनके जीवन के यही वे तत्त्व हैं, जो आज ढाई हजार वर्ष के बाद भी उसकी मधुर स्मृतियो और यशोगाथाओ को अपने मे सजोए कालचक्र की पट्टियो पर चमक रहे हैं। प्रकाश बिखेर रहे हैं।

मै आपसे यही बात कह रहा था कि साधना के क्षेत्र मे समय और सख्या का कोई महत्त्व नही हैं, वहाँ तो श्रद्धा की तेजस्विता का महत्त्व है। जिसकी जैसी श्रद्धा और निष्ठा होती है, वह उतना ही साधना का गगाजल अपने जीवन के पात्र मे भर सकता है। मानव का उत्थान बाहर की वस्तुओ मे नही, बाहर के लम्बे चौड़े कर्त्तव्य-कर्मो मे भी नही। उत्थान का मूल है कर्तव्य के मूल मे रही हुई आन्तरिक श्रद्धा एव निष्ठा। बाह्य वस्तु या कर्म अल्प भी हो सकता है, परन्तु अतरग मे श्रद्धा महान है तो बाहर की अल्पता का वहाँ कुछ अर्थ नही है, वह सर्वाधिक महान् है। जैन साहित्य मे इसकी साक्षी के लिए शालिभद्र अतीत मे हजारो वर्षो से उपस्थित रहा है, आज भी उपस्थित है, भविष्य मे भी उपस्थित रहेगा। श्रद्धा का छोटा-सा बीज शालिभद्र को कितने बड़े महान् कल्पवृक्ष मे विकसित कर गया? 'सद्धा परमदुल्लहा।'

●

छिलके मे रस नही होता, भीतर दल मे 'रस' होता है साधना मे क्रिया-काण्ड के बाह्य छिलको को ही चाटते मत रहिए, अन्दर मे तत्त्व-ज्ञान के 'दल' को भी चखिए। तभी रस की प्राप्ति होगी। क्रिया-काण्ड स्वय मूल नही है, मूल है आत्मबोध, स्वरूपलीनता। क्रियाकाण्ड उसकी रक्षा के लिए खोल है। ध्यान मे रखिए खोल आखिर खोल ही है।

उपाध्याय अमरमुनि

दान का तरीका

युग और शताब्दियाँ बीत गई, किंतु जगडुशाह का दान आज भी अपनी असामान्य विशेषताओ के कारण इतिहास का प्रेरक सत्य बना हुआ है :

एक बार पाच वर्ष का भयकर दुष्काल पडा। लाखो पशु भूखे मर गये। हजारो मनुष्यो ने अन्न के दाने-दाने के लिए तरसते हुए प्राण छोड दिए। मानव-करुणा से प्रेरित होकर जगडुशाह नाम के एक जैन श्रावक ने गाव-गाव मे एक सौ बारह दान शालाएँ खोल दी। बिना किसी भेद-भाव के भूखो को अन्न दिया जाने लगा। जगडुशाह स्वय दानशाला मे बैठकर अपने हाथो से दान दिया करते थे।

जगडू शाह ने देखा कि कुछ उच्च घरानो के कुलीन व श्रेष्ठ व्यक्ति, परिस्थितियों के बहाव ने जिनको दर-दर की ठोकरें खाने लायक बना दिया है, सामने आकर मागने मे शरमाते हैं, तो जगडू शाह ने अपने दान मण्डप में एक पर्दा डलवा दिया। पर्दे के भीतर जगडुशाह बैठता, दान लेने वाला आकर बाहर से भीतर की ओर हाथ फैला देता, जगडुशाह मागने वाले के हाथ पर से उसकी स्थिति का आकलन कर पर्दे की खिडकी मे से चुपचाप उसके हाथ मे कुछ न कुछ रख देता। किसको दे रहा हूँ, कौन ले रहा है ? न कुछ देखना और न कुछ पूछना। बिना किसी शोर और हल्ला के मौन साधे दान की मन्दाकिनी बह रही थी।

परन्तु फूल की महक तो हवा मे उडती है। दूर-दूर तक जगडु शाह के दान की कीर्ति फैल गई।

तत्कालीन राजा बीसल देव ने भी दुष्काल मे अपनी प्रजा की

सहायता के लिए कुछ 'सत्र' खोले थे। लेकिन अन्न के अभाव मे वे शीघ्र ही बन्द हो गए। उसने जगडु शाह के उदार व निस्पृह दान की बात सुनी और साथ ही यह भी सुना कि बिना मुख देखे और हाल पूछे याचक को अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार दान मिल जाता है, तो परीक्षा करने के लिए बीसलदेव एक भिखारी का वेष बनाकर जगडुशाह की दानशाला मे पहुँचा। पर्दे की खिडकी मे से उसने भीतर हाथ फैलाया। जगडुशाह ने उसके हाथ पर अपनी हीरे की अगूठी निकाल कर रख दी।

बहुमूल्य हीरे की अगूठी देखकर बीसलदेव आश्चर्य मे डूब गया। उसने दूसरा हाथ फैलाया, जगडुशाह ने अपनी दूसरी अगूठी उस पर रख दी।

बीसलदेव राजमहलो में आ गया। दूसरे दिन उसने जगडुशाह को बुलाया। जगडुशाह आया तो बीसलदेव ने पूछा—"शाह! सुना है, तुम दान देते समय किसी का चेहरा नही देखते? और न किसी से कुछ पूछते हो।"

"हाँ, महाराज! इसके लिए चेहरा देखने और पूछने की क्या बात हैं? मैं सिर्फ याचक का हाथ देखकर ही दान देता हूँ, उसकी अपनी आवश्यकता और स्थिति के अनुसार।"

"क्या तुम हस्त-सामुद्रिक जानते हो?"

"महाराज! हाथ की रेखाएँ पढ़ना ही सामुद्रिक नही है, हाथकी बनावट, उसकी सुकुमारता आदि लक्षण अपने आप याचक का परिचय दे देते हैं, और उसी के अनुसार मैं दान कर देता हूँ। योग्यता के अनुसार रुपये वाले को रुपया और स्वर्ण मुद्रा वाले को स्वर्ण मुद्रा मिल जाती है।"

राजा ने दोनो अगूठियाँ दिखाते हुए कहा—"तुमने क्या समझ कर ये अगूठियाँ मुझे दीं।"

जगडुशाह ने बडी सजीदगी से कहा—"महाराज! यह हाथ देखा तो मैंने सोचा कि कोई उच्च खानदान का व्यक्ति है। सकट का मारा यहाँ मांगने आया है, तो इतना दे दिया जाए कि दुबारा इसे आना न पडे, इसकी आवश्यकता पूर्ति हो जाए।"

राजा ने जगडुशाह के दान की उदारता और निस्पृहता देखी

तो बहुत प्रसन्न हुआ। उसने जगडूशाह का बड़ा सन्मान किया और हाथी के ओहदे पर बिठलाकर ससन्मान घर को भेजा।[1]

—उपदेश तरंगिणी, ४२

---

[1] जगडूशाह के सम्बन्ध में ये पद्य आज भी प्रचलित हैं—

नवकर वाली मणियडा तेह अगीला च्यारि।
दान साल जगडू तणी, दीसइ पुहवि मझारि॥
अट्ठय मुंडसहस्सा वीसल रायस्स, बार हम्मीरे।
इगवीसा सुलताने दुब्भिक्खे जगडु साहुणा दिन्ना॥

●

कर्म ही जीवन है।

निष्क्रिय मनुष्य आलसी होता है, और आलसी अल्पजीवी क्षुद्र-जीवी होता है।

कर्मशील सदा युवा और प्रसन्न रहता है।

× × ×

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो यह नहीं जानता कि कब खाना चाहिए और यदि जानता है तो इस पर चलता नही।

पशु पक्षी तभी खाते है जब उन्हे भूख लगी होती है, किंतु मनुष्य बिना भूख के स्वय भी खाता है और दूसरो को भी खिलाता है।

+ × +

आज आन्तरिक और बाह्य विषमताएँ भारत के लिए जजाल क्यो बनती जा रही है?

इसका कारण है कि वह भीतर से दुर्बल एव अस्वस्थ हैं। स्वस्थ व्यक्ति किसी भी प्रकार की विपरीत हवाएँ झेल लेता है, किंतु अस्वस्थ व्यक्ति उसका शिकार हो जाता है।

उपाध्याय अमरमुनि

मानवता का महामंत्र

इस अनन्त और विराट् सृष्टि मे हमे जो प्राणियो के विभिन्न एव विचित्र रूप दिखलाई दे रहे हैं, जो अनेक भेद-प्रभेद दृष्टिगोचर हो रहे हैं, क्या वे मौलिक हैं ?—यह एक प्रश्न है।

भेद सत्य है, या अभेद सत्य है—यह एक विचारणीय पहेली है।

शकर के—'जगन्मिथ्या' सूत्र के अनुसार जगत की दिखलाई पडने वाली समस्त विभिन्नताएँ, विचित्रताएँ अपने मे मिथ्या हैं, सर्प मे रज्जु बुद्धि की भाति भ्रान्ति पर आधारित हैं, असत् हैं, या उनकी सत्यता स्वीकार करनी चाहिए, विविधताओ को सत् रूप मे मानना चाहिए—यह एक उलझन है।

भगवान् महावीर ने इस प्रश्न की अतल गहराई को स्पर्श करके एक समाधान दिया था—'*एगे आया*' आत्मा एक है। चैतन्य अपने मूल स्वरूप मे एक है, एक समान है। इस उद्घोष ने चैतन्य-चैतन्य के बीच भेद खडा करने वाले विचारो की जड हिलादी थी। विभिन्नता और विविधताओ की मौलिक स्थापना खण्डित हो गई थी।

महावीर ने कहा था—चैतन्य के जो विविध भेद दिखलाई दे रहे हैं, वे औदयिक भाव हैं, कर्मों के उदय से निष्पन्न होते हैं, इसलिए वे मौलिक नही है, 'स्व' नही हैं, अतः भेद सत्य नही है। यद्यपि उन्हें मिथ्या भी नही कहा जा सकता, चूँकि वे धूप और छाँह की तरह स्पष्ट दिखलाई देने वाली चीज हैं, इसलिए उनकी विभिन्नता को सर्वथा झुठलाया भी नही जा सकता। भगवान् महावीर के दर्शन मे चैतन्य मे परिलक्षित होने वाले शरीर, इन्द्रिय, मन, काम, क्रोध, मद, लोभ, सुख-दु.ख, रग-रूप, जाति आदि मात्र औदयिक सत्य हैं, चैतन्य सत्य नही। ये चैतन्य के मूल धर्म नही हैं, अत. शाश्वत नही हैं, औपचारिक सत्य हैं, अत· अस्थायी हैं, क्षणिक हैं।

उन्होने कहा—प्राणियो की मनोवृत्तियाँ विभिन्न होती हैं, उनके चिन्तन और मनन के तरीके विविध होते हैं, इसलिए उनके कर्म भी विभिन्न होते हैं और विभिन्न कर्मों की परिणति भी विभिन्न ही होती है, इसलिए उनमे भेद और विविधता का होना भी अनिवार्य है, परन्तु यह सब चैतन्य का मूल सत्य नही है।

महावीर का दर्शन इस विभिन्नता पर अटका नही। वह तो बहुत सूक्ष्म था। आप जानते हैं सूक्ष्म चीज परतो को भेदकर भीतर गहरी चली जाती है। भगवान् का तत्वस्पर्शी सूक्ष्मदर्शन भी बहुत गहरा चला गया, इतना गहरा कि जहा कोई भी भेद और विभिन्नता दृष्टिगोचर नही होती है। एक अखण्ड चैतन्य के दर्शन होते हैं, एक विशुद्ध निर्मल आत्मतत्त्व समस्त प्राणियो मे एक समान रूप से झलकता हुआ परिलक्षित होता है। विभिन्न भेदो मे अभेद रूप से परिलक्षित होने वाले इस अखण्ड चैतन्य को लक्ष्य करके ही उन्होने कहा—'**एगे आया**' आत्मतत्त्व मे कोई भेद नही है। सुख दु ख की अनुभूति प्रत्येक आत्मा मे समान है, ज्ञान दर्शन की निर्मल ज्योति की अनन्त सत्ता भी प्रत्येक आत्मा के भीतर समान है। इसलिए आत्मा-आत्मा मे, चैतन्य-चैतन्य मे कोई भी मौलिक भेद नही है, सत्ता और स्वरूप की दृष्टि से उनमे कोई अन्तर नही है।

काली गाय का काला दूध ?

●

मैंने बताया आपसे कि जो बाहर मे भेद दिखलाई दे रहे हैं, वे मौलिक नही है, किन्तु कर्मजन्य है। कर्मों की विभिन्न परिणतियो के कारण, वे विभिन्न दृष्टिगत हो रहे हैं। किन्तु हम तो मूल को देखने वाले हैं, ऊपरी जटाजूट को नही, भीतर मे झांकते हैं, सिर्फ ऊपर-ऊपर ही दृष्टि नही दौडाते।

दर्शन के ग्रन्थो मे एक कहानी आती है कि किसी सेठ ने एक गाय खरीदी। गाय जब घर पर आई तो सब बच्चे इकट्ठे हो गए। गाय काली थी, बच्चे बोले—गाय बहुत खराब लाए, कैसी काली-काली गाय लाए हैं, इसका दूध भी बहुत काला होगा, हम तो दूध नही पीयेंगे।

पिता ने बच्चों को समझाया, गाय काली है तो क्या हुआ? काली गाय का दूध सफेद ही होता है, काला नहीं होता।

बच्चों को विश्वास नहीं हुआ। बोले—गाय काली है, तो दूध सफेद कैसे हो सकता है?

शाम को गाय दुहने का समय हुआ। सब बच्चे इकट्ठे हो गए और दृष्टि जमाकर देखने लगे कि दूध कैसा आता है? दूध की पहली धार जब आई तो सब चकित रह गए—"अरे! यह क्या? दूध तो बिलकुल सफेद! "हमारा विचार गलत कैसे हुआ?"

आप और हम ऐसे बच्चे नहीं है कि यह मान लें—काली गाय का दूध भी काला होगा। गाय चाहे काली हैं, लाल है या पीली अथवा गोरी है, दूध तो सफेद ही होगा। बाह्य रंग से दूध में कोई अन्तर नहीं पड़ने वाला है। हमारी दृष्टि बाह्य भेद पर नहीं, किन्तु भीतर में पहुँच गई है, इसलिए हम समझदार कहलाते हैं। बच्चों ने सिर्फ बाहर ही देखा, बाह्य आधार पर ही उनका निर्णय टिका था, इसलिए वह निर्णय गलत साबित हुआ।

गंगाजल और गन्दा जल मे क्या भेद है?

●

भारतीय संस्कृति के आत्म-द्रष्टा ऋषियों ने यह बताया है कि आत्मा जल के समान पवित्र और निर्मल है। मैं पूछता हूँ कि गँदी नाली के जल मे और गंगा के जल मे क्या अन्तर है? जो जल गंदे गटर मे बह रहा है वही गंगा की पवित्र धारा मे भी बह रहा है। गंगा जल और गन्दा जल में जो भेद है, क्या वह मौलिक है? यदि मौलिक है, तो गंदा जल, गंगा में मिलकर कभी भी गंगा जल नहीं बन सकता। वस्तुत: वह भेद अमुक प्रकार के मिश्रण का है। जैसे-जैसे तत्वों का मिश्रण पानी में होता गया, वैसा-वैसा उसका रूप बनता गया। पानी मे कभी आग लगी सुनी आपने? किन्तु पिछले दिनों अखबारों में पढ़ा होगा कि गंगा के पानी में बरौनी के तेल कारखाने का तेल बहा दिया जाने से पानी में भी आग लग गई। वस्तुत पानी के साथ तेल का मिश्रण होने से पानी आग उगलने लग गया। समुद्र का जल खारा होता है, नदी का जल मधुर। नदी का जल समुद्र मे जाते ही खारा क्यों हो जाता है? यह दोष जल का है,

या मिट्टी के अमुक तत्वो के मिश्रण का ? मिट्टी के क्षार तत्त्व पानी के साथ मिल गए तो पानी खारा हो गया और वे तत्व निकल गए तो पानी पुन. अपने रूप मे आ गया।

आचार्यों ने कहा है—यह आत्मा, यह चैतन्य जल के समान है। इसमे जो भेद दिखलाई दे रहे हैं, वे आत्मा के मूल भेद नही, किन्तु कर्मों के उदय के कारण हैं। वह आत्मा की प्रकृति नही, विकृति है, स्वभाव नही, विभाव हैं।

आत्मा की अद्वैत दृष्टि को स्पष्ट करते हुए एक वेदान्ती आचार्य ने कहा है—

सन्तु विकारा प्रकृतेर्
दशधा, शतधा सहस्रधा वापि।
किं मेऽसगचितेस्तैर्
न घनः क्वचिदम्बर स्पृशति।

प्रकृति के, भौतिक जगत के विकार चाहे जितने हो, दशो-बीसो प्रकार के, सैकडो या हजारो प्रकार के विकार भी हो, किन्तु वे मुझ असग-(आत्मा) को स्पर्श भी नही कर सकते। आकाश मे बादल उमड-घुमड कर आते हो, पृथ्वी को जल से भिगोकर तर कर देते हो, तो क्या कल्पना की जा सकती है कि वे आकाश को भी कभी भिगो सकते है ? नही।

इसी प्रकार प्रकृति के भेद, जो प्राणी प्राणी के बीच दिखलाई दे रहे हैं, मनुष्य-मनुष्य को जो अलग-अलग कर रहे हैं, वे आत्मा को नही बाँट सकते। मनुष्य के रूप मे कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय है और कोई शूद्र है तो क्या हुआ ? ये तो ऊपरी भेद हैं। कोई काला है, कोई गोरा है, तो क्या आत्मा भी उसकी काली और गोरी होगी ? बाह्य भेद के आधार पर आन्तरिक भेद मानने की कल्पना निरी बच्चो की कल्पना है।

यह दिमाग का कूड़ा-कचरा।

●

मुझे तो कभी-कभी बहुत आश्चर्य होता है, जब मैं प्राचीन भारतीय विद्वानो की अमूल्य विचार मणियो के साथ इस प्रकार के मध्य

कालीन विचारो का कूडा-कचरा मिला देखता हूँ। मुझ तरस भी आता है कि उनकी दृष्टि कहां-कहा भटक गई ? अमृत के होते हुए भी वे जहर को ही क्यो ग्रहण करने लगे ? और स्वय जहर पिया तो पिया, मगर भोली-भाली जनता के होठो पर भी वही जहर का प्याला क्यो थमा दिया ?

मैं रामायण का स्वाध्याय कर रहा था। उत्तरकाण्ड पढते-पढते एक प्रसग आया कि राम के दरबार मे एक ब्राह्मण आया, और दु खित तथा क्षुब्ध स्वर मे बोला—महाराज ! आपके राज्य मे कैसा अन्याय हो रहा है ?

राम चौककर बोले—अन्याय ? कैसा अन्याय ? मेरे राज्य मे तो सब प्रजा सुखी है, कही कोई शिकायत नही, जनता मे क्षोभ नही, सब प्रसन्न हैं, अन्याय कैसा ?

ब्राह्मण ने कहा—मेरे बैठे मेरा जवान बेटा मर गया। कलियुग को छोडकर अन्य युग मे यह कभी नहीं हो सकता कि पिता के समक्ष युवा पुत्र मर जाए ! आपके राज्य मे अवश्य ही कही अन्याय हुआ है, उसीका यह परिणाम है। महाराज ! आपके राज्य पर कलि की छाया पड रही है।

राम ने भी स्वीकार किया—हाँ, यह तो नही होना चाहिए। और अन्याय कहा हो रहा है, इसकी खोज करने के लिए राम स्वय निकल पड़े। देखा कि—जनता मे सर्वत्र आनन्द ही आनन्द है, कही कोई अपराध नही है, कोई बुराई नही है। सर्वत्र सुख चैन ! राम घूमते-घामते दण्डकारण्य मे से निकल रहे थे। वहाँ एक तपस्वी को ध्यानमग्न देखा, बडी कठोर तपस्या कर रहा था। राम ने श्रद्धा से प्रणाम किया और पूछा—आप कौन है ?

साधक की जाति नही पूछी जाती। किन्तु पूछली जाए तो छिपानी भी नही चाहिए। साधक सच्चा तपस्वी था, स्पष्टवादी था। कहा उसने—"महाराज ! मैं जन्मना शूद्र हूँ, किन्तु मुक्ति लाभ के लिए तपस्या कर रहा हूँ।"

राम चौंक उठे। बस, यही सबसे बडा पाप हो रहा है, अन्याय हो रहा है। शूद्र को तपस्या करने का और मुक्ति लाभ प्राप्त करने

का अधिकार ही क्या है ? वह तो उच्च वर्ण की सेवा करे, सेवा से, ही उसे स्वर्ग मिल जाएगा ! यह तो धर्म का नाश हो रहा है, बस, उस ब्राह्मण के युवा पुत्र की मृत्यु का यही कारण है। राम ने कोश से खड्ग निकाला, तपस्वी की हत्या करने के लिए, परन्तु हाथ काप गया, खड्ग नीचे गिर पडा। राम फिर सोचने लगे— यह करुणा मेरे हृदय मे आज क्यो जग रही है। सीता को बनवास देते समय हृदय इतना कठोर हो गया था, तब यह करुणा कहा चली गई थी ? आज धर्म का पालन करते समय भी करुणा रोक रही है।" महाकवि भवभूति ने राम की इस मनोदशा का चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है—

> हे हस्त दक्षिण ! मृतस्य शिशोर्द्विजस्य,
> जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
> रामस्य गात्रमसि निर्भरगर्भखिन्न—
> सीताविवासनपटो. करुणा कुतस्ते ?

बस, हृदय को कठोर किया, इधर खड्ग से तपस्वी की हत्या की और उधर ब्राह्मण का पुत्र जीवित हो उठा।

मैं सोचता हूँ—यह राम का चिन्तन नही है, किन्तु उन दिमागो का कूडा-कचरा है, जो मानवता को खण्ड-खण्ड कर रहे थे। और अपने सकीर्ण एव क्षुद्र विचारो को प्राचीन महापुरुषो के मस्तक पर मढ रहे थे। उनकी दृष्टि अखण्ड चैतन्य पर नही टिकी, आत्मा के केन्द्र पर कभी वे पहुँचे नही, सिर्फ औदयिक भावो की परिणति में ही भटकते रहे, बाह्य भाव मे ही अटके रहे।

ये शर्मनाक घटनाएँ

●

मैं मानता हूँ विचारो के इस जहर ने भारतीय संस्कृति की आत्मा को मूर्च्छित किया है, दूषित किया है और सम्पूर्ण मानवता को टुकडो-टुकडो मे बाटने की साज़िश मे योग दिया है।

चिन्तन और दर्शन का यह चश्मा जब तक हमारी आँखो पर चढा रहेगा तब तक अखण्ड मानवता के दिव्यरूप का दर्शन नही हो सकेगा। हम इन्ही रग-रूप, जाति और वर्ण के गलियारो में भटकते रहेगे, ठोकरें खाते रहेगे। अभी कुछ दिन हुए, आन्ध्र मे

एक हरिजन युवक जिन्दा जला दिया गया, मैसूर में सोलह हरिजन इस बात पर भस्म कर दिए गए कि हरिजनो से उच्चवर्ण श्रेष्ठ हैं और इस श्रेष्ठता को चुनौती नही दी जा सकती।

अभी अभी प्रवचन स्थल मे आने से पहले मैं पढ रहा था कि मार्टिन लूथर किंग जैसे मानवतावादी नेता को गोली मारकर हत्या कर दी गई। एक महान शान्तिवादी और नीग्रो जाति का मसीहा रग भेद की क्रूर गोली का शिकार हो गया। इस शताब्दी की यह एक तीसरी बहुत बडी शर्मनाक घटना है।

अमेरिका जैसे सभ्य कहे जाने वाले देश में काले गोरे का जो भेद चल रहा है वह उस देश की सभ्यता और सस्कृति का क्रूर उपहास है। बहुत पहले मजदूरी कराने के लिए अफ्रीकी लोगो को भेड बकरियो की तरह पकड-पकडकर अमरीका ले जाया गया, बाजारो मे पशुओ की तरह उन्हे नीलाम किया गया। पति कही चला गया, पत्नी को कोई और ही खरीद कर ले गया, बच्चो का कोई तीसरा ही ग्राहक आया—इस प्रकार एक परिवार के टुकड़े-टुकड़े कर दिये गए। और उनसे कठोर श्रम एव सेवा ली गईं। उन्ही के श्रम-बल पर अमेरिका का वैभव ससार मे बढा-चढा, और अमेरिका धन-कुबेर बना। किन्तु उन श्रम करने वालो को उस देश मे आज भी कोई मानवीय अधिकार नही है, यह कितना बडा मजाक है मानवता का। उन्हें बस मे बैठने नही दिया जाता, क्योकि वे काले हैं, होटल मे कुत्ता घुस सकता है, किंतु उन्हे नही घुसने दिया जाता, क्योकि वे काले हैं। उनके बच्चो को स्कूल मे पढने नही दिया जाता, क्योकि वे काले हैं। श्रेष्ठता का यह दम्भ, गोरी चमडी का यह मिथ्या अहकार आखिर किस विचार पर पल रहा है? जहा न आचार पूछा जाता है, न विचार पूछा जाता है, न व्यक्ति का गुण देखा जाता है, न योग्यता! सिर्फ रग देखा जाता है कि काला है या गोरा। जहाँ पर काली-गोरी चमडी ही मनुष्यता का पैमाना है, वहा मानवता और विश्वप्रेम की बातें क्या माने रख सकती हैं। इसी गलत पैमाने पर कैनेडी जैसे मानवतावादी व्यक्ति की हत्या की गई, इसी आधार पर आज मार्टिनलूथर को गोली से उडा दिया गया। विचारो के इसी जहर ने भारत मे गांधी जैसे महापुरुष को निगल लिया था।

महावीर बुद्ध को असुर कहा गया

●

मैं जब देखता हूँ कि इस प्रकार ससार मे सर्वत्र ही विचारो का यह जहर फैला हुआ है, दिमागो मे यह कूडा-कचरा भरा हुआ है तो मन क्षुब्ध हो जाता है कि मानवता का कल्याण कैसे होगा ? मनुष्य कैसे सुख और चैन से रह पाएगा ? जिसका दृष्टिकोण इतना क्षुद्र हो गया है कि चमडी के रग के आधार पर किसी का मूल्याकन करता है, चन्द बालो की चोटी या दाढी पर मानव के जीवन-मरण का फैसला करता है, सिर्फ जातीय आधार पर धर्म और स्वर्ग-नरक का प्रमाण पत्र देता है, वह मनुष्य इस ससारमे कभी अखण्ड मानवता एवं अखण्ड चैतन्य का दर्शन कर सकेगा ?

भारत जैसे धर्म प्रधान देश मे लाखो दूध-मुहे बच्चो और तरुणियो को इस आधार पर मौत के घाट उतार दिया गया कि वे हिन्दू हैं या मुसलमान हैं ? बीसवी शताब्दी के एक महान पुरुष गाधीजी को इसी आधार पर गोली मारदी गई। और ये घटनाएं बीसवी शताब्दी मे ही नही हो रही हैं, इतिहास भरा पडा है ऐसे कारनामो से। ढाई हजार वर्ष पहले भी जातीय अहकार पर चोट करने वाले, वर्णभेद को मिटाने वाले, महावीर और बुद्ध को भी 'असुर' कहकर पीडाएं दी गईं, यत्रणाएँ और ताडनाएँ दी गईं। हमारा सद्भाग्य था कि उन्हे मारा नही गया ताकि उनके उपदेश आज हमारी यह वैचारिक-कुण्ठा तोडने मे समर्थ हो रहे हैं। और मानवता के कल्याण का दिव्य मार्ग दिखा रहे हैं।

किसी भी रंग में मुक्ति हो सकती है

●

मैंने आपसे बताया कि ससार मे रग और जातीय अहकार की समस्या चिरकाल से चली आ रही है, और जब तक दृष्टिकोण नही बदला जाएगा, सोचने समझने का तरीका नही बदला जाएगा, तब तक समाधान नही हो सकेगा।

कुछ समय पहले की बात है। एक सज्जन ने प्रसगवश मुझसे पूछा—जैन तीर्थंकरो के ये काले-नीले लाल-रग बतलाए गए हैं, यह सब क्या है, कैसे हो गए ये ? हिन्दुस्तान मे इस तरह की रग-बिरंगी वे कौन-सी जातिया थी ?

मैंने कहा—भाई! तुम इसे नई दृष्टि से सोचो। इसके पीछे रहा हुआ चिन्तन देखो, तो तुम्हे श्रमण सस्कृति का सच्चा स्वरूप समझ मे आएगा। श्रमण संस्कृति ने हजारो लाखो वर्षों पहले ही यह बता दिया था कि आत्म-साधना मे रग, लिंग, और जाति का कोई महत्व नही है। यहा काले रग वाले भी सिद्ध हो सकते हैं, तीर्थंकर हो सकते हैं, और लाल व गोरे रग वाले भी। यहा पुरुष भी साधना के चरम शिखर पर पहुँच सकता है और मल्ली भगवती जैसी स्त्री तीर्थंकर भी हो सकती है। मुक्ति के लिए यह नही देखा जाता कि तुम्हारा रग कैसा है? काला है या गोरा? यहाँ तो साधना का तेज देखा जाता है। तीर्थंकरो के शरीर के विचित्र रग, समझ लो इसी बात को सिद्ध करते है। यह काले-गोरे की समस्या का समाधान है, नीग्रो समस्या का ऐतिहासिक हल है। स्थूल पर नही, सूक्ष्म पर पहुँचिए, शब्दार्थ पर नही, भावार्थ पर पहुँचिए, ऐतिहासिक सत्य की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन सत्य ही साधक के लिए अधिक लाभप्रद है।

वे सज्जन जरा मुस्कराए कि आप तो बहुत दूर पहुँच गये। मैंने कहा—विना दूर पहुँचे समाधान मिल ही नही सकता। जैन धर्म का यह उद्घोष समझना होगा कि रग भेद, लिंग भेद सब मिट्टी के हैं, आत्मा के नही। आत्मा तो न काला है, न गोरा है और न लाल है, न यह नारी है, न पुरुष है—"न किण्हे, न नीले, न लोहिए, न हालिद्दे, न सुक्किल्ले 'न इत्थी न पुरिसे।" आत्मा की दृष्टि से ससार का प्रत्येक प्राणी समान है, समरूप है, समचैतन्य है।

मैं यह कह रहा था कि आज बीसवी शताब्दी मे, जहा ससार सभ्यता और शिक्षा के क्षेत्र मे प्रगति करता जा रहा है, वहा रगभेद और जाति भेद के ये तुच्छ और निम्न विचार उसकी सभ्यता के लिए प्रश्नचिन्ह हैं? इस बीसवी शताब्दी मे गाँधी, कैनेडी और मार्टिनलूथर किंग जैसे मानवतावादी तीन-तीन महापुरुषो का बलिदान यह सूचित करता है कि रग और जाति भेद के इस विष ने विश्व को किस प्रकार उद्विग्न कर दिया है। यह समय है और सबसे अच्छा समय है कि भगवान महावीर के समतावादी महामंत्र 'एगे आया' को विश्व मे गुंजादें और अखण्ड मानवता के त्राण के लिए दृढप्रतिज्ञ हो जाएँ।

उपाध्याय अमरमुनि

जिनकल्प, बनाम स्थविरकल्प

तत्त्वचिन्तक उपाध्याय श्री अमरमुनिजी श्रुत, स्नेह एव समता के क्षीर सागर प्रतीत होते हैं, पार्श्ववर्ती परिकर को भी, एव दूरवर्ती दर्शक, जिज्ञासु तथा आलोचक को भी ! किन्तु कभी कभी लगता है इस क्षीर-सागर मे विचारो का ज्वालामुखी छिपा पडा है, जो जब कभी जाग्रत होता है, तो आस-पास मे छाए हुए असत्य के कूडे-कचरे को भस्मसात् करता हुआ दहक उठता है।

उनके चिन्तन मे उन्मुक्त नवीन उन्मेष हैं, किन्तु उनका आधार इतना ठोस, तर्क-सगत, आगमसगत एव युगीन चेतना से अनुप्राणित हैं कि जैन दर्शन की मूल आत्मा का स्पर्श करने वाला तटस्थ बुद्धिजीवी उसे पाकर दृष्टि-सपन्न बन जाता है।

१९६८ जनवरी अक मे उपाध्याय श्री जी के एक प्रवचन मे जिन-कल्प एव स्थविरकल्प की एक सहज चर्चा आई थी, उसकी दृष्टि सिर्फ यही थी कि 'स्थविरकल्प साधना स्व-पर-कल्याणकारी होने से, स्व-कल्याणकारी जिनकल्प साधना से अधिक महत्त्वपूर्ण है।'

इसी आधार पर स्थविरकल्प साधना को सामाजिक चेतना की मूर्त साधना मानी गई थी।

ये विचार कोई हवा मे उडती हुई पतंगबाजी नही थे, इसके पीछे गम्भीर अध्ययन, चिन्तन एव स्पष्ट दर्शन था।

सूत्र रूप मे आई उस विचारचर्चा ने कुछ दूसरा ही मोड ले लिया। कुछ आलोचक मूल-दृष्टि से भटक कर चिल्ला उठे कि उपाध्याय श्री जी ने जिनकल्प का महत्व गिरा दिया। इस मिथ्या-प्रलाप पर कुछ स्वाध्यायशील जिज्ञासुओ की जिज्ञासाए, कुछ सामान्य पाठको की शकाए सामने आई। उपाध्याय श्री जी ने अस्वस्थ होते हुए भी उस चिन्तनसूत्र का आगमिक एव दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करके दृष्टि के धु धलके को साफ करने का जो अनुग्रह किया है, उसके लिए अमर भारती के पाठक ही नहीं, अपितु प्रत्येक सत्य-शोधक उपकृत होगा— ऐसा विश्वास है।

—सम्पादक

की निष्प्रतिकर्मता इतनी उग्र होती है, कि आँख मे आया मैल भी साफ नहीं करता है[१८]। इसी प्रकार अन्य भी अनेक कठोर एव उग्र नियम हैं, जिनका वर्णन आगम एव आगमेतर साहित्य मे इतस्तत बिखरा पडा है। यहाँ केवल सक्षेप मे दिग्दर्शन मात्र कराने के लिए कुछ नियमो का ही उल्लेखकिया है।

फिर भी कैवल्य क्यों नहीं?

●

इसमे कोई दो मत नही कि जिनकल्पी मुनि की चर्या, एक कठोर चर्या है। परन्तु एक प्रश्न है, जो प्रत्येक विचारक के समक्ष पर्वताकार खडा हो जाता है, वह यह कि जैन परम्परा मे, खास तौर पर श्वेताम्बर परम्परा मे, इतनी महती कठोर-चर्या होते हुए भी, जिन कल्पी भिक्षु को आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से क्यो नही महान् माना गया है ? वह अधिक से अधिक उपशम श्रेणी का आरोहण कर सकता है, राग, द्वेष, मोह का उपशमन कर सकता है, किन्तु क्षय नही कर सकता, क्षपक श्रेणी नहीं चढ सकता।

महान् दार्शनिक एव आगममर्मज्ञ, समदर्शी आचार्य हरिभद्र ने 'पचवस्तु' मे लिखा है कि जिनकल्पी को अवेदकत्त्व उपशमश्रेणी में ही होता है, क्षपकश्रेणी मे नही। जिनकल्पी को उस जन्म मे केवल ज्ञान नही होता है, अत· उसे क्षपक श्रेणी होती ही नही है[१९]।

यही बात आचार्य क्षेमकीर्ति वृहत्कल्प भाष्य की वृत्ति में, भाष्य गाथा १४२० पर लिखते हैं—"**जिनकल्पिकस्य तद्भवे केवलोत्पत्तिप्रतिषेधादुपशमश्रेण्या वेदे उपशमिते सत्यवेदत्वम्।**"

प्रवचन सारोद्धार के महान् टीकाकार आचार्य सिद्धसेन का कथन है कि जिनकल्पी सूक्ष्मसपराय एव यथाख्यात चारित्र की भूमिका

---

१७ वृ० क० भाष्य गा० १४२४

,, ,, १४२४

१८ नाक्षिमलादिकमप्यपनयन्ति—गा० १४२४ भाष्यवृत्ति

१९ उवसमसेढीए खलु, वेदे उवसमियम्मि उ अवेदो।
न हु खविए तज्जम्मे, केवलपडिसेहभावाओ।
—पचवस्तु, गा० १४९८

पर जो पहुँचता है, वह उपशमश्रेणी की दृष्टि से पहुँचता है, क्षपक श्रेणी की दृष्टि से नही। जिनकल्पी को उस भव मे कैवल्य ही नही होता है[२०]। क्षपकश्रेणी आरोहण करने पर ही केवलज्ञान होता है, अन्यथा नही।

अब विचारणीय प्रश्न है कि ऐसा क्यो होता है? इतनी बडी उग्र साधना, फिर भी कैवल्य नही, मुक्ति नही। वह भी तत्काल् क्या, जीवन भर नही। आखिर कुछ तो बात है? प्राचीन आचार्यों की बातो को यो ही नही उडाया जा सकता। यदि उक्त बात को श्वेताम्बर परम्परा का दिगम्बर परम्परा के प्रति केवल साम्प्रदायिक अभिनिवेश ही मानले और उक्त सभी प्राचीन उल्लेखो को तथ्यहीन करार देदे, तब तो बात दूसरी है। इस नकार की स्थिति मे तो समस्या की जड ही कट जाती है। फिर कुछ कहना ही शेष नही रहता। यदि ऐसा नही माना जा सकता, श्वेताम्बर परम्परा के बहुश्रुत आचार्यों को इतने निम्न स्तर के आग्रही नही ठहराया जा सकता, तो फिर जिनकल्प साधना के अन्तरग को गहराई से स्पर्श करना होगा। जहा तक बाह्य साधना का प्रश्न है,वहाँ तक तो ननुनच के लिए कुछ भी स्थान नही है, परन्तु प्रश्न बाहर का नही, अन्दर का है। इतनी बडी कठोर साधना होने पर भी क्षपक श्रेणी नही, कैवल्य नही, फलत मुक्ति भी नही। इस पर से निश्चित हो जाता है कि बाह्य साधना की कठोरता अथवा मन्दता अन्तिम निर्णायक नही है। निर्णायक कोई और है, और वह है अतरग। अत श्वेताम्बर परम्परा के अभिमत से स्पष्ट हो जाता है कि जिनकल्प की साधना अधिक अन्तर्मुखीन साधना नही है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से रागद्वेष के क्षय की विकसित साधना नही है। जिनकल्प साधना मे ज्ञानावरणादि आत्म-स्वरूप-घातक घातिकर्मों का क्षय करने जैसा निर्मल अध्यात्मभाव जाग्रत नही होता है। सभवत जिनकल्प मे बाह्याचार का विकल्प कुछ अधिक होता होगा, कर्मक्षयोन्मुख निर्विकल्प, शुद्धोपयोग की परिणति जैसी चाहिए वैसी नही होती होगी? यह मात्र मेरी वैयक्तिक सभावना एव कल्पना ही नही है,

२० स च उपश्रेण्यामेव, न तु क्षपक श्रेण्याम्, 'तज्जम्मे केवलपडिसेह भावाओ', इति वचनात्—प्रवचन सारोद्धार, सिद्धसेनीया, गा० ५४०

जिनकल्प की बात, बहुत पुरानी बात है। अतः जिनकल्पीमुनि क्या थे, कैसे रहते थे, कैसे भोजन लेते थे, कैसे खाते थे, क्या करते थे, और क्या न करते थे, अर्थात् उनकी जीवन-चर्या कैसी थी, उक्त सब बातो की जानकारी के सूत्र कुछ आगमपाठ हैं, कुछ टीका ग्रन्थ हैं, कुछ प्राचीन आचार्यों की स्वतंत्र रचनाएँ हैं, कुछ कथा कहानिया हैं और कुछ हैं इधर-उधर फैली हुई किवदन्तियाँ। जिनकल्प सबधी अनुश्रुतियो के सघन वन मे से यह निश्चित रूप से खोज निकालना सहज नही है कि "इनमे से कौन मूल है, और प्राचीन है ? और कौन पीछे से जुड़ती गईं, बढती गईं ?" परन्तु यह तो स्पष्ट है कि कुछ बातें पीछे से भी जोड दी गई हैं या जुड गई हैं।

जिनकल्प-चर्या के सम्बन्ध मे मैं एक विस्तृत सिंहावलोकन करना चाहता था, परन्तु इधर अभी आवश्यक साहित्य सामग्री भी प्राप्त नही है, कुछ स्वास्थ्य भी अनुकूल नही चल रहा है। समय ने साथ दिया तो कभी इस पर विस्तार से प्रकाश डाला जाएगा, अभी तो प्रस्तुत पर विचार करना ही प्रसगोचित है।

जिनकल्प की कठोरचर्या

बाह्याचार एव बाह्यतप आदि की दृष्टि से जिनकल्पी भिक्षु,जैन परम्परा मे सर्वोत्कृष्ट माना गया है। उसके कुछ ऐसे कठोर नियम हैं, जो अन्य स्थविरकल्पी भिक्षु के लिए अशक्य हैं, अतः उसके लिए निहित भी नही हैं।

जिनकल्पी मुनि प्रतिदिन लोच–केशलुंचन करता है,[1] तीसरी पौरुषी—तीसरे पहर मे ही भक्त एव पान की भिक्षा चर्या करता है न पहले और न पीछे[2]। भोजन अलेपकृत ही लेता है, जैसे चने आदि[3]। उत्कृष्ट जिनकल्पी नग्न रहता है[4], पात्र भी नही रखता

१ (क) वृहत्कल्प भाष्य, गा. १३८८।
(ख) प्रवचन सारोद्धार, सिद्धसेनीयावृत्ति, गा० ५४०

२ (क) आहार तावदसौ तृतीयपौरुष्यामवगाढायां गृण्हाति,—वृहत्कल्प भाष्यवृत्ति,१३६२
(ख) प्रवचन सारोद्धार सिद्धसेनीया० ५४०

३ वृहत्कल्प भाष्य, गा० १३६३

है, वह सदैव पाणिपात्र होता है[५]। सभी जिनकल्पी तीसरे पहर मे ही विहार करते हैं, जहाँ भी चौथा पहर लगता है, वही ठहर जाते हैं, आगे नही चलते हैं[६]। एक वसति-उपाश्रय मे अधिक से अधिक सात जिनकल्पी रह सकते हैं, किन्तु परस्पर संभाषण नही करते हैं[७], मौन रहते हैं, धर्मकथा भी नही करते हैं[८]। एक गली मे एक दिन एक ही जिनकल्पी भिक्षा के लिए जाता है[९], दूसरा नही। जिस गली मे जिस दिन भिक्षा के लिए जाए तो फिर सातवें दिन ही उस गली में भिक्षा के लिए जा सकता है पहले नही[१०]। रोग होने पर चिकित्सा नही कराता है[११]। एकाकी विचरता है[१२]। अधिकतर खडा ही रहता है, बैठता भी है तो उकडू आसन से ही बैठता है, भूमि पर नितब एव पीठ का स्पर्श हो, इस प्रकार न बैठता है, न लेटता है[१३]। पागल हाथी एव व्याघ्र आदि हिंसक वन्य पशुओ के सम्मुख आने पर भी मार्ग छोड़कर इधर उधर नही जाता[१४]। आँख मे कांटा आदि लगने पर न स्वयं उसे निकालता है और न दूसरे से निकलवाता है[१५]। किसी को अपना शिष्य नही बनाता है[१६]। किसी भी प्रकार का अपवाद सेवन नही करता हैं[१७]। शरीर

४-५ वृ० क० भा० गा० १३६१

६ वृ० क० भाष्य, गा० १३७४

यावत् तृतीय पौरुषी तावद् गच्छति यत्र तु चतुर्थी पौरुषी भवति तत्र नियमात् तिष्ठति—भाष्यवृत्ति

७ वृ०क० भाष्य, गा० १४१२

८ धर्मकथामपि न कुर्वन्ति-प्र० सा० सिद्धसेनीया० गा० ५४०

९ बृ०क० भाष्य, गा० १४१२,

१० वृ०क० भाष्य, गा० १४०८

११ ,, ,, गा० १३८७

१२ ,, ,, गा० १३८८

१३ वृहत्कल्प भाष्य गा० १३६५

जिनकल्पप्रतिपन्न. पुनर्नियमात् उत्कुटुक एव—भाष्यवृत्ति

शेषासु तु पौरुषीषु प्राय. कायोत्सर्गेणास्ते—भा० वृ० १४२४

१४ प्रवचन सारोद्धार, सिद्धसेनीया गा० ५४०

१५ सुभद्रासती चरित्र।

१६ वृहत्कल्पभाष्य, गा० १४२३

की निष्प्रतिकर्मता इतनी उग्र होती है, कि आँख मे आया मैल भी साफ नहीं करता है[१८]। इसी प्रकार अन्य भी अनेक कठोर एव उग्र नियम हैं, जिनका वर्णन आगम एवं आगमेतर साहित्य मे इतस्तत बिखरा पडा है। यहाँ केवल सक्षेप मे दिग्दर्शन मात्र कराने के लिए कुछ नियमो का ही उल्लेखकिया है।

फिर भी कैवल्य क्यों नहीं?

●

इसमे कोई दो मत नही कि जिनकल्पी मुनि की चर्या, एक कठोर चर्या है। परन्तु एक प्रश्न है, जो प्रत्येक विचारक के समक्ष पर्वताकार खडा हो जाता है, वह यह कि जैन परम्परा मे, खास तौर पर श्वेताम्बर परम्परा मे, इतनी महती कठोर-चर्या होते हुए भी, जिन कल्पी भिक्षु को आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से क्यो नही महान् माना गया है? वह अधिक से अधिक उपशम श्रेणी का आरोहण कर सकता है, राग, द्वेप, मोह का उपशमन कर सकता है, किन्तु क्षय नही कर सकता, क्षपक श्रेणी नहीं चढ सकता।

महान् दार्शनिक एव आगममर्मज्ञ, समदर्शी आचार्य हरिभद्र ने 'पचवस्तु' मे लिखा है कि जिनकल्पी को अवेदकत्त्व उपशमश्रेणी मे ही होता है, क्षपकश्रेणी मे नही। जिनकल्पी को उस जन्म मे केवल ज्ञान नही होता है, अत उसे क्षपक श्रेणी होती ही नही है[१९]।

यही बात आचार्य क्षेमकीर्ति वृहत्कल्प भाष्य की वृत्ति में, भाष्य गाथा १४२० पर लिखते हैं—"जिनकल्पिकस्य तद्‌भवे केवलोत्पत्तिप्रतिषेधादुपशमश्रेण्या वेदे उपशमिते सत्यवेदत्वम्।"

प्रवचन सारोद्धार के महान् टीकाकार आचार्य सिद्धसेन का कथन है कि जिनकल्पी सूक्ष्मसपराय एव यथाख्यात चारित्र की भूमिका

---

१७ वृ० क० भाष्य गा० १४२४

,, ,, १४२४

१८ नाक्षिमलादिकमप्यपनयन्ति—गा० १४२४ भाष्यवृत्ति

१९ उवसमसेढीए खलु, वेदे उवसमियम्मि उ अवेदो।
न हु खविए तज्जम्मे, केवलपडिसेहभावाओ।

—पचवस्तु, गा० १४९८

पर जो पहुँचता है, वह उपशमश्रेणी की दृष्टि से पहुँचता है, क्षपक श्रेणी की दृष्टि से नही। जिनकल्पी को उस भव मे कैवल्य ही नही होता है[20]। क्षपकश्रेणी आरोहण करने पर ही केवलज्ञान होता है, अन्यथा नही।

अब विचारणीय प्रश्न है कि ऐसा क्यो होता है? इतनी बडी उग्र साधना, फिर भी कैवल्य नहो, मुक्ति नही। वह भी तत्काल् क्या, जीवन भर नही। आखिर कुछ तो बात है? प्राचीन आचार्यो की बातो को यो ही नही उडाया जा सकता। यदि उक्त बात को श्वेताम्बर परम्परा का दिगम्बर परम्परा के प्रति केवल साम्प्रदायिक अभिनिवेश ही मानले और उक्त सभी प्राचीन उल्लेखो को तथ्यहीन करार देदें, तब तो बात दूसरी है। इस नकार की स्थिति मे तो समस्या की जड ही कट जाती है। फिर कुछ कहना ही शेष नही रहता। यदि ऐसा नही माना जा सकता, श्वेताम्बर परम्परा के बहुश्रुत आचार्यों को इतने निम्न स्तर के आग्रही नही ठहराया जा सकता, तो फिर जिनकल्प साधना के अन्तरग को गहराई से स्पर्श करना होगा। जहा तक बाह्य साधना का प्रश्न है,वहाँ तक तो ननुनच के लिए कुछ भी स्थान नही है, परन्तु प्रश्न बाहर का नही, अन्दर का है। इतनी बडी कठोर साधना होने पर भी क्षपक श्रेणी नही, कैवल्य नही, फलत मुक्ति भी नही। इस पर से निश्चित हो जाता है कि बाह्य साधना की कठोरता अथवा मन्दता अन्तिम निणयिक नही है। निर्णायक कोई और है, और वह है अतरग। अत श्वेताम्बर परम्परा के अभिमत से स्पष्ट हो जाता है कि जिनकल्प की साधना अधिक अन्तर्मुखीन साधना नही है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से रागद्वेष के क्षय की विकसित साधना नही है। जिनकल्प साधना मे ज्ञानावरणादि आत्म-स्वरूप-घातक घातिकर्मो का क्षय करने जैसा निर्मल अध्यात्मभाव जाग्रत नही होता है। सभवत. जिनकल्प मे बाह्याचार का विकल्प कुछ अधिक होता होगा, कर्मक्षयोन्मुख निर्विकल्प, शुद्धोपयोग की परिणति जैसी चाहिए वैसी नही होती होगी? यह मात्र मेरी वैयक्तिक सभावना एव कल्पना ही नही है,

---

२० स च उपश्रेण्यामेव, न तु क्षपक श्रेण्याम्, 'तज्जम्मे केवलपडिसेह भावाओ', इति वचनात्—प्रबचन सारोद्धार, सिद्धसेनीया, गा० ५४०

इसके पीछे पुष्ट तर्क हैं, और वे प्राचीन आचार्यों के उल्लेखो पर से प्रमाणित हैं।

दर्शनशास्त्र मे कार्य कारण का एक सर्वसम्मत अकाट्य-सिद्धान्त है। इसका सक्षेप मे यह अभिप्राय है कि कोई भी कार्य बिना कारण के नही होता। और जब साक्षात्कारण होता है तो अवश्य ही कार्योत्पत्ति होती है। ऐसा नही होता कि कारण तो हो, किन्तु कार्य न हो। अग्नि जलती है तो ताप होता ही है। कारण की परिभाषा ही है कि वह कार्य के अव्यवहित—व्यवधानरहित पूर्वक्षणवर्ती होना चाहिए। वह कारण क्या, जिससे कभी कार्य हो और कभी न हो। कारण कार्य मे कभी को कोई स्थान नही है। अस्तु, जिनकल्प साधना मे बाहर मे सब कुछ होने पर भी घातिकर्मक्षय के अनुरूप स्थिति क्यो नही होती है, तो इसका स्पष्ट उत्तर है कि घातिकर्मक्षय रूप कार्य का कारण जो आन्तरिक विशुद्ध, निर्मल आध्यात्मिक भाव है, गुणश्रेणी-निर्जरण है, वह नही होता है। मैं जानता हूँ, इस प्रकार के स्पष्ट चिन्तन से कुछ लोग नाराज होते हैं, कुछ का कुछ अनर्गल प्रलाप करने लगते हैं, परन्तु सत्य का तकाजा है कि उसे आवरण-मुक्त किया जाए, छुपाया न जाए।

भ्रान्ति और निराकरण

●

मेरे एक प्रवचन लेख पर, एक सम्पादक कहे जाने वाले बन्धु जरूरत से ज्यादा नाराज हो गए हैं। वे मुझे जिनकल्प के महत्व को गिराने वाला कहते हैं। यदि सत्य कहना, वस्तुत किसीके महत्व को गिराना है, तब तो मैं लाचार हूँ। ऐसी भ्रान्तबुद्धि का मेरे पास कोई इलाज नही है। मेरी दृष्टि मे सत्य, सदा सर्वदा सत्य ही रहता है, और कुछ नही। वह न किसी के महत्व को गिराता है और न किसी के महत्व को उठाता है। उसका अपना ही महत्व है, जो कभी गिरता नही है।

जिनकल्प की कठोर चर्या का वर्णन करते हुए मैंने प्रवचन मे कहा था कि उन्हे केवल ज्ञान नही होता, फलत. मुक्ति नही होती। इसमे नाराज होने जैसी, और अनर्गल हा-हाकार करने जैसी क्या बात है? श्वेताम्बर परम्परा के मूर्धन्य आचार्यों ने ऐसा माना है, और मैंने भी यही कहा है। मैंने अन्यथा तो कुछ नही कहा है।

सम्यग्दर्शन सम्पादक स्वयं यह स्वीकार करते हैं अपने शब्दो में कि "जिनकल्प द्वारा कठोर कर्मों की निर्जरा हो जाने के बाद, फिर जिनकल्प की आवश्यकता नही रहती, फिर शेष रहे सामान्य कर्मों की निर्जरा, स्थविरकल्प से हो जाती है यही रहस्य जिनकल्प और स्थविर कल्प का है।"

. "जिनकल्प की साधना, मोक्ष मे बाधक होने वाले पहाड जैसे कठोर कर्मों को नष्ट करने के लिए होती है। उसके बाद आत्मा सहज ही—स्वभाव से ही स्थविर कल्प के समान स्वभाववाली हो जाती है, .. उसकी परिणति स्थविर कल्प के योग्य बन जाती है और वह शेष घाती कर्मों को नष्ट करने लगती है।"*

फिर भी जिनकल्प से सीधे कल्पातीत नही हुआ जाता। जिन कल्प से स्थविरकल्प के योग्य परिणति होने पर कल्पातीत होकर केवल ज्ञान प्राप्त किया जाता है।"[२१]

उपर्युक्त सम्यग्दर्शन के उद्धरणो पर से तटस्थ बुद्धिमान पाठक देख सकता है कि स्वय सम्पादक जी भी जिनकल्प से कल्पातीत अवस्था का विकास होना नही मानते, केवलज्ञान होना स्वीकार नही करते। कल्पातीत होकर केवल ज्ञान पाने के लिए जिनकल्पी को स्थविरकल्प की परिणति का होना,अनिवार्य है। मैं पूछता हूँ स्थविर कल्प क्यो अनिवार्य है? एकान्त उत्सर्गमार्गी जिनकल्पी की साधना से स्थविरकल्पी की साधना तो अपवाद बहुल होने से निम्नकोटि की साधना है? मैं जब स्थविरकल्प का महत्व कहता हूँ तो वे शोर मचाते हैं,परन्तु स्वय सम्पादकजी यहा स्थविरकल्प का महत्व स्वीकार करते है। बिना स्थविरकल्प की परिणति आए कल्पातीतता का विकास नहीं होता, घातिकर्मों का क्षय नही होता, कैवल्य नही होता। मैं पूछता हूँ जब जिनकल्प उत्कृष्ट साधना है, उनके ही शब्दो मे- "जिनेश्वर के समानकल्प है"—"बिना इसके चिरकाल तक बँधे रहने वाले कठोर कर्म नही टूटते"[२२] तो फिर जिनकल्प से ही सीधे

---

* सम्यग् दर्शन अक ४ वर्ष १९ पृ० १०९।

२१ सम्यग् दर्शन, वर्ष १९ अंक ६ पृ० १६६।

२२ सम्यग् दर्शन, अक ४ वर्ष १९ पृ० १०९।

—डोसीजी का यह कथन मिथ्या है, प्रसन्न चन्द्रराजर्षि आदि ने जिनकल्प के बिना भी कठोर कर्म तोडे हैं,अनेक साध्वियो ने भी कठोर कर्म नष्ट किए हैं।

कल्पातीत क्यो नही हुआ जाता, घातिकर्म क्यो नही क्षय किए जाते ? कुछ बात तो होगी, कोई हेतु तो होगा ? जिनकल्पी कठोर कर्मो की चट्टान को तोडदे, किन्तु शेष रहे सामान्य कर्मों की निर्जरा न कर पाए। उसके लिए स्थविरकल्पी होना पडे, यह भी खूब रही! वज्र तोडने वाला, तिनका न तोड पाए? क्या सम्पादक बन्धु लिखते समय यह नही सोचते कि दूसरे भी कुछ बुद्धि रखते हैं, उनका भी अपना अध्ययन है, चिन्तन मनन है। सपादक जी का यह 'वदतो व्याघात' स्वय उनकी मान्यता के लिए अभिशाप बन गया है।

एक बात प्रसगवश और कह दूँ। आचार्य हरिभद्र, आचार्य क्षेमकीर्ति, आचार्य सिद्धसेन जैसे महान् श्रुतधर आचार्य जिनकल्प स्पर्श होने पर, उपशमश्रेणी आरोहक के समान, उस भव मे केवल ज्ञान होना नही मानते, इसके लिए प्रमाण स्वरूप पिछली पंक्तिया देखी जा सकती हैं। और सम्पादकजी कहते हैं कि जिनकल्प से तत्काल स्थविर कल्प की परिणति होने पर (उसी भव मे) केवल ज्ञान हो सकता है। डोसीजी के पास आचार्य हरिभद्र आदि के विरुद्ध अपनी मान्यता के पक्ष मे क्या प्राचीन प्रमाण है ? वह प्रकट मे आना चाहिए। डोसीजी ही नही, स्थानकवासी परम्परा के कुछ और सज्जन भी इस भ्राति मे है। मुझे तो कोई ऐसा प्रमाण मिला नही है। यदि डोसीजी या उनके अन्य किसी समर्थक महा मुनि एव महापण्डित के पास स्पष्ट प्रमाण हो तो जानने की जिज्ञासा है। आधारहीन, केवल कपोल-कल्पित मान्यताओ के उद्घोष का युग अब समाप्त हो चुका है, यह ध्यान मे रहे।

यह शब्द छल क्यों ?

●

स्थविरकल्प से मुक्ति मानने के मेरे अपने पक्ष के विरोध मे डोसीजी को वडी दूर की सूझी है, सम्भव है, यह उनके तथाकथित सिद्धान्तप्रिय सत्य बोलने का साहस करने वाले समर्थक मुनिजी का ज्ञान दान हो। वे लिखते हैं "जिनकल्प और स्थविर कल्प दोनो मे न तो केवल ज्ञान होता है, न मुक्ति। केवल ज्ञान और मुक्ति होती है कल्पातीत होने पर।" भगवती का वह अश तो सामान्य तत्त्व-रसिक भी प्रारम्भिक स्थिति मे थोकडो के माध्यम से ही जान सकता

है। फिर व्यर्थ शब्दछल से क्या लाभ हैं ? मैं या अन्य कोई भी जब यह कहता है कि जिनकल्प से नही, स्थविर कल्प से मुक्ति है, तो उसका सहजभाव से यही अभिप्राय होता है कि जिन कल्प से केवल ज्ञान पाने जैसी आध्यात्मिक भूमिका का विकास नही होता, स्थविरकल्प से हो जाता है। और यह स्वय डोसीजी भी स्वीकार करते है, फिर व्यर्थ के दभपूर्ण शब्दजाल का क्या मूल्य ?

स्व-पर-कल्याणकारी स्थविरकल्प

●

अब रहा स्थविरकल्प के महत्त्व का, गच्छ और गच्छवास के महत्त्व का प्रश्न ! इस सम्बन्ध मे मेरी अपनी कोई कल्पना नही है। श्वेताम्बर परम्परा के सुविश्रुत महान् आचार्यों का अभिमत ही मेरा अभिमत है।

आचार्य क्षेमकीर्ति बृहत्कल्प भाष्यवृत्ति मे लिखते है कि "जब गच्छ का आचार्य जिनकल्प की साधना करना चाहे तो उसे जिन-कल्पी होने से पहले अपने स्थान पर योग्य आचार्य की नियुक्ति करनी चाहिए। यदि आचार्य पद के योग्य कोई साधु न मिले, तो आचार्य को गच्छ नही छोडना चाहिए, अपितु गच्छ का नेतृत्व करना चाहिए। जिनकल्प पालन की अपेक्षा गण के अनुपालन मे अधिक निर्जरा का लाभ है। विद्वान् मनीषियो को अधिक गुणो का परि-त्यागकर अल्प गुणो का उपादान करना, उचित नही है।"[२३] आचार्य

---

२३ जिनकल्पानुपालनादपि श्रेष्ठतरमितरस्य तथाविधस्याभावे सूत्रोक्तनीत्या गणाद्युपपालनम् बहुतरनिर्जरालाभकारणत्वात्, न च बहुगुण परित्यागेन स्वल्पगुणोपादान विदुषा कर्तुमुचितम्, सुप्रतिष्ठितकार्यारम्भकत्वात् तेषाम्, इत्यभिसन्धाय स भगवानित्वर गणादिनिक्षेप विदधातीति।

उक्तं च पञ्चवस्तुकशास्त्रे इहैव प्रक्रमे श्री हरिभद्र सूरिपूज्यैः —

"पिच्छामु ताव एए, केरिसगा होति अस्स ठाणस्स।
जोगाण वि पाए ण, निव्वहण दुक्कर होइ ॥१८०॥
नय वहुगुणचाएण, थेवगुणपसाहण बुहजणाण।
इट्ठ कमाइ कज्ज, कुसला सुपइट्ठियारंभा ॥१३८१॥"

—भाष्यवृत्ति १२२५

क्षेमकीर्ति ने अपने उक्त अभिमत के समर्थन मे आचार्य हरिभद्र को प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है।

आचार्य सघदासगणी ने वृहत्कल्प भाष्य गाथा १३८५ मे जिन कल्पी की श्रुत सपदा का वर्णन करते हुए लिखा है कि "जिनकल्पी का जघन्य श्रुतज्ञान प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्व की तृतीय आचार वस्तु का होता है, इससे कम नही। और अधिक से अधिक उत्कृष्ट श्रुतज्ञान भिन्न दशपूर्व होता है, अर्थात् अपूर्ण दश पूर्व।" आचार्य क्षेमकीर्ति ने भाष्य वृत्ति मे उक्त श्रुतज्ञान की सीमा का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जिनकल्पी को कम से कम नौवें पूर्व की तृतीय आचार वस्तु तक का श्रुतज्ञान आवश्यक है, इसलिए कि उससे सम्यक्तया कालज्ञान हो जाता है। उत्कृष्ट श्रुत दशपूर्व से कम क्यो है? सम्पूर्ण दशपूर्व भी नहीं। ऐसी क्या बात है कि सम्पूर्ण दशपूर्वी या एकादशपूर्वी आदि जिनकल्प नही धारण कर सकते? प्रश्न महत्वपूर्ण है, स्पष्ट समाधान चाहता है। आचार्य ने समाधान दिया है कि सम्पूर्ण दशपूर्वधर, अमोघवचन होने के कारण, प्रवचनप्रभावना एव परोपकार आदि के द्वारा जिनकल्प की अपेक्षा अधिक निर्जरा लाभ कर सकता है, अत: वह जिनकल्प स्वीकार नही करता।[२४] आचार्य ने स्पष्टत. परोपकार की दृष्टि से जिनकल्प की अपेक्षा स्थविरकल्प अधिक महत्व दिया है। सम्पूर्ण दशपूर्वधर जैसे समर्थ श्रुतधरो तो जिनकल्प ग्रहण ही नही करना चाहिए। जिनकल्प की साधना वैयक्तिक है, उसमे इतनी अधिक निर्जरा एव आत्मशुद्धि नही होती, जितनी कि समर्थ श्रुतधर स्थविरकल्प मे रहकर परोपकार आदि के द्वारा कर सकता है।

आचार्य क्षेमकीर्ति का उक्त कथन प्राचीन आचार्य हरिभद्र के द्वारा भी प्रमाणित है। आचार्य हरिभद्र ने पचवस्तु ग्रन्थ मे लिखा है कि स्थविरकल्प का स्वपरसयम की साधना का मार्ग ही श्रेयस्कर है। क्योकि आगम मे दशपूर्वी भिक्षु को जिनकल्प ग्रहण करने का

---

२४ सम्पूर्णदशपूर्वधर : पुनरमोघवचनतया प्रवचनप्रभावनापरोपकारादिद्वारेणैव वहुतर निर्जरालाभमासादयति, अतो नासौ जिनकल्प प्रतिपद्यते।

—वृहत्कल्पभाष्यवृत्ति, गा० १३८५

निषेध है और वह निध इसलिषेए है कि समर्थ श्रुतधरी स्थविरकल्प परोपकार की दृष्टि से जिनकल्प की अपेक्षा अधिक गुणकारी है।[२५]

आचार्य हरिभद्र ने जिनकल्प की अपेक्षा स्थविरकल्प की महत्ता के विषय मे और भी बडी स्पष्टता के साथ लिखा है—

"जिनकल्प की अपेक्षा स्थविरकल्प की प्रधानता—श्रेष्ठता एकात रूप से आगमसिद्ध तो है ही, युक्ति से भी सिद्ध है। क्योकि साधक जीवन मे केवल स्व-उपकार की अपेक्षा स्व और पर दोनो का उपकार अधिक महान् है।"[२६]

जिनकल्प की अप्रमत्तता के सम्बन्ध मे बहुत अधिक बखान किया जाता है और कहा जाता है कि स्थविरकल्प प्रमत्तदशा है, अत वह निम्नकोटि की साधना है, और जिनकल्प अप्रमत्तविहारी है, अत वह एक महान् उत्कृष्ट साधना है। यह ठीक है कि बाहर मे जैसी जिनकल्प को साधना उत्कृष्ट प्रतीत होती है, वैसी स्थविरकल्प की नही। परन्तु अन्तरग भाव की दृष्टि से स्थविरकल्प भी निम्न नही, उत्कृष्ट साधना है। केवल बाह्यक्रिया काण्ड की अप्रमत्तता (जागरूकता) ही अप्रमत्तता नही है, सबसे बडी अप्रमत्तता आन्तरिक पवित्र भावो की है, और वह स्थविरकल्प मे किसी कल्प से कम नही है, अपितु अधिक ही है।

आचार्य हरिभद्र ने पचवस्तु मे उक्त सिद्धान्त का उन्मुक्त स्पष्ट

---

२५ एत्तो अ इम एव, ज दसपुव्वीण सुच्चई सुत्ते।
एयस्स पडिस्सेहो, तदण्णहा अहिगगुणभावा ॥५६६॥
इत श्चैतदेव स्वपरसयम. श्रेयान्, यदपि दशपूर्विणा साधूना श्रूयते सूत्रे आगमे एतस्य कल्पस्य प्रतिषेध, तस्यान्यथा परोपकारद्वारेणाधिक गुण भावात् कारणादिति गाथार्थः।

—पचवस्तु ४ द्वार, स्वोपज्ञवृत्ति

२६ एव पहाणो एसो, एगतेणेव आगमा सिद्धो।
जुत्तीए वि अ नेओ, स-परुवगारो मह जम्हा ॥५५६॥
एव प्रधान एषोऽभ्युद्यतविहारात् एकान्तेनैवाऽऽगमात् सिद्ध इति, युक्त्याऽपि च ज्ञेय प्रधान, स्वपरोपकारो महान् यस्मादिति गाथार्थः।

—पचवस्तु, ४ द्वार स्वोपज्ञवृत्ति,

क्षेमकीर्ति ने अपने उक्त अभिमत के समर्थन मे आचार्य हरिभद्र को प्रमाण स्वरूप उद्धृत किया है।

आचार्य सघदासगणी ने वृहत्कल्प भाष्य गाथा १३८५ मे जिन कल्पी की श्रुत सपदा का वर्णन करते हुए लिखा है कि "जिनकल्पी का जघन्य श्रुतज्ञान प्रत्याख्यान नामक नवम पूर्व की तृतीय आचार वस्तु का होता है, इससे कम नही। और अधिक से अधिक उत्कृष्ट श्रुतज्ञान भिन्न दशपूर्व होता है, अर्थात् अपूर्ण दश पूर्व।" आचार्य क्षेमकीर्ति ने भाष्य वृत्ति में उक्त श्रुतज्ञान की सीमा का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जिनकल्पी को कम से कम नौवें पूर्व की तृतीय आचार वस्तु तक का श्रुतज्ञान आवश्यक है, इसलिए कि उससे सम्यक्तया कालज्ञान हो जाता है। उत्कृष्ट श्रुत दशपूर्व से कम क्यो हैं? सम्पूर्ण दशपूर्व भी नहीं। ऐसी क्या बात है कि सम्पूर्ण दशपूर्वी या एकादशपूर्वी आदि जिनकल्प नही धारण कर सकते? प्रश्न महत्वपूर्ण है,स्पष्ट समाधान चाहता है। आचार्य ने समाधान दिया है कि सम्पूर्ण दशपूर्वधर, अमोघवचन होने के कारण, प्रवचनप्रभावना एव परोपकार आदि के द्वारा जिनकल्प की अपेक्षा अधिक निर्जरा लाभ कर सकता है, अत: वह जिनकल्प स्वीकार नही करता।[२४] आचार्य ने यहाँ स्पष्टत. परोपकार की दृष्टि से जिनकल्प की अपेक्षा स्थविरकल्प को अधिक महत्व दिया है। सम्पूर्ण दशपूर्वधर जैसे समर्थ श्रुतधरो को तो जिनकल्प ग्रहण ही नही करना चाहिए। जिनकल्प की साधना वैयक्तिक है, उसमे इतनी अधिक निर्जरा एव आत्मशुद्धि नही होती, जितनी कि समर्थ श्रुतधर स्थविरकल्प मे रहकर परोपकार आदि के द्वारा कर सकता है।

आचार्य क्षेमकीर्ति का उक्त कथन प्राचीन आचार्य हरिभद्र के द्वारा भी प्रमाणित है। आचार्य हरिभद्र ने पचवस्तु ग्रन्थ मे लिखा है कि स्थविरकल्प का स्वपरसयम की साधना का मार्ग ही श्रेयस्कर है। क्योकि आगम मे दशपूर्वी भिक्षु को जिनकल्प ग्रहण करने का

---

२४ सम्पूर्णदशपूर्वधर : पुनरमोघवचनतया प्रवचनप्रभावनापरोपकारादिद्वारेणैव बहुतर निर्जरालाभमासादयति, अतो नासौ जिनकल्प प्रतिपद्यते।

—वृहत्कल्पभाष्यवृत्ति, गा० १३८५

निषेध है और वह निध इसलिषेए है कि समर्थ श्रुतधरी स्थविरकल्प परोपकार की दृष्टि से जिनकल्प की अपेक्षा अधिक गुणकारी है।[२५]

आचार्य हरिभद्र ने जिनकल्प की अपेक्षा स्थविरकल्प की महत्ता के विषय मे और भी बडी स्पष्टता के साथ लिखा है—

"जिनकल्प की अपेक्षा स्थविरकल्प की प्रधानता—श्रेष्ठता एकात रूप से आगमसिद्ध तो है ही, युक्ति से भी सिद्ध है। क्योकि साधक जीवन मे केवल स्व-उपकार की अपेक्षा स्व और पर दोनो का उपकार अधिक महान् है।"[२६]

जिनकल्प की अप्रमत्तता के सम्बन्ध मे बहुत अधिक बखान किया जाता है और कहा जाता है कि स्थविरकल्प प्रमत्तदशा है, अत वह निम्नकोटि की साधना है, और जिनकल्प अप्रमत्तविहारी है, अतः वह एक महान् उत्कृष्ट साधना है। यह ठीक है कि बाहर मे जैसी जिनकल्प की साधना उत्कृष्ट प्रतीत होती है, वैसी स्थविरकल्प की नही। परन्तु अन्तरग भाव की दृष्टि से स्थविरकल्प भी निम्न नही, उत्कृष्ट साधना है। केवल बाह्यक्रिया काण्ड की अप्रमत्तता(जागरूकता) ही अप्रमत्तता नही है, सबसे बड़ी अप्रमत्तता आन्तरिक पवित्र भावो की है, और वह स्थविरकल्प मे किसी कल्प से कम नही है, अपितु अधिक ही है।

आचार्य हरिभद्र ने पचवस्तु मे उक्त सिद्धान्त का उन्मुक्त स्पष्ट

२५ एत्तो अ इम एवं, ज दसपुव्वीण सुच्चई सुत्ते।
एयस्स पडिस्सेहो, तदण्णहा अहिगगुणभावा ॥५६६॥
इत श्चैतदेव स्वपरसयम श्रेयान्, यदपि दशपूर्विणा साधूना श्रूयते सूत्रे आगमे एतस्य कल्पस्य प्रतिषेध, तस्यान्यथा परोपकारद्वारेणाधिक गुण भावात् कारणादिति गाथार्थ:।

—पचवस्तु ४ द्वार, स्वोपज्ञवृत्ति

२६ एव पहाणो एसो, एगतेणेव आगमा सिद्धो।
जुत्तीए वि अ नेओ, स-परुवगारो मह जम्हा ॥५५९॥
एव प्रधान एषोऽभ्युद्यतविहारात् एकान्तेनैवाऽऽगमात् सिद्ध इति, युक्त्याऽपि च ज्ञेय प्रधान, स्वपरोपकारो महान् यस्मादिति गाथार्थ:।

—पचवस्तु, ४ द्वार स्वोपज्ञवृत्ति,

उद्घोष किया है। आचार्य कहते हैं कि "परमार्थ दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ आत्यन्तिक अप्रमादभाव यही है कि बिना किसी स्वार्थबुद्धि के मात्र शुभ भाव से अन्य अबोध आत्माओ को भी सदैव शुभ भावो मे प्रतिष्ठित किया जाए।"[२७]

जैन धर्म का मूल स्वर सार्वजनीन व्यापक भावना का स्वर है। वह केवल कोने मे बैठा रहने वाला व्यक्ति केन्द्रित निष्क्रिय धर्म नही है जैसा कि आज के कुछ अपरिचित अजैन, एव प्रतिक्रियावादी जैन भी समझे हुए हैं। जैन परम्परामे जिनकल्प भी एक विशिष्ट साधना है, परन्तु वह एक साइड की, बगल की साधना है, साधना का सीधा विराट् राजमार्ग नही हैं। जिनकल्प मे केवल 'स्व' और'स्व'का हित ही प्रमुख है। स्थानाग सूत्र के अनुसार वह परानुकम्पी साधना नही हैं। बाह्याचार की कठोरता का परिवेश जिनकल्प के मूल मे इतना अधिक बद्धमूल है कि जिनकल्पी उसी के विकल्पो मे गतिशील रहता है। वह उससे जरा भी इधर उधर नही हो पात , अन्तर्भावो के विकास पथ पर आगे नही बढ पाता। जैसा कि प्राचीन ग्रन्थो मे लिखा है, जिनकल्प का कुछ क्रिया-काण्ड ऐसा है, जिसका कर्तृत्व सहज भाव से नही हो सकता। पद-पद पर 'यह करूँ वह करूँ, 'यह न करूँ, वह न करूँ' की कर्म चेतना खडी रहती है। जबकि स्थविर कल्प व्यापक चेतना का कल्प है, और वह सहज है। उसमे अहप्रधान कर्तृत्व बुद्धि का उतना वेग नही है, जितना कि जिनकल्प मे। जैन दर्शन 'स्वहित' को महत्व देता है,किन्तु इससे भी आगे बढकर 'स्वपरहित' को महत्व देता है। आचार्य हरिभद्र ने विश्व के समक्ष जैन दर्शन का नवनीत निकालकर रख दिया है कि वस्तुत स्व और पर का उपकार ही महान् है—'सपरुवगारो मह जम्हा।' और जैनदर्शन के प्रमुख ज्योतिर्धर प्राचीन आचार्य इस व्यापक भाव की दृष्टि से जिनकल्प की अपेक्षा स्थविर कल्प की महत्ता का यशोगान करते हैं।

---

२७ अच्चतमप्पमाओ, वि भावओ एस होइ णायव्वो।
ज सुहभावेण सया सम्मं अण्णेसि तक्करण ॥५६२॥
—अत्यन्ताप्रमादोऽपि, भावत परमार्थेन, एष भवति ज्ञातव्य एवरूप — यच्छुभभावेन सदा सर्वकाल, सम्यगन्येषा तत्करण शुभभावकरणमिति गाथार्थ।
—पचवस्तु, ४ द्वार स्वोपज्ञवृत्ति

जैन दर्शन 'उठो और उठाओ' का दर्शन है, 'जागो और जगाओ' का दर्शन है। तीर्थंकर जैसे सर्वोच्च पद का महान गौरव इसी भाव सूत्र पर आधारित है। नमोत्थुण सूत्र मे हम पढते हैं—"**जिणाणं जावयाण, तिन्नाणं तारयाण, बुद्धाण बोहयाण, मुत्ताण मोयगाण।**" उक्त सूत्र का क्या अर्थ है ? यही कि तीर्थंकर भगवान् राग-द्वेष विकारो पर स्वय विजय पाने वाले हैं और दूसरो को भी विजय दिलाने वाले हैं, स्वय ससार सागर को तैरने वाले हैं, और दूसरो को भी तिराने वाले हैं, स्वय बोध को प्राप्त हुए हैं और दूसरो को भी बोध देने वाले हैं, स्वय बन्धनमुक्त हुए है और दूसरो को भी बन्धनमुक्त करने वाले हैं। जैन दर्शन का यही विश्वजनीन उद्घोष, स्थविरकल्प का उद्घोष है। मैं जिनकल्प के महत्त्व को गिराता नही हूँ, परन्तु इस महत्व से भी एक बडा महत्त्व, जो स्थविरकल्प का है, उसे जनता के समक्ष स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। कुछ लोग मेरी इस बात पर क्षुब्ध हैं, सच्चे दिल से क्षुब्ध हैं या किसी झूठे दिल से, यह मैं नही कह सकता। हाँ, क्षुब्ध हैं, इतना जानता हूँ। परन्तु मुझे किसी के आधारहीन क्षोभ से कुछ लेना देना नही है। मुझे लेना देना है—एक मात्र सत्य से, जो प्राचीन से प्राचीन समर्थ आचार्यों के द्वारा प्रमाणित भी है। मेरी अन्तरात्मा शतप्रतिशत साक्षी है कि प्रस्तुत प्रश्न पर मुझे बुद्धिविभ्रम नही है। मैं अपने अन्तस् के स्पष्ट प्रतिभासित सत्य को ही विचार चर्चा के प्रागण मे उतारता हूँ। भले ही मुझे कोई कुछ कहे, इसकी मुझे चिन्ता नही है। और सत्य के साधक को चिन्ता होनी भी नही चाहिए। वर्तमान के कुछ बद्ध-दृष्टि लोगो का मूल्याकन गलत भी हो सकता है, भविष्य का सत्यशोधक इतिहासकार ही बताएगा कि कौन सही था और कौन गलत ? किसने जैन दर्शन की वैचारिक सेवा की है और किसने कुसेवा ? आशा ही नही, दृढ विश्वास है—भविष्य के इतिहासकार का निर्णय मेरे विचारपक्ष मे होगा।

उपाध्याय अमरमुनि

गर्व न कर!

मालवपति मुञ्ज ने गोदावरी के पार दक्षिण के राज्यो को जीतने के लिए विशाल सेना सुसज्जित की। महामत्री रुद्रादित्य ने उस पार जाने के लिए मुञ्ज को रोका, पर शक्ति और सेना के नशे मे चूर मुञ्ज के कदम रुके नही। ज्यो ही दक्षिण की भूमि पर उसने अपना पडाव डाला कि दक्षिण के राजा तैलिप ने मुञ्ज पर अचानक धावा बोल दिया। सेना तितर-बितर हो गई और मुञ्ज को बन्दी बनाकर काठ के पिंजड़े मे डाल दिया गया।

तैलिप की विधवा बहन मृणालवती को मुञ्ज की देखरेख मे नियुक्त किया गया, धीरे-धीरे मुञ्ज के साथ उसका प्रणय सम्बन्ध हो गया।

मृणालवती मुञ्ज के युवा और दिव्यरूप के समक्ष अपने झुर्रियां भरे चेहरे को देखकर लजाती रहती, कभी-कभी उदास भी हो जाती। उसके प्यार मे फसा मुञ्ज उसकी आखो मे आखें गडाकर कहता—तुम्हारा यौवन सक्कर की डली है, जो सौ-सौ टुकड़े हो जाने पर भी मीठी-चूर ही लगती है। मुञ्ज के इस प्रकार के प्रणय वाक्यो पर मृणालवती बाग-बाग हो उठती।

एक बार मुञ्ज के मत्रियो ने अपने राजा को मुक्त करने की गुप्त योजना बनाई। मुञ्ज ने मृणालवती को साथ चलने का आग्रह किया। उसका मन सिहर उठा—"कही वहा जाकर मुझे यह छोड तो न देगा? कुछ भी हो, मैं इसे यही रखू गी।" बस, उसने अपने भाई तैलिप को मुञ्ज के भागने की योजना बतादी।

मुञ्ज की इस हरकत पर तैलिप को बडा क्रोध आया। मुञ्ज को अपनी करनी का फल चखाने के लिए उसे रस्सियों से बांधकर बंदर

की तरह नगर मे घर-घर भिक्षा मागने के लिए घुमाया जाने लगा। मुञ्ज इस भयकर विडम्बना पर सिर पीटने लगा। अपने भाग्य को कोसने लगा, पर करे तो क्या ?

एक बार मुञ्ज को एक किसान के घर पर भिक्षा के लिए ले जाया गया। मुञ्ज भीख मागने के लिए द्वार पर खड़ा था। किसान की स्त्री मजे से अपने पाडे को छाछ (मट्ठा) पिला रही थी, प्यार से दुलार-पुचकार रही थी, उसने मुञ्ज की पुकार को अनसुनी करदी।

मुञ्ज ने फिर पुकारा तो उसने गर्व से कन्धा ऊँचा करके मुञ्ज को झिडक दिया—देखता नही, मैं अपने पाडे को पहले सभालूँ, या तुझे दूँ ?

एक किसान की स्त्री के द्वारा इस प्रकार झिड़किया खाने पर मुञ्ज दात काटने लगा। उससे रहा नही गया, वह बोल पडा—भोली ! कुटुम्बिनी ! अपने इस तुच्छ पाडे (भैस का बच्चा) को देखकर इतनी इठलाओ मत—मुञ्ज के पास तो पहाड की चोटी जैसे ऊँचे चौदह सौ छिहत्तर मदमस्त हाथी थे, वे भी नही रहे, तो तू इस पाडे पर क्या गर्व कर रही है ?

कुटुम्बिनी ने आंखें फाडकर द्वार पर खड़े भिखारी को ऊपर से नीचे तक देखा "क्या उस मुञ्जराज की यही दशा ..?"

मुञ्ज की आँखो मे मन की व्यथा आसू बनकर बरस पडी। वह आँख उठाकर कुटुम्बिनी के सामने देख नही सका, मुंह नीचा किये तुरन्त आगे चल दिया।

—प्रबन्ध चिन्तामणि पृ० १९

●

तमिल के महान विचारक तिरुवल्लुकर ने एक जगह कहा है—मनुष्य के भीतर चार दुश्मन हैं—टालमटोल की आदत, विस्मृति, सुस्ती और निद्रा। जिसके भाग्य मे नष्ट होना लिखा है, वह इन चार बातो पर खुश होता है।

काम से जी चुराने की वृत्ति आत्मघाती वृत्ति है। श्री प्रेमचद ने एक कहानी मे दो ऐसे व्यक्तियो का चित्र उपस्थित किया है—जो हट्टे कट्टे समर्थ होते हुए भी जीवन भर दरिद्रता और भुखमरी के चक्र मे पिसते रहे। उनमे से एक पिता था, जो एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम करता, और दूसरा था पुत्र, जो एक घन्टा काम करके दो घटा तक चिलम पीता रहता। गाव भर मे लोग उनकी काम से जी चुराने की आदत को जानते थे और इसलिए कोई उन्हे काम पर नही लेता था। इधर पिता पुत्र की यह शिकायत थी कि गाव मे उन्हे कही काम-रुजगार नही मिलता। और इसी शिकायत की कुढन लिए वे जन्म भर दानेदाने को तरसते रहे। जीवन मे एक दिन भी उन्होने पेट भर अन्न नही पाया, क्योकि जीवन मे एक दिन भी उन्होने निष्ठापूर्वक श्रम नही किया।

लक्ष्मी उसीके पास आती है जो निष्ठा पूर्वक श्रम करता है— **नानाश्रान्तस्य श्रीरस्ति**—जो श्रम नहीं करता, उसे लक्ष्मी प्राप्त नही होती।

× × +

मनुष्य की प्रगति का इतिहास ही श्रमनिष्ठा का इतिहास है। विज्ञान का चमत्कार वस्तुत· मनुष्य की क्रियाशीलता का ही चमत्कार है।

+ + +

तथागत बुद्ध ने एक बार ऐसे भिक्षु को देखा, जो धर्म की बडी-बडी बातें कर रहा था, लोगो को इकट्ठा करके उपदेश दे रहा था, किंतु वह स्वय के जीवन मे शील और सदाचार से शून्य था। तथागत ने कहा—"भिक्खु ! क्या कोई ग्वाला, जो जनपद की गायो को गिनता रहता है, कभी उनका स्वामी कहला सकता है ?"

"नही, भन्ते ! गोप (ग्वाला) जनपद की गायो की सभाल रखने वाला पास है, वह गो-स्वामी नही हो सकता।"

तथागत ने गम्भीर होकर कहा—"भिक्षु ! जो श्रमण सिर्फ धर्म सहिताओ के पाठ गिनता रहता है, वह कभी धर्मफल का स्वामी नही हो सकता है धर्म को जिह्वा से नहीं, जीवन से व्यक्त करो।

+ + +

एक बार एक आचार्य के पास दो शिष्य आए ! प्रणामपूर्वक

निवेदन किया—"भगवन् ! हमारा अध्ययन काल समाप्त हो रहा है, अब हमे अपने क्षेत्र का चुनाव करना है, हमे क्या होना चाहिए, क्या बनना चाहिए ?"

आचार्य अपने दोनो विद्वान शिष्यो को साथ लिए घूमते हुए एक उद्यान मे पहुँचे। एक छोटी-सी सुनहली पाखो वाली मधु-मक्खी फूलो के आस-पास मडरा रही थी, उसकी गुनगुनाहट से आचार्य और शिष्यो का ध्यान उसी पर केन्द्रित हो गया ! कुछ ही क्षण बाद गुनगुनाहट बन्द हो गई और मधुमक्खी फूलो पर चुपचाप बैठी रसपान कर रही थी।

आचार्य ने शिष्यों की ओर प्रश्न भरी दृष्टि से देखा—"भद्र! क्या देख रहे हो ?"

पहले शिष्य ने कहा—"गुरुदेव ! सत्य की जिज्ञासा मे हलचल होती है, किंतु सत्य की अनुभूति मौन होती है।"

दूसरे शिष्य ने कहा—"भगवन्! जब तक सत्ता का रस प्राप्त नही होता, बुद्धि जागृत रहती है, क्रान्ति मे तीव्रता रहती है। पर सत्ता का रस मिलते ही बुद्धि पर नशा छा जाता है, चिन्तन मूक हो जाता है. क्रान्ति दब जाती है।"

गुरु ने प्रसन्नतापूर्वक दोनो शिष्यो के कधों पर हाथ रखा। पहले से कहा—'भद्र! जाओ, दर्शन की गुत्थिया सुलझाओ! तुम दार्शनिक हो।'

"और तुम अपनी व्यावहारिक बुद्धि से जनता पर शासन करो। तुम्हारी राजनीति से देश को लाभ होगा।" आचार्य ने द्वितीय शिष्य को आशीर्वाद दिया।

●

काम से जी चुराने की वृत्ति आत्मघाती वृत्ति है। श्री प्रेमचद ने एक कहानी मे दो ऐसे व्यक्तियो का चित्र उपस्थित किया है—जो हट्टे कट्टे समर्थ होते हुए भी जीवन भर दरिद्रता और भुखमरी के चक्र मे पिसते रहे। उनमे से एक पिता था, जो एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम करता, और दूसरा था पुत्र, जो एक घन्टा काम करके दो घटा तक चिलम पीता रहता। गाव भर मे लोग उनकी काम से जी चुराने की आदत को जानते थे और इस-लिए कोई उन्हे काम पर नही लेता था। इधर पिता पुत्र की यह शिकायत थी कि गाव मे उन्हे कही काम-रुजगार नही मिलता। और इसी शिकायत की कुढन लिए वे जन्म भर दानेदाने को तरसते रहे। जीवन मे एक दिन भी उन्होने पेट भर अन्न नही पाया, क्योकि जीवन मे एक दिन भी उन्होने निष्ठापूर्वक श्रम नही किया।

लक्ष्मी उसीके पास आती है जो निष्ठा पूर्वक श्रम करता है—नानाश्रान्तस्य श्रीरस्ति—जो श्रम नहीं करता, उसे लक्ष्मी प्राप्त नही होती।

× × +

मनुष्य की प्रगति का इतिहास ही श्रमनिष्ठा का इतिहास है। विज्ञान का चमत्कार वस्तुत· मनुष्य की क्रियाशीलता का ही चमत्कार है।

+ + +

तथागत बुद्ध ने एक बार ऐसे भिक्षु को देखा, जो धर्म की बडी-बडी बातें कर रहा था, लोगो को इकट्ठा करके उपदेश दे रहा था, किंतु वह स्वय के जीवन मे शील और सदाचार से शून्य था। तथा-गत ने कहा—"भिक्खु ! क्या कोई ग्वाला, जो जनपद की गायो को गिनता रहता है, कभी उनका स्वामी कहला सकता है ?"

"नही, भन्ते ! गोप (ग्वाला) जनपद की गायो की सभाल रखने वाला पास है, वह गो-स्वामी नही हो सकता।"

तथागत ने गम्भीर होकर कहा—"भिक्षु ! जो श्रमण सिर्फ धर्म सहिताओ के पाठ गिनता रहता है, [illegible] का स्वामी नही हो सकता है धर्म को जिह्वा से [illegible] करो।

+ +

एक बार एक आचार्य के पास

कार्य करने की ये तीन पद्धतिया हैं। यदि आप तीसरी पद्धति को न अपना सकें, तो कम से कम पहली पद्धति को भी मत अपनाइए।

× + +

भौतिक आकांक्षा मनुष्य को भटकाती है। वह अपने अह और ममत्व की पूर्ति मे सुख की अनुभूति करके मन को शान्त करने की चेष्टा करता है। किंतु यह शान्ति और सुखानुभूति वैसी ही है—जैसे शरीर को खुजलाकर खाज का रोगी कुछ क्षण के लिए शान्ति अनुभव करता है।

+ + +

ज्ञानी और अज्ञानी मे क्या अन्तर है ? दोनो ही देह मे समान हैं, अन्य बाहरी अन्तर भी कुछ विशेष नही, जो दोनो मे भेद कर सके ?

ज्ञानी—मन, इन्द्रिय और देह आदि के द्वारा कर्म करता भी अपने को कर्तृत्त्व के अहकार से निर्लिप्त रखता है, वह कर्ता हुआ भी अकर्तापन की अनुभूति करता है।

अज्ञानी सिर्फ कर्मों का कर्ता ही नही, किन्तु जो कुछ नही कर्ता है, उन कर्मों का भी अपने को निमित्त मानकर मिथ्या गर्व करता रहता है।

+ + +

अकर्मण्यता जीवन को तेजोहीन कर देती है। निष्क्रिय और निठल्ले व्यक्ति का जीवन ऐसा सुनसान लगता है जैसा कि मनुष्यो से रहित सूना घर हो।

+ + +

भगवान महावीर ने साधक को कर्तव्य और कर्मण्यता की ओर उत्प्रेरित करते हुए कहा है—किरिय रोयए धीरो—क्रिया-अर्थात् कर्मण्यता मे रस लेते रहो। अपना सत्कर्तव्य करो, और उसे दिलचस्पी-रुचिपूर्वक करो।

× × ×

एक भारतीय तत्त्वद्रष्टा ने तो जीवन की कर्मण्यता को ही तेज माना है। जो निष्क्रिय बैठा-बैठा अन्न खाता है, वह अन्न नहीं, किंतु पाप खाता है—पापो नृषद्वरो जन· (ऐतरेय ब्राह्मण)।

उपाध्याय अमरमुनि

जो मनुष्य अपने दु ख से आप घबराता है, वह कभी कोई साहस-पूर्ण कार्य नही कर सकता।

+ + +

स्वात्मपीडा की भावना से बुद्धि कु ठित होती है, बौद्धिक कु ठा आत्म-श्रद्धा की हत्या करती है। जिसे अपने आप पर श्रद्धा, विश्वास नही, वह अपने हाथो अपना विनाश कर लेता है।

+ + +

मनोविज्ञान के अनुसार—मनुष्य आत्म-हत्या की ओर तब प्रेरित होता है जब वह आत्म-नियत्रण की शक्ति खो देता है।

जो अपने मानसिक आवेग एव उद्वेग पर नियन्त्रण रख सकता है, वह किसी भी विकट परिस्थिति का मुकाबला करने मे समर्थ रहता है।

धन, वल और बुद्धि जहा हार जाते हैं, वहाँ सिर्फ आत्म-श्रद्धा ही मनुष्य को सहारा देकर सकटो से उबार सकती है।

+ + +

जो दूसरो की हानि करके भी अपना लाभ करना चाहता है--वह निकृष्ट कोटि का मनुष्य है।

जो अपना लाभ करे, किंतु दूसरे को हानि न पहुँचाए, वह मनुष्य मध्यम कोटि मे आता है।

जो अपने लाभ से दूसरों को भी लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करता रहे, वह उत्तम मनुष्य है।

कार्य करने की ये तीन पद्धतिया हैं। यदि आप तीसरी पद्धति को न अपना सकें, तो कम से कम पहली पद्धति को भी मत अपनाइए।

× + +

भौतिक आकांक्षा मनुष्य को भटकाती है। वह अपने अहं और ममत्व की पूर्ति मे सुख की अनुभूति करके मन को शान्त करने की चेष्टा करता है। किंतु यह शान्ति और सुखानुभूति वैसी ही है—जैसे शरीर को खुजलाकर खाज का रोगी कुछ क्षण के लिए शान्ति अनुभव करता है।

+ + +

ज्ञानी और अज्ञानी मे क्या अन्तर है ? दोनो ही देह मे समान हैं, अन्य बाहरी अन्तर भी कुछ विशेष नही, जो दोनो मे भेद कर सके ?

ज्ञानी—मन, इन्द्रिय और देह आदि के द्वारा कर्म करता भी अपने को कर्तृत्व के अहकार से निर्लिप्त रखता है, वह कर्ता हुआ भी अकर्तापन की अनुभूति करता है।

अज्ञानी सिर्फ कर्मों का कर्ता ही नही, किन्तु जो कुछ नही कर्ता है, उन कर्मों का भी अपने को निमित्त मानकर मिथ्या गर्व करता रहता है।

+ + +

अकर्मण्यता जीवन को तेजोहीन कर देती है। निष्क्रिय और निठल्ले व्यक्ति का जीवन ऐसा सुनसान लगता है जैसा कि मनुष्यो से रहित सूना घर हो।

+ + +

भगवान महावीर ने साधक को कर्तव्य और कर्मण्यता की ओर उत्प्रेरित करते हुए कहा है—**किरियं रोयए धीरो**—क्रिया-अर्थात् कर्मण्यता में रस लेते रहो। अपना सत्कर्तव्य करो, और उसे दिलचस्पी-रुचिपूर्वक करो।

× × ×

एक भारतीय तत्त्वद्रष्टा ने तो जीवन की कर्मण्यता को ही तेज माना है। जो निष्क्रिय बैठा-बैठा अन्न खाता है, वह अन्न नही, किंतु पाप खाता है—**पापो नृषद्वरो जन** (ऐतरेय ब्राह्मण)।

काम से जी चुराने की वृत्ति आत्मघाती वृत्ति है। श्री प्रेमचद ने एक कहानी मे दो ऐसे व्यक्तियो का चित्र उपस्थित किया है—जो हट्टे कट्टे समर्थ होते हुए भी जीवन भर दरिद्रता और भुखमरी के चक्र मे पिसते रहे। उनमे से एक पिता था, जो एक दिन काम करता तो तीन दिन आराम करता, और दूसरा था पुत्र, जो एक घन्टा काम करके दो घटा तक चिलम पीता रहता। गाव भर मे लोग उनकी काम से जी चुराने की आदत को जानते थे और इसलिए कोई उन्हे काम पर नही लेता था। इधर पिता पुत्र की यह शिकायत थी कि गाव मे उन्हे कही काम-रुजगार नही मिलता। और इसी शिकायत की कुढन लिए वे जन्म भर दानेदाने को तरसते रहे। जीवन मे एक दिन भी उन्होने पेट भर अन्न नही पाया, क्योकि जीवन मे एक दिन भी उन्होने निष्ठापूर्वक श्रम नही किया।

लक्ष्मी उसीके पास आती है जो निष्ठा पूर्वक श्रम करता है—नानाश्रान्तस्य श्रीरस्ति—जो श्रम नहीं करता, उसे लक्ष्मी प्राप्त नही होती।

× × +

मनुष्य की प्रगति का इतिहास ही श्रमनिष्ठा का इतिहास है। विज्ञान का चमत्कार वस्तुत मनुष्य की क्रियाशीलता का ही चमत्कार है।

+ + +

तथागत बुद्ध ने एक बार ऐसे भिक्षु को देखा, जो धर्म की बडी-बडी बातें कर रहा था, लोगो को इकट्ठा करके उपदेश दे रहा था, किंतु वह स्वय के जीवन मे शील और सदाचार से शून्य था। तथागत ने कहा—"भिक्खु ! क्या कोई ग्वाला, जो जनपद की गायो को गिनता रहता है, कभी उनका स्वामी कहला सकता है ?"

"नही, भन्ते ! गोप (ग्वाला) जनपद की गायो की सभाल रखने वाला पास है, वह गो-स्वामी नही हो सकता।"

तथागत ने गम्भीर होकर कहा—"भिक्षु ! जो श्रमण सिर्फ धर्म सहिताओ के पाठ गिनता रहता है, वह कभी धर्मफल का स्वामी नही हो सकता है धर्म को जिह्वा से नहीं, जीवन से व्यक्त करो।

+ + +

एक बार एक आचार्य के पास दो शिष्य आए। प्रणामपूर्वक

निवेदन किया—"भगवन् ! हमारा अध्ययन काल समाप्त हो रहा है, अब हमें अपने क्षेत्र का चुनाव करना है, हमे क्या होना चाहिए, क्या बनना चाहिए ?"

आचार्य अपने दोनो विद्वान शिष्यो को साथ लिए घूमते हुए एक उद्यान मे पहुँचे। एक छोटी-सी सुनहली पाखो वाली मधु-मक्खी फूलो के आस-पास मडरा रही थी, उसकी गुनगुनाहट से आचार्य और शिष्यो का ध्यान उसी पर केन्द्रित हो गया ! कुछ ही क्षण बाद गुनगुनाहट बन्द हो गई और मधुमक्खी फूलो पर चुपचाप बैठी रसपान कर रही थी।

आचार्य ने शिष्यों की ओर प्रश्न भरी दृष्टि से देखा—"भद्र! क्या देख रहे हो ?"

पहले शिष्य ने कहा—"गुरुदेव ! सत्य की जिज्ञासा मे हलचल होती है, किंतु सत्य की अनुभूति मौन होती है।"

दूसरे शिष्य ने कहा—"भगवन् ! जब तक सत्ता का रस प्राप्त नही होता, बुद्धि जागृत रहती है, क्रान्ति मे तीव्रता रहती है। पर सत्ता का रस मिलते ही बुद्धि पर नशा छा जाता है, चिन्तन मूक हो जाता है. क्रान्ति दब जाती है।"

गुरु ने प्रसन्नतापूर्वक दोनों शिष्यो के कधो पर हाथ रखा। पहले से कहा—'भद्र ! जाओ, दर्शन की गुत्थियां सुलझाओ ! तुम दार्शनिक हो।'

"और तुम अपनी व्यावहारिक बुद्धि से जनता पर शासन करो। तुम्हारी राजनीति से देश को लाभ होगा।" आचार्य ने द्वितीय शिष्य को आशीर्वाद दिया।

●

श्रद्धाञ्जलि

फूल महकते हैं, मुरझा जाते हैं, आदमी आते हैं, चले जाते हैं। फूल की वास अमर होती है, आदमी का कर्तव्य अक्षय होता है। कभी-कभी ऐसे व्यक्तित्व समाज व देश के क्षितिज पर चमक कर आलोक फैला जाते हैं कि युग-युग तक वह आलोक मार्ग दर्शक बनकर जगमगाता रहता है।

सन्मति ज्ञान पीठ के परम सहयोगी तथा स्थानक वासी समाज, जयपुर के निष्ठावान प्रमुख श्रावक, उदार चेता समाज-सेवी श्री स्वरूपचन्द जी चोरडिया एक ऐसे ही महकते हुए पुष्प थे, जो अपना उज्ज्वल कर्तव्य व सेवा-सुरभि पीछे छोडकर हमारे बीच से चले गए।

सगठन, सेवा तथा शिक्षा उनका प्रमुख कार्य क्षेत्र था। श्रमण सघ के सगठन, तथा समाजिक एकता, सद्भावना आदि के लिए वे सतत प्रयत्नशील रहते थे। सेवा के क्षेत्र मे उनका सहयोग व दान आदर्श था। श्री अमर जैन रिलीफ सोसायटी (जयपुर) उनकी सेवा भावना का मूर्तरूप है, वे विभिन्न प्रकार से समाज के अभाव ग्रस्त, जरूरत मद व्यक्तियो के सहयोग के लिए मूक भाव से सदा प्रस्तुत रहते थे।

शैक्षणिक प्रवृत्तियो मे उनकी विशेष रुचि थी। श्री सुबोध महाविद्यालय आदि अनेक शिक्षण सस्थाओ को वे मुक्त हस्त से सहयोग करते थे।

सन्मति ज्ञान पीठ के वे प्रारम्भ काल से ही एक निष्ठावान् परम सहयोगी रहे हैं। उनका विचार था कि ज्ञान पीठ का सुन्दर व सुबोध साहित्य हर जैन परिवार के बीच पहुँचना चाहिए। उनका उदार साहित्यनुराग और विशेषकर ज्ञान-प्रसार की हार्दिक तडफ वस्तुतः एक गौरव की वस्तु थी।

उनके आकस्मिक स्वर्गारोहण से समाज की अनेक सस्थाओ का एक हितैषी, सहयोगी तथा मार्गदर्शक व्यक्ति उठ गया है। श्री चोरड़िया जी की यह क्षति उनके सुयोग्य सुपुत्रो द्वारा पूर्ति होगी, इसी विश्वास के साथ सन्मति ज्ञान पीठ, एव श्री अमर भारती परिवार दिवंगत आत्मा के प्रति हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

सन्मति ज्ञान पीठ के अभिनव प्रकाशन

१. गुलजारे-शाइरी

उर्दू शायरी के सरस मनमोहक बाग में से चुने हुए लगभग तीन हजार सौरभ से मदमाते पुष्पो का सुन्दर चयन !

कठिन शब्दो का हिन्दी अर्थ, विशेष स्पष्टीकरण !

प० श्री सुरेश मुनिजी की पारखी नजरो ने जिन सुन्दर-सुमनो का चयन प्रस्तुत किया है, वह शाइरी के रसिक श्रोता और पाठक—दोनो ही वर्ग के लिए अभिनव, अद्वितीय एव सग्रहणीय है। इतनी वडी पुस्तक, सुन्दर सुसज्जित आवरण और मूल्य केवल ३) रु० ।

२ अहिंसा की बोलती मीनारें

अहिंसा के सम्बन्ध में आज जितना ज्ञान प्रचलित है, कही उससे अधिक भ्रान्तियाँ भी जन-जन में व्याप्त है।

विद्वान लेखक श्री गणेशमुनि शास्त्री, ने अहिंसा के विभिन्न पहलुओ पर ऐतिहासिक दृष्टि से जो विश्लेषण प्रस्तुत किया है वह आधुनिक मानस के लिए अत्यत उपयोगी, साथ ही रुचिवर्धक है।

सर्वोदय, साम्यवाद, गोवध-निरोध, अणु प्रतिवन्ध-सन्धि आदि सामयिक विषयो के साथ अहिंसा का ताल-मेल विठाकर लेखक ने विषय वस्तु को ताजा और रसप्रद वनाए रखने का प्रयत्न किया है।

अहिंसा के सम्बन्ध में विचारक एव प्रवक्ता, अध्येता एव अनुसन्धाता सभी के लिए पुस्तक उपयोगी है।

भावपूर्ण कलात्मक आवरण चित्र से पुस्तक की भाव व्यजना प्रथम परिचय में ही स्पष्ट हो जाती है। मूल्य केवल ३)५० रु०

Reg No. L. 2043

३ सूक्ति त्रिवेणी (सम्पूर्ण)

जैन, वौद्ध एव वैदिक वाङ्मय के महासागर में गोता लगाकर जो सुभाषित मणियाँ श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमरमुनि जी ने जन-जन के लिए सुलभ की हैं वह एक अपूर्व, अभिनव तथा अभिनदनीय उपकृति है।

तीन धाराओ में विभक्त इस महाग्रन्थ में जिन मुख्य-मुख्य ग्रन्थो के सुभाषित सकलित हुए है वे इस प्रकार है

जैन धारा—आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, भगवती, प्रश्नव्याकरण, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचार्य भद्रवाहु की निर्युक्तियाँ, आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय, अष्टपाहुड तथा भाष्य ग्रन्थ, चूर्णि साहित्य, सन्मतितर्क एव अन्य अनेकानेक स्फुट ग्रन्थो की सूक्तियाँ।

वौद्ध धारा—दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, सयुत्त निकाय, अगुत्तर निकाय, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्त निपात, थेर गाथा, जातक, विसुद्धिमग्गो आदि ग्रन्थो की सूक्तियाँ।

वैदिक धारा—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शतपथ, तैत्तिरीय, ताण्ड्य, गोपथ, ऐतरेय, आदि ब्राह्मण ग्रन्थ, शांखायन, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, ऐतरेय, आदि आरण्यक ग्रन्थ, ईशा, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, तैत्तिरीय, ऐतरेय छादोग्य, वृहदारण्यक, श्वेताश्वतर आदि उपनिषद, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, भगवद् गीता, मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियाँ, योगवाशिष्ठ, षड्दर्शन ग्रन्थ, गृह्यसूत्र, शकराचार्य के प्रमुख ग्रन्थ, सांख्य आदि अनेक ग्रन्थो की सूक्तिया।

भावग्राही स्पष्ट हिन्दी अनुवाद, विशेष टिप्पण एव प्रत्येक धारा की विषयानुक्रमणिका के साथ सूक्तित्रिवेणी का यह अपूर्व ग्रन्थ सूक्तिसाहित्य में वेजोड, अद्वितीय एव सग्रहणीय है।

अव तक के प्रकाशित साहित्य मे इतने गभीर अनुसन्धान, दीर्घ श्रम एव प्रामाणिक अनुवाद के साथ सभवत यह पहला सूक्ति-ग्रन्थ है। इतने विशाल व उपयोगी ग्रन्थ का मूल्य वहुत कम। साधारण सस्करण १२)

प्लास्टिक कवर युक्त पुस्तकालय सस्करण १६)

तीनो भाग एक जिल्द में भी मगाए जा सकते हैं, व अलग-अलग जिल्द मे भी।

-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
म प्रिंटिग प्रेस द्वारा मुद्रित।

मैं ही मेरा ईश्वर

मेरा ईश्वर मेरे अन्दर,
मै ही अपना ईश्वर हूं ।
कर्ता, धर्ता, हर्ता अपने,
जग का, मै लीलाधर हू ।।

★

शुद्ध-बुद्ध, निष्काम, निरंजन,
कालातीत सनातन हूं ।
एकरूप हूँ सदा-सर्वदा
ना नूतन, न पुरातन हूं ।।

—उपाध्याय अमरमुनि

जुलाई-अगस्त संयुक्त पर्युषण विशेषांक

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

श्री अमर भारती

पर्युषण विशेषांक

वर्ष ५ | जुलाई-अगस्त १९६८ | अंक ७-८

क्या.. **कहाँ..**

★

★

प्रेरणा
श्री अखिलेश मुनि
मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

★

दिशा निर्देशक
श्री विजय मुनि 'शास्त्री'

★

संपादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'
वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०

★

व्यवस्था
रामधन बी० ए०, 'साहित्यरत्न'

★

प्रकाशक
सोनाराम जैन
मंत्री
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

★

मुद्रक
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा

आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस आगरा-३

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

अमृत-वाणी

हिययमपावमकलुस, जीहा वि य मधुरभासिणी णिच्च ।
जमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुंभे मधुपिहाणे ।।

जिसका अन्तर, हृदय निष्पाप और निर्मल है, साथ ही वाणी भी मधुर है, वह मनुष्य मधु के घडे पर मधु के ढक्कन के समान है ।

हिययमपावमकलुस जीहावि य कडुयभासिणी णिच्च ।
जमि पुरिसम्मि विज्जति, से मधुकुभे विसपिहाणे ।।

जिसका हृदय तो निष्पाप और निर्मल है, किंतु वाणी से कटु एव कठोरभाषी है, वह मनुष्य मधु के घडे पर विष के ढक्कन के समान है ।

ज हियय कलुसमय, जीहा वि य मधुरभासिणी णिच्च ।
जमि पुरिसम्मि विज्जति, से विसकुभे महुपिहाणे ।।

जिसका हृदय कलुषित और दम्भ युक्त है, किन्तु वाणी से मीठा बोलता है, वह मनुष्य विष के घड़े पर मधु के ढक्कन के समान है ।

ज हियय कलुसमय, जीहाऽवि य कडुयभासिणी णिच्च ।
जमि पुरिसम्मि विज्जति, से विसकुम्भे विसपिहाणे ।।

जिसका हृदय भी कलुषित है और वाणी से भी सदा कटु बोलता है, वह पुरुष विष के घडे पर विष के ढक्कन के समान है ।

—स्थानाग ४।४

उपाध्याय अमरमुनि

पहचान : अपनी-पराई

इस ससार मे जितने भी तीर्थङ्कर हुए हैं, वीतराग सर्वज्ञ हुए हैं, उन सबका मानव जाति को एक ही सदेश रहा है, एक ही आदेश-उपदेश रहा है, और वह यह है कि—"अप्पाणं समभिजाणाहि"—अपनी आत्मा को पहचानो, उसको अच्छी तरह से समझो।

ससार के जितने भी दार्शनिक आचार्य हुए हैं, तत्त्वज्ञानी और उपदेष्टा हुए हैं, उन्होने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे लम्बी से लम्बी दौड लगाकर तर्क-वितर्क के आकाश-पाताल को छूकर आखिर जिस केन्द्र पर विश्राम लिया है, उसकी यही प्रतिध्वनि निकली है—"आत्मान विद्धि !" अपने को जानो, अपने को परखो।

मैं विचार करता हूँ तो प्रतीत होता है कि भारतीय सस्कृति एव दर्शन में सर्वत्र एक समान भाव से जो स्वर गूज रहा है; जो प्रति ध्वनि व्यक्त हो रही है, वह कोई सुनी सुनाई आवाज नही है, देखादेखी की रटन नही। वह वस्तुत द्रष्टा की आवाज है। आत्म-साक्षात्कार की व्यक्त प्रतिश्रुति है। उन्होने तब तक आवाज नही लगाई, जब तक कि आत्म-स्वरूप का दर्शन नही कर लिया। जब इस परम सत्य को जाना, देखा तभी उन्होने अपने शिष्यो को, श्रोताओ को सम्बोधित किया—"अप्पाणं समभिजाणाहि !"

मूल एवं परिकर

बात यह है कि आप जो मिथ्यादृष्टि, सम्यग् दृष्टि आदि शब्द सुनते हैं, उनका अपनेआप मे एक बहुत बडा मूल्य है, गहरा अर्थ है। लोगो ने उसकी गम्भीरता को नही समझा, बहुत सस्ते मूल्य पर बेचना शुरू कर दिया, सस्ते मूल्य पर बेचने से निश्चय ही वस्तु का महत्त्व गिर जाता है। इन शब्दो के सम्बन्ध मे भी आज यही कुछ

हो रहा है। जिसने भी कभी गुरु की बात के आगे जरा भी अपनी बुद्धि और तर्क का प्रश्न खडा कर दिया, बस, तत्काल उसे मिथ्यादृष्टि करार दे दिया। साम्प्रदायिक आधार पर बधे-बधाए प्रकोष्ठो से बाहर झाकने की जिसने कुछ भी चेष्टा की, वह सम्यग् दर्शन से भ्रष्ट मान लिया गया। और जिसने अपनी बुद्धि और चिंतन को बिना सोचे समझे, तथाकथित गुरु एव शास्त्र के हाथो मे सोप दिया, वह सम्यग्दृष्टि मान लिया गया। दृष्टि का यह बहुत बड़ा भ्रम हममे पैदा हो गया है। देश कालानुसार प्रचलित रहन-सहन के कुछ विशिष्ट तौर-तरीके, क्रियाकाड के कुछ परम्परागत रूप, बस, इन्हे ही सम्यग्दर्शन का रूप दे दिया गया है। मेरे विचार मे ये मूल नही, परिकर हो सकते हैं, और आज परिकर को ही मूल मानकर बहुत बडी भूल की जा रही है। आप जानते हैं—नारियल के ऊपर जटाजूट होता है, खोल होता है, पर वही तो नारियल नही है। नारियल के भीतर गिरी होती है, गिरी को पाना ही सच्चे अर्थ मे नारियल को पाना है। हाँ, नारियल की गिरी की सुरक्षा के लिए बाहर के खोल की आवश्यकता से न्कार नही किया जा सकता। बादाम की मिंगी को सुरक्षित रखने के लिए छिलको का महत्त्व माना जा सकता है। किन्तु हमारी दृष्टि खोल एव छिलके पर ही नही भटकनी चाहिए। रहन-सहन, क्रियाकाड, परम्परा और आम्नाय ये सब परिकर हो सकते हैं, साधना की सुरक्षा के लिए इनका महत्त्व हो सकता है, किन्तु ऊपर का परिकर मूल का स्थान नही ले सकता।

यात्री कौन ?

●

'सम्यग्दर्शन' हमारा मूल है। वस्तुत· उसका जो मूल रूप है, उसकी जो आध्यात्मिक भाषा है, उसे समझना इतना सरल नही है। महावीर के दर्शन की भाषा मे सम्यग्दर्शन, आत्म-दर्शन, आत्म-स्वरूप की उपलब्धि का नाम है। उस अनन्त ज्योतिर्मय आत्मस्वरूप के दर्शन का लक्ष्य जिस आत्मा मे जाग्रत हो गया है, उसे हम सम्यग्-दृष्टि कह सकते हैं, इसके विपरीत जिसके पास यह लक्ष्य नही है। वह मिथ्यादृष्टि है।

एक पथिक, जो अपने लक्ष्य की ओर चल पडा है, वह यात्री है।

फिर भले ही वह धीरे कदमो से चलता है, रास्ते मे कुछ दृश्य आ जाते हैं तो देखने के लिए कुछ इधर उधर रुक भी जाता है। थक कर-कही सघन शीतल छाया देखकर मार्ग से थोडा बहुत इधर-उधर होकर विश्राम भी ले लेता है, किन्तु उस यात्री का गन्तव्य सही है, लक्ष्य स्पष्ट है, मजिल सामने है, तो हम उसे यात्री मानेंगे, वह अपने लक्ष्य से भटका नही है, उसका अन्तरग लक्ष्य की ओर उन्मुख है, उसमे मजिल तय करने की उमग है।

और एक वह पथिक है, जो चलता तो जा रहा है, बिना रुके, बिना थके। वह इधर-उधर भटकता भी नही, कही अटकता भी नही, सीधा चला जा रहा है, किंतु उसे मंजिल का पता नही है, लक्ष्य कुछ भी स्पष्ट नही है। सिर्फ चलना है, इसलिए चलता जा रहा है, तो भले ही वह राजमार्ग पर चलता हो, तो भी हम उसे यात्री नही कह सकते।

भगवान् महावीर के युग मे बड़े-बड़े तपस्वी थे, कठोरचर्या करने वाले साधक थे। कोई सूखा घास चबाते, कोई लोगो की इधर उधर पडी जूठन खाकर ही रह जाते, कुछ ऐसे भी थे जो पशुओ का गोबर भक्षण करके ही जीवन बिताते थे। कुछ साधक केवल वायु से प्राणतत्त्व लेकर ही उपवास किए चलते थे। कुछ सूर्य के साम्ने हाथ ऊँचे उठाए खडे रहते, कुछ वृक्षो पर ओधे मुह लटकते रहते, इस प्रकार विचित्र-विचित्र तरीको से वे साधना करके देह को कृश कर रहे थे, किन्तु उनके सामने आध्यात्मिक लक्ष्य कुछ भी नही था, आत्मा के निजस्वरूप से सम्बन्धित कोई महान उद्देश्य और गति उनकी कठोर चर्या के पीछे नही थी।

मैंने भी एक बार उडीसा की यात्रा के दौरान, बालासोर ऐसा साधक देखा था, जो रात-दिन खड़ा रहता था। वृक्ष के नीचे एक झूले पर शरीर का अग्रभाग टिकाकर कुछ विश्राम कर लिया करता था। पैर उसके सूज गए थे। मैंने उससे पूछा—आखिर आपका लक्ष्य क्या है? तो कहा—लक्ष्य-वक्ष्य कुछ नही, गुरुने बताया है कि बारह वर्ष तक ऐसे तपस्या करना और फिर समुद्र मे जाकर प्राण त्याग देना।'

मैं सोचता हूँ ऐसे व्यक्ति को साधना पथ का यात्री नही कहा जा सकता। भगवान् महावीर ने जब ऐसे साधको को देखा तो कहा—

ये सब बाल हैं, बच्चे हैं। तन से बच्चे नही, मन से बच्चे हैं। अभी ज्ञान का प्रकाश प्राप्त नही हुआ है, अज्ञान के अधेरे मे चल रहे हैं। वे कितनी ही तेज दौड लगा रहे हो, किन्तु मोक्ष की ओर एक कदम भी आगे नही बढ रहे हैं। कहा उन्होने—

> मासे मासे उ जो बालो कुसग्गेण तु भुजए।
> न सो सुक्खायधम्मस्स कल अग्घई सोलसिं॥
>
> —उत्तराध्ययन ६।४४

जिस साधक को आत्म-स्वरूप की प्रतीति नही हुई है, आत्मा की अनन्त शक्तियो का परिज्ञान नही हुआ है, वह महीने-महीने के लम्बे तप से पारणा करता रहे, और पारणा भी क्या ? सिर्फ तिनके की नोक पर रखा जा सके उतना ही आहार ग्रहण करे, इतना कठोर तपश्चण करते हुए भी वह आत्म धर्म की सोलहवी कला का भी दर्शन नही कर सकता। आत्म-दर्शन का एक अश भी उसे प्राप्त नही हो सकता।

त्याग का आधार आत्म-श्रद्धा

●

भगवान महावीर ने यह जो आलोचना की है, वह किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय की नही है, किन्तु उस अज्ञान एव अविवेक की आलोचना है, जो साधक को चलते हुए भी मजिल तक नही ले जा सकती। ये बाल, इतर सम्प्रदायो मे ही नही, जैन सम्प्रदाय मे भी है, और वे भी उन्ही की तरह भटकने वाले हैं।

अभी-अभी मैं जैन आचार शास्त्र के एक महान् ग्रन्थ वृहत्कल्प भाष्य का स्वाध्याय कर रहा था। मेरी दृष्टि सहसा एक जाज्वल्यमान सत्य पर रुक गई। महान् आचार्य ने कहा है-जो साधु या उपदेशक श्रोता को आत्म दृष्टि नही देकर, आत्म-स्वरूप की प्रतीति नही कराके सिर्फ मद्यमास आदि के त्याग का उपदेश करता है, वह चौमासी प्रायश्चित्त का भागी है।[1]

मैं इस प्रसग को पढता-पढता रुक गया। सोचने लगा—आचार्य ने यह क्या बात कही ? मद्य-मास के त्याग की बात एक नैतिक

---

१ जइ धम्म अकहेत्ता, अणु दुविध मज्जमस विरइ वा।
अणुवासए कहिते, चउजमला कालगा चउरो॥ —वृह० भा० गा० ११३६
सम्यग्दर्शनमनुपदिश्य मद्य मासविरतिं कथयति तदा चत्वारो गुरव ..
—वृ० भा० वृ० भा० २ पृ० ३५५

बात है, इसमें यह दड की बात कैसी ? मेरे विचार में सामाजिक निर्माण की दृष्टि से तो यह उपदेश ठीक है, मद्य-मांस का त्याग एक नैतिक प्रश्न भी है। किन्तु जैन दर्शन तो आत्मदर्शन का दर्शन है। नैतिक भूमिका से भी बहुत ऊपर आध्यात्मिक भूमिका पर वह चलता है। आत्म-स्वरूप का दर्शन ही उसका ध्येय है। आत्म-बोध के अभाव मे मद्य-मास का त्याग आखिर किस दृष्टि से किया जाता है ? इसलिए न कि इससे शरीर की क्षति होती है, अर्थ की हानि होती है, पारिवारिक जीवन दूषित होता है अपराधवृत्ति बढती है। धूम्र-पान का निषेध कराने वाले कहते हैं कि 'इससे शरीर गल जाता है, फेफड़े सड जाते हैं, यह मीठा जहर है, जो धीरे-धीरे जीवन-शक्ति को समाप्त करता है ? इसलिए त्याग करो !"

मैं सोचता हूँ त्याग का यह दृष्टिकोण आखिर मास-मज्जा के पिण्ड तक ही सीमित रहा न ? इस देह से आगे तो दृष्टि गई नही ! देह, अर्थ और परिवार आदि के घेरे में जो दृष्टि बद हुई है, वह परम ज्योति के दर्शन कैसे कर सकेगी ? देह की सीमाएँ समाप्त हुई तो वृत्तियाँ फिर जग जाएँगी ! धूम्रपान और मद्य-मास यदि देह के लिए लाभकारी बताए गए तो जैसे छोड़े गए वैसे शुरू भी किए जा सकते हैं ! आत्मा की प्रतीति जब तक नही होती, तब तक साधना मे तेज और स्थिरता नही आ पाती, आत्म-श्रद्धा समाप्त होने पर आषाढ भूति जैसे आचार्य भी लडखडा गए। भाष्यकार आचार्य का यह जो निर्देशन हुआ है, वह आत्म-श्रद्धा को जगाने की दृष्टि पर केन्द्रित रह कर ही हुआ है। आत्मा पर से विश्वास उठ जाने पर साधना के क्रिया-काडो के जितने भी महल खड़े किए जाते हैं, वे सब काच के महल हैं, एक हल्के-से धक्के से भी ध्वस्त हो सकते हैं, चकनाचूर हो सकते हैं। इसलिए आत्मनिष्ठा ही त्याग एव साधना का सुदृढ़ आधार बन सकती है।

'पर-भाव' ही 'पर-भव' का कारण

●

भगवान महावीर से पूछा गया—मोक्ष कौन प्राप्त करेगा ? इसका समाधान किया गया—"जिसने आत्म-दर्शन कर लिया है, जो यह जानता है कि यह देह भिन्न है, मैं (आत्मा) भिन्न हूँ। मैं न देह हूँ, न इन्द्रिय हूँ, न मन हूँ। राग-द्वेष के विकल्प भी मैं नही हूँ। मैं तो शुद्ध चिन्मय ज्योति हूँ, सिद्ध स्वरूप हूँ।" वस्तुतः जो सिद्ध

स्वरूप का ध्यान करेगा, वही तो सिद्ध हो सकेगा। जैसा ध्यान होगा, वैसा ही निर्माण होगा।

आत्मा के साथ देह, इन्द्रिय, सुख-दुःख, राग-द्वेष, मोह आदि का सम्बन्ध वास्तविक नही है, औपाधिक है। जैन-भाषा मे औदयिक भाव है। देह है तो, आत्मा का नही, नाम कर्म का फल है। सुख-दुख है तो, आत्मा के नही, वेदनीय कर्म के परिणाम हैं। आत्मा के साथ जो भी बाह्य सम्बन्ध है, वह पर है, आत्मजन्य नही, कर्मजन्य हैं, इसलिए वे सब उदयभाव है। जैन दर्शन का कर्मशास्त्र इस दृष्टि से हमारे समक्ष अत्यन्त सुन्दर और सही समाधान प्रस्तुत कर देता है कि कर्म निज नही, पर है। जो पर है,वह कभी निज नही हो सकता। पर सदा ही 'परभाव' मे ले जाता है और परभाव' से ही 'परभव, (दूसरा जन्म) होता है। इसलिए जब तक स्वभाव मे नही आया जाता, स्व-रूप का दर्शन नही होता, तब तक मोक्ष भी नही हो सकता।

सवार से अधिक घोड़े पर खर्च

●

हमारी यह कितनी विचित्र स्थिति है कि हम निज के लिए कुछ भी नही कर रहे हैं, जितना भी झझट है, झगडा है, सब पर के लिए है। पर भाव मे ही स्व-भाव को भुलाए जा रहे हैं।

कल के समाचार पत्र मे मैंने एक समाचार पढा। काफी आकर्षक शीर्षक मे लिखा गया था कि 'घुडसवार की अपेक्षा घोड़े पर अधिक खर्च!' समाचार मे बताया था कि राजस्थान के पुलिस विभाग मे जो घोड़े रखे जाते हैं उन घोडो पर सरकार जितना खर्च करती है, उससे आधा भी विचारे घुडसवार पर खर्च नही करती। आकडा बताया गया कि एक घोड़े पर वर्ष भर मे ३७५५ रु० खर्च किये जाते हैं, जबकि गरीब घुडसवार को इससे आधा भी वेतन नही मिलपाता।

मैं सोचता हूँ यह केवल एक सरकार की बात ही नही है, हमारी सब सरकारो की यही हालत है। आपके और हमारे भीतर जो सरकार चल रही है, उसकी भी यही दशा है। घोडो के लिए ज्यादा खर्च हो रहा है, घोडो की व्यवस्था, देखभाल जितनी है, उतनी क्या, उससे आधी भी सवार की देखभाल नही हो रही हैं। शरीर,

इन्द्रिया, मन ये सब तो घोडे हैं, हम इन्ही की देखभाल मे लगे हैं। इन घोडो पर जो सवार होता है वह है आत्मा। घोड़े पुराने होते हैं, नये आ जाते है, बदलते रहते हैं, यात्रा चलती रहती है, मगर सवार कभी नही बदलता। अब देखना है कि आपकी सरकार घोडो पर ज्यादा खर्च करती है या सवार पर ?

सवार का ध्यान रखिये

●

मैं आपसे मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि की चर्चा कर रहा था। सम्यग्दृष्टि की विशेपता यही है कि वह घोड़े पर नही, सवार पर ध्यान रखता है। घोड़े के चारे-दाने की व्यवस्था जरूर करता है, पर उसका केन्द्र सवार रहता है। घोड़े का महत्व उसके लिए तभी तक है, जब तक कि वह यात्रा के लिए सक्षम है। जैन दर्शन यही बात कहता है कि घोडे की देखभाल भले ही करो, पर लक्ष्य यह रखो कि यह घोडा यात्रा के लिए है, सवार को अपनी मजिल तक पहुँचाने के लिए ही है। आगम की भाषा मे—"मोक्ख साहणहेउस्स साहु देहस्स धारणा" साधक इस देह को मोक्ष का साधन मानता हुआ ही इसको धारण करता है, और उसकी देखभाल भी।

जैन दर्शन कहता है कि जो सम्यग्दृष्टि है, जिसमे परमज्योति के दर्शन की तडफ है, वह सदा उसी ओर लक्ष्य करके चलता है। उसकी मजिल, उसका लक्ष्य स्पष्ट एव सुनिश्चित रहता है। वह मार्ग मे चलता-चलता कही पडाव भी करता है, विश्राम भी लेता है, किन्तु फिर भी अपने लक्ष्य से भटकता नही। ससार के उद्यान मे कहीं मधुर गध, मनोहर फूल आ गये तो उनकी सुवास मे वह लिपटाएगा नही, हा उस मधुर सुरभि का आनन्द भले ही लेता चला जाए, आस-पास दुनिया को बाटता भी चला जाए, किन्तु आखिर मे उसे जिस महापथ की यात्रा पूर्ण करनी है उसी ओर उसका ध्यान केन्द्रित रहेगा। वह निरन्तर अपने लक्ष्य के प्रति सावधान रहेगा, धीरे-धीरे ही सही, पर वह मजिल की ओर चरण बढाता हुआ एक दिन अवश्य ही अपनी मजिल पर पहुँच जायेगा।

●

उपाध्याय अमरमुनि

सेवा का अवसर

सम्राट अशोक के गुरु भिक्षु उपगुप्त एक बार मथुरा के राजपथ पर भिक्षा पात्र लिए घूम रहे थे। मथुरा की सर्वश्रेष्ठ नर्तकी वासवदत्ता ने योगी का तेजस्वी मुखमण्डल, अद्‌भुत शान्त और सुन्दर नयन देखे, तो वह उस विलक्षण सौन्दर्य पर मुग्ध हो उठी। नर्तकी दो क्षण तो ठिठकी, फिर सीढियो से नीचे उतर भिक्षु को नमस्कार किया—'भन्ते !'

भिक्षु के बढते चरण रुक गये। उसने भिक्षा पात्र आगे बढाते हुए कहा—"भद्रे ! क्या देना चाहती हो ?"

"आप ऊपर पधारे, भन्ते ! यह मेरा विशाल भवन, मेरा सब ऐश्वर्य और स्वय मैं आपकी हूँ। मुझे स्वीकार करें।"—नर्तकी का स्वर्णिम मुख लज्जा से रक्ताभ हो गया।

'अभी नही, फिर कभी तुम्हारे पास आऊँगा' - भिक्षु ने दृष्टि ऊपर उठाकर कहा। जाने अन्दर की अतल गहराई मे क्या कुछ सोच रहे थे।

'कब ?' नर्तकी की कमल-सी आँखें जिज्ञासा लिए मुकुलित हो गई। 'उचित समय आने पर' —भिक्षु ने मृदु, गम्भीर स्वर मे उत्तर दिया और निरपेक्षभाव से आगे बढ गए !

कुछ दिनो बाद एक दिन मथुरा के बाहर, यमुना के राजमार्ग पर भिक्षु उपगुप्त नीची दृष्टि किए चले जा रहे थे। उन्होने देखा—एक स्त्री मार्ग के एक ओर भूमि पर धूलिधूसरित पड़ी है, उसके वस्त्र अत्यन्त मैले हैं, गन्दे हैं। शरीर घावो से भरा है, उनसे पीव और रक्त बह रहा है। मक्खियाँ भिनभिना रही है। दुर्गन्ध इतनी कि उधर से निकलते हुए मनुष्य नाक मुँह बंद कर लेते हैं। भिक्षु

फैल रही है। इससे धर्म का क्षेत्र सकुचित हो रहा है। सकुचित क्या, विकृत हो रहा है।

कुछ लोग सोचते हैं—'जीवन भर पाप किए, अब अमुक तीर्थ स्थान मे चलो, यात्रा कर आएँ सारे पाप धो आएँ। जीवन के अत में निर्मल एव पवित्र हो जायेंगे।" जीवन भर कुछ भी करते रहे, अत मे तीर्थ यात्रा करली, कुछ दान पुण्य कर दिया तो बस, सब पाप यो भाग गए जैसे डँडे को देखकर कुत्ता।

मैं समझता हूँ—ये सब धारणाए खतरनाक सिद्ध हुई हैं। इनसे भ्रष्टाचार और दुराचार को बढ़ावा मिला है। धर्म नही, धर्म का ढोंग फैला है।

धर्म तो वह चीज है, जो जीवन की हर सास मे चलता रहना चाहिए। हर कदम, और हर क्षेत्र मे उसकी प्रतिध्वनि गूँजती रहनी चाहिए।

आज के धार्मिकों का रोग

●

मन्दिर मे और घर मे, धर्म एक ही रहना चाहिए। जिस पवित्रता को मन्दिर मे या अन्य धर्म स्थान मे रखने का प्रयत्न होता है, वही पवित्रता घर मे, दुकान मे, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे रहे तब तो वह धर्म है, अन्यथा धर्म का नाटक है। दुनिया को बेवकूफ बनाने का एक साधन है।

नये-नये हास्पिटल खुलते जा रहे हैं, किसलिए? इसलिए कि मनुष्य स्वस्थ रहे, बीमारी मे सड-सडकर न मरे। मैं आपसे पूछू कि कोई रोगी जब तक हास्पिटल मे रहता है तब तक तो ठीक रहता है, स्वस्थ एव प्रसन्न रहता है, परन्तु ज्योही छुट्टी लेकर घर पर आता है कि फिर खाट पकड लेता है। अब फिर हास्पिटल मे जाता है, और वहाँ फिर ठीक हो जाता है। डाक्टर कहता है कि इसको हास्पिटल मे ही रखो, घर पर ले जाने से बीमार हो जायेगा, वहाँ पर मेरी कोई जिम्मेदारी नही।

भला यह भी कोई चिकित्सा पद्धति है? साफ बात है कि डाक्टर पैसे झाडने के लिए आपको उल्लू बना रहा है। जीवन

हास्पिटल मे बिताने के लिए नही, घर पर बिताने के लिए है। हास्पिटल का आराम, आराम नही, घर पर आराम रहे, स्वस्थता रहे, वस्तुत वही असली स्वस्थता है।

आज के धार्मिको को यही रोग लग गया है। धर्म स्थान मे रहे, मन्दिर मे रहे, तब तक तो बड़े धर्मात्मा बने रहे। प्रभु भक्ति मे लीन होते गए। किन्तु वहा से निकलकर ज्योही घर और बाजार मे आए तो वही बीमारी, अर्थात् दगा, धोखा, हिंसा, झूठ और चोरी! मन्दिर और धर्मस्थान आज केवल हास्पिटल बनकर रह गये हैं। वहा रहते हैं तब तक ठीक हैं, घर आते ही बेईमानी की बीमारी फिर पकड लेती है।

भूल यह हो रही है कि धर्म का विराट् रूप आज सकुचित हो गया है। उसकी व्यापकता सीमित हो गई है, और अखण्डता खडित होकर बिखर गई हैं। जीवन कही है, धर्म कही है। धर्म जीवन से अलग-थलग एक अनुपयोगी अपदार्थ बनकर रह गया है। वास्तव मे धर्म आत्मा के साथ रहना चाहिए। आत्म-साक्षिता जहा रहती है, वही धर्म रहता है। एक चिन्तक ने कहा है—

आतम साखे धर्म छै, त्याँ जननु शु काम ?
जन-मन-रजन धर्मनु मोल न एक छदाम ।।

यह जड़ पूजा है

●

कल ही एक सज्जन आये, दो घटा तक बैठे दिमाग चाटते रहे कि सवत्सरी सावण में करनी चाहिए या भाद्रपद मे ? कब करनी, कब नही ? इतनी उलझन भरी पहेलियाँ रख रहे थे कि लगा मुझे यह आदमी कितना उलझा हुआ है ?

मैंने उससे कहा—"भाई! जैन धर्म की विशुद्ध दृष्टि तो यह है कि रोज ही सवत्सरी होनी चाहिए। और यो आचार की दृष्टि से साधुओ की हर पक्खी के दिन सवत्सरी (क्षमा याचना) होती ही है। पन्द्रह दिन से ज्यादा यदि किसी के प्रति हृदय मे रागद्वेप की गाठ बनी रहती है, तो उसका साधुत्त्व कहा रहा ? क्या वह क्षमापना के लिए वर्ष भर तक सवत्सरी की राह देखता बैठा रहेगा ?

जैनधर्म जड पूजक नही है। अमुक तिथि मे ही सवत्सरी

फैल रही है। इससे धर्म का क्षेत्र सकुचित हो रहा है। सकुचित क्या, विकृत हो रहा है।

कुछ लोग सोचते हैं—'जीवन भर पाप किए, अब अमुक तीर्थ स्थान मे चलो, यात्रा कर आएँ सारे पाप धो आएँ। जीवन के अत में निर्मल एव पवित्र हो जायेगे।" जीवन भर कुछ भी करते रहे, अत मे तीर्थ यात्रा करली, कुछ दान पुण्य कर दिया तो बस, सब पाप यो भाग गए जैसे डँडे को देखकर कुत्ता!

मैं समझता हूँ—ये सब धारणाए खतरनाक सिद्ध हुई हैं। इनसे भ्रष्टाचार और दुराचार को बढावा मिला है। धर्म नही, धर्म का ढोग फैला है।

धर्म तो वह चीज है, जो जीवन की हर सास मे चलता रहना चाहिए। हर कदम, और हर क्षेत्र मे उसकी प्रतिध्वनि गूँजती रहनी चाहिए।

आज के धार्मिकों का रोग

●

मन्दिर मे और घर मे, धर्म एक ही रहना चाहिए। जिस पवित्रता को मन्दिर मे या अन्य धर्म स्थान मे रखने का प्रयत्न होता है, वही पवित्रता घर मे, दुकान मे, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे रहे तब तो वह धर्म है, अन्यथा धर्म का नाटक है। दुनिया को बेवकूफ बनाने का एक साधन है।

नये-नये हास्पिटल खुलते जा रहे हैं, किसलिए? इसलिए कि मनुष्य स्वस्थ रहे, बीमारी मे सड-सड़कर न मरे। मैं आपसे पूछू कि कोई रोगी जब तक हास्पिटल मे रहता है तब तक तो ठीक रहता है, स्वस्थ एव प्रसन्न रहता है, परन्तु ज्योही छुट्टी लेकर घर पर आता है कि फिर खाट पकड लेता है। अब फिर हास्पिटल मे जाता है, और वहाँ फिर ठीक हो जाता है। डाक्टर कहता है कि इसको हास्पिटल में ही रखो, घर पर ले जाने से बीमार हो जायेगा, वहाँ पर मेरी कोई जिम्मेदारी नही।

भला यह भी [कोई चिकित्सा पद्धति है? साफ बात है कि डाक्टर पैसे झाडने के लिए आपको उल्लू बना रहा है। जीवन

हास्पिटल मे बिताने के लिए नही, घर पर बिताने के लिए है। हास्पिटल का आराम, आराम नही, घर पर आराम रहे, स्वस्थता रहे, वस्तुत वही असली स्वस्थता है।

आज के धार्मिको को यही रोग लग गया है। धर्म स्थान मे रहे, मन्दिर मे रहे, तब तक तो बड़े धर्मात्मा बने रहे। प्रभु भक्ति मे लीन होते गए। किन्तु वहा से निकलकर ज्योही घर और बाजार मे आए तो वही बीमारी, अर्थात् दगा, धोखा, हिंसा, झूठ और चोरी! मन्दिर और धर्मस्थान आज केवल हास्पिटल बनकर रह गये हैं। वहा रहते हैं तब तक ठीक हैं, घर आते ही बेईमानी की बीमारी फिर पकड लेती है।

भूल यह हो रही है कि धर्म का विराट् रूप आज सकुचित हो गया है। उसकी व्यापकता सीमित हो गई है, और अखण्डता खडित होकर बिखर गई हैं। जीवन कही है, धर्म कही है। धर्म जीवन से अलग-थलग एक अनुपयोगी अपदार्थ बनकर रह गया है। वास्तव मे धर्म आत्मा के साथ रहना चाहिए। आत्म-साक्षिता जहा रहती है, वही धर्म रहता है। एक चिन्तक ने कहा है—

आतम साखे धर्म छै, त्याँ जननु शु काम ?
जन-मन-रजन धर्मनु मोल न एक छदाम ॥

यह जड़ पूजा है

●

कल ही एक सज्जन आये, दो घटा तक बैठे दिमाग चाटते रहे कि सवत्सरी सावण मे करनी चाहिए या भाद्रपद मे ? कब करनी, कब नही ? इतनी उलझन भरी पहेलियाँ रख रहे थे कि लगा मुझे यह आदमी कितना उलझा हुआ है ?

मैंने उससे कहा—"भाई ! जैन धर्म की विशुद्ध दृष्टि तो यह है कि रोज ही सवत्सरी होनी चाहिए। और यो आचार की दृष्टि से साधुओ की हर पक्खी के दिन सवत्सरी (क्षमा याचना) होती ही है। पन्द्रह दिन से ज्यादा यदि किसी के प्रति हृदय मे रागद्वेप की गाठ बनी रहती है, तो उसका साधुत्त्व कहा रहा ? क्या वह क्षमापना के लिए वर्ष भर तक सवत्सरी की राह देखता बैठा रहेगा ?

जैनधर्म जड पूजक नही है। अमुक तिथि मे ही सवत्सरी

करनी, अमुक काल मे ही धर्मध्यान करना, यह आग्रह तो काल-पूजको का है। कोई किसी पर्वत शिखर को पूजता है तो कोई किसी तिथि-विशेष को पूजने लग गया। यह सब जड-पूजा है। जैन-धर्म चैतन्य-पूजा मे विश्वास करता है, मन की पवित्रता मे विश्वास करता है। यदि सवत्सरी के दिन भी आपने मन की कलुषित वृत्तियो को नही मिटाया, वैर विरोध की गाठ नही खोली तो, क्या हुआ उस सवत्सरी से ? एक नही, कई सवत्सरी बीत जाने पर भी आपको उसका क्या लाभ है ? देश-काल के जो नियम होते हैं, वे अनादि-निधन एव परम सत्य नही होते। व्यवहार और परम्परा मे जो भी, जिस दिन भी अनुकूल हो, उसी दिन ठीक है। अत. इस या उसके एकान्त आग्रह पर चिपटकर बैठ जाना, तरह-तरह के दम्भ-प्रपञ्च करना, विघटन और बिखराव फैलाना, यह तो अपने अहकार एव विकारो का पोषण है, आत्मा का पोषण नही। सवत्सरी का प्रश्न आज क्यो विकट बन गया है ? उसके साथ कुछ व्यक्तियो के अह-कार, साम्प्रदायिक व्यामोह और पकड़का प्रश्न जुड गया है। सव-त्सरी को कुछ लोगो ने अपनी प्रतिष्ठा का हथियार बना लिया है और इसकी ओट मे ऐसे कुछ खेल खेल रहे हैं जो साधुता के अनुकूल नही है।

मैं पूछता हूँ किसी के हाथ मे लड्डू हैं, और इधर पेट भूख से व्याकुल हो रहा है। लड्डू खाए तो भूख मिटे। परन्तु वह ज्योतिषी से मुहूर्त पूछता फिरता है कि लड्डू किस मुहूर्त मे खाने से मीठा लगेगा ? कब खानें से भूख मिटेंगी ?

लड्डू जब भी खाया जाए, तभी मीठा लगेगा। हा, आपके शरीर मे ज्वर या और कोई विकार नही होना चाहिए। पानी जब पिया जाए, तभी प्यास बुझेगी।

धर्म करने के लिए, दान करने के लिए, सत्य बोलने के लिए क्या मुहूर्त देखे जाते हैं कि अमुक मुहूर्त मे धर्म करने से लाभ होगा, या दान देने से सीधा स्वर्ग-विमान उतर आयेगा !

भारतीय आचार्यों ने धर्म का लक्षण ही यह बताया है—"दिक् कालाद्यनवच्छिन्न।" देश, काल, स्थान आदि की सीमाओ से जो मुक्त है, वही धर्म है। धर्म के टुकडे नही होते। आकाश कभी खण्ड-

खण्ड हो सकता है ? अनन्त आकाश एक ही है, टुकडो मे विभक्त नही हो सकता। इसी प्रकार धर्म भी देश काल आदि के टुकड़ो मे कभी विभक्त नही हो सकता। वह एक अखण्ड सत्ता है।

विवेक में धर्म !

●

कुछ लोग कहते हैं अमुक प्रकार के कर्मकाण्ड मे धर्म है। तिलक सीधा लगाना धर्म है, कोई कहता है तिलक उलटा लगाना धर्म है। कोई बिन्दी और कोई त्रिशूल को धर्म मान बैठा है। कुछ कहते हैं अहिसा मे धर्म है, कुछ कहते हैं सत्य मे धर्म है। कोई करुणा मे तो कोई दान मे, और कोई सेवा मे धर्म मानता है। भगवान महावीर ने कहा—यदि अहिसा मे विवेक है तो वह धर्म है, यदि सत्य मे विवेक है तो वह धर्म है, यदि करुणा और सेवा मे विवेक है तो वह धर्म है, यदि पूजा और वन्दना मे विवेक है तो वह धर्म है, यदि इनमे से विवेक लुप्त हो गया है तो वह कोई भी धर्म नही है। यदि विवेक नही है, तो अहिसा भी धर्म नही है, सत्य भी धर्म नही है। यदि विवेक नही है तो पूजा-सेवा और करुणा भी धर्म नहीं है।

मैंने राजगृही चातुर्मास किया तो वहा अनेक बौद्ध विद्वान एव भिक्षु सम्पर्क मे आये। धर्म, दर्शन और इतिहास पर काफी खुलकर बातचीत किया करते थे। एक विद्वान ने बताया कि हमारी परम्परा मे किसी समय अहिसा और करुणा का एक पवित्र स्रोत फूटा था, पर आज उसमे से विचार और विवेक का जल सूख गया है। वहाँ केवल कीचड रह गया है। अहिसा के नाम पर आज भयकर हिंसा हो रही है। उसने सुनाया कि एक बौद्ध सज्जन के यहाँ, मछली आती थी। नौकर बाजार से मरी हुई मछली लाता और उनके लिए पकाता। एक बार मृत मछलियो के साथ एक जीवित मछली भी आ गई। उन्होने जीवित मछली को देखा तो क्रुद्ध होगए, नौकर को एक चाटा लगाया—"मूर्ख, नालायक! मेरा धर्म भ्रष्ट कर रहा है ? जा इसे अभी वापस देकर आ और इसके बदले मरी हुई मछली ला।"

मैंने पूछा—'ऐसा क्यो किया गया ?' उसने बताया कि "हमारे

यहाँ मरी हुई मछली या मरा हुआ जानवर खाना पाप नही माना है। स्वय मारकर खाना निषिद्ध है।'

कुछ बौद्ध देशो मे आज भी मास की दुकानो पर लटकती हुई तख्तियो पर लिखा मिलेगा—"यहाँ पर मास हमारे लिए बना है।" चू कि भिक्षु अपने लिए बना मास लेते नही, इसलिए यह आख-मिचौनी होती है।

यह अहिंसा का नाटक या तमाशा क्यो हो रहा है ? धर्म का यह विकृत रूप क्यो बना ? एक ही उत्तर है कि सिद्धान्त तो चलता रहा, पर उसमे से विवेक का प्रकाश समाप्त हो गया। विचार की आत्मा निकल गई और लोग खाली मृत देह को पकडे पूज रहे हैं।

राजगृह मे ही दिगम्बर मन्दिर के एक मैंनेजर से एक बार बात चली, तो उसने बताया कि एक बार हमारे यहाँ तेरापथी (दिगम्बर) मुनि आए। एक ही मन्दिर में हमारे यहा अलग अलग वेदी पर तेरापथी और बीसपथी मूर्ति स्थापित है। बीस पथी और तेरापथी की पूजा विधि मे थोडा अन्तर है। बीसपथी भगवान के सामने फूल चढाते हैं, तेरापथी नही चढाते। दोनो मूर्तिया पास पास मे ही थी। एक बीसपथी श्रावक आया, उसने अपनी बीसपथी मूर्ति की पूजा की, फूल चढाए और फिर तेरापथी मूर्ति के सामने भी फूल चढ़ाकर चला गया। पता नही भूल से चढाया या चिढाने के लिए। पर वह फूल चढाकर चला गया।

तेरापथी मुनिजी मन्दिर मे दर्शन करने आये। तेरापथी मूर्ति के आगे फूल चढे देखे तो ललाट पर त्रिशूल चढ गया। बौखलाये-यह क्या कर रखा है ? किसने यह पाप किया ?" यह कैसी व्यवस्था है यहाँ ?"

मैंनेजर को बुलाया और लगे उसे झाडने—"कहाँ हैं हमारा भगवान ? हम किसके दर्शन करे ? कितना अधेर है तुम्हारे यहाँ। तेरापथी भगवान को भी बीसपथी भगवान बना दिया है।"

मैंनेजर विचारा क्या करे ? उसने कहा—"महाराज ! क्षमा कीजिए। किसी के फूल चढाने मात्र से ही यदि आपका, भगवान बदल गया तो लो मैं फूल हटा देता हूँ, आपके भगवान हो गए, अब करिए दर्शन।"

मैं आपसे कह रहा था कि यदि हिंसा, सत्य और सेवा-पूजा में जब विवेक नही रहता है, तो वे किस प्रकार विकृत बन जाते हैं, उनका सुरम्य रूप कितना घिनौना बन जाता है ? जो धर्म, प्रेम का मगलद्वार होता है, वह भेद की दुर्भेद्य दीवार बन जाता है। साम्प्रदायिक द्वेष और झगडों का अखाड़ा बन जाता है। और धर्मों के पहलवान वहाँ पर अपनी-अपनी अखाड़ेबाजी जमाकर जय-पराजय का सौदा करते रहते हैं।

विचारों को छानकर पीजिए

●

इसीलिए भगवान महावीर का यह विचार सूत्र हमे बार-बार जगा रहा है कि धर्म को, शास्त्र को और परम्परा को भी विवेक पूर्वक ग्रहण करो।

आप ठडाई छानते हैं, आटा छानते हैं, पानी छानते हैं, पर विचारों को बिना छाने ही पीये जा रहे हैं। विचारों को सबसे अधिक छानने की जरूरत है। विवेक के छानने से छानकर शास्त्र को ग्रहण कीजिए, धर्म को स्वीकार कीजिए। मनुस्मृति में कहा है—

> दृष्टिपूत न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जल पिबेत्।
> शास्त्रपूतं वदेद् वाच मन पूतं समाचरेत्॥

पैर रखने से पहले भूमि को दृष्टि से देखते—छानते चलो। पानी पीते हो, तो वस्त्र से छानकर पीओ, और जो वचन बोलते हो, तो उसे भी शास्त्र से छान लो, कि वह ठीक है या नही ? और शास्त्र को, आचार धर्म को, अपने मन से अर्थात् विवेक से छानलो। प्रत्येक धर्म-सिद्धान्त को मन की पवित्रता से छानकर आचरण करो।

आप यह मत समझिए कि आज दवाएँ, तथा खाने पीने की चीजे ही नकली मिलती हैं, विचार भी नकली मिल रहे हैं। यदि इन्हे नही छाना गया तो ये एक दिन मानसिक स्वास्थ्य को चौपट कर देंगे। बौद्धिक चेतना को समाप्त कर डालेंगे। इसलिए सबसे अधिक आवश्यक है कि विचारो को विवेक के छानने से छानकर ही ग्रहण किया जाए।

मैंने आपको सबसे पहले यही सूचना दी थी कि विवेक ही धर्म

है। विवेक पूर्वक किया गया प्रत्येक आचरण धर्म की सीमा मे आता है और विवेकशून्य होकर किया गया धर्म-आचरण वास्तव मे धर्म नही, सिर्फ धर्म का भ्रम होता है। वह जीवन को प्रकाश की जगह अन्धकार में धकेल देगा, अशान्ति के महागर्त मे ले जाकर पटक देगा। इसलिए जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र याद रखकर चलिए कि—'विवेगे धम्मो' जीवन मे सुख शान्ति और समृद्धि का द्वार है विवेक! प्रकाश और आनन्द का स्रोत है विवेक! धर्म का प्रवेश द्वार हैं विवेक! जहाँ विवेक है, वही धर्म है।

सत्य की जिज्ञासा

सत्य को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि मन मे सत्य की जिज्ञासा जागृत हो। जब तक सत्य की जिज्ञासा नही जगती, सत्य का दर्शन नही हो सकता। किसी व्यक्ति ने अनेक गुरुओ के द्वार खटखटाने के बाद भी यह पाया, कि वे स्वर्ग, नरक, इन्द्रासन, चक्रवर्ती सामाज्य आदि कल्पनाओ से आगे नही बढ रहे हैं। आखिर उस जिज्ञासु ने एक गुरु के द्वार खटखटाए तो गुरु ने भीतर से आवाज दी—तुम कौन हो?

जिज्ञासु ने उत्तर दिया—यही जानने को, कि मैं कौन हूँ—अनेक गुरुओ के द्वारे भटकते-भटकते आपके पास आया हूँ। गुरु ने उसकी जीवित जिज्ञासा को देखा और उसे ज्ञान प्राप्त करने का मार्ग भी दिखाया।

वास्तव मे जिज्ञासा की चाबी के बिना अज्ञान का ताला नही खुलता, और तब तक ज्ञान का प्रकाश अन्दर आ नही सकता। इसलिए सत्य को पाने के लिए 'सत्य की जिज्ञासा' होनी जरूरी है।

—उपाध्याय अमरमुनि

उपाध्याय अमरमुनि

स्वरूप की साधना

(पाँच मूल भावनाएँ)

यह चैतन्य का महासागर हमारे अन्तर मे अनन्त-अनन्त काल से ठाठे मारता चला आ रहा है। चेतना के इस विराट् सागर को छोटे से पिण्ड मे समाया हुआ देखकर एक ओर आश्चर्य भी होता है, दूसरी ओर उसकी अनन्त शक्ति पर विश्वास भी। चेतना का जो विराट् रूप हमारे भीतर प्रकाशमान है, वही रूप एक चीटी और चीटी से भी असख्य गुन छोटे प्राणी के अन्तर में भी प्रकाशित हो रहा है। वहा भी चैतन्य का वही अनन्त रूप छिपा हुआ है। महासागर के तट पर जिधर भी नजर उठाकर देखो, उधर ही तूफान और लहरें मचलती हुई दीखेंगी। यही बात जीवन के महासागर के किनारे खड़े होकर देखने से लगेगी कि चैतन्य के महासागर में चारो ओर से असख्य-असख्य लहरें उछल रही हैं, उसकी कोई सीमा नही हैं, चैतन्य के अनन्त भाव इस महासागर मे तरंगित हो रहे हैं।

यह बात नही है कि सिर्फ देवता और चक्रवर्ती के जीवन मे या मानव के जीवन मे ही चेतना की अनन्त धाराएँ प्रस्फुटित होती रहती हैं, बल्कि चीटी और मच्छर जैसे क्षुद्र जीवो मे भी वही धारा अपने अनन्त-अनन्त रूपों मे बह रही है। भले ही उनकी अव्यक्त चेतना के कारण हमारी समझ मे उनका सही रूप आए या नही ? किंतु जीवन अव्यक्त या कम विकसित होने के कारण चेतना की धाराएँ लुप्त नही हो सकती। किसी के जीवन मे वे धाराएँ गलत रूप मे बह रही हैं और किसी के जीवन मे सही रूप मे। यह देखना है, कि वे धाराएँ, वे लहरे, जीवन के निर्माण मे हाथ बँटा रही है, उसे अभ्युत्थान की ओर ले जा रही हैं या विनाश तथा पतन की ओर !' विनाश, पतन और विध्वस की ओर जो धाराएँ वह रही

हैं, उनके वेग को, उनकी दिशा को मोड़ देना, निर्माण की ओर लगाना यह हमारी व्यक्त चेतना का काम है।

चेतन की मूल भावना

●

दर्शनशास्त्र ने जो चिन्तन, मनन और अनुभव किया है, सत्य का साक्षात्कार किया है उसका निचोड़ यही है कि अन्तर मे सबका मूल चेतन समान है, उसमे कोई भेद नही है। जो भेद दिखाई देता है, वह बाहर के रूपों मे हैं, बाहरी धाराओ मे है। बाहर मे जो गलत धाराएं, लहरे उछल रही हैं, उन्हे चाहे भावनाएँ कह दीजिए वृत्तिया या आदत कह दीजिए, और भी हजार नाम हो सकते हैं, उनका जो प्रवाह असत् की ओर है, असत् रूप मे जो वे बह रही हैं, उन्हे अलग फेक देना है। उनका प्रवाह मोड़ देना है और मूल अन्तर की जो धारा है, उसी के अनुकूल प्रवाह मे उन्हे भी बदल देना है।

प्राणी मे मूलतः पाँच वृत्तिया पाई जाती हैं, जो उसके भीतर निरन्तर जागृत रहती हैं, हलचल मचाती रहती हैं। चैतन्य जो है, वह एक अमरतत्त्व है। वह न कभी जन्म लेता है, न कभी मरता है, न कभी जवान होता है न कभी बूढा। जब बूढा नही होता है, पुराना नही होता है, तो फिर बचपन और नयापन का प्रश्न ही नही। मृत्यु उसी की होती है जो जन्म लेता है, वह मरता भी अवश्य है। इस चेतन ने कभी जन्म धारण नही किया, यह सदा जीता रहता है, इसीलिए इसका नाम जीव है। जीव क्या है ? जो सदा जीता रहे या सदा जीना चाहता रहे, वही जीव है।

जिजीविषा—जीने की इच्छा प्राणी मात्र का स्वभाव है। एक आचार्य ने तो कहा है—

> अमेध्य मध्यस्य कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालय।
> सदृशी जीवने वांछा तुल्यं मृत्युभय द्वयो :॥

सुरेन्द्र—जिसके कि एक सकेत पर हजारो हजार देवता हाथ जोड़े खड़े रहते हैं, अपार सुख और वैभव उसके चरणों मे लोटता है, उसमें जो जीने की लालसा है, वही लालसा एक गन्दी मोरी के कीड़े

मे भी है। जो कीड़ा गन्दगी मे कुलबुला रहा है, उसे यदि छू दिया जाए, छेड़ दिया जाए, तो वह भी अपने शरीर को सकुचित करने की चेष्टा करता है, हलचल मचाता है और इधर-उधर बचने के लिए प्रयत्न करता है। उसमे भी जीने की उतनी ही तीव्र लालसा है, जितनी देवराज इन्द्र में है। यो समझ लीजिए कि जीवन जितना आपको प्रिय है, उतना ही उस कीड़े को भी है।

जीना स्वभाव है

●

अभी मैंने बताया था कि जीना जीव का स्वभाव है। आप और हम जीना चाहते है, संसार का प्रत्येक प्राणी कीड़े-मकोड़े सभी जीना चाहते हैं। कोई पूछे कि वे क्यो जीना चाहते हैं? तो उत्तर यही है कि उनका स्वभाव है। कोई मरता क्यो है? यह एक प्रश्न हो सकता है, बीमारी से मरता है, अपघात से मरता है, एक्सीडेंट से मरता है, इसके हजार उत्तर हो सकते हैं, हजार कारण हो सकते हैं, पर जीता क्यो है, इसका एक ही कारण है कि जीना उसका स्वभाव है, जीना चाहना प्राणी का लक्षण है। लक्षण कभी बदलता नही। ससार के समस्त प्रयत्न किसलिए चल रहे हैं? मजदूर कडी चिलचिलाती धूप मे कठोर परिश्रम कर रहा है, उसे पूछो तो कहेगा पेट के लिए? और पेट किसलिए भरना चाहता है, इसे खाली रहने दिया जाए तो क्या होगा? तो कहेगा—जी क्या होगा, यह होगा कि दो चार दश दिन भूखे रहे, पेट मे अन्न-जल नही गया, तो दुनियाँ 'राम नाम सत्त' कहकर पहुँचा देगी उस घाट पर, जहाँ सबकी राख हो जाती है। मतलब कि प्रत्येक प्रयत्न का मूल यही जीने की भावना– जिजीविषा है। जीने के लिए सघर्ष करने होते हैं, कष्ट और द्वन्द्व झेलने होते हैं, पीड़ा और यातनाएँ सहकर भी कोई मरना नही चाहता। इधर-उधर की कुछ समस्याओ से घबराकर आदमी कहता है कि मर जाएँ तो अच्छा है, पर, जब उन समस्याओ का समाधान हो जाता है, तो फिर कोई नही कहता कि मर जाएँ तो ठीक है। कहावत है "मौत मौत पुकारने वाली बुढिया को जब मौत आती है, तो पड़ौसी का घर बताती है।"

पुरानी कहानी चलती है कि एक बुढ़िया बड़ी दुःखी थी। बहुत

जर्जर और क्षीण हो गई थी। आंखो के सामने बेटे-पोते उठ-उठकर चले गए। कहती रहती कि भगवान मेरा पर्चा भूल गया। किसी की भी मृत्यु की वात सुनती तो कहती, हे भगवान ! उसको बुला लिया, मुझे क्यो नही बुलाया ? मेरा पर्चा कहाँ खो गया ?

एक बार कोई देव और देवी उधर से निकले, उन्होने सुना कि बुढिया मौत-मौत पुकार रही है, कहती है "हे राम ! मुझे मौत क्यो नही देता, मुझे अब उठाले।" देवी ने कहा—देखिए यह बुढ़िया मरना चाहती है, पर इसकी मृत्यु ही नही आ रही है।

देवता ने कहा—यह पीड़ा से व्याकुल होकर ही ऐसा कह रही है। वास्तव मे मौत को नही चाहती, जीना ही चाहती है, देवी को वास्तविकता का दर्शन कराने के लिए देवता ने माया रची। चारो ओर आग की भयकर लपटें फैलती दिखाई। लोग शोरगुल मचा रहे है, अपने प्राण लेकर भाग रहे हैं। ज्वालाएँ बढ़ती-बढती बुढिया की झोपडी की ओर आ रही हैं। बुढिया ने आग लगी देखी तो जोर से चीख उठी – "अरे ! कोई बचाओ !" जोर-जोर से पुकारने लगी, पर कोई आदमी नही आया तो बस झौपड़ी से बाहर आई, लकड़ी का सहारा लेकर बेतहाशा दौडने लगी और गाँव के लोगो को गालियाँ देती गई– "अरे सब कहाँ मर गए ? मुझे कोई बचाने नही आरहा है, जली जा रही हूँ, आओ कोई बचाओ, सब के सब मर गए क्या ?"

देवता ने कहा देवी से—देखा, जब तक मौत नही आई थी, तब तक ही बुढ़िया मौत-मौत पुकार रही थी, मौत को देखकर तो मरना भूल गई, 'बचाओ' की रट लगाने लगी है।

तो, संसार का यह अजर अमर सिद्धांत है कि प्रत्येक प्राणी चाहे वह कष्ट मे और पीड़ाओ मे से गुजर रहा है, या सुख और आनन्द मे जीवन बिता रहा है, दोनो के जीवन की ईच्छा समान है—"सदृशी जीवने वाच्छा।"

जिजीविषा—यह जीव का स्वभाव है और प्रत्येक प्राणी इस स्वभाव की साधना कर रहा है। हमारी साधना इसी दृष्टिकोण से पल्लवित हुई है। साधना स्वरूप की होती है, स्वभाव की होती है।

श्री अमर भारती, जलाई-अगस्त १९६९

अग्नि की साधना उष्ण रहने की साधना है, उसे शीतल रखने की कोई साधना करे तो वह बेवकूफी होगी। हवा की साधना अनवरत चलते रहना है, उसे स्थिर रखने की साधना कोई करे तो वह स्वरूप की विपरीत साधना होगी। हमारे जीवन की साधना अमरता की साधना है, कभी नही मरने की साधना है और हमारा साध्य भी अमरता है। मरने की साधना कोई नही करता, चूँकि वह स्वरूप नही है, हम स्वरूप के उपासक हैं।

एक साधक मिले। बात चली तो पूछा—किसकी साधना कर रहे हैं ? मैंने कहा—"अपनी ही उपासना कर रहा हूँ, अपने को पाने के लिए ही साधना की धुनी रमाई है।"

साधक बोले—"साधना तो भगवान को पाने के लिए होनी चाहिए।" मैंने कहा उससे—यह भी ठीक है, पर अपने से भिन्न भगवान कोई और वस्तु है, यह मैं नही मानता। अपने को पाने का मतलब ही तो भगवान को पाना है। जागृत चैतन्य ही तो भगवान है। भगवान महावीर के दर्शन की भाषा मे कहे तो—'अप्पा सो परमप्पा' आत्मा जो है, वही परमात्मा है। और कबीर की भाषा मे कहे तो भी वही बात है—

> घट घट मेरा साइयां, सूनी सेज न कोय।
> बा घट की बलिहारियाँ, जा घट परगट होय।

अमरता की उपासना

•

भारतीय दर्शन की अन्तिम परिणति यही है कि तुम अपने स्वरूप को समझलो, बस यही तुम्हारी साधना है। स्वरूप को जब पहचान लिया कि अमर रहना, यह हमारा—चैतन्य का स्वरूप है, तो अमरता की साधना प्रारम्भ हो जाती है। अमर रहने के लिए ही हमारी साधना चलती है, इससे आगे कहूँ तो यह कि जीने के लिए ही हमारी साधना चल रही है। आप कहेगे कि "क्या इतने छिछले स्तर पर हमारी साधना है, सिर्फ जीने के लिए ?" मैं पूछू—यदि जीने के लिए नही है, तो क्या मरने के लिए है ?" जीना और मरना दो ही तो दृष्टियाँ हैं। मरना गलत दृष्टि है, जीना सही दृष्टि

है। मरण नही, अनन्त जीवन को केन्द्र मानकर ही ससार की समस्त साधनाएँ चलती हैं।

मैं अपने आपको क्यो नही मारता ? इसलिए कि आत्महत्या करना पाप है। पाप क्यो है ? पाप यो है, कि वह स्वभाव के विरुद्ध है। अपने को मारना पाप है, तो मतलब हुआ कि मृत्यु ही पाप है।

कोई अपने आपको 'शूट' करले तो उसने किसी दूसरे की जान तो नही लूटी ? फिर आप गुरु से पूछे तो कहेगे—दूसरे को मारना पाप है, अपने को मारना महापाप। आत्महत्या करने वाला नरक में जाता है। कानून से पूछो तो वह भी कहेगा—यह अपराध है। आत्महत्या का प्रयत्न करते हुए कोई पकडा गया, तो वह अपराधी है।

कोई जी रहा है, और वह पूछे कि क्या यह जीना भी पाप है ? तो क्या कोई कहेगा कि हाँ, जीना पाप है। जीना भी पाप है, मरना भी पाप, तो फिर ससार मे धर्म क्या रह गया ? धर्म कहता है कि—न तू मर ! न किसी को मार ! बस यही धर्म है।

भगवान महावीर ने अहिंसा का उद्गम भी इसी जीजिविषा के अन्तर से बताया है, उन्होने कहा—

> "सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
> तम्हा पाणिवह घोरं, निग्गंथा वज्जयति ण॥"

ससार के समस्त प्राणी जीना चाहते हैं जीने की कामना, इच्छा प्रत्येक प्राणी के भीतर विद्यमान है, मरना कोई नही चाहता, इसलिए किसी का वध करना, मारना, यह पाप है। मतलब यह है कि 'जीना' यह स्वरूप है और स्वरूप धर्म है। आप देखेंगे कि अहिंसा का स्वर किस भावना से फूटा है ? जीवित रहने की भावना मे से। हम प्रत्येक प्राणी के प्रति-सहृदय रहते हैं। सहृदयता की साधना क्यो है ? सभी प्राणी एक दूसरे के प्रति सहृदय रहे। परस्पर सहृदयता प्रेम, करुणा, सहयोग—ये सब हमारी जीवित रहने की भावना के ही विकसित रूप हैं। उसी महावृक्ष की ये अनेक शाखाएँ हैं।

दूसरी भावना – सुख की भावना है। हम इस विश्वमडल की अनन्त-अनन्त परिक्रमा कर चुके हैं और कर रहे हैं, किसलिए ? सुख के लिए। सुख की भावना और कामना से प्रेरित होकर प्रत्येक प्राणी प्रयत्नशील रहता है। बात यह है कि सुख आत्मा का स्वरूप है। स्वरूप की माँग, खोज, आत्मा करता है। भगवान का स्वरूप वर्णन करते हुए हमने क्या बतलाया है कि वह आनन्दमय है। इसके आगे बढें तो कह दिया कि वह सच्चिदानन्द रूप है। सद्‌चिद् और आनन्द यह एक शिखर की बात कहदी है। उच्चतम आनन्द की कल्पना इसके साथ जुड गई है। लेकिन इससे यह तो समझा हमने कि भगवान का स्वरूप आनन्दमय है, सुखमय है। जो उसका स्वरूप है, वही हमारा स्वरूप है। स्वरूप उसका और हमारा भिन्न नही है। जो भगवान का स्वरूप है, वह प्रत्येक प्राणी का स्वरूप है। तभी हम कहते हैं कि प्रत्येक घट मे भगवान का वास है। जब तक उस आनन्द की उपलब्धि नही होती है, तो प्राणी उसे पाने के लिए प्रयत्न करता है। यह बात दूसरी है कि जो सुख नही है, उसे भी हमने अज्ञानवश सुख की कल्पना से जोड लिया है। धन, परिवार और भोग का सुख, अज्ञान की कल्पना के साथ जुडा है। पर यह अज्ञान भी तो हमारा ही है। ज्ञानी को ही अज्ञान होता है और जो अज्ञान को समझता है कि यह 'अज्ञान है' वही ज्ञानी होता है। आप अधेरे मे चल रहे हैं, कोई ठूँठ खडा दिखाई दिया, आपने कल्पना की, शायद कोई आदमी है, पर जब प्रकाश की कोई किरण चमकी और आपने देखा कि यह आदमी नही, ठूठ है, तो यह भी ज्ञान है, अपना अज्ञान वही समझ सकता है, जो ज्ञानी है। ज्ञानी का अज्ञान क्या है—विपरीत ज्ञान, या भ्रम ! ज्ञान का अभाव अज्ञान नही है। वह अज्ञान तो जड के पास है, जिसे कभी भी ज्ञान नही हो पाता। चेतन के स्वभाव मे यह अज्ञान रह नही सकता। भले ही ज्ञान की गति विपरीत चल रही हो, परन्तु वह समय पर ठीक हो सकती है। किसी के पास वहुत-सा धन है, तो वह धनी है, फिर उस धन का गलत उपयोग करता है तो यह बात दूसरी है, किन्तु समय पर वह ठीक उपयोग भी कर सकता है।

मैं कह रहा था कि अज्ञानवश जिसे सुख समझ लिया है और उसके पीछे दौड रहे हैं, वह भी हमारी तीव्र सुखेच्छा का ही व्यक्त रूप है। इसीलिए एक दिन भगवान महावीर ने कहा था—

'सव्वेपाणा सुहसाया, दुह पडिकूला'

भूमडल के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं, सुख उन्हें प्रिय है, सुख की साधना कर रहे हैं, दु:ख से कतराते है। सुख का यह स्वर कहा से आया ? सुख की कामना क्यो जगी हमारे अन्दर ? इसलिए कि सुख हमारा स्वरूप है। स्वय सुखी रहना और ससार को सुखी रखना, यही हमारी साधना है। आपको कोई सुखी देख कर यह पूछे कि आप सुखी क्यो हैं ? तो क्या उत्तर होगा आपका ? शायद आपका टेम्प्रेचर चढ जाये कि तुम्हें इसकी क्या पडी कि हम सुखी क्यो हैं ? प्रसन्न क्यो हैं ? तो क्या दुःखी रहे, मुहर्रमी सूरत बनाए बैठे रहे, ससार मे मुह लटकाए घूमते रहे ? यह जीवन सुख के लिए हैं सुखी और प्रसन्न रहने के लिए है। हँसने और हँसाने के लिए है। रोने चीखने के लिए नही है।

साधना में दुःखानुभूति क्यों ?

●

कभी-कभी हमारे साधक कहते हैं कि सुखी रहने की बात कुछ समझ मे नही आती। मैं पूछता हूँ—क्या आपत्ति है ? तो कहते हैं—"साधना करते-करते तो दु ख का अनुभव होता है, कष्ट और पीडाएँ होती हैं।" मैं कहता हूँ कि यदि साधना करते हुए दुःख की अनुभूति जगती है, मन खिन्न होता है, तो वह साधना कैसी ? ऐसी दु:खमयी साधना से तो साधना न करना अच्छा है। साधना का तो अर्थ है—उपासना ! किसकी ? अपने स्वरूप की, और स्वरूप क्या है ? आनन्दमय ! मतलब हुआ कि सुख की साधना करते दु:ख का अनुभव होता है, यह तो गलत बात है। अमृत पीते हुए जहर-सी कडवी घूँट लगती है, तो या तो अमृत नही है, या फिर पीना नही आया है। साधना मे तो आनन्द और सुख की रसधारा वहनी चाहिए। जिस साधना के उत्स से सुख का स्रोत न फूटे, वह साधना ही क्या ? वह तो परवशता की साधना है. जिसमे क्लेश और पीड़ा के कांटे चुभते रहते हैं, वह स्वतत्र साधना नही है। उस

साधना से, जिससे दु.ख की अनुभूति होती है, कर्म की निर्जरा होगी या नए कर्मों का बध होगा ? जहाँ मन मे दु.ख है, वहाँ परवशता है, जहाँ परवशता है, वहाँ बन्धन है। तो वह साधना तो उलटी कर्म बन्ध का कारण बन गई। इसलिए मैंने कहा—इस साधना से तो साधना नही करना अच्छा है।

शरीर का दुःख और कष्ट होना एक अलग बात है और मन का दु.खी होना अलग बात है। साधना शरीर की नही, चैतन्य की होती है।

अभिप्राय यह है कि शरीर को कष्ट हो तो भले ही हो, वह जड है, चैतन्य को कष्ट नही होना चाहिए। आत्मा की प्रसन्नता बनी रहनी चाहिए। मैं तो कभी-कभी कहता हूँ कि यदि तपस्या करने से आत्मा की प्रसन्नता और मन की स्वस्थता बनी रहती है, तब तो ठीक है, और यदि आत्मा कष्ट पाती है, मन को क्लेश होता है, खिन्नता बढ़ती है तो वह तपस्या कोई कल्याण करने वाली नही है, सिर्फ देह-दड है, अज्ञान तप है। आचार्यों ने कहा है—

> 'सो नाम अणसण तवो जेण मणोऽमगुल न चिंतेई।
> जेण न इदियहाणी जेण य जोगा न हायति॥

सयम की साधना इसलिए की जाती है कि उससे आत्मा मे प्रसन्नता जगती है। भावनाएँ शुद्ध, पवित्र एव शान्त रहती हैं। यदि सयम पालते हुए भी भावना अशान्त हैं, हृदय क्षुब्ध है, आत्मा विषय भोग के लिए तडफता है, तो वह साधना तो धोखा है, अपनी आत्मा के साथ भी और ससार के साथ भी, जो तुम्हे सच्चा साधक समझ रहा है।

भगवान ने बतलाया है कि जिस साधक का मन साधना के रस मे रम गया है, उसे साधना मे आनन्द आता है। शरीर के कष्टो से उसका आत्मा कभी विचलित नही होता। कभी मन चचल हो भी गया तो उसे पुन. शान्त और समाधिस्थ कर लेता है।

हमारे कुछ साधक यह भी कहते हैं, कि साधना मे पहले दु ख होता है और बाद मे सुख ! मैं कहता हूँ कि यह तो बाजारू भाषा हमने सीख ली। सौदेबाजी की बात है कि कुछ दुख सहो तो फिर सुख मिले। जिस साधना के आदि में ही दु.ख है, कष्ट है, उसके मध्य

मे और अन्त मे सुख कहाँ से जन्म लेगा ? यह साधना की व्याख्या नही। साधना तो वह है, जिसके आदि मे भी सुख और प्रसन्नता स्वागत के लिए खडी रहे, आनन्द की लहरे उछलती मिले और मध्य मे भी सुख, अन्त मे भी सुख। वास्तव मे साधक के सामने दैहिक कष्ट, कष्ट नही होते, उन्हे मिटाने के लिए भी उसकी साधना नही होती, साधना होती है आत्मा की प्रसन्नता और आनन्द के लिए।

एक वार वनवास मे युधिष्ठिर ध्यान मग्न बैठे थे। ध्यान से उठे तो द्रौपदी ने कहा—"धर्मराज ! आप भगवान का इतना भजन करते है, इतनी देर ध्यान मे बैठे रहते है, फिर उनसे कहते क्यो नही कि इन कष्टो को दूर करदे ? कितने वर्ष से वन-वन भटक रहे हैं, कही टेढेमेढे पत्थरो पर रात गुजरती है, तो कहीं कंकरो मे। कभी प्यास से मारे गला सूख जाता है तो कभी भूख से पेट मे वल पडने लगते हैं। भगवान से कहते क्यो नही कि इन सकटो का अन्त कर डाले।'

धर्मराज ने कहा—"पाचाली ! मैं भगवान का भजन इसलिए नही करता कि वह हमारे कष्टो मे हाथ बटाए। यह तो सौदेबाजी हुई। मैं तो सिर्फ आनन्द के लिए भजन करता हूँ। उसके चिन्तन से ही मेरे मन को प्रसन्नता मिलती है। जो आनन्द मुझे चाहिए, वह तो विना मागे ही मिल जाता है और कुछ मागने के लिए मैं भजन नही करता।"

साधना का यह उच्च आदर्श है, कि वह जिस स्वरूप की साधना करता है, वह स्वरूप आनन्दमय है, उसके जीवन मे सुख भर जाता है, चारो ओर प्रसन्नता छा जाती है। सुख को इस साधना से अहिंसा का स्वर दृढ हुआ है, तुम स्वय भी सुखी रहो और दूसरो को भी सुखी रहने दो। स्व और पर के सुख की साधना ही अपने स्वरूप की सच्ची आराधना है।

जो स्वय ही मुहर्रमी सूरत वनाए रहता है वह दूसरो को क्या खुश रखेगा ? स्वय के जीवन को ही जो भार के रूप मे ढो रहा है, वह ससार को जीने का क्या सम्वल देगा ? इसलिए साधना अन्तर्मुखी होनी चाहिए। स्वय जीयें, और दूसरो को जीने दें, स्वय खुश

रहे और दूसरो को खुश रहने दे। किसी की खुशी और प्रसन्नता को लूटने की कोशिश न करे।

स्वतन्त्रता की भावना

●

आत्मा की तीसरी भावना—स्वतन्त्रता की है। यह बात तो हम युग-युग से सुनते आए हैं कि कोई भी आत्मा बन्धन नही चाहता। ससार मे बन्धन और मुक्ति की लडाई सिर्फ साधको के क्षेत्र मे ही नही, बल्कि जीवन के हर एक क्षेत्र मे चल रही है। कोई भी गुलाम रहना नही चाहता। हर कोई स्वतन्त्र और आजाद रहना पसन्द करता है। एक देश, दूसरे देश की गुलामी और अधिकार मे नही रहना चाहता। एक जाति दूसरी जाति के दबाब मे रहना पसन्द नही करती।

आजादी और गुलामी के साथ यह भी बात समझ लेना है कि हमारी भावनाएँ अर्थात् मनुष्य की भावनाएँ गुलामी और मुहब्बत मे बिलकुल अलग-अलग है। जब तक पुत्र के दिल में पिता के प्रति प्रेम और भक्ति है, जब तक भाई का भाई के प्रति प्रेम है, तब तक वह उसकी सेवा और मिन्नतें करने को तैयार रहता है। कभी उसके मन मे कल्पना नही उठती कि मैं किसी की गुलामी कर रहा हूँ। किंतु जब प्रेम का सम्बन्ध टूट गया तो वह एक बात भी उसकी नही मानना चाहता। हर बात को वह गुलामी की दृष्टि से देखने लग जाएगा। पति-पत्नी मे जब तक प्रेम है, दोनो एक दूसरे की हजार-हजार सेवा करने को तैयार रहते हैं, पर पत्नी के मन मे भी जब यह आ गया कि पति मुझे गुलाम समझता है, अपनी दासी समझता है, तो वह भी अकड जाती है। उसके लिए अपना बलिदान नही कर सकती। गुलामी की अनुभूति के साथ ही उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और स्वतन्त्रता कोई भी प्राणी किसी भी मूल्य पर खोना नही चाहता।

हमारे यहाँ मानव सभ्यता के आदियुग का प्रसग आता है। भरत और बाहुबलि सगे भाई थे, बडा प्रेम था। बाहुबलि हर क्षण भरत की सेवा मे रहते थे, उसका सम्मान करते थे और अपने प्राणो से भी अधिक उसे चाहते थे। पर, जब भरत चक्रवर्ती बनते हैं और

बाहुबलि को कहलाते हैं कि आओ, हमारी सेवा करो, वफादारी की शपथ लो ! तो बाहुबलि कहते हैं, हमारा तो प्रेम का सम्बन्ध चला ही आया है, भाई की सेवा में सदा तत्पर रहे है, यह नई बात क्या आ गई ? भाई के नाते हम हजार सेवा कर सकते हैं उसकी। हाथ जोड़े उसकी सेवा मे दिन रात खड़े रह सकते हैं, पर यदि वह सेवक के नाते मुझे बुलाना चाहता है, तो भाई तो क्या, मैं अपने बाप की भी सेवा करना स्वीकार नही करता। बस, युद्ध शुरू हो गया और जो हुआ वह आपको मालूम ही है। उसने अपनी स्वतत्रता नही बेची। अन्त मे विजय प्राप्त करके भी जब देखा कि वास्तव में भरत को चक्रवर्ती होना है, तो जीते हुए साम्राज्य को भी लात मारकर चल पड़े।

स्वतन्त्रता आत्मा का स्वभाव है

●

अभिप्राय यह है कि हर आत्मा मे स्वतन्त्र रहने की वृत्ति बडी प्रबल है। प्रेम के वश वह किसी का हो सकता है, पर गुलाम बन कर किसी के बन्धन मे नही रहना चाहता। क्यो नही रहना चाहता ? इसका भी यही एक उत्तर है कि स्वतन्त्रता आत्मा का स्वभाव है, स्वरूप है और उसका अधिकार है। स्वतन्त्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है, यह नारा भारतीय सस्कृति का नारा है, धर्म और सस्कृति का स्वर है।

एक जड़ पदार्थ को आप किसी डिबिया मे बन्द करके रख दीजिए वह हजार वर्ष तक भी रखा रहेगा तो कोई हलचल नही मचाएगा, आजादी के लिए सघर्ष नही करेगा, किंतु यदि किसी क्षुद्रकाय चूहे को पिजड़े मे डाल दिया जाए तो वह छूटने के लिए छटपटाने लग जाता है। दो क्षण मे ही वह उछलकूद मचाने लग जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि स्वतत्र रहना आत्मा का, चेतन का स्वभाव है। स्वभाव से विपरीत वह कभी नही जाता।

हम साधना के द्वारा मुक्ति की बात क्यो करते हैं ? मोक्ष की अपेक्षा बाहर मे स्वर्ग की मोहकता अधिक है, भोगविलास वहा है, ऐश्वर्य का भण्डार है, फिर स्वर्ग के लिए नही, किन्तु मुक्ति के लिए ही हम साधना क्यो करते हैं ? मोक्ष मे तो अप्सराएँ भी नही हैं,

नृत्य गायन भी नही है ? बात यह है कि यह भौतिक सुख भी तो आत्मा का बन्धन है। देह भी बन्धन है, काम, क्रोध, ममता आदि भी बन्धन हैं, विकार और वासना भी बन्धन है और आत्मा इन सब बन्धनो से मुक्त होना चाहता है ? भौतिक प्रलोभनो और लालसाओ के बीच हमारी आजादी दब गई है। सुख-सुविधाओ से जीवन पगु हो गया है, इन सबसे मुक्त होना ही हमारी आजादी की लडाई का ध्येय है। इसीलिए हमारी साधना मुक्ति के लिए सघर्ष कर रही है। मुक्ति हमारा स्वभाव है। स्वरूप है, वहा किसी का बन्धन नही, किसी का आदेश नही।

आचार्य जिनदास ने कहा है—'न अन्नो आणायव्वो' तू दूसरो पर अनुशासन मत कर। हुकुम मत चला। अपना काम स्वय कर। जैसा तुझे दूसरो का आदेश और हुकुम अप्रिय लगता है, वैसे ही दूसरो को भी समझ। कोई किसी के हुकुम में, गुलामी मे रहना पसन्द नही करता।"

कुछ लोग अमीरी के मधुर-स्वप्नो मे रहते हैं। पानी पिलाने के लिए भी नौकर, खाना खिलाने के लिए भी नौकर, कपडे पहनाने के लिए भी नौकर, यहाँ तक देखा हैं मैंने कि जूते पहनने हैं, तब भी नौकर के बिना नही पहने जाते। यह इज्जत है या गुलामी ? यदि यह भी इज्जत है तो क्या काम की है वह इज्जत, जहाँ मनुष्य दूसरो के अधीन होकर रहता है। आज का मानव भी स्वतंत्रता की बात करता है, पर वह दिन प्रतिदिन यत्रो का गुलाम होता जा रहा है। यत्रो के बिना उसका जीवन पगु हो गया है। विज्ञान का विकास अवश्य हुआ है, जीवन के लिए उसका उपयोग भी है, पर जीवन एकदम उसके अधीन तो नही हो जाना चाहिए ? इधर हम स्वतत्रता की बात करते है और उधर पराश्रित होते चले जा रहे हैं ? अन्न आदि आवश्यक वस्तुओ के मामले मे भी देश आज परमुखापेक्षी हो रहा है। यद्यपि हमारा चिन्तन इन सब परवशताओ को तोड़ने के लिए प्रयत्न कर रहा है। क्योकि उसे स्वतन्त्र रहना है, अपने स्वरूप मे जाना है आखिर ! राजनैतिक आजादी, सामाजिक और आर्थिक आजादी और इन सबके ऊपर आखिर आध्यत्मिक आजादी—हमारे सामने यह आदर्श है। हमे इसी ओर वढना है अपने स्वरूप की ओर जाना है।

जिज्ञासा चेतन का धर्म है

●

चौथी वृत्ति है—जिज्ञासा की। ज्ञान पाने की इच्छा ही जिज्ञासा है, सुख और स्वतन्त्रता की भावना की तरह यह भी नैसर्गिक भावना है। चैतन्य का लक्षण ही ज्ञान है। 'जीवो उवओग लक्खणो' भगवान महावीर की वाणी है, जीव का स्वरूप ज्ञानमय है। इसके दो कदम और आगे बढकर, यहाँ तक कह दिया गया है कि जो ज्ञान है, वही आत्मा है, जो आत्मा है वही ज्ञान है जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया'। वैदिक परम्परा मे भी यही स्वर मुखरित हुआ—'प्रज्ञान ब्रह्म'। मतलब यह कि ज्ञान कोई अलग वस्तु नही है, चेतन है वही ज्ञान है।

छोटे-छोटे बच्चे जब कोई चीज देखते हैं तो पूछते रहते है—यह क्या है ? यह क्या है ? हर बात पर उनके प्रश्नो की झडी लगी रहती है आप भले ही उत्तर देते-देते तग आ जाएँ पर वह है कि पूछता-पूछता नही थकता, नही थकता ! वह सृष्टि का समस्त ज्ञान अपने अन्दर मे भर लेना चाहता है, सब कुछ जान लेना चाहता है। वह ऐसा क्यो करता है ? जानने की इतनी उत्कण्ठा उसमे क्यो जग पडी है ? बात यह है कि जानना यह उसका स्वभाव है। जिज्ञासा प्राणीमात्र का धर्म है। भूख लगना जैसे शरीर का स्वभाव है, वैसे ही ज्ञान की भूख जगना, यह आत्मा का स्वभाव है।

किसी भी अनजानी नई चीज को देख--सुन कर हमारे मस्तिष्क मे 'क्या, क्यो, किसलिए ?' के प्रश्न खड़े हो जाते हैं। हम उस नई वस्तु को, अनजानी चीज को जानना चाहते है। जब तक नही जान पाते, मन को शान्ति नही हो पाती, समाधान नही हो पाता। तथ्य यह है कि जब तक जिज्ञासा जीवित है, तब तक ही हमारा जीवन है। जब अन्न से अरुचि हुई, भूख समाप्त हुई, तो समझ लीजिए अब टिकट बुक हो गया है, अगली यात्रा शुरू होने को है। जब जानने की वृत्ति समाप्त हुई, तो ज्ञान का दरवाजा बन्द हो जाता है, जीवन की प्रगति और उन्नति रुक जाती है, आत्मा अज्ञान मे ठोकरें खाने लग जाता है, विकास अवरुद्ध हो जाता है। जानने की यह वृत्ति बच्चे मे भी रहती है, युवक मे भी जगती है और बूढो मे भी

होती है। हर एक हृदय मे यह वृत्ति जगती रहती है। वह जो देखता है, सुनता है उसका विश्लेषण करना चाहता है। उसका ओर छोर जानना चाहता है, बिना जाने उसकी तृप्ति नही होती।

जिज्ञासा ज्ञान का भंडार है

●

आगम मे हम पढते हैं कि गणधर गौतम ने अमुक वस्तु देखी, अमुक बात सुनी तो मन मे सशय पैदा हुआ, कुतूहल पैदा हुआ **'जाय ससये, जाय कोउहले'** और इस सशय का समाधान करने तुरन्त प्रभु के चरणो मे पहुँचे प्रश्न किया—**'कहमेय भन्ते !'**—"प्रभो ! यह बात कैसे है ? इसमे सत्य क्या है ?" गौतम गणधर के प्रश्नो का विशाल क्रम ही जैन साहित्य और दर्शन के विकास की सुदीर्घ परम्परा है। मैं तो कभी-कभी सोचता हूँ 'महान आगम वाङ्मय मे से यदि गौतम के प्रश्नोत्तर, व सवाद निकाल दिए जाएँ तो फिर आगम साहित्य मे कुछ नही रह जायेगा। योरोप के अँग्रेजी साहित्य मे जो स्थान शेक्सपियर के साहित्य का है, सस्कृत साहित्य मे जो स्थान कालिदास-साहित्य का है, जैन आगमो मे वही स्थान गौतम के सम्वादो का है। गौतम के प्रश्न और सवाद जैन आगमो की आत्मा है। मैं कहना यह चाहता था कि इस साहित्य की प्रेरणा क्या है ? कहा से उठती है इसके निर्माण की ध्वनि ? गौतम की जिज्ञासा से, सशय से। जो सशय ज्ञानाभिमुख होता है वह बुरा नही होता। पश्चिम के दार्शनिक तो दर्शन की उत्पत्ति और विकास सशय से ही मानते हैं। क्या, कैसे, किसलिए ? यह दर्शन के विकास के मूल सूत्र हैं, यही सूत्र विज्ञान का जनक है। भारतीय विचारक ने तो यहा तक कह दिया **'नहि सशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'** सशय किए बिना मनुष्य कल्याण के दर्शन ही नही कर सकता। पुराने आचार्य ग्रन्थो का निर्माण करते समय सबसे प्रथम उसकी पृष्ठभूमि, जिज्ञासा पर खडी करते हैं—"**अथातो धर्मजिज्ञासा**', अब धर्म की जिज्ञासा, जानने की इच्छा प्रारभ को जाती है। इस प्रकार दर्शन और धर्म के साहित्य का निर्माण हुआ है जिज्ञासा से। सिर्फ साहित्य के विकास की बात मैं नहीं कहता, मानवजाति का विकास भी जिज्ञासा के आधार पर ही हुआ है। जिज्ञासा ने मूर्ख को विद्वान बनाया है,

अज्ञान को ज्ञान दिया है। हर एक आत्मा मे जिज्ञासा पैदा होती है, वह उसका समाधान चाहता है और विकास करता जाता है। बात यह हुई कि सुख की इच्छा और स्वतन्त्रता की भावना की तरह जिज्ञासा भी आत्मा की सहज भावना है, स्वभाव है, उससे किसी को रोका नही जा सकता।

प्रत्येक प्राणी ईश्वर है

●

पाचवी भावना--प्रभुता की है। प्रत्येक प्राणी चाहता है कि ससार मे वह स्वामी बनकर रहे, ईश्वर बनकर रहे। चूँकि आत्मा को जब परमात्मा माना गया है, ईश्वर का रूप माना गया है तो इसका मतलब हुआ कि वह अपने ईश्वरत्व को विकसित करना चाहता है। ईश्वर का अर्थ ही है स्वामी समर्थ और प्रभु ! इसलिए प्रभुता चाहना कोई गलत वात नही है, यह तो आत्मा का स्वभाव है।

घर मे एक बच्चा है, आजादी से रहता है, बादशाह बनकर रहता है, वह भी जब देखता है कि घर मे उसका अपमान किया जा रहा है, उसकी बात सुनी नही जाती है तो वह तिलमिला उठता है। उसका 'मूड' बिगड जाता है। बहू भी घर मे जब आती है और देखती है कि इस घर मे उसे सम्मान नही मिल रहा हैं, सास ससुर आदि उसे दासी की तरह समझ रहे हैं, तो विशाल ऐश्वर्य होते हुए भी वह घर उसके लिए 'नरक' के समान बन जाता है। वह यही कहेगी 'धन को क्या चाटू" जहाँ सम्मान नही, वहाँ जीना कैसा ? सुख कैसा ?

बात यह है कि अपनी प्रभुता पर जब कोई भी आत्मा चोट पडती देखता है, तो वह उसे बर्दाश्त नही कर सकता। शालिभद्र की बात हम कहते हैं। विशाल वैभव और ऐश्वर्य मे वह पला था। देव कुमार-सी सुकुमारता थी, धरती पर कभी पाँव नही रखा था। मगधेश्वर श्रेणिक जब मुलाकात के लिए आते हैं और माँ जाकर कहती है कि "बेटा ! नीचे चल, श्रेणिक आए हैं।" तो कहता है 'माँ, मैं नही जानता, तुम्हे जो जचे वह खरीद लो, जितनी स्वर्ण मुद्रा माँगे दे दो।' माँ ने कहा-"बेटा ! श्रेणिक कोई किराना माल नही है, और न कोई व्यापारी है, वह अपना स्वामी है, राजा है।"

बस, स्वामी की बात सुनते ही शालिभद्र चोक उठे ! "मेरे पर भी कोई स्वामी है ? मालिक है ?" बस यही बात उनके लिए बोध-सूत्र बन गई। इसी विचार पर महलो को छोडकर, मखमली गद्दो को छोडकर, काटो के रास्ते पर निकल पड़े, अपने अन्दर के सोये हुए स्वामी को जगाने। अपनी प्रभुता प्राप्त करने ! दूसरो की प्रभुता उन्हे स्वीकार नही हुई।

प्रभुता की बात का अर्थ यह नही है कि अहकार को खुलकर दौडने दिया जाए। अहकार दूसरो की प्रभुता पर चोट करना चाहता है, इसी आधार पर तो वह पलता है, दीनता की कल्पना सामने होगी तभी अहकार को बढावा मिलेगा। सेर पर सवा सेर मिलेगा तो अहकार अपने आप टूट जाएगा। अहकार का जन्म अज्ञान से होता है, वह दूसरो की श्रेष्ठता को स्वीकार नही करना चाहता, ससार मे अपनी श्रेष्ठता ही स्थापित करना चाहता है, इससे सघर्ष होते हैं, युद्ध होते है अशान्ति फैलती है। प्रत्येक आत्मा अपनी श्रेष्ठता को जितना महत्त्व देता है, उतना ही महत्त्व यदि दूसरो की श्रेष्ठता को देवे तो न सघर्ष हो, न द्वन्द्व !

मन मे अहकार लाना जितना बडा पाप है, उतना ही पाप है हीनता का शिकार होना। आत्मा स्वय अपनी श्रेष्ठता को नही समझ कर खुद को दीन-हीन पामर प्राणी मान बैठता है, तो वह कुछ भी नही कर सकता। दीन प्राणी ससार मे ठोकरें खाने के लिए होता है। हर कोई उसे कुचल देना चाहता है, मिटा देना चाहता है। तुम अपने आपको दीन मत समझो ! पीछे की पक्ति मे खड़े मत रहो, आगे बढो, सत्कर्म करने मे सबसे पहले अपना नाम लिखावो। तुम गुलाम नही हो, न इस शरीर के गुलाम हो, न इन्द्रियो के और न धन के। तुम स्वामी हो, इन सब पर अपना अधिकार रखो, अपने आदेश पर इन सबको चलाओ। ससार मे तुम्हारे से बडा कोई नही है, कोई तुम्हारा स्वामी और नाथ नही है—'अत्ता हि अत्तनो नाथो'-बुद्ध ने कहा है, आत्मा ही आत्मा का नाथ है।" अपने इस प्रभु स्वरूप को समझ लिया, उसकी साधना मे जुट गए तो फिर न दु:ख है, न पीडा, न भय ! अनन्त सुख का साम्राज्य तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाएगा।

पर्युषण पर्व वर्ष मे एक बार आता है और समय के साथ लौट जाता है। पर्युषण अन्य पर्वों की तरह ही एक पर्व का रूप लेता जा रहा है, जो कुछ बँधे बँधाये क्रिया-कलापो से ही मना लिया जाता है। ऐसे विचारक बहुत ही कम होगे जो इस पुण्य पर्व की गम्भीरता को समझते हैं। उसके जीवन-शोधनकारी, एव जीवन निर्माणकारी रूप को पहचानते हैं और उस पर आचरण की दिशा मे गति करते हैं। आइए, शान्ति से पढिए और विचार करिए कि ये पर्व सिर्फ त्योहार मात्र नही है, ये जीवन दर्शन की प्राञ्जल परिभाषाएँ है, और श्रेष्ठ जीवन जीने की कला सिखाने वाले कलागुरु हैं। उपाध्याय श्री जी के प्रेरणादायी प्रवचन मे पढिए—पर्वों का सन्देश।

उपाध्याय अमरमुनि

पर्वों का सन्देश

मानव-जाति के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि आदिकाल के अकर्म-युग से मनुष्य ने जब कर्म-युग मे प्रवेश किया, तब उसके जीवन का लक्ष्य अपने पुरुषार्थ के आधार पर निर्धारित हुआ। जैन परम्परा और इतिहास के अनुसार उस मोड के पहले का युग एक ऐसा युग था, जब मनुष्य अपना जीवन प्रकृति के सहारे पर चला रहा था, उसे अपने आप पर भरोसा नही था, या यो कहे कि उसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नही हुआ था। उसकी प्रत्येक आवश्यकता प्रकृति के हाथो पूरी होती थी, भूख प्यास की समस्या से लेकर बडी से बडी समस्याएँ प्रकृति के द्वारा हल होती थी, इसीलिए वह प्रकृति की उपासना करने लगा। कल्पवृक्षो के निकट जाकर उनकी आरजू, मिन्नते करता और उनसे प्राप्त सामग्रियो के आधार पर अपना जीवननिर्वाह करता। इस प्रकार आदियुग का मानव प्रकृति के हाथो मे खेला

था। उत्तर कालीन ग्र थो से पता चलता है कि उस युग के मानव की आवश्यकताएँ बहुत ही कम थी । उस समय भी पति-पत्नी होते थे, पर उनमे परस्पर एक दूसरे का सहारा पाने की आकाक्षा, उत्तरदायित्व की भावना नही थी । सभी अपनी अभिलाषाओ और अपनी आवश्यकताओ के सीमित दायरे मे बँधे थे । एक प्रकार से वह युग उत्तरदायित्व-हीन एव सामाजिक तथा पारिवारिक सीमाओ से मुक्त एक स्वतन्त्र जीवन था, कल्पवृक्षो के द्वारा तत्कालीन आवश्यकताओ की पूर्ति होती थी, इसलिए किसी को भी उत्पादन-श्रम एव जिम्मेदारी की भावना से बाधा नही गया था, सभी अपने मे मस्त थे, लीन थे ।

पौराणिक युग की परम्परा

अकर्म-भूमि की उस अवस्था मे मनुष्य सागरो के सागर चलता गया । मानव की पीढियाँ दर पीढियाँ बढती गई । किन्तु फिर भी उस जाति का विकास नही हुआ । उनके जीवन का क्रम विकसित नही हुआ, उनके जीवन मे सघर्ष कम थे, लालसा और आकाक्षाएँ कम थी । जीवन मे भद्रता, सरलता का वातावरण था। कषाय की प्रकृतियाँ भी मद थी, यद्यपि कपायभाव की यह मन्दता ज्ञानपूर्वक नही थी, उनका स्वभाव, प्रकृति ही शान्त और शीतल थी । सुखी होते हुए भी उनके जीवन मे ज्ञान व विवेक की कमी थी, वे सिर्फ शरीर के क्षुद्र घेरे मे बन्द थे । सयम, साधना व आदर्श का विवक उस जीवन मे नही था । यही कारण था कि उस काल मे एक भी आत्मा मोक्ष मे नही गया और कर्म तथा वासना के बन्धन को तोड नही सका । उनकी दृष्टि केवल 'मैं' तक ही सीमित थी । शरीर के अन्दर मे शरीर से परे क्या है, मालूम होता है, इस सम्बन्ध मे उन्होने कभी सोचा ही नही, और यदि किसी ने सोचा भी तो आगे कदम नही बढा सका । जब कभी उस भूमिका का अध्ययन करता हूँ, तो मन मे ऐसा भाव आता है कि मैं उस जीवन से बचा रहूँ । जिस जीवन मे ज्ञान का कोई प्रकाश न हो, सत्यता का कोई मार्ग न हो, भला उस जीवन मे मनुष्य भटकने के सिवा और क्या कर सकता है ? उस जीवन

प्राचीन जैन, बौद्ध एव वैदिक ग्रन्थो के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि उस समय मे पर्व, त्यौहार जीवन के आवश्यक अग बन गए थे। एक भी दिन ऐसा नही जाता, जबकि समाज मे पर्व, त्यौहार व उत्सव का कोई आयोजन नही हो। इतना ही नही, किन्तु एक-एक दिन और तिथियो मे दस दस और उससे भी बहुत अधिक पर्वो का सिलसिला चलता रहता था। सामाजिक जीवन मे बच्चो के पर्व-अलग, औरतो के पर्व अलग, और वृद्धो के पर्व अलग। इस दृष्टि से भारत का जन-जीवन बहुत ही उन्नत और आनन्दित रहा।

पर्वों का सन्देश

●

हमारे पर्वों की वह लडी, कुछ छिन्न-भिन्न हुई परम्परा के रूप मे आज भी हमे महान् अतीत की याद दिलाती है। हमारा अतीत उज्ज्वल रहा है, इसमे कोई सन्देह नही, किन्तु वर्तमान कैसा गुजर रहा है यह थोडा विचारणीय है। पर्व के पीछे सिर्फ अतीत की याद को ताजा करना ही हमारा लक्ष्य नही है, किन्तु उसके प्रकाश मे वर्तमान को देखना भी आवश्यक है। अतीत का वह गौरव जहाँ एक ओर हमारे जीवन का एक सुनहला पृष्ठ खोलता है, वहाँ दूसरी ओर नया पृष्ठ लिखने का भी सन्देश देता है। इसलिए पर्वों की खुशी के साथ-साथ हमे अपने नव जीवन के अध्याय को भी खोलना चाहिए और उसका अवलोकन करके अतीत को वर्तमान के साथ मिलाना चाहिए।

जीने की कला

●

यद्यपि जैन धर्म की परम्परा निवृत्ति-मूलक रही है। उसके अनुसार जीवन का लक्ष्य भोग नही, त्याग है। बन्धन नही, मोक्ष है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि वह सिर्फ परलोक की ही बात करता है। इस जीवन से उसने आँखे मूँद ली हो। हम इस ससार मे रहते हैं, तो हमे इस ससार के ढग से ही जीना होगा, हमे जीने की कला सीखनी होगी। जब तक जीने की कला नही आती है, तब तक जीना वास्तव मे आनन्ददायक नही होता। जैन परम्परा, जैन पर्व, एव जैन विचार हमे जीने की कला सिखाते है, हमारे जीवन

को सुख और शान्तिमय बनाने का मन्त्र देते हैं। जैन धर्म का लक्ष्य मुक्ति है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उसके पीछे इस जीवन को बर्बाद कर दिया जाए। वह नही कहता है कि मुक्ति के लिए शरीर, परिवार व समाज के बन्धनो को तोड डाले, कोई किसी को अपना न माने, कोई पुत्र अपने पिता को पिता न माने पति-पत्नी परस्पर कुछ भी स्नेह का नाता न रखें, बहन भाई आपस मे एक दूसरे से निरपेक्ष होकर चले। जीवन की यात्रा मे चलते हुए, परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्वो का भार उतार फेके इस प्रकार तो जीवन मे एक भयंकर तूफान आ जाएगा, भारी अव्यवस्था और अशान्ति बढ़ जाएगी, मुक्ति की अपेक्षा स्वर्ग से भी गिरकर नरक मे चले जायेंगे। जैन धर्म का सन्देश है—जहाँ भी रहे, अपने स्वरूप को समझकर रहे, शारीरिक, पारिवारिक एव सामाजिक सम्बन्धो के बीच बँधे हुए भी उनमे कैद न हो। परस्पर एक दूसरे की आत्मा को समझकर चलें, शारीरिक सम्बन्ध को महत्व न देकर आत्मिक पवित्रता का ध्यान रखें। जीवन मे सब कुछ करना पडता है, किन्तु आसक्त होकर नही, अपितु सिर्फ एक कर्तव्य के नाते किया जाए। शरीर व इन्द्रियो के बीच मे रहकर भी उसके दास नही, किन्तु स्वामी बन कर रहे। भोग मे भी योग न भूल जाएँ। महलो मे रहकर भी उनके दास बनकर नही, किन्तु उन्हे अपना दास बनाकर रखें। ऊँचे सिहासन पर, या ऐश्वर्य के विशाल ढेर पर बैठकर उसके गुलाम न बनें, किंतु उसे अपना गुलाम बनाए रखें, जब धन स्वामी बन जाता है, तभी मनुष्य को भटकाता है। धन और पद मूर्तिमान शैतान हैं। जब तक ये इन्सान के पैरो मे दबे रहते हैं, तब तक तो ठीक हैं, यदि ये सर पर सवार हो गए तो इन्सान को भी शैतान बना देते हैं।

समाज का ऋण

●

जैन धर्म में भरत जैसे चक्रवर्ती भी रहे, किंतु वे उस विशाल साम्राज्य के बन्धन मे नही फसे। जब तक इच्छा हुई, उपभोग किया और जब चाहा तब छोडकर योग स्वीकार कर लिया। उनका ऐश्वर्य, बल और बुद्धि, समाज व राष्ट्र के कल्याण के लिए

प्राचीन जैन, बौद्ध एव वैदिक ग्रन्थो के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि उस समय मे पर्व, त्यौहार जीवन के आवश्यक अग बन गए थे। एक भी दिन ऐसा नही जाता, जबकि समाज मे पर्व, त्यौहार व उत्सव का कोई आयोजन नही हो। इतना ही नही, किन्तु एक-एक दिन और तिथियो मे दस दस और उससे भी बहुत अधिक पर्वो का सिलसिला चलता रहता था। सामाजिक जीवन मे बच्चो के पर्व-अलग, औरतो के पर्व अलग, और वृद्धो के पर्व अलग। इस दृष्टि से भारत का जन-जीवन बहुत ही उन्नत और आनन्दित रहा।

पर्वों का सन्देश

●

हमारे पर्वों की वह लडी, कुछ छिन्न-भिन्न हुई परम्परा के रूप मे आज भी हमे महान् अतीत की याद दिलाती है। हमारा अतीत उज्ज्वल रहा है, इसमे कोई सन्देह नही, किन्तु वर्तमान कैसा गुजर रहा है यह थोडा विचारणीय है। पर्व के पीछे सिर्फ अतीत की याद को ताजा करना ही हमारा लक्ष्य नही है, किन्तु उसके प्रकाश मे वर्तमान को देखना भी आवश्यक है। अतीत का वह गौरव जहाँ एक ओर हमारे जीवन का एक सुनहला पृष्ठ खोलता है, वहाँ दूसरी ओर नया पृष्ठ लिखने का भी सन्देश देता है। इसलिए पर्वों की खुशी के साथ-साथ हमे अपने नव जीवन के अध्याय को भी खोलना चाहिए और उसका अवलोकन करके अतीत को वर्तमान के साथ मिलाना चाहिए।

जीने की कला

●

को सुख और शान्तिमय बनाने का मन्त्र देते हैं। जैन धर्म का लक्ष्य मुक्ति है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उसके पीछे इस जीवन को बर्बाद कर दिया जाए। वह नही कहता है कि मुक्ति के लिए शरीर, परिवार व समाज के बन्धनो को तोड डाले, कोई किसी को अपना न माने, कोई पुत्र अपने पिता को पिता न माने पति-पत्नी परस्पर कुछ भी स्नेह का नाता न रखें, बहन भाई आपस मे एक दूसरे से निरपेक्ष होकर चलें। जीवन की यात्रा मे चलते हुए, परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्वो का भार उतार फेके इस प्रकार तो जीवन मे एक भयकर तूफान आ जाएगा, भारी अव्यवस्था और अशान्ति बढ जाएगी, मुक्ति की अपेक्षा स्वर्ग से भी गिरकर नरक मे चले जायेंगे। जैन धर्म का सन्देश है—जहाँ भी रहे, अपने स्वरूप को समझकर रहे, शारीरिक, पारिवारिक एव सामाजिक सम्बन्धो के बीच बँधे हुए भी उनमे कैद न हो। परस्पर एक दूसरे की आत्मा को समझकर चलें, शारीरिक सम्बन्ध को महत्व न देकर आत्मिक पवित्रता का ध्यान रखें। जीवन मे सब कुछ करना पडता है, किन्तु आसक्त होकर नही; अपितु सिर्फ एक कर्तव्य के नाते किया जाए। शरीर व इन्द्रियो के बीच मे रहकर भी उसके दास नही, किन्तु स्वामी बन कर रहे। भोग मे भी योग न भूल जाएँ। महलो मे रहकर भी उनके दास बनकर नही, किन्तु उन्हे अपना दास बनाकर रखें। ऊँचे सिहासन पर, या ऐश्वर्य के विशाल ढेर पर बैठकर उसके गुलाम न बनें, किंतु उसे अपना गुलाम बनाए रखे, जब धन स्वामी बन जाता है, तभी मनुष्य को भटकाता है। धन और पद मूर्तिमान शैतान हैं। जब तक ये इन्सान के पैरो मे दबे रहते हैं, तब तक तो ठीक हैं, यदि ये सर पर सवार हो गए तो इन्सान को भी शैतान बना देते हैं।

समाज का ऋण

●

जैन धर्म में भरत जैसे चक्रवर्ती भी रहे, किंतु वे उस विशाल साम्राज्य के बन्धन मे नही फसे। जब तक इच्छा हुई, उपभोग किया और जब चाहा तब छोडकर योग स्वीकार कर लिया। उनका ऐश्वर्य, बल और बुद्धि, समाज व राष्ट्र के कल्याण के लिए

मे यदि पतन नही है, तो उत्थान भी तो नही है। ऐसी निर्माल्य दशा मे, इस त्रिशकु जीवन का कोई भी महत्व नही है। हाँ, तो ऐसी ही क्रान्ति और प्रगतिविहीन सामान्य दशा मे वह अकर्म-युग चल रहा था, उसे जैन भाषा से पौराणिक युग कहते हैं।

नया युग : नया सन्देश

●

धीरे-धीरे कल्पवृक्षो का युग समाप्त हुआ। इधर प्राकृतिक उत्पादन क्षीण पडने लगे, उधर उपभोक्ताओ की सख्या बढने लगी। ऐसी परिस्थितियो मे प्राय: विग्रह, वैर और विरोध पैदा हो ही जाते हैं। जब कभी उत्पादन कम होता है और उपभोक्ताओ की सख्या अधिक होती है, तब परस्पर सघर्षो का होना अवश्यभावी है। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक तौर पर उस युग मे भी यही हुआ कि पारस्परिक प्रेम व स्नेह टूट कर घृणा, द्वेष, कलह और द्वन्द्व बढने लगे, सघर्ष की चिनगारियाँ उछलने लग गईं। समाज मे सब ओर कलह, घृणा, द्वन्द्व का सर्जन होने लगा।

मानव जाति की उन सकटमयी घडियो मे, सक्रमणशील परिस्थितियो मे भगवान ऋषभदेव ने मानवीय भावना का उद्बोधन किया, उन्होने मनुष्य जाति को समझाया—अब प्रकृति के भरोसे रहने से काम चलने का नही है। हमारे हाथो का उपयोग सिर्फ खाने के लिए ही नही, किन्तु कमाने, उपार्जन करने के लिए भी होना चाहिए। उन्होने कहा–युग बदल गया है, वह अकर्म-युग का मानव अब कर्म-युग (पुरुषार्थ के युग) मे प्रविष्ट हो रहा है। इतने दिन पुरुष सिर्फ भोक्ता बना हुआ था। प्रकृति के कर्तृत्व पर उसका जीवन टिका था। किन्तु अब यह वैषम्य चलने का नही है। अब कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनो ही पुरुष मे हैं। पुरुष ही कर्ता हैं और पुरुष ही भोक्ता है। तुम्हारी भुजाओ मे बल है, तुम पुरुषार्थ से आनन्द का उपभोग करो। भगवान आदिनाथ के कर्म-युग का यह उद्घोष अब भी वैदिक वाङ्मय मे प्रतिध्वनित होता दिखाई पडता है—

> अयं मे हस्तो भगवान् अयं मे भगवत्तर।
> कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्ये आहित:।

मेरा हाथ ही भगवान है, भगवान से भी बढकर है। मेरे दाएँ हाथ मे कर्तृत्व है, पुरुषार्थ है तो बाएँ हाथ मे विजय है, सफलता है।

हाँ, तो पुरुषार्थ जागरण की उस वेला मे भगवान ऋषभदेव ने युग को नया मोड़ दिया। मानवजाति को जो धीरे-धीरे अभावग्रस्त हो रही थी, पराधीनता के फन्दे मे फँसी तडफने लगी थी, उसे उत्पादन का मन्त्र दिया, श्रम और स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाया मानव समाज मे फिर से उल्लास और आनन्द बरसने लग गया। सुख चैन की मुरली बजने लगी।

मनुष्य के जीवन मे जब जब ऐसी सुख की घडियाँ आती है, तो आनन्द की स्रोतस्विनी बहने लगती है, वह नाचने लगता है। सबके साथ बैठकर आनन्द और उत्सव मनाता है, और बस वे ही घडियाँ, वे ही तिथिया जीवन मे पर्व का रूप लेती हैं और इतिहास की महत्वपूर्ण तिथियाँ बन जाती हैं। इस प्रकार उस नये युग का नया सन्देश जन जीवन मे नई चेतना फूँककर उल्लास का त्यौहार बन गया। और वही परम्परा आज भी हमारे जीवन मे आनन्द-उल्लास की घडियो को त्यौहार के रूप मे प्रकट करके सबको सम्मिलित आनन्द का अवसर देती है।

भगवान ऋषभदेव के द्वारा कर्मभूमि की स्थापना के बाद मनुष्य पुरुषार्थ के युग मे आया और उसने अपने उत्तारदायित्वो को समझा। परिणाम यह हुआ कि सुख समृद्धि और उल्लास के झूले पर झूलने लगा, और जब सुख समृद्धि एव उल्लास आया तो फिर पर्व मे से पर्व निकलने लगे। हर घर, हर परिवार त्यौहार मनाने लगा और फिर सामाजिक जीवन मे पर्वों, त्यौहार की लड़ियाँ बन गई। समाज और राष्ट्र मे त्यौहारो की शृ खला बनी। जीवन का क्रम जो अब तक व्यक्तिवादी दृष्टि पर घूम रहा था अब व्यष्टि से समष्टि की ओर घूमा। व्यक्ति ने सामूहिक रूप धारण किया और एक की खुशी- एक का आनन्द- सभी की खुशी और समाज का आनन्द बन गया। इस प्रकार सामाजिक भावना की भूमिका पर चले हुए पर्व, सामाजिक चेतना के अग्रदूत सिद्ध हुए। नई स्फूर्ति, नया आनन्द और नया जीवन समाज की नसों मे दौडने लगा।

प्राचीन जैन, बौद्ध एव वैदिक ग्रन्थो के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि उस समय मे पर्व, त्यौहार जीवन के आवश्यक अग बन गए थे। एक भी दिन ऐसा नही जाता, जबकि समाज मे पर्व, त्यौहार व उत्सव का कोई आयोजन नही हो। इतना ही नही, किन्तु एक-एक दिन और तिथियो मे दस दस और उससे भी बहुत अधिक पर्वो का सिलसिला चलता रहता था। सामाजिक जीवन मे बच्चो के पर्व-अलग, औरतो के पर्व अलग, और वृद्धो के पर्व अलग। इस दृष्टि से भारत का जन-जीवन बहुत ही उन्नत और आनन्दित रहा।

पर्वों का सन्देश

●

हमारे पर्वों की वह लडी, कुछ छिन्न-भिन्न हुई परम्परा के रूप मे आज भी हमे महान् अतीत की याद दिलाती है। हमारा अतीत उज्ज्वल रहा है, इसमे कोई सन्देह नही, किन्तु वर्तमान कैसा गुजर रहा है यह थोडा विचारणीय है। पर्व के पीछे सिर्फ अतीत की याद को ताजा करना ही हमारा लक्ष्य नही है, किन्तु उसके प्रकाश मे वर्तमान को देखना भी आवश्यक है। अतीत का वह गौरव जहाँ एक ओर हमारे जीवन का एक सुनहला पृष्ठ खोलता है, वहाँ दूसरी ओर नया पृष्ठ लिखने का भी सन्देश देता है। इसलिए पर्वों की खुशी के साथ-साथ हमे अपने नव जीवन के अध्याय को भी खोलना चाहिए और उसका अवलोकन करके अतीत को वर्तमान के साथ मिलाना चाहिए।

जीने की कला

●

यद्यपि जैन धर्म की परम्परा निवृत्ति-मूलक रही है। उसके अनुसार जीवन का लक्ष्य भोग नही, त्याग है। बन्धन नही, मोक्ष है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि वह सिर्फ परलोक की ही बात करता है। इस जीवन से उसने आँखे मूँद ली हो। हम इस ससार मे रहते है, तो हमे इस ससार के ढग मे ही जीना होगा, हमे जीने की कला सीखनी होगी। जब तक जीने की कला नही आती है, तब तक जीना वास्तव मे आनन्ददायक नही होता। जैन परम्परा, जैन पर्व, एव जैन विचार हमे जीने की कला सिखाते है, हमारे जीवन

को सुख और शान्तिमय बनाने का मन्त्र देते हैं। जैन धर्म का लक्ष्य मुक्ति है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उसके पीछे इस जीवन को बर्बाद कर दिया जाए। वह नही कहता है कि मुक्ति के लिए शरीर, परिवार व समाज के बन्धनों को तोड डाले, कोई किसी को अपना न माने, कोई पुत्र अपने पिता को पिता न माने पति-पत्नी परस्पर कुछ भी स्नेह का नाता न रखें, बहन भाई आपस मे एक दूसरे से निरपेक्ष होकर चलें। जीवन की यात्रा मे चलते हुए, परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्वो का भार उतार फेके इस प्रकार तो जीवन में एक भयंकर तूफान आ जाएगा, भारी अव्यवस्था और अशान्ति बढ़ जाएगी, मुक्ति की अपेक्षा स्वर्ग से भी गिरकर नरक मे चले जायेंगे। जैन धर्म का सन्देश है—जहाँ भी रहे, अपने स्वरूप को समझकर रहे, शारीरिक, पारिवारिक एव सामाजिक सम्बन्धो के बीच बँधे हुए भी उनमे कैद न हो। परस्पर एक दूसरे की आत्मा को समझकर चलें, शारीरिक सम्बन्ध को महत्व न देकर आत्मिक पवित्रता का ध्यान रखें। जीवन मे सब कुछ करना पडता है, किन्तु आसक्त होकर नही, अपितु सिर्फ एक कर्तव्य के नाते किया जाए। शरीर व इन्द्रियो के बीच मे रहकर भी उसके दास नही, किन्तु स्वामी बन कर रहे। भोग मे भी योग न भूल जाएँ। महलो मे रहकर भी उनके दास बनकर नही, किन्तु उन्हे अपना दास बनाकर रखें। ऊँचे सिहासन पर, या ऐश्वर्य के विशाल ढेर पर बैठकर उसके गुलाम न बनें, किंतु उसे अपना गुलाम बनाए रखें, जब धन स्वामी बन जाता है, तभी मनुष्य को भटकाता है। धन और पद मूर्तिमान शैतान हैं। जब तक ये इन्सान के पैरो मे दबे रहते हैं, तब तक तो ठीक हैं, यदि ये सर पर सवार हो गए तो इन्सान को भी शैतान बना देते हैं।

समाज का ऋण

●

जैन धर्म में भरत जैसे चक्रवर्ती भी रहे, किंतु वे उस विशाल साम्राज्य के बन्धन मे नही फसे। जब तक इच्छा हुई, उपभोग किया और जब चाहा तब छोडकर योग स्वीकार कर लिया। उनका ऐश्वर्य, बल और बुद्धि, समाज व राष्ट्र के कल्याण के लिए

ही होता था। उन लोगो ने यही विचार दिया कि जब हम इस जगत मे आए तो कुछ लेकर नही आए, जन्म के समय तो मक्खी मच्छर को शरीर से दूर हटाने की भी शक्ति नही थी। शास्त्रो मे उस स्थिति को 'उत्तानशायी' कहा गया है। जब उसमे करवट बदलने की भी क्षमता नही रही, इतना अशक्त और असहाय प्राणी बाद मे इतना शक्तिशाली बना, इसका आधार भी कुछ है और वह यह है कि अपने शुभ कर्मों का सचय एवं उसके आधार पर प्राप्त होने वाला माता, पिता, परिवार व समाज का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सहयोग !

यह निश्चित है कि जिन पुरुषार्थों ने हमे समाज की इतनी ऊँचाइयो पर लाकर खडा किया है, उनके प्रति हमारा बहुत बडा उत्तरदायित्व है। समाज का ऋण प्रत्येक मनुष्य के सिर पर है, वह लेते समय यदि सहर्ष लेता है, तो उसको चुकाते समय कुलबुलाता क्यो है? हमारी यह सब सम्पत्ति, सब ऐश्वर्य और ये सब सुख सामग्रियां समाज की ही देन है। यदि मनुष्य लेता ही लेता जाए, वापिस दे नही, तो वह समाज के अग मे विकार पैदा कर देता है। वह इस धन-ऐश्वर्य का दास बनकर क्यो रहे, उसका स्वामी बनकर उपयोग करे, दो हाथ उसे मिले हैं, एक हाथ से स्वय खाए तो दूसरे हाथ से औरो को खिलाए। वेद मे एक मन्त्र आता है।

शत हस्त समाहर, सहस्रहस्त सकिर।

सौ हाथ से इकट्ठा करो, तो हजार हाथ से बांटो। संग्रह करने वाला यदि विसर्जन नही करे तो उसकी क्या दशा होती है? पेट मे यदि अन्न आदि इकट्ठे होते जाएँ, न उनका रस बने, न मल का विसर्जन हो तो क्या आदमी जी सकता है? मनुष्य समाज से कमाता है तो समाज की भलाई के लिए देना भी आवश्यक होता है। खुद खाता है तो दूसरो को खिलाना भी जरूरी है। हमारे उदाहरण बताते हैं कि अकेला खाने वाला राक्षस होता है और दूसरों को खिलाने वाला देवता।

एक उदाहरण है कि एक बार देवताओ को भगवान विष्णु की ओर से प्रीतिभोज दिया गया। सभी अतिथियो को दो पक्तियो

मे आमने-सामने बिठलाया गया, भोजन परोसा गया और सभी से खाना शुरू करने का निवेदन किया गया। विष्णु ने कुछ ऐसी माया रची कि सभी के हाथ सीधे रह गए, किसी का मुडता तक नहीं था। अब समस्या हो गई कि खाएँ तो कैसे खाएँ ? जब अच्छा भोजन परोसा हुआ सामने पडा हो, पेट मे भूख हो और हाथ नही चलता हो तो ऐसी स्थिति मे आदमी झुझला जाता है। कुछ अतिथि भोचक्के से देखते रह गए कि यह क्या हुआ ? आखिर बुद्धिमान देवताओ ने एक तजबीज निकाली, जब देखा कि हाथ मुडकर घूमता नही है, तो आमने-सामने वाले एक दूसरे को सीधा ही खिलाने लग गए। दोनो पक्ति वालो ने परस्पर एक दूसरे को खिला दिया और अच्छी तरह से खाना खा लिया। जिन्होने एक दूसरे को खिलाकर पेट भर लिया वे तृप्त होकर उठे, पर कुछ जो थे वे यो देखते ही रह गए, उन्हे एक दूसरे को खिलाने की नहीं सूझी और भूखे ही उठ खडे हुए। विष्णु ने कहा—जिन्होने एक दूसरे को खिलाया वे देवता हैं और जिन्होने किसी को नही खिलाया, सिर्फ स्वय खाने की चिन्ता ही करते रहे वे राक्षस हैं।

वास्तव मे यह रूपक जीवन की एक ज्वलत समस्या का हल करता है। देव और राक्षस के विभाजन का आधार इसमे एक सामाजिक ऊँचाई पर खडा किया गया है। जो दूसरो को खिलाता है, वह स्वय भी भूखा नही रहता और दूसरी बात है कि उसका आदर्श देवत्व का आदर्श है, जबकि स्वय ही पेट भरने की चिता मे पडने वाला, स्वय भी भूखा ही रहता है और समाज मे उसका दानवीय रूप प्रकट होता है।

पर्व की सार्थकता

●

हमारे पर्व जीवन के इसी महान उद्देश्य को प्रकट करते हैं। सामाजिक जीवन की आधार भूमि और उसके उज्वल आदर्श हमारे पर्वों व त्योहारो की परम्परा मे छिपे पड़े हैं। भारत के कुछ पर्व इस लोक के साथ परलोक के विश्वास पर भी चलते हैं। उनमे मानव का विराट् रूप परिलक्षित होता है। जिस प्रकार इस लोक

का हमारा आदर्श है उसी प्रकार परलोक के लिए भी होना चाहिए। वैदिक या अन्य सस्कृतियो मे मरने के पश्चात् पिण्ड-दान की प्रक्रिया की जाती है। इसका रूप जो भी कुछ हो, किंतु भावना व आदर्श इसमे भी बड़े ऊँचे हैं। जिस प्रकार अपने सामाजिक सहयोगियों के प्रति अर्पण की भावना रहती है, उसी प्रकार अपने पूर्वजों के प्रति एक श्रद्धा और समर्पण की भावना इसमे सन्निहित है। जैन धर्म व सस्कृति इसके धार्मिक स्वरूप मे विश्वास नहीं रखती। उसका कहना है कि तुम पिण्डदान या श्राद्ध करके उन मृतात्माओ तक अपना श्राद्ध नही पहुँचा सकते, और न इससे पर्व मनाने की ही सार्थकता होती है। पर्व की सार्थकता तो इसमे है कि जीवन के दोनो ओर छोर पर उल्लास और आनन्द की उछाल आती रहे।

इस भावना को लेकर कि परलोक के लिए भी हमे जो कुछ सोचना है, करना है, वह इसी लोक मे कर लिया जाए, हमारी जैन सस्कृति मे अनेक पर्व चलते हैं। पर्युषण-पर्व भी इसी भावना से सम्बद्ध है। इन पर्वों की परम्परा लोकोत्तर पर्व के नाम से चली आती है। इनका आदर्श विराट् होता है। वे लोक-परलोक दोनो को आनन्दित करने वाले होते हैं। उनका सदेश होता है कि तुम सिर्फ इस जीवन के भोग विलास व आनन्द में मग्न होकर अपने को भूलो नही, तुम्हारी दृष्टि व्यापक होनी चाहिए, आगे के लिए भी जो कुछ करना है, वह भी यही करलो। तुम्हारे दो हाथ हैं, एक हाथ मे इहलोक के आनन्द हैं तो दूसरे हाथ में परलोक के आनन्द रहने चाहिए। ऐसा न हो कि यहाँ पर सिर्फ मौज-मजा के त्यौहार मनाते यो ही चले जाओ और आगे फाकाकशी करनी पड़े। अपने पास जो शक्ति है, सामर्थ्य है, उसका उपयोग इस ढग से करो कि इस जीवन के आनन्द के साथ परलोक का आनन्द भी नष्ट न हो, उसकी भी व्यवस्था तुम्हारे हाथ मे रह सके। जैन पर्वों का यही अन्तरग है, कि वे आदमी को वर्तमान मे भटकने नही देते, मस्ती मे भी उसे होश मे रखते हैं और बेचैनी मे भी। समय-समय पर उसके लक्ष्य को जो कभी प्रमाद की आँधियो से धूमिल हो जाता है, स्पष्ट करते रहते हैं। उसको दिङ्मूढ होने से बचाते रहते हैं और प्रकाश की किरण बिखेर कर अन्धकाराछन्न जीवन को आलोकित करते रहते हैं।

नया साम्राज्य

●

त्रिपिटक साहित्य मे एक कथानक आता है, कि भारत में एक ऐसा सम्राट था, जिसके राज्य की सीमाओ पर भयंकर जगल थे जहाँ पर हिंस्र वन्य पशुओ की चीत्कारो और दहाड़ो से आस-पास के क्षेत्र आतकित रहते। वहाँ एक विचित्र प्रथा यह थी कि राजाओ के शासन की अवधि पाँच वर्ष की होती। शासनावधि की समाप्ति पर बड़े धूम-धाम और समारोह के साथ उस राजा को और उसकी रानी को राज्य की सीमा पर अवस्थित उस भयकर जगल मे छोड दिया जाता था, जहाँ जाने पर बस मौत ही स्वागत मे खड़ी रहती थी।

एक राजा को जब गद्दी मिली तो खूब जय-जयकार मनाए गए, बडी धूमधाम से उसका उत्सव हुआ। किन्तु राजा प्रतिदिन महल के कगूरो पर से उस जगल को देखता और पाँच वर्ष की अवधि के समाप्त होते ही आने वाली उस स्थिति को सोच-सोचकर काँप उठता। राजा का खाया-पीया जलकर भस्म हो जाता, और वह सूख-सूख कर काँटा होने लग गया।

एक दिन कोई बूढ़ा दार्शनिक राजा पास आया और राजा की इस गम्भीर व्यथा का कारण पूछा—जब राजा ने दार्शनिक से अपनी पीडा का भेद खोला—कि पाँच वर्ष बाद मुझे और मेरी महारानी को सामने के जगल मे जगली जानवरो का भक्ष्य बन जाना पड़ेगा, बस यही चिता मुझे मारती है।

दार्शनिक ने राजा से कहा—पाँच वर्ष तक तो तेरा अखण्ड साम्राज्य है ? तू चाहे जैसा कर सकता है ?

राजा ने कहा—हाँ, इस अवधि मे तो मेरा पूर्ण अधिकार है, मेरा आदेश सभी को मान्य होता है।

दार्शनिक ने बताया तो फिर अपने अधिकार का उपयोग क्यो नही किया जाए ! उन समस्त जगलों को कटवा कर साफ करवा दो और वहाँ पर नया साम्राज्य स्थापित करदो, अपने लिए महल बनवालो, जनता के रहने के लिए भी आवास बनवाकर अभी से उस जगल को शहर के रूप मे आबाद करदो। जबकि तुम्हे पूर्ण अधिकार है और विधान व परम्परा के अनुसार जब

तुम्हे अवधि समाप्त होने पर जगल मे छोड़ा जाए तो हिंस्र पशुओं की गर्जनाओ व आतक की जगह नागरजनो का मधुर स्वागत, धन व ऐश्वर्य क्रीड़ा करता मिलेगा।" राजा को यह बात जच गई और तत्काल आदेश देकर जगल को साफ करवा दिया, वहाँ पर सुन्दर सुन्दर भवन, उद्यान आदि से नगर को खूब ही सजा दिया गया अब राजा बहुत प्रसन्न रहने लगा, अपने उस नगर का देखता तो पुलकित हो उठता। पांच वर्ष की अवधि सम्पूर्ण हुई। जहाँ अन्य सम्राट् अवधि समाप्त होने पर रोते बिलखते थे, वहाँ यह हँस रहा था। विधानानुसार पाँच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर राजा अपने ही द्वारा निर्मित उस नये साम्राज्य मे जो कभी भयकर जगल था, जाने लगा तो नगर के हजारो नर-नारी उसके पीछे हो गए। उस नवनिर्मित नगर के आकर्षण व सौन्दर्य के कारण लोग वहाँ जाकर वसने लगे और राजा आनन्द से रहने लगा।

यही बात जीवन की है। इस ससार से परे आगे नरक की भीषण-यातनाएँ, ज्वालाएँ हमे अभी से बेचैन कर रही हैं और हम सोचते हैं कि आगे नरक मे यह कष्ट देखना पड़ेगा। किन्तु यह नही सोचते कि उस नरक को वदलकर स्वर्ग क्यो न बना दिया जाए! यह सच है कि यहाँ से एक कौडी भी हमारे साथ नही जाएगी। किंतु इस जीवन मे रहते-रहते तो हम वहाँ का साम्राज्य बना सकते हैं। इस जीवन के तो हम सम्राट् हैं, शाहँशाह हैं। यह ठीक है कि इस जीवन के वाद मौत की भयकर घाटी है, नरक आदि की भीषण यन्त्रणाएँ हैं, जो जीव को उदरस्थ करने की प्रतीक्षा मे रहती हैं, किन्तु यदि मनुष्य अपने इस जीवन की अवधि मे दान दे सके, तपस्या कर सके, त्याग, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि का पालन कर सके, साधना का जीवन बिता सके, और इस प्रकार पहले से ही आगे की तैयारियाँ करके प्रस्तुत रहे तो इस ससार की यात्रा मे, इस जीवन मे उसे हाय-हाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। यह वर्तमान के साथ भविष्य को भी उज्ज्वल वना सकता है, उसके दोनो जीवन आनन्दमय हो सकते हैं।

पर्युषण की फलश्रुति

●

इस प्रकार जितने भी पर्व, त्यौहार आते हैं, उनका यही सदेश

हैं कि तुम इस जीवन मे आनन्दित रहो और अगले जीवन मे भी आनन्दित रहने की तैयारी करो। जिस प्रकार यहाँ पर त्यौहारो की खुशियों मे भुजाएँ उछालते हो, उसी प्रकार अगले जीवन मे भी तुम उछालते रहो।

पर्युषणपर्व लोगो से कहता है कि आज तुम्हें जीवन का वह साम्राज्य प्राप्त है, जिस साम्राज्य के बल पर तुम दूसरे हजार-हजार साम्राज्य खड़े कर सकते हो। तुम अपने भाग्य के स्वय विधाता हो, अपने सम्राट् स्वय हो। तुम्हे अपनी शक्ति का ज्ञान होना चाहिए। मौत के भय से कांपते मत रहो, किन्तु ऐसी साधना करो, ऐसा प्रयत्न करो कि वे भय दूर हो जाएँ और परलोक का वह भयकर जगल तुम्हारे साम्राज्य का सुन्दर देश बन जाए। पर्व मनाने की यही परम्परा है, पर्युषण की यही फलश्रुति है कि जीवन के प्रति निष्ठाशील बनकर जीवन को निर्मल बनाओ, इस जीवन मे अगले जीवन का प्रबन्ध करो। जब तुम्हे यहाँ की अवधि समाप्त होने पर आगे की ओर प्रस्थान करना पड़े तो रोते बिलखते नही, किन्तु हँसते हुए करो। साधक इस जीवन को भी हँसते हुए जीए और अगले जीवन को चले तो भी हँसते हुए चले, पर्युषण का यह पर्व हम सबको अपना यही सन्देश सुना रहा है।

पर्युषण पर्व आत्म-साधना का पर्व है। अन्दर के सुप्त ईश्वरत्व को जगाने का पर्व है। मानव शरीर नही है, आत्मा है, चैतन्य है, अनन्त गुणो का अखण्ड पिण्ड है। लोक-पर्व शरीर के आसपास घूमते हैं, किन्तु लोकोत्तर पर्व आत्मा के मूल केन्द्र तक पहुँचते हैं। पर्युषणपर्व शरीर से आत्मा मे, और आत्मा से अन्त रहित निज शुद्ध सत्तारूप परमात्मा मे पहुँचने का लोकोत्तर पर्व है। पर्युषण-पर्व का सन्देश है कि साधक कही भी रहे, किसी भी स्थिति मे रहे, परन्तु अपने को न बदले, अपने अन्दर के शुद्ध परमात्मा-तत्त्व को न भूले।

उपाध्याय अमरमुनि

विद्या-दान

राजगृह के उत्तर पूर्व मे एक उद्यान था। उस उद्यान मे तरह-तरह के सुरम्य और सुगन्धित पुष्प खिले रहते थे। प्रत्येक ऋतु मे फलने वाले विशाल आम्रवृक्ष लहलहाते थे। स्थान-स्थान पर जल-कुण्ड बने हुए थे, जिनमे नीलोत्पल और शतदल कमल खिले हुए थे। उद्यान की अद्भुत छटा प्रत्येक ऋतु मे सुहावनी और दर्शनीय थी। उपवन के मध्य भाग मे एक स्तर पर निर्मित एक नयनाभिराम भव्य प्रासाद मगध की समृद्धि और कला कौशल का गौरव लिए खड़ा था। प्रासाद के उपरिभाग मे बैठी महारानी चेलना ऐसी लगती थी, मानो पद्म सरोवर के बीच महालक्ष्मी श्वेतकमल पर बैठी लीला-विलास कर रही थी।

राजगृह में मातंग नामक चाडाल रहता था। वह परम्परागत छोटी मोटी कई विद्याएँ व जादूटोने की कलाओ मे निपुण था। एक वार उसकी पत्नी विरुपा को दोहद के रूप मे आम खाने का सकल्प उठा। पति से उसने अपनी इच्छा बताई तो वह एक क्षण चिन्तित हो गया। "इस शरद् ऋतु मे आम ?" मातग के मु ह से सहसा निकल पड़ा, पर दूसरे ही क्षण उसने अपने आपको सभाल लिया। "पत्नी को गर्भ प्रभाव से दोहद उत्पन्न हुआ है, तो उसे पूरा करना ही चाहिए, गर्भवती की इच्छा का तिरस्कार हुआ, तो वह लू से झुलसी हुई कमलिनी की तरह जल जायेगी।" मातंग ने विचार किया, और दोहद को पूरा करने की चिन्ता मे डूब गया।

"तुम अपनी विद्या और वीरता की शेखियाँ मारते फिरते हो, आज पत्नी की इतनी सी माँग पर चेहरे का रँग उड़ गया"—विरुपा ने आँखें मटका कर कहा।

"वीरू ! तुम्हारी इच्छा इतनी विचित्र है कि वह विद्या और वीरता की पकड मे नही आ सकती। शरद् ऋतु मे आम आये तो कहाँ से ? क्या स्वर्ग के नन्दनवन से तोडकर लादूँ ?"

"बस, पता चला तुम्हारी बातो के पर कितने बड़े हैं ? कहते हो, महाराज श्रेणिक के उद्यान मे सब ऋतुओ मे फलने वाले आम लगे हैं, बडी सोंधी-सौंधी गन्ध महकती है। आज समझी तुम्हारी ये सब बच्चो को लुभाने की बातें थी,"—विरुपा ने कहा।

"आम तो लगे हैं, यह सही है। उधर से निकलता हुआ रोज देखा करता हूँ, मुँह मे पानी भी छूट आता है। पर मैं वहाँ से कैसे तोड सकता हूँ। कितना कडा पहरा लगा रहता है, उद्यान के बाहर नगी तलवार लिए पहरेदार घूमते रहते हैं। महाराज के उद्यान की चोरी ? यदि पकडा गया तो पूरे परिवार को सूली की नोक पर चढ़ा दिया जाएगा" मातग की आवाज थर-थर काँप रही थी।

विरुपा का चेहरा फीका पड गया, उसकी पलकें भीग गईं, अधूरी इच्छा की आग मे घुलते रहना ही उसके भाग्य में लिखा है। धीरे-धीरे उसकी सास गर्म हो गई, वह सिसकने लगी।

पत्नी के मन की पीडा पति से नहीं देखी गई। उसका पुरुषार्थ लज्जित होने लगा। मातग रात के अँधियारे मे चुपचाप घर से निकल पडा। उद्यान के चारों ओर चक्कर लगाते हुए वह एक किनारे पर पहुँचा। सामने आमों से लदे वृक्ष गदराए खड़े थे। मातग एक पहाडी पर ऊँचा चढ गया। आकर्षणीविद्या का मंत्र पढ़कर हाथ वृक्ष की ओर बढाया और एक पका हुआ आम उसके हाथ मे आ गया, जैसे कि सामने से आती गेद हाथ मे थम गई हो।

आम लेकर मातग उलटे पावो अपनी झोपडी मे लौट आया। भीनी-भीनी आम की गध से झोपडी के चारो कौने गमक उठे। विरूपा की आँखें नाचने लग गईं। पलकें स्नेह और प्यार के भार से दब गई, कनखियो से मातग को देखकर वह पुलक उठी।

आम का चस्का लगा तो छूटा नही। मातग प्रतिदिन रात को जाता और दूर पहाडी पर खडा होकर आम को आकर्षण कर उतार लेता। पत्नी की प्रसन्नता के लिए वह जान पर खेलने लग गया।

उद्यान के रक्षक माली ने देखा कि रोज पके-पके आम उतर जाते है और चोर का पता भी नहीं लगता। "चोर तलवार की नोंक के बीच से उद्यान मे घुसकर रोज चोरी कर जाता है कितनी बडी हिम्मत है यह ?"

माली ने महाराज से निवेदन किया तो सुनकर आग बबूला हो गए। इतना बड़ा दु.साहस ! मगधेश के प्रिय उद्यान में भी चोरी ! आज उद्यान हैं, तो कल राजप्रासाद पर भी हाथ साफ कर सकता है। मगधेश ने महामत्री अभयकुमार को बुलाया। सक्षेप मे आम की चोरी की घटना सुनाकर बोले—"अभय, यह फिर कौन नया रौहिणेय प्रकट हो रहा है ? क्या राजगृह इसी प्रकार चोर लुटेरो के आतक से त्रस्त होता रहेगा ?"

अभयकुमार की मूंछो पर बल पड़ गए। उसने प्रतिज्ञा की कि सप्ताह के भीतर-भीतर चोर को पकड़कर महाराज के समक्ष उपस्थित कर दूँगा।

उद्यान के चारो ओर नगी तलवारो का पहरा लग गया। रात भर सैनिक घूमते रहे। पर सुबह हुआ तो पता लगा कि सदा की भांति आज भी आम चोरी हो गये। चोर किधर से घुसता है और किधर निकलता है, कोई नहीं जान सका। चोरी एक रहस्य बन गई।

अभय के मुख पर चिन्ता की रेखाएँ उभर आई। रोहिणेय को पकडते-पकडते उसके नाको मे दम आ गया था। अभी उस परेशानी का भार सिर से अच्छी तरह हटा नही था कि यह नया सिरदर्द खड़ा हो गया।

चोर को पकड़ने के लिए नये-नये प्रयोग होते रहे, पर सब निष्फल ! आखिर अभयकुमार का विचार मथन इस निर्णय पर पहुँचा कि चोर कोई साधारण नही, अति रहस्यमय व्यक्ति है। अतः वह सैन्यबल से पकड़ मे नही आ सकेगा ? किसी छलबल या बुद्धिबल का प्रयोग करके ही सफलता प्राप्त की जा सकती है।"

अभय रात मे वेश बदलकर अकेला ही घोड़े पर चढ़कर राजगृह की छोटी-[illegible] बस्तियों मे घूमने लगा। जैसे वह चोर को पकड़ने के लिए हर [illegible] सूंघ-सूंघकर परख रहा हो।

राजगृह के बाहर, जहाँ शहर का गन्दा नाला बह रहा था, उसी एक किनारे पर कुछ शूद्र, चांडालो की गन्दी बस्ती थी। अभय कुमार घूमता घामता उधर आ निकला। बस्ती मे क्षीण प्रकाश टिमटिमा रहा था। मनुष्यो के झुंड नाच-गा रहे थे। दिन भर कडा परिश्रम करने वाले दीन गरीबो के मनोरजन का यही समय था। खाना पीना निपटाकर किसी चौराहे पर एकत्र होकर, शराब पीते, नाचते उछलते-कूदते गाते और उन्मुक्त वातावरण में मस्ती की सास लेते।

मध्य रात्रि होने को थी। सब लोग शराब की मस्ती में छके हुए थे, नृत्य और सगीत का अजब समा बधा था कि स्वर लहरियाँ हवा में तैर रही थी, कुछ पुरुष नाच रहे थे कि तभी किसी अनजान घुडसवार को आते देखकर सबके सब चकित-से रह गये।

अभय उस नृत्यमडली के पास आया तो एक बूढे ने पूछा—"कौन हो तुम ?" घुडसवार ने बडी मीठी आवाज में कहा—"बाबा परदेशी हूँ। इधर से नगर में जा रहा था कि तुम्हारे गावे की मधुर तान यहां खीच लाई। इस पर बूढे ने परदेशी को बैठने के लिए कहा तो—अभय मण्डली के बीच जमकर बैठ गया। फिर कहकहा शुरू हो गया। नृत्य समाप्त हुआ तो अभय ने कहा—"मित्रो! लो मैं भी तुम्हे एक अद्‌भुत कहानी सुनाता हूँ, अपनी-अपनी सही राय देना।"

सभी लोग फिर जमकर बैठ गए। उनमे कुछ बूढे थे, बाकी अधिकतर जवान थे, हट्टे कट्टे। शराब की मस्ती में झूम रहे थे। उनके मुंह से बडी बदबू छूट रही थी, अभय का जी मिचलने लगा, किंतु वह आसन जमाकर बैठ गया जैसे उसे लगा कि बस चोर इसी झुंड में कोई बैठा है।

मडली के पीछे एक कद्दावर जवान बैठा था, उसकी आखें चंचल हो रही थी, वह रह रह कर आकाश की ओर देख रहा था। कभी-कभी अंधेरे में काफी दूर तक गहरी नजर फेंक देता था, जैसे कहीं जाने की प्रतीक्षा है! समय आवाज दे रहा है। अभय ने उस जवान मे विचित्र भावभंगी देखी।

अभय ने अपना कठ खरखराया और कहानी शुरू की—'एक

सुन्दर कन्या थी, वह प्रतिदिन कामदेव की पूजा के लिए एक उद्यान से सुन्दर-सुन्दर फूल व कोमल कलियाँ चुराकर लाती थी। एक दिन माली ने उसे देख लिया, तो रास्ता रोककर खड़ा हो गया। कन्या घबराई, फूल चुराती रगे हाथो पकडी जो गई थी। वह विनम्रता के साथ माली से क्षमा माँगने लगी। माली ने गर्जकर कहा—'नहीं, मैं तुम्हे पकड़कर राजा के समक्ष उपस्थित करूँगा।" अब तो कन्या वाताहत पत्र की भाँति भय से थर-थर कापने लगी और गिड़गिडा कर क्षमा मागने लगी। माली उसके सौन्दर्य पर झूम गया था, उसने कहा—"मैं तुम्हे तब छोड सकता हूँ, जबकि तुम मेरे साथ सहवास करो।" माली का प्रस्ताव सुनकर कन्या का अग-अग कांप उठा। माली आगे बढ़ आया। विषय मे अन्धा होकर कन्या को बलात् पकड़ने लगा, तो कन्या ने कहा—"देखो, अभी मैं कुआरी हूँ। अभी मुझे छुआ तो मेरा जीवन भ्रष्ट हो जाएगा। मुझे छोड़ दो, नहीं, तो मैं जीभ खींचकर इसी क्षण यही मर जाऊँगी।"

मरने की धमकी सुनकर माली थोडा सा पीछे हट गया, बोला-"मैं तुम्हारे अस्पृष्ट सौन्दर्य का आनन्द लेना चाहता हूँ, एक दिन मेरे साथ संसर्ग करना पड़ेगा।"

कन्या ने कहा—"विवाह होने के बाद मैं पहली रात अवश्य तुम्हारे पास आ जाऊँगी, तब तुम जैसा कहोगे, करलूँगी। अभी मुझे छोडदो, मैं कुंआरी हूँ। मेरा जीवन बर्बाद मत करो।'

माली को कन्या की दीनता पर तरस आ गया और उसने पहली रात पर आने का वचन लेकर उसे छोड़ दिया।

कहानी कहते-कहते अभय एक क्षण रुक गया। सब की दृष्टि उसके मुस्कराते चेहरे पर गडी थी, किन्तु अभय ने देखा कि पीछे बैठा युवक बार-बार सुदूर आकाश मे टिमटिमाते ध्रुव की दिशा मे देख रहा है।

अभय ने खंखारते हुए गला साफ किया, और कहानी आगे शुरू की, 'और एक दिन कन्या का विवाह हो गया। हँसी-खुशी पति के घर पहुँची। पहली रात में सोलह शृंगार सजकर, पति की शैया के पास गई और ठिठक कर खडी हो गई। पति ने नवोढा पत्नी को ज्योंही शय्या पर बैठने को कहा तो उसने हाथ जोडकर निवेदन

किया—"देव ! विवाह से पूर्व मैं एक माली को अमुक परिस्थिति मे वचन दे चुकी हूँ, आज की रात मुझे उसके पास जाना ही पड़ेगा, स्वामी ! आपके चरण पकडती हूँ, मेरी प्रतिज्ञा भग न हो, मुझे जाने की आज्ञा दीजिए।"

सभा मे सन्नाटा छा गया, अभय ने पूछा—"क्यो जी ! उसे जाने देना चाहिए ?"

एक साथ सबके स्वर गूँज उठे—"नही ! नही !"

अभयकुमार ने कहा—आप नही नही करते हैं, मगर पति ने कुछ देर सोचा और फिर जाने की आज्ञा दे दी। कन्या उसी वेश मे आभूषणो से लदी हुई माली के पास जाने को निकल गई। गाव से बाहर निकली कि उसे कुछ चोर मिल गए। अकेली स्त्री और बहुमूल्य आभूषणो से सजी हुई छम-छम करती गुजर रही थी, तो चोरो ने रोक लिया। उससे आभूषण उतारने को कहा। लडकी ने हाथ जोड़कर कहा—"भाई ! मैं अभी इसी स्थिति में अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने जा रही हूँ, कृपा करके अभी मेरे आभूषण यो ही रहने दो, वहा से लौटते समय मैं एक-एक आभूषण तुमको दे दूँगी।

कन्या की बात मे सच्चाई थी। चोरो पर उसका असर हुआ और उन्होंने उसे छोड दिया, इस विश्वास पर कि कोई बात नहीं, लौटते समय उतार लेगे।

तभी अभय ने देखा कि पीछे बैठा मासल भुजाओ वाला जवान दात किटकिटाकर नुकीली मूँछो पर बट लगा रहा था।

"हां, तो वह कन्या आगे एक जंगल मे पहुँची, वहाँ एक भयकर राक्षस मिला, वह ही-ही करता उसके सामने आकर अट्टहास करने लगा। कन्या देखकर डरी नही, हाथ जोडकर अपनी प्रस्तुत कहानी सुनाने के बाद कहने लगी—"देव ! मैं इस परिस्थिति मे हूँ, अपना वचन पालन करने के लिए बाध्य हूँ, इसलिए अभी आप मुझे जाने दीजिए, आते समय आप भले ही खा लेना, मैं स्वय आपके चरणो मे आ जाऊँगी।"

कन्या की बात का राक्षस के हृदय पर भी असर पड़ा, उसे इसकी सरल बातें बनावटी नही लगी। राक्षस ने कहा—'अच्छा, आते समय तुम्हारा भक्ष्य लूँगा, जाओ।"

लड़की चलती-चलती माली के द्वार पर पहुँची। माली तो नींद में सो रहा था। उसे तो इस बात की कल्पना भी नही थी कि वह आएगी, ज्योंही कन्या ने द्वार खटखटाया तो वह बड़बड़ाता उठा; सामने-अप्सरा-सी देवी को खडा देखकर सहम गया।

कन्या ने माली को अपना पूर्व वचन याद दिलाते हुए कहा—"मेरा विवाह हो गया है। आज मेरी सुहागरात है, अतः अपना दिया हुआ वचन पूरा करने के लिए पति की आज्ञा लेकर मैं तुम्हारे पास आई हूँ। मार्ग मे मिले चोर और राक्षस भी मेरी राह देख रहे हैं। मुझे जल्दी लौटना है।"

माली तो कब का भूल चुका था उस बात को। वह आवेश के क्षण की बहक थी, अभी उसका मन स्थिर और शान्त था। उसने आज कन्या के हृदय मे छिपी महानता और दिव्य साहस को देखा तो चकित रह गया। वह देवी उसे माँ के रूप में प्रतीत हुई, माली उसके चरणो मे गिर पड़ा। आंसुओ से उसके चरण पखाले और अपनी नोचता के लिए क्षमा माँगी।

कन्या लौट चली। मार्ग मे वही राक्षस मिला। स्त्री ने अपने को उसके हाथ मे सौपते हुए कहा—"देवता, मैं आ गई हूँ, अब अपनी क्षुधा जैसे भी चाहो, तृप्त कर सकते हो।"

राक्षस को बडा आश्चर्य हुआ, उसने पूछा—'क्या बात हुई? माली को तृप्त कर दिया?'

कन्या ने सब बात सुनाई। राक्षस का हृदय भी पसीज उठा "ऐसी सत्य-प्रतिज्ञ और साहसी नारी का भोग लूँ? नही, यह तो धरती की देवी है।" राक्षस ने उसे बेटी कहकर पुकारा और छोड़ दिया।

अभय कहता-कहता रुक गया। देखा कि कुछ सामने बैठे दुबले-पतले आदमी आश्चर्य से आखें भीतर गड़ाए जा रहे थे।

कहानी आगे शुरू की—'वह लड़की चलती-चलती वापस नगर के पास पहुँची तो द्वार पर ही चोरी करके लौटते हुए वे चोर मिल गए। लड़की ने ज्योंही उनके सामने आकर अपने आभूषण रखने चाहे कि चोरो ने आश्चर्य से पूछा—'आगे क्या हुआ?'

लड़की ने माली और राक्षस के हृदय परिवर्तन की बात सुनाई

तो चोरो का देवत्व जागृत हो उठा। कहा—"देवी, तुम नारी नही हो, सचमुच ही देवी हो! इतना महान साहस, मनोबल और सच्चाई!" चोरों ने श्रद्धा से सिर झुका दिए और अपनी बहन बना कर विदा की।

कन्या सानन्द अपने पति के पास आ गई। पति ने अपनी नवोढा पत्नी की राहबीती सुनी तो गर्व से उसकी छाती फूल गई। उसने अपने विश्वास को सही पाया। वह पत्नी पर अत्यन्त स्नेह शील हो गया।"

बात पूरी करके अभयकुमार ने सामने बैठे लोगो को देखा। इधर उधर बिखरे छितरे बादलो से छनती हुई चादनी मे उनके चेहरे पर चमकते हुए मनोभाव साफ पढे जा सकते थे। कुछ बूढे ऊँघने लग गए थे, पर युवक बड़े ध्यान से कहानी सुनकर उस पर जैसे कुछ सोच रहे थे।

अभयकुमार ने पूछा—"बताओ! सबसे बड़ा काम किसने किया? पति ने, माली ने, राक्षस ने या चोरो ने?"

पुरुष के सत्त्व पर गर्व करने वाले कुछ बूढे मूछो पर बट देते हुए बोले—"सबसे बड़ा काम पति ने किया।"

तभी कुछ नौजवान बात को काटते हुए बोल पड़े—"नही जी, सबसे कठिन और महान त्याग माली ने किया। यो द्वार पर आयी सुन्दर नवयुवती को लौटा देना कितना बड़ा काम है।"

कुछ लोग ऐसे भी बैठे थे, जिनके पेट मे चूहे दड पेल रहे थे। भूख को बडी विकट मानते थे, वे बोले—"भोजन की थाली परोसी हुई सामने आने पर ठुकरा देना कितना बड़ा काम है, राक्षस ने ही सबसे बडा काम किया है।"

तभी पीछे बैठा एक नौजवान आवेश से कांपती हुई आवाज मे बोल पडा—"सबसे बड़ा काम तो चोरों ने किया है। यो सामने माल पड़ा देखकर छोड़ देना कितना बड़ा काम है।"

अभयकुमार एक ठहाका लगाकर खूब जोर से हँस पड़ा। वह उठा, जवान के कन्धे को झकझोरते हुए चांदनी के उज्ज्वल प्रकाश में उसके चेहरे को देखा—"धन्यवाद युवक! तुमने बिल्कुल ठीक कहा" अभयकुमार ने हसते-खिलते क्षणो मे उसका अता पता ले लिया।

तो चोरों का देवत्व जागृत हो उठा। कहा—"देवी, तुम नारी नही हो, सचमुच ही देवी हो! इतना महान साहस, मनोबल और सच्चाई!" चोरों ने श्रद्धा से सिर झुका दिए और अपनी बहन बना कर विदा की।

कन्या सानन्द अपने पति के पास आ गई। पति ने अपनी नवोढा पत्नी की राहबीती सुनी तो गर्व से उसकी छाती फूल गई। उसने अपने विश्वास को सही पाया। वह पत्नी पर अत्यन्त स्नेह शील हो गया।"

बात पूरी करके अभयकुमार ने सामने बैठे लोगो को देखा। इधर उधर बिखरे छितरे बादलो से छनती हुई चांदनी मे उनके चेहरे पर चमकते हुए मनोभाव साफ पढे जा सकते थे। कुछ बूढे ऊँघने लग गए थे, पर युवक बड़े ध्यान से कहानी सुनकर उस पर जैसे कुछ सोच रहे थे।

अभयकुमार ने पूछा—"बताओ! सबसे बड़ा काम किसने किया? पति ने, माली ने, राक्षस ने या चोरो ने?"

पुरुष के सत्त्व पर गर्व करने वाले कुछ बूढे मूछो पर बट देते हुए बोले—"सबसे बड़ा काम पति ने किया।"

तभी कुछ नौजवान बात को काटते हुए बोल पड़े—"नही जी, सबसे कठिन और महान त्याग माली ने किया। यो द्वार पर आयी सुन्दर नवयुवती को लौटा देना कितना बड़ा काम है।"

कुछ लोग ऐसे भी बैठे थे, जिनके पेट में चूहे दड पेल रहे थे। भूख को बड़ी विकट मानते थे, वे बोले—"भोजन की थाली परोसी हुई सामने आने पर ठुकरा देना कितना बड़ा काम है, राक्षस ने ही सबसे बड़ा काम किया है।"

तभी पीछे बैठा एक नौजवान आवेश से कांपती हुई आवाज मे बोल पड़ा—"सबसे बडा काम तो चोरो ने किया है। यो सामने माल पडा देखकर छोड देना कितना बड़ा काम है।"

अभयकुमार एक ठहाका लगाकर खूब जोर से हँस पड़ा। वह उठा, जवान के कन्धे को झकझोरते हुए चांदनी के उज्ज्वल प्रकाश में उसके चेहरे को देखा—"धन्यवाद युवक! तुमने बिल्कुल ठीक कहा" अभयकुमार ने हसते-खिलते क्षणो मे उसका अता पता ले लिया।

रात बहुत हो चुकी थी, सब लोग उठ-उठकर अपने घर चले गए। अभयकुमार भी अपने महलों में पहुँचा। पर, रातभर नींद नही आई। सूर्य की पहली किरण फूटते ही महामात्य के निर्देश पर सेवकों ने मातग चंडाल को पकड कर राजसभा में उपस्थित किया।

मातंग ने अभयकुमार को सामने देखा तो रात की कहानी उसे याद हो आई। यह वही परदेशी है, जिसने कहानी सुनाई थी, और चोरो की वात पर मेरे कन्धे को खूब जोर से झकझोरा था। उसके पैरों तले से धरती खिसकने लग गई।

अभयकुमार नें मातंग को एकान्त में लेकर पूछा—"मातग! सच बताओ, उद्यान के आम कैसे चुराते हो?" अभय के प्रश्न पर मातंग को जैसे सांप सूँघ गया। उसे लगा, वह रगे हाथो पकडा गया है। महामात्य अभय के चक्र से छूटना असम्भव है। गिडगिड़ाकर महामात्य के चरणों मे गिर पडा। अपनी भूल पर क्षमा मांगने लगा और पत्नी के दोहद की विवशता वताते हुए आम चुराने की सारी कहानी कह सुनाई।

महामात्य ने मातग को मगधनरेश की सभा मे उपस्थित किया। मगधपति ने एक चाडाल को आम्रचौर के रूप मे देखा तो कडकडाती हुई आवाज मे वोले—"दुष्ट, कैसे किया इतना दुस्साहस? जानते हो मगध का न्याय सिहासन और सब कुछ क्षमा कर सकता है, पर चोरी और परदारहरण के दुष्कर्म को कभी क्षमा नहीं कर सकता। इस दुस्साहस की शिक्षा है—प्राणदंड।"

सम्राट के क्रोध को देखकर मातग के शरीर में कप-कपी छा गई। वह गिडगिडाकर क्षमा मांगने लगा।

मगधेश का हृदय सज्जनो के सरक्षण के लिए जितना दयाशील था, उतना ही दुष्टों का निग्रह करने मे कठोर, वज्र से भी अधिक कठोर!

महामात्य अभय ने मातग के मनोभावो को पढ़ा—"स्तेन कर्म, मातग का व्यवसाय नही है। जो कुछ भी विवशतावश ही हुआ है, विवशता मिटी तो वृत्ति सुधर गई। अव उसे पश्चात्ताप हो रहा है, वह सुधर सकता है। फिर निरर्थक ही एक मनुष्य के प्राणों को क्यो लूटा जाए? क्यो एक परिवार को अनाथ किया जाए? पर सम्राट

से उसे मुक्त करने के लिए कहे भी तो कैसे ?" अभय को एक मार्ग सूझ गया।

"महाराज ! चोर को प्राणदड दिया जा रहा है, कुछ ही क्षणों मे यह ससार से चला जाएगा, किन्तु इसके साथ यह विद्या भी चली जाएगी। विद्या तो अमूल्य सम्पत्ति है, इसे लुप्त होने से बचाना चाहिए। आप मातग की विद्या ले लीजिये !" अभयकुमार ने मगधेश से प्रार्थना की।

"अभय ! तुम ठीक कह रहे हो, उत्तम विद्या तो नीच से भी सीख लेना चाहिए। "नीचादप्युत्तमाविद्या" "अच्छा, मातग हमें अपनी विद्या सिखलाओ"—मगधेश बोले।

मातग ने अपना विद्या-मत्र सम्राट को सुनाया। उसका हृदय तो धक्-धक् कर रहा था, स्वर काँप रहा था। महाराज ने मत्र को रटा, दो बार, तीन बार, चार बार, पाच बार। पर, याद नहीं हुआ। अब तो मगधेश क्रुद्ध स्वर मे बोले—दुष्ट चाडाल ! मालूम होता है, विद्या ठीक से नही दे रहा है। ठीक तरह याद क्यो नही हो रही है ? मैं इतना स्मृतिहीन तो नही ! फिर क्या बात है ऐसी ?"

मातग लडखडाती आवाज मे जोर-जोर से बोलने लगा। सम्राट रटते रहे, पर, विद्या-मत्र स्मृति पर नही चढा सो नही चढ़ा। सम्राट् क्षुब्ध होकर मातंग पर बरस पड़े—"नीच कहीं का, ठीक-ठीक नही सिखा रहा है? मृत्युपथ देख रहा है. जरा ठीक से बता, अन्यथा ?"

महाराज की झुझलाहट देखकर अभय के लाल-लाल होठो पर एक उज्ज्वल मुस्कान दौड गई। "महाराज ! आप धर्म, और नीति के जानकार ही नही, उसके निर्माता भी हैं, फिर यह भूल क्यो ?" मगधेश चौंक उठे—"कैसी भूल ? हमारी भूल ?"

"हाँ, महाराज ! नीति के अनुसार आप भूल कर रहे हैं, विद्या-दान करने वाला गुरु होता है, चाहे वह विप्र हो, या चाडाल ! गुरु को सदा उच्च आसन, सम्मान और मधुर वाणी आदि के द्वारा सन्तुष्ट करके ही विद्या सीखनी चाहिए, तभी विद्या प्राप्त होती है 'विद्या विनयेन लभ्यते।"

नीतिज्ञ मगधपति ने तुरन्त अपनी भूल को पकड़ा। सिंहासन से

नीचे उतर गए, और चाडाल को अपने उच्च आसन पर बिठलाया, सम्मान दिया, हाथ जोडकर प्रणाम किया, "गुरुदेव! शिष्य को अपनी विद्या दीजिए।"

महामात्य अभय की कुशल नीति परायणता पर मातग मन-ही मन धन्य धन्य कह उठा। अब तो विद्यामत्र का उच्चारण करते ही मगधपति ने मत्र ग्रहण कर लिया। मातग की विद्या मगधपति ने सीखली।

मातग आसन से उठ खडा हुआ। मगधपति अपने सिंहासन पर बैठे और न्याय को कार्यान्वित करने के लिए कहा—'अच्छा, अब इस चाडाल को ले जाओ, मृत्युदण्ड के लिए।

"महाराज! यह आप क्या कर रहे हैं? जिससे विद्यादान लिया जाता है, वह गुरु होता है। गुरु को दक्षिणा मे मृत्यु-दण्ड! कैसा न्याय है यह? गुरु अवध्य होता है।"

मगधेश के अधरों पर हास्य की हलकी रेखा उभर आई— "अभय! तुम्हारी नीति बडी विलक्षण है। सच ही मातग हमारा विद्या गुरु हो गया है। गुरु का सम्मान और विनय करना चाहिए, विनय से विद्या फलवती होती। हम इसे जीवन-दान ही नही, बल्कि स्वर्ण-दान भी गुरू दक्षिणा मे देते हैं।

मातंग की आखें कृतज्ञता से नीची झुक गई। और इधर मगधपति महाराज श्रेणिक की जय! महामन्त्री अभय की जय! के तुमुल हर्षनाद से राज-सभा गूंज उठी।

त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र १।७

धर्म और ईश्वर का मुखौटा लगाए हुए कुछ राजनैतिक व्यक्तित्व धार्मिको की दुर्वल श्रद्धा को भयभीत और सक्रमित करने की चेष्टा कर रहे हैं।

यह वृत्ति धर्म और सस्कृति के लिए ही नही, किन्तु राजनीति के लिए भी खतरा है।

उपाध्याय अमरमुनि

जीवन की एकरूपता की साधना : प्रतिक्रमण

पर्युषण के पर्व दिनो में, खासकर सवत्सरी के दिन हजारों-लाखो व्यक्ति प्रतिक्रमण करते हैं। आत्मालोचन के पाठ दुहराते हैं।

यह ठीक है, कि बहुत-से व्यक्ति प्रतिक्रमण को सिर्फ सुनते हैं, और जो सुनते हैं, वह भी पूरा समझ नहीं पाते। यही कारण है कि प्रतिक्रमण से जो आत्मिक प्रसन्नता तथा पवित्रता की अनुभूति जगनी चाहिए, वह नही जग पाती।

प्रतिक्रमण के उच्चारण के साथ आत्मिक प्रसन्नता की अनुभूति कैसे जगे ? हृदय मे पवित्रता के सस्कार कैसे प्रस्फुटित हो, तथा जीवन में एकरूपता कैसे आये? इन प्रश्नो का उत्तर मिलेगा प्रस्तुत विश्लेषण में।

किस मनुष्य का जीवन ऊँचा है और किसका नीचा ? कौन मनुष्य महात्मा है, महान है और कौन दुरात्मा तथा शूद्र ? इस प्रश्न का उत्तर आपको भिन्न-भिन्न रूप मे मिलेगा। जो जैसा उत्तर दाता होगा वह वैसा ही कुछ कहेगा। यह मनुष्य की दुर्बलता है कि वह प्राय अपनी सीमा मे घिरा रहकर ही कुछ सोचता है, बोलता है, और करता है।

हाँ, तो इस प्रश्न के उत्तर मे कुछ लोग आपके सामने जात-पाँत को महत्त्व देंगे और कहेगे कि ब्राह्मण ऊँचा है, क्षत्रिय ऊँचा है, और शूद्र नीचा है, चमार नीचा है, भगी तो उससे भी नीचा है। ये लोग जात-पाँत के जाल में इस प्रकार अवरुद्ध हो चुके हैं कि कोई ऊँची श्रेणी की बात सोच ही नही सकते। जब भी कभी प्रसग आएगा, एक ही राग अलापेंगे, जात-पात का रोना रोएँगे।

कुछ लोग सम्भव है धन को महत्व दे ? कैसा ही नीच हो, दुराचारी हो, गुण्डा हो, जिसके पास दो पैसे हैं, वह उनकी नजरो मे

देवता है, ईश्वर का अश है। राजा और सेठ होना ही इनके लिए सबसे महान् होना है, धर्मात्मा होना है—'सर्वे गुणा. कांचनमाश्रयन्ते' और यदि कोई धनहीन है, गरीब है तो बस सबसे बड़ी नीचता है। गरीब आदमी कितना ही सदाचारी हो, धर्मात्मा हो, कोई पूछ नही। 'मुधा दरिद्रा य समा भवन्ति।'

क्यो लम्बी बाते करे, जितने मुंह उतनी बाते हैं! आप तो मुझ से मालूम करना चाहते होगे कि कहिए आपका क्या विचार है? भला, मैं अपना क्या विचार बताऊँ? मेरे विचार वे ही हैं, जो भारतीय सस्कृति के निर्माता आत्मतत्त्वावलोकी महापुरुषो के विचार हैं। मैं भी आपकी ही तरह भारतीय साहित्य का एक स्नेही विद्यार्थी हूँ, जो पढ़ता हूँ, कहने को मचल उठता हूँ। हा, तो भारतीय सस्कृति के एक अमरगायक ने इस प्रश्न-चर्चा के सम्बन्ध मे क्या ही अच्छा कहा है।

मनस्येक वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्॥

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार सर्वश्रेष्ठ, महात्मा महान् पुरुष वही है, जो अपने मन मे जैसा सोचता है, विचारता है, समझता है, वैसा ही जवान से बोलता है, कहता है। और जो कुछ बोलता है, वही समय पर करता भी है। और इसके विपरीत दुरात्मा, दुष्ट, नीच वह हैं, जो मन मे सोचता कुछ और है, बोलता कुछ और है, और करता कुछ और ही है।

मन का काम है सोचना विचारना। वाणी का काम है बोलना कहना। और शेष जीवन का काम, हस्तपादादि का काम है, जो कुछ सोचा और बोला गया है, उसे कार्य का रूप देना, अमली जामा पहनाना। महान् आत्माओं मे इन तीनों का सामजस्य होता है, मेल होता है, और एकता होती है। उनके मन, वाणी और कर्म मे एक ही वात पाई जाती हैं, जरा भी अन्तर नही होता। न उन्हें दुनिया का धन पथ-भ्रष्ट कर सकता है और न मान अपमान ही। लोग खुश होते हैं, या नाराज, कुछ परवाह नहीं। जीवन है या मरण, कुछ चिन्ता नही। भले ही दुनिया इधर से उधर हो जाए, फूलो की वर्षा हो या जलते अगारो की। किसी भी प्रकार के आतंक, भय,

प्रेम, प्रलोभन, हानि, लाभ महान् आत्माओ को डिगा नही सकते, बदल नही सकते। वे हिमालय के समान अचल, अटल, निर्भय, निर्द्वन्द्व रहते हैं। मृत्यु के मुख मे पहुँच कर भी एक ही बात सोचना, बोलना और करना, उनका पवित्र आदर्श है। ससार की कोई भी भली या बुरी शक्ति, उन्हे झुका नही सकती, उनके जीवन के टुकड़े नहीं कर सकती।

परन्तु जो लोग दुर्बल हैं, दुरात्मा हैं, वे कदापि अपने जीवन की एकरूपता को सुरक्षित नही रख सकते। उनके मन, वाणी और कर्म तीनो तीन राह पर चलते हैं! जरा-सा भय, जरा-सा प्रेम, जरा-सी हानि, जरा-सा लाभ भी उनके कदम उखाड देता है। वे एक क्षण मे कुछ हैं, तो दूसरे क्षण मे कुछ! परिस्थितियो के बहाव मे बह जाना, हवा के अनुसार अपनी चाल बदल लेना उनके लिए साधारण-सी बात है। सासारिक प्रलोभनो से ऊपर उठकर देखना उन्हे आता ही नहीं। उनका धर्म, पुण्य, ईश्वर, परमात्मा सब कुछ स्वार्थ है, मतलब है। वे जैसे और जितने आदमी मिलेगे, वैसे ही उतनी ही वाणी बोलेंगे। और जैसे जितने भी प्रसग मिलेंगे, वैसे ही उतना ही काम करेंगे। अब रहा सोचना, सो पूछिए नही। समुद्र के किनारे खड़े होकर जितनी तरगें आप देख सकते हैं, उतनी ही उनके मन की तरगें होती हैं। उनकी आत्मा इतनी पतित और दुर्बल होती है कि आसपास के वातावरण का—भय, विरोध और प्रलोभन आदि का उन पर क्षण-क्षण मे भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता रहता है।

अब आपको विचार करना है कि आपको क्या होना है, महात्मा अथवा दुरात्मा? मैं समझता हूँ आप दुरात्मा नही होना चाहेगे। दुरात्मा शब्द ही भद्दा और कठोर मालूम होता है! हाँ, आप महात्मा ही बनना चाहेगे! परन्तु मालूम है, महात्मा बनने के लिए आपको अपने जीवन की एकरूपता करनी होगी। मन, वाणी और कर्म का द्वैत मिटाना होगा। यह भी क्या जीवन, कि आपके हजार मन हो, हजार जबान हो और हजार हाथ पैर। आप हर आदमी के सामने अलग-अलग मन बदलें, जबान बदलें और कर्म बदलें। मानव-जीवन के तीन टुकड़े अलग-अलग करके डाल देने मे कौन-सी भलाई है? विभिन्न रूपो और टुकडो मे बँटा हुआ अव्यवस्थित जीवन, जीवन नही होता, लाश होता है। मैं समझता हूँ, आप

श्रावक अर्हन्नक के सामने देवता खड़ा है, जहाज को एक ही झटके में समुद्र के अतल गर्भ में फेक देने को तैयार है। कह रहा है- "अपना धर्म छोड दो, अन्यथा परलोक यात्रा के लिए तैयार हो जाओ। छोड़गा नहीं, समझ लो, क्या उत्तर देना है, हाँ या ना? 'हाँ' मे जीवन है तो 'ना' मे मृत्यु।"

जीवन की एकरूपता का, प्रतिक्रमण की विराट साधना का वह महान् साधक हसता है, मुसकराता है। उसकी मुस्कराहट, वह मुस्कराहट है, जिसके सामने मृत्यु की विभीषिका भी हतप्रभ हो जाती है। वह कहता है—"अरे धर्म भी क्या कोई छोड़ने की चीज है? धर्म तो मेरे अणु अणु में रम गया है, मैं छोडना चाहूँ तो भी वह नही छूट सकता। और यह मृत्यु! इसका भी कुछ डर है? तेरी शक्ति, सम्भव है, शरीर को दल सके। परन्तु आत्मा! अरे वहाँ तो तेरे जैसे लाखो करोडो देव भी कुछ नही कर सकते। आत्मा अजर है, अमर है, अखण्ड है। तू अनन्त जन्म ले तब भी मेरी आत्मा का कुछ बिगाड नही सकता। बता, मैं तुझ से और तेरी ओर से दी जाने वाली मृत्यु से डरूँ तो कैसे डरूँ?"

देवता सन्नाटे मे आ गया। आज उसे हिमालय की चट्टान से टकराना पड रहा था। फिर भी वह मर्कट-विभीषिका दिखाए जा रहा था! पास के लोगो ने भयाक्रान्त होकर अर्हन्नक से कहा—सेठ! तू झूठ-मूठ ही जबान से कहदे कि मैंने धर्म छोड़ा। देवता चला जाएगा। फिर जो तू चाहे करना। तेरा क्या बिगडता है?"

अर्हन्नक लोगों की बात समझ नहीं सका! झूठ-मूठ के लिए ही कह दो, क्या बला है, ध्यान मे न ला सका। उसने कहा—"जो मेरे मन मे नहीं है, उसके लिए मेरी वाणी कैसे हाँ भरे? झूठ-मूठ के लिए कुछ कहना, मैंने सीखा ही कहाँ है? मेरे धर्म की यह भाषा ही नही है, जो पानी कुए मे है, वही तो डोल में आएगा। कुए मे और पानी हो, और डोल में कुछ और ही पानी ले आऊँ, यह कला न मुझे आती है और न मुझे पसन्द ही है। मेरे धर्म ने मुझे यही सिखाया है कि जो सोचो, वही कहो, और जो कहो, वही करो। अब बताओ, मैं मन में सोची बात से भिन्न रूप मे कुछ कहूँ तो कैसे कहूँ? प्राण दे सकता हूँ, अपना सर्वस्व लुटा सकता हूँ, परन्तु मैं

अपने मन, वाणी और कर्म तीनो के तीन टुकड़े कदापि नही कर सकता ।"

यह है प्रतिक्रमण की साधना के अमर साधको की जीवनकला ! जिस दिन विश्व की भूली भटकी हुई मानव जाति प्रतिक्रमण की साधना अपनाएगी, जीवन की एकरूपता के महान् आदर्श को सफल बनाएगी, उस दिन विश्व मे क्या भौतिक और क्या आध्यात्मिक सभी प्रकार से नवीन जीवन का प्रकाश होगा, सघर्षों का अन्त होगा और होगा—दिव्य विभूतियो का अजर, अमर, अक्षय साम्राज्य !

विवेक बड़ा है, न कि पद ! यदि गुरु व पिता भी विवेकहीन होकर कार्य करते हैं, तो शिष्य व पुत्र को उन पर अनुशासन करना चाहिए ।

वाल्मीकि रामायण मे एक जगह (अयो० २१।१३) कहा है कि 'गुरुजन भी यदि अहकार वश कार्य-अकार्य का विवेक खो बैठते हैं, तथा मर्यादा का उल्लघन कर कार्य करने लगते हैं, तो उन पर शासन करना चाहिए ।"

\+ + +

मनुष्य का सबसे बड़ा दुश्मन कौन है ?

जो मनुष्य पुरुषार्थ को छोडकर, भाग्य पर भरोसा करके बैठता है, वही अपना सबसे बड़ा दुश्मन है । —योग वासिष्ठ २।७।३

\+ + +

महर्षि वशिष्ठ ने जब कुछ लोगो को भाग्य पर भरोसा करके शांति से बैठे देखा, तो अनायास ही उनके मुह से निकल पड़ा— "दैव मूर्ख लोगो की कल्पना है । दुःख के समय झूठा आश्वासन देकर अपने को धोखा देने के लिए ही उन्होने भाग्य नामक वस्तु की रचना की है ।" —योग वा० २।८।१५

भाग्य के नाम पर जो मनुष्य उत्साहहीन होकर हाथ पर हाथ धर बैठते हैं, उनके लिए महर्षि का यह व्यग्य वचन बहुत ही तीखी प्रेरणा है ।

किसी भी दशा मे जीवन की अखडता को समाप्त नही करना चाहेगे, मुरदा नही होना चाहेगे।

भगवान् महावीर जीवन की एकरूपता पर बहुत अधिक बल देते थे। साधक के सामने सबसे पहली पूरी करने योग्य शर्त ही यह थी कि वह हर हालत मे जीवन की एकरूपता को बनाए रक्खेगा, उसकी वाणी मन का अनुसरण करेगी तो उसकी चर्या मन-वाणी का अनुधावन !

जैन संस्कृति ने जीवन में बहुरूपिया होना, निन्द्य माना है। आदि काल से मानव जीवन की एकरसता, एकरूपता और अखण्डता ही जैन सस्कृति का अमर आदर्श रहा है। उसके विचार मे जितना कलह, जितना द्वन्द्व, जितना पतन है, वह सब जीवन की विपम गति मे ही है। ज्योही जीवन में समगति आएगी, जीवन का सगीत समतल पर मुखिरत होगा, त्योही ससार मे शान्ति का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जाएगा, अविश्वास विश्वास मे बदलेगा और आपस के वैर विरोध, मधुर प्रेम एव सहयोग में परिणत हो जाएंगे। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियों से मानव की संत्रस्त आत्मा स्वर्गीय दिव्य भावो मे पहुँच जाएगी।

जीवन की एकरूपता के लिए देखिए, जैन साहित्य क्या कहता है ? दशवैकालिक सूत्र का चतुर्थ अध्ययन हमारे सामने हैं :—

"से भिक्खू वा भिक्खूणी वा संजय-विरय-पडिहयपच्चक्खायपावकम्मे दिआ वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणेवा....।"

ऊपर के पाठ का भावार्थ यह है कि दिन हो या रात, अकेला हो या हजारों की सभा मे, सोता या जागता साधक अपने आपको अहिंसा एव सत्य की साधना मे लगाए रक्खे। उसके जीवन का धर्म दिन मे अलग, रात में अलग, अकेले मे अलग, सभा मे अलग, सोते मे अलग, जागते में अलग, किसी भी दशा में कदापि अलग-अलग नही हो सकता। सच्चे साधक क्षेत्र, काल और जनता को देख कर राह नही बदला करते। वे अकेले में भी उतने ही सच्चे और पवित्र रहेगे, जितने कि हजारो-लाखो की भीड में। कैसा भी एकान्त हो, कैसी भी स्थिति अनुकूल हो, वे जीवन पथ से एक कदम भी इधर-उधर नही होते।

जैन-धर्म का प्रतिक्रमण, यही जीवन की एकरूपता का पाठ पढाता है। यह जीवन एक सग्राम है, सघर्ष है। दिन और रात अविराम गति से जीवन की दौड-धूप चल रही है। सावधानी रखते हुए भी मन, वाणी और कर्म मे विभिन्नता आ जाती है, अस्तव्यस्तता हो जाती है। अस्तु, दिन मे होनें वाली अनेकता को सायकाल के प्रतिक्रमण के समय एकरूपता दी जाती है और रात में होने वाली अनेकता को प्रात कालीन प्रतिक्रमण के समय। साधक गुरुदेव या भगवान् की साक्षी से अपनी भटकी हुई आत्मा को स्थिर करता है, भूलो को ध्यान मे लाता है, मन, वाणी और कर्म को पश्चात्ताप की आग मे डाल कर निखारता है, एक-एक दाग को सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति से देखता है और धो डालता है। प्रतिक्रमण करने वालो की परम्परा में न जाने कितने ऐसे महान् साधक हो गए हैं, जो सावत्सरिक आदि के पवित्र प्रसगो पर हजारो जनता के सामने अपने एक-एक दोषो को स्पष्ट भाव से कहते चले गए हैं, मन के छुपे जहर को उगलते चले गए हैं। लज्जा और शर्म किसे कहते हैं, कुछ परवाह ही नही। धन्य हैं, वे जो इस प्रकार जीवन की एकरूपता को बनाए रख सकते हैं। मन का कोना-कोना छान डालना, उनके लिए साधना का परम लक्ष्य हैं। वे अपने जीवन को अपने सामने रखकर उसी प्रकार कठोरता से चीरफाड करते हैं, देखभाल करते हैं, जिस प्रकार एक डाक्टर शव की परीक्षा करता है। जब तक इतना साहस न हो, मन का विश्लेषण करने की धुन न हो, जीवन का शव के समान निर्दय परीक्षण न हो, तब तक साधक जीवन की एकरूपता को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। जैन सस्कृति का प्रतिक्रमण मन, वाणी और कर्म के सन्तुलन को कदापि अव्यवस्थित नही होने देता। वह पश्चात्ताप के प्रवाह मे पिछले सब दोषो को धोकर आगे के लिए अविचल दृढ़ता के सुन्दर और शुद्ध जीवन का एक नया अध्याय खोलता है। प्रतिक्रमण का स्वर एक ही स्वर है, जो हजारो-लाखो वर्षों से श्रमण सस्कृति की अन्तर्वीणा पर झकृत होता आया है—
छूटूँ पिछला पाप से, नया न बांधू कोय।"

जैन सस्कृति के अमर साधको ने मृत्यु के मुख मे पहुँच कर भी कभी अपनी राह न बदली, जीवन की एकरूपता भग न की, प्रतिक्रमण द्वारा प्राप्त होने वाली पवित्र प्रेरणा विस्मृत न की।

श्रावक अर्हन्नक के सामने देवता खड़ा है, जहाज को एक ही झटके में समुद्र के अतल गर्भ में फेंक देने को तैयार है। कह रहा है- "अपना धर्म छोड दो, अन्यथा परलोक यात्रा के लिए तैयार हो जाओ। छोड़गा नहीं, समझ लो, क्या उत्तर देना है, हाँ या ना ? 'हाँ' मे जीवन है तो 'ना' मे मृत्यु।"

जीवन की एकरूपता का, प्रतिक्रमण की विराट साधना का वह महान् साधक हसता है, मुसकराता है। उसकी मुस्कराहट, वह मुस्कराहट है, जिसके सामने मृत्यु की विभीषिका भी हतप्रभ हो जाती है। वह कहता है-"अरे धर्म भी क्या कोई छोडने की चीज है ? धर्म तो मेरे अणु अणु में रम गया है, मैं छोडना चाहूँ तो भी वह नही छूट सकता। और यह मृत्यु ! इसका भी कुछ डर है ? तेरी शक्ति, सम्भव है, शरीर को दल सके। परन्तु आत्मा ! अरे वहाँ तो तेरे जैसे लाखो करोडो देव भी कुछ नही कर सकते। आत्मा अजर है, अमर है, अखण्ड है। तू अनन्त जन्म ले तब भी मेरी आत्मा का कुछ बिगाड नही सकता। बता, मैं तुझ से और तेरी ओर से दी जाने वाली मृत्यु से डरूँ तो कैसे डरूँ ?"

देवता सन्नाटे मे आ गया। आज उसे हिमालय की चट्टान से टकराना पड रहा था। फिर भी वह मर्कट-विभीषिका दिखाए जा रहा था। पास के लोगो ने भयाक्रान्त होकर अर्हन्नक से कहा-"सेठ ! तू झूठ-मूठ ही जबान से कहदे कि मैंने धर्म छोड़ा। देवता चला जाएगा। फिर जो तू चाहे करना। तेरा क्या बिगड़ता है ?"

अर्हन्नक लोगों की बात समझ नहीं सका। झूठ-मूठ के लिए ही कह दो, क्या बला हैं, ध्यान मे न ला सका। उसने कहा-"जो मेरे मन मे नहीं है, उसके लिए मेरी वाणी कैसे हाँ भरे ? झूठ-मूठ के लिए कुछ कहना, मैंने सीखा ही कहाँ है ? मेरे धर्म की यह भाषा ही नही है, जो पानी कुए मे है, वही तो डोल में आएगा। कुए मे और पानी हो, और डोल में कुछ और ही पानी ले आऊँ, यह कला न मुझे आती है और न मुझे पसन्द ही है। मेरे धर्म ने मुझे यही सिखाया है कि जो सोचो, वही कहो, और जो कहो, वही करो। अब बताओ, मैं मन में सोची बात से भिन्न रूप मे कुछ कहूँ तो कैसे कहूँ ? प्राण दे सकता हूँ, अपना सर्वस्व लुटा सकता हूँ, परन्तु मैं

अपने मन, वाणी और कर्म तीनो के तीन टुकड़े कदापि नही कर सकता ।"

यह है प्रतिक्रमण की साधना के अमर साधको की जीवनकला। जिस दिन विश्व की भूली भटकी हुई मानव जाति प्रतिक्रमण की साधना अपनाएगी, जीवन की एकरूपता के महान् आदर्श को सफल बनाएगी, उस दिन विश्व मे क्या भौतिक और क्या आध्यात्मिक सभी प्रकार से नवीन जीवन का प्रकाश होगा, सघर्षो का अन्त होगा और होगा—दिव्य विभूतियो का अजर, अमर, अक्षय साम्राज्य।

विवेक बडा है, न कि पद ! यदि गुरु व पिता भी विवेकहीन होकर कार्य करते हैं, तो शिष्य व पुत्र को उन पर अनुशासन करना चाहिए ।

वाल्मीकि रामायण मे एक जगह (अयो० २१।१३) कहा है कि 'गुरुजन भी यदि अहकार वश कार्य-अकार्य का विवेक खो बैठते हैं, तथा मर्यादा का उल्लघन कर कार्य करने लगते हैं, तो उन पर शासन करना चाहिए ।"

\+ + +

मनुष्य का सबसे बडा दुश्मन कौन है ?

जो मनुष्य पुरुषार्थ को छोडकर, भाग्य पर भरोसा करके बैठता है, वही अपना सबसे बडा दुश्मन है । —योग वासिष्ठ २।७।३

\+ + +

महर्षि वशिष्ठ ने जब कुछ लोगो को भाग्य पर भरोसा करके शांति से बैठे देखा, तो अनायास ही उनके मुह से निकल पडा— "दैव मूर्ख लोगो की कल्पना है । दुःख के समय झूठा आश्वासन देकर अपने को धोखा देने के लिए ही उन्होने भाग्य नामक वस्तु की रचना की है ।" —योग वा० २।८।१५

भाग्य के नाम पर जो मनुष्य उत्साहहीन होकर हाथ पर हाथ धर बैठते हैं, उनके लिए महर्षि का यह व्यग्य वचन बहुत ही तीखी प्रेरणा है ।

उपाध्याय अमरमुनि

आँसुओं से सना धन, नहीं चाहिए

मध्यरात्रि की नीरव शान्ति मे समूचा पाटण निद्रा की गोद में मौन एव शान्त था। परन्तु राजा कुमारपाल कुछ अर्धनिद्रा की स्थिति मे था और उसके मन में प्रजाहित के कार्यो की अदर ही अदर अस्फुट-सी चिन्तनधारा चल रही थी। तभी दिशाओ को चीरता हुआ एक हृदयविदारक करुण स्वर कानो मे टकराया। राजा की नीद टूट गई। वह पूर्ण जागृत होकर सोचने लगा—"इस शान्त रात्रि मे ऐसा करुण-क्रन्दन करने वाला दीन दुखी, भाग्य का मारा मेरे राज्य मे कौन होगा ?"

कुमारपाल उठा, साधारण से वस्त्र पहने और अकेला ही चल पडा रुदन के अनुसधान मे। ज्यो-ज्यो आगे वढता था, त्यो-त्यो हृदयवेधी चीत्कारे राजा के वज्रसम कलेजे के आर-पार होती जा रही थी। चलते-चलते राजा नगर के बाहर पहुँचा। एक वृक्ष के नीचे छाया-सी खड़ी दिखाई दी, राजा उसी ओर वढा, देखा तो वहुमूल्य वस्त्राभूपणो से सजी एक सुन्दर रमणी भयकर विलाप कर रही है। केश विखरे हुए हैं, माग का सिन्दूर अभी पूरा पोछा नही गया है, वह सिर पीट कर बार-बार चीत्कारें कर रही है।

कुमारपाल रमणी के निकट आया—"वेटी! तुम्हे क्या कष्ट है ? किसलिए तुम मध्य रात्रि मे अकेली इस भयानक जगल मे वैठी हृदय वेधक विलाप कर रही हो ?"

कुमारपाल की सभ्य भाषा और व्यवहार से रमणी का मन आश्वस्त हुआ। उसने वताया—"मेरा पति मुझे वहुत प्यार करता था। उसने अपना विशाल वैभव मुझ पर निछावर कर दिया। ढलती अवस्था मे मेरी गोद मे पुत्र खेलने लगा। अत्यन्त खुशियाँ मनाई

गई, और मनोराज्य मे क्या क्या सुनहले स्वप्न सजोये गए' कहते-कहते रमणी सुबक-सुबक कर रोने लगी।

राजा ने धैर्य बधाया। उसने फिर कहना शुरू किया—"एक दिन हमारी आशाओ पर वज्रपात हो गया। पुत्र जब बीस वर्ष का हुआ तो अचानक भाग्य ने मेरी आशाओ का दीपक बुझा दिया। पुत्र की अचानक मृत्यु के भयकर आघात से उसके पिता भी मुझ हतभागिनी को छोडकर चले गए। हाय! हाय! मेरा ससार उजड गया।"

करुण-कहानी सुनते-सुनते कुमारपाल भी रोमाचित हो उठा। उसने रमणी को धैर्य बधाकर आश्वस्त किया।

रमणी ने अपनी करुण कथा चालू रखी-"अब यह मेरे आँसुओ से सना धन, परम्परा के अनुसार राजा ले लेगा। मैं क्या करूँगी? किस तरह जीवन गुजरेगा? मैं गली-गली की दीनहीन भिखारिणी हो जाऊँगी, मैं इस दु.ख को नही सह सकती, अतः गले मे फन्दा डालकर इस घोर दु ख से छुटकारा पाने के लिए यहाँ आई हूँ।"

कुमारपाल ने उसे विश्वास दिलाया—"बेटी! तुम्हारा धन राज्य का कोई भी अधिकारी नही ले सकेगा। यदि तुम्हे किसी भी प्रकार का कष्ट हो तो तुम राजा कुमारपाल से कहना, वह ससार के दीन दुःखियो का बन्धु है, त्राता है। तुम जाओ, शान्ति से जीवन यापन करो।" कुमार पाल के हृदय मे एक अद्‌भुत दैवी-प्रेरणा जग रही थी।

रमणी शान्त और आश्वस्त होकर चली गई। कुमारपाल भी महलो मे लौट आया, किन्तु उसका मन,पता नही,कितने गहरे उतार-चढाव पर चल रहा था। अपुत्र का धन आदिकाल से राज्य की संपत्ति मानी जाती रही है। कुमारपाल का कोमल और दयार्द्र मानस आज इस परम्परा का विद्रोह कर उठा। इसके दारुण और भयानक परिणामो का सजीव चित्र, उस कुलीन रमणी के रूप में उसके कल्पना पट पर उभर रहा था। रात भर चिन्तन की गहराई में डूबा रहा, मन्थन चलता रहा। पलको मे नीद तक नही लगी।

प्रातः राजसभा मे आते ही राजा ने उस दिन का सबसे पहला क्रान्तिकारी आदेश सुनाते कहा—"आज से चौलुक्य कुमार पाल का

आदेश है कि निष्पुत्र मृत व्यक्ति की संपत्ति राज्य भंडार मे नही लाई जाए।" अधिकारी वर्ग ने जब राजा से निवेदन किया कि इस आदेश से राज-भंडार को प्रतिवर्ष कई करोड रुपये का घाटा होगा, तो कुमारपाल ने कहा—"राजभडार की आय मे चाहे कितने ही करोड का घाटा क्यो न हो, किन्तु दु खितो के आँसुओ से सना हुआ धन मैं अपने राजकोष मे नही लेना चाहता।"

करुणा की प्रबल-प्रेरणा से राजा के अन्तस्तल मे त्याग व सन्तोष की अमिट लौ जल चुकी थी।

मनुष्य इतना दुर्बल है कि परिस्थितियो व आदतों से सघर्ष नही कर पाता। निःसत्व होकर उनके सामने घुटने टेक देता है और फिर अपनी दुर्बलता पर पर्दा डालने के लिए परिस्थितियो व आदतो पर दोष मँढकर स्वय किनारा कर जाता है।

काठियावाड के प्रसिद्ध समाजसेवी रविशकर महाराज ने जब ठाकुरो व राजपूतो को दारू व ताड़ी न पीने की प्रतिज्ञा करवाई तो एक ठाकुर बोला—"महाराज! इस दारू ने तो मेरी रग-रग पकड रखी है, मैंने प्रतिज्ञा तो करली, पर यह तो मुझे नही छोड रही है।"

महाराज ने उस ठाकुर को दूसरे दिन अपने पास बुलाया। दूसरे दिन ठाकुर ने महाराज के दरवाजे पर जाकर दस्तक दी और आवाज लगाई तो महाराज बोले—"ठाकुर! मैं कैसे आऊँ? इस खभे ने मुझे पकड रखा है।"

ठाकुर ने अन्दर आकर देखा तो एक ठहाका मार कर हँस पड़ा—"महाराज! आप भी कैसी बात कर रहे हैं, खभे को तो आपने पकड रखा है, इसे छोड दीजिए, वह अपने आप छूट जायेगा।"

महाराज ने झट खभे से हाथ हटाया और तपाक से बोले—"ठाकुर! इसी तरह दारु को आपने पकड़ रखा है, आप उसे छोड दे तो वह आपको छोड देगी।"

ठाकुर दो क्षण तक विस्मयविमुग्ध हुए महाराज की ओर देखते रहे, अपनी दुर्बलता का पर्दा हटा कर, आत्म-निष्ठा के साथ सकल्प किया—"अब कभी दारु नही पीऊँगा।"

प्रश्न आपके ?

उत्तर कवि श्री जी के !!

प्रश्न—आप श्री के एक प्रवचन मे तीर्थंकरो द्वारा तीर्थ की वन्दना करने की चर्चा आई थी। तीर्थंकर साधनाक्षेत्र की एक सर्वश्रेष्ठ विभूति है। उनके द्वारा सामान्य साधको के सघ को नमस्कार करने की बात कुछ जिज्ञासु पाठको को अटपटी-सी लगी है। श्री डोसीजी जैसे बन्धु तो कुछ गलत-सलत भी लिख ही चुके हैं। हो सकता है, उनको कुछ दृष्टि का मोह भी हो, फिर भी श्रद्धा और बुद्धि का सतुलन चाहने वाले पाठक के लिए इसका शास्त्रीय एव परम्परासम्मत समाधान क्या है?

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

उत्तर—जैन परम्परा मे तीर्थ (सघ)[1] का महत्व अपने मे एक बहुत बड़ा महत्त्व है, जैन शासन की आधार शिला ही एक प्रकार से तीर्थ है। तीर्थंकर का तीर्थंकरत्व भी किस पर आधारित है? तीर्थ पर ही तो आधारित है। तीर्थ के कर्तृत्व से ही तीर्थंकर हुआ जाता है, अन्यथा नहीं।

नन्दीसूत्र मे तीर्थ की महिमा का बडे विस्तार से वर्णन किया है। नगर, चक्र, रथ, कमल, चन्द्र, सूर्य, समुद्र आदि विविध उपमाओ के द्वारा[2] तीर्थ का वह भावभीन वर्णन किया गया है, जो प्रत्येक सहृदय पाठक के भावप्रवण हृदय को भक्तिगद्गद् कर देता है।

उत्तरकालीन आचार्यों ने तीर्थ की महिमा का बखान अपने-अपने

---

१ तीर्थ का अर्थ है-धर्म साधनारत चतुर्विध सघ। तित्थं पुण चाउव्वण्णे समणसघे, तजहा—समणा समणीओ सावया सावियाओ य" —भगवती सूत्र श० २० उ० ८। आचार्य जिनभद्र भी यही कहते हैं—'भावे तित्थं सघो'—विशेषावश्यक भाष्य, गा० १०३२।

२ नन्दीसूत्र, सघस्तुति प्रकरण

ग्रन्थो मे जिस श्रद्धा और भक्ति से किया है, वह अद्वितीय है। उदाहरण स्वरूप, जैन जगत् के महान् ज्योतिर्धर मनीषी आचार्य समन्तभद्र को ही पढ लीजिए। आचार्य समन्तभद्र जैनतीर्थ को दया (अहिंसा) दम (सयम), त्याग (अपरिग्रह) एवं समाधि (प्रशस्त शुद्ध ध्यान) आदि की पूर्ण निष्ठा से सम्पन्न विश्व मे अद्वितीय तीर्थ बतलाते हैं। आचार्य की दार्शनिक दृष्टि मे जैनतीर्थ अनेकान्त तीर्थ है, प्राणिजगत की समग्र आपदाओं, विघ्नबाधाओ को बिना किसी भेदभाव के दूर करने वाला सर्वोदयतीर्थ है।[3] पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु स्वामी ने तो तीर्थ की गौरवगरिमा के सम्बन्ध मे एक अतीव महत्वपूर्ण उल्लेख किया है, जो जैन परम्परा के विचार जगत् मे तीर्थगौरव सम्बन्धी एक प्रतिनिधि विचार बन गया। आवश्यक निर्युक्ति, भद्रबाहुस्वामी का आगमचर्चा सम्बन्धी एक मूर्धन्य ग्रन्थ है। उसमे लिखा है कि जब तीर्थंकर देव समवसरण मे धर्मदेशना देते है, तो सर्वप्रथम तीर्थ को प्रणाम करते हैं।[4] क्योकि तीर्थ पूजित-पूज्य है, विश्ववन्दनीय तीर्थंकरो द्वारा भी अभिवन्दनीय है। तीर्थंकरो का तीर्थंकरत्व तीर्थ-पूर्वक जो है, तीर्थ के आधार पर जो है।[5]

भद्रबाहु स्वामी का यह तीर्थगौरवसम्बन्धी विचार केवल उनकी निजी कल्पना नही है। महान श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु के सम्बन्ध मे कोई यह सोच भी नही सकता कि वह इतनी बडी अनर्गल कल्पना कर सकते हैं और उसे इस प्रकार मुक्तघोष के रूप में शास्त्रीय प्रतिष्ठा दे सकते हैं। अवश्य ही यह परम्परागत मान्यता होगी, तभी तो उन्होने इसका सहज भाव से श्रद्धाप्रधान उल्लेख किया है।

मूल आगम के बाद व्याख्यासाहित्य मे सर्व प्रथम निर्युक्तिका ही स्थान है, जो आगमो की सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या मानी जाती है। उत्तरकालीन साहित्य पर निर्युक्ति का ही विशेष प्रभाव पडा है। यदि आचार्य भद्रबाहु का, तीर्थंकरों द्वारा तीर्थ को वन्दन करने का यह उल्लेख, अनागमिक होता, परम्पराहीन होता, या काल्पनिक

---

३ युक्त्यनुशासन ६१-६२।

४ तित्थपणाम काउं कहेइ साहारणेण सद्देण।
सव्वेसिं सण्णीणं जोयणणीहारिणा भगव॥ आव० निर्युक्ति ५६७

५ तप्पुव्विया अरहया पूइयपूआ च विणयकम्म च। आव० निर्युक्ति ५६८

होता, तो इतने लम्बे काल मे कोई न कोई परम्पराभक्त आचार्य अवश्य ही उसका विरोध करता, अपने ग्रन्थो मे कही न कही उक्त मान्यता को अपदस्थ करता। परन्तु विरोध करना तो दूर, प्राचीन आचार्यों ने तो बहुमानपूर्वक अपने ग्रन्थो मे उक्त सिद्धान्त का गौरव के साथ उल्लेख किया है। प्रमाणस्वरूप आचार्य सघदास[6] शीलाक[7] हेमचन्द्र[8], नेमिचन्द्र[9], गुणचन्द्र[10] आदि के नाम प्रस्तुत किए जा सकते है।

आवश्यक निर्युक्ति आदि के उक्त आधारो को लक्ष्य मे रखते हुए, अपने एक प्रवचन मे, जो अमर भारती मे प्रकाशित हुआ है, प्रसगानुसार सघ गौरव की चर्चा करते हुए, मैंने तीर्थंकरो द्वारा तीर्थवन्दना सम्बन्धी उक्त मान्यता का वर्णन किया था। परन्तु समाज मे कुछ लोग हैं, कि जिनका अध्ययन बहुत सीमित होता है, प्राचीन ग्रन्थो का उन्हे कभी स्पर्श नही होता, परन्तु अपने अध्ययन एव ज्ञान का अहम् आवश्यकता से अधिक होता है। इन्ही मे से एक महानुभाव ने सम्यग्दर्शन पत्र मे मेरे प्रतिपादित पक्ष के विरोध मे चर्चा की है। चर्चा मे और जो कुछ है वह तो केवल अक्रोशमात्र है, जो मानव के क्षुद्र अहम् की दुर्बलता का प्रतीक है, शेष कुछ नही, उस आक्रोश के सम्बन्ध मे मुझे कुछ नही कहना है। हाँ, एक बात अवश्य है, जो साधारण जिज्ञासु को भी अटपटी-सी लगती है, उसी के समाधान मे कुछ पक्तियाँ लिखने का प्रयत्न है।

---

६ बृहत्कल्प भाष्य गा० ११६३-११६४।

७ एत्थावसरम्मि य 'णमोतित्थस्स' त्ति भणिऊण सयलजतुसंताणसाहारणाए वाणीए पत्थुया धम्मदेसणत्ति।

—चउप्पन्न महापुरुसचरियं (वद्धमाणसामिचरियं) पृ० ३००

८ तीर्थंनत्वा प्राङ्मुखोऽथ जगन्मोहतमच्छिदे।
स्वामी सिंहासन भेजे पूर्वाचलमिवार्यमा॥

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र १।३।४६२

९ सिंहासणे निसीयइ तित्थपणाम पकाऊण।

—महावीर चरिय प्र० ७ पत्र २५१।१

१० पणमिय तित्थ उवविसइ आसणे पुव्वदिसि समुहो।

—महावीर चरिय, गाथा० १४०७

धर्मदेशनाकाल मे तीर्थंकर तीर्थ को 'नमो तित्थस्स' के रूप मे वन्दना करते हैं, इसमे अटपटापन यह लगता है कि तीर्थंकर सर्वश्रेष्ठ महापुरुष हैं, वे तीर्थ के द्वारा अभिवन्दनीय हैं, भला वे अपने से निम्न श्रेणी के साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप सघ को कैसे वन्दन कर सकते हैं ? श्रावक और श्राविका तो गृहस्थ होते हैं, वे कैसे वन्दनीय हो सकते हैं, वह भी तीर्थंकरो के द्वारा, जबकि साधु भी उन्हे वन्दन नही करते हैं। शका कुछ अर्थ रखती है, अत इसी पर प्राचीन प्रमाणो के आधार पर विचार प्रस्तुत करना है। मैं अपनी ओर से तर्क कम ही उपस्थित करूँगा।

साधु, साध्वी को वन्दन नही करता है, साधु साध्वी अपने से अल्प दीक्षित अर्थात् दीक्षा मे छोटे साधु साध्वियो को वन्दन नही करते हैं, और साधु साध्वी गृहस्थ श्रावक श्राविकाओ को भी वन्दन नही करते हैं। यह वन्दनासम्बन्धी निषेध पक्ष केवल प्रत्यक्ष मे व्यवहार दृष्टि से सम्बन्धित है। परोक्षपक्ष या भावपक्ष मे ऐसा कुछ नही है। नमस्कार मत्र मे पचमपद 'नमो लोए सव्व साहूण' है। इसका अर्थ है—मैं लोक मे के समग्र साधुओ को नमस्कार करता हूँ। यह नमस्कार मत्र भगवती सूत्र आदि प्राचीन आगम ग्रन्थो मे है। अब प्रश्न है कि 'नमो लोए सव्वसाहूण' आचार्य और उपाध्याय भी पढते हैं, गुरु भी पढते हैं और इस प्रकार आचार्य, उपाध्याय और गुरु अपने से दीक्षा मे छोटे साधुओ को, यहाँ तक कि एक दिन के नवदीक्षित साधु को भी वन्दन करते है या नही ? स्पष्ट ही है कि वन्दन करते हैं। अन्यथा 'सव्व' शब्द का मूल्य क्या रहेगा ? इतना ही नही, साधु शब्द मे साध्वी भी निहित हैं। अतः साधुओ के साथ साध्वियो को भी नमस्कार किया जाता है। इसीलिए प्रतिक्रमण के पाँच पदो की वन्दना पाठ मे आज भी हम साधु वन्दना करते समय पढते हैं—'जघन्य दो हजार करोड़ साधु साध्वो, उत्कृष्ट नौ हजार करोड साधु साध्वी।" व्यवहार में तो साधु साध्वी को वन्दना नही करता है, परन्तु यहाँ तो स्पष्ट ही साधु भी समग्र साध्वियो को वन्दना करता है।

उत्तराध्ययन सूत्र का बीसवाँ अध्ययन हमारे समक्ष है, सूत्र का सपादक महनीय महर्षि, अध्ययन के प्रारम्भ मे भक्ति भाव से सिद्धो

के साथ संयतो को-समग्र साधुओको भी वन्दन करता है।[11] जिसमे अपने से दीक्षा मे छोटे साधु और साध्वियाँ भी सम्मिलित हैं। अतः यह तर्क अप्रमाणित हो जाता है कि अपने से निम्नश्रेणी के साधु-साध्वियो और श्रावक श्राविकाओ को तीर्थंकर कैसे वन्दता कर सकते हैं ?

तीर्थ मे श्रावक और श्राविका भी सम्मिलित हैं, अत. जब तीर्थ को नमस्कार किया जाता है, तो श्रावक और श्राविकाओ को भी नमस्कार हो जाता है। तीर्थंकर अपने से निम्न गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओ को कैसे नमस्कार कर सकते हैं ? उक्त प्रश्न के समाधान मे नन्दीसूत्र की सघ स्तुति का अवलोकन किया जा सकता है। नन्दी सूत्र के रचियता देवर्द्धिगणि माने जाते हैं, कुछ देववाचक गणी को मानते हैं। कुछ भी हो, नन्दीसूत्र के रचयिता महान् श्रुतघर आचार्य हैं, जिनकी कृति को आगम साहित्य मे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। नन्दी सूत्र का इतना बड़ा महत्व है कि इस पर आचार्य जिन दास महत्तर ने चूर्णि की रचना की, महान् आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि ने टीकाएँ लिखी। आज भी सहस्राधिक सख्या मे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका नन्दीसूत्र का नित्य प्रति पाठ करते हैं। उक्त नन्दी सूत्र मे आचार्य सघ को मेरु पर्वत की उपमा[12] देते हैं और सघ को विनयप्रणत होकर वन्दना करते हैं, वह भी एक बार ही नही, तीन तीन बार। उक्त सूत्र पर से स्पष्ट हो जाता है कि साधु भी सघ वन्दना के रूप मे श्रावक श्राविकाओ का अभिवन्दन कर लेते हैं। बाह्य व्यवहार पक्ष मे भले ही साधुओ के लिए श्रावक श्राविकाओ को वन्दन करना निषिद्ध हो, किन्तु भावपक्ष मे ऐसा कुछ निषेध नही है।

मूल बात यह है कि व्यष्टि से समष्टि अभिन्न होते हुए भी कथचित् भिन्न है। जैन दर्शन अनेकान्त दर्शन है। यहाँ किसी एक पक्ष का आग्रह नही है। व्यष्टि रूप से सघ मे साधु, साध्वी, श्रावक श्राविका विभिन्न इकाइयां हैं। किन्तु समष्टि रूप से देखा जाए तो

---

११ सिद्धाण णमो किच्चा सजयाण च भावश्रो। — उत्तराध्ययन २०।१

१२ वदामि विणयपणओ सघमहामदरगिरिस्स।१७।
सुयवारसगसिहर सघमहामदर वन्दे।१८।
जो उवमिज्जइ सयय त सघगुणाकर वन्दे।१६।

सघ एक विलक्षण स्थिति रखता है। उपवन मे आम, जामुन, अशोक आदि विभिन्न वृक्ष अपना अपना पृथक् अस्तित्व रखते हैं, परन्तु वह विभिन्नता एव पृथक्ता व्यष्टि रूप से है, समष्टि रूप से नही। समष्टि रूप से उपवन के रूप मे आम, जामुन आदि से भिन्न समूह रूप एक भिन्न एव विलक्षण प्रतीति होती है। यही बात सघ के सम्बन्ध मे है। सघ के रूप में जब वन्दना होती है तो वह भाव मे साधु, साध्वी आदि विभिन्न इकाइयो से पृथक एक विलक्षण प्रतीति होन वाली समष्टि को वन्दना होती है। अत तीर्थंकर आदि सघ को वन्दना करते है वह समष्टि रूप मे एक विलक्षण प्रतीत होने वाले सघ को वन्दना करते हैं, व्यष्टि रूप से प्रतीत होने वाली विभिन्न इकाइयो को नही। अत तीर्थंकरो द्वारा सघ वन्दना करने मे कोई आपत्ति नही है। अपितु इस प्रकार वन्दना करने मे सघ की महत्ता व्यक्त होती है, जो सर्व साधारण साधको के लिए अनुशासन की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। महापुरुषो के क्रिया कलापो का फलितार्थ केवल उनके अपने लिए ही नही होता, उनके बहुत से क्रिया-कलाप सर्व साधारण जन समाज की दृष्टि से भी होते हैं। तीर्थंकरों के, केवलज्ञानियो के बहुत से विधि-निषेध दूसरो को बोध एवं प्रेरणा देने के लिए होते है। अपने लिए उनको हानि-लाभ जैसा कुछ नही होता।

मूल्य परिवर्तन—आपको यह तो ज्ञात ही है कि १५ मई से डाक टिकटों की दर में बहुत वृद्धि हो गई है। पोस्टकार्ड ६ पैसे की जगह १० के ही हुए, मगर समाचार पत्रों पर २ पैसे की जगह ५ पैसे के टिकट की वृद्धि हुई है, अर्थात् ढाई गुनी! फिर कागज के भावों में भी लगभग १४% प्रतिशत की अचानक वृद्धि हो गई है, इधर छपाई के मूल्य भी बढ ही चुके हैं। इस बढती हुई मूल्य वृद्धि से विवश होकर श्री अमर भारती का वार्षिक शुल्क अनचाहे भी बढाना पड़ रहा है। अगस्त से नये बनने वाले प्रत्येक ग्राहक अब कृपया ६) रु० **के स्थान पर ८) रु०** का वार्षिक शुल्क भेजे। अगस्त से श्री अमर भारती का **वार्षिक चन्दा ८) रुपया** होगा। कृपया ध्यान मे रखें।

विचार चर्चा | उपाध्याय अमरमुनि

[भगवान महावीर की पच्चीस सौवी निर्वाण तिथि समारोह के संदर्भ मे]

प्रश्न—श्रमण भगवान महावीर की पच्चीस सौंवी निर्वाण-शताब्दी का समय निकट आ रहा है। जैन समाज के विचारको व कार्यकर्त्ताओ ने इस विषय पर सोचना प्रारम्भ किया है। व्यावहारिक भूमिका को स्पर्श करने वाले कुछ विचार सूत्र समक्ष आये हैं, आ रहे हैं। इस ऐतिहासिक समारोह की सार्थकता एव चिरस्मरणीयता के लिए आपके समक्ष क्या परिकल्पनाए हैं ?

उत्तर.—यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि जैन समाज ने बहुत से स्वर्ण अवसर सोचते-सोचते ही हाथ से गवा दिए। जैन क्या भारतीय चिन्तक वर्ग की हो यह चिर परिचित मनोवैज्ञानिक दुर्बलता रही है कि वह सोचता बहुत है, करता कम है। अस्तु, अब समय आ गया है कि सोचने के साथ करने की भूमिका पर आएँ।

प्रस्तुत प्रश्न सामयिक है। इस अवसर का ऐतिहासिक मूल्य भी है, इसलिए इस विषय पर व्यापक चिन्तन की आवश्यकता भी मैं मानता हूँ, पर, वह चिन्तन, चिन्तन तक ही सीमित न रहे, उस पर तत्परता के साथ क्रियान्वयन भी होना चाहिए। इस सन्दर्भ मे हम सूत्र रूप से चर्चा करेंगे।

(१) अहिंसा और अनेकान्त (समन्वय) के सूत्रधार के रूप मे भगवान महावीर का व्यक्तित्व सार्वदेशिक एव सार्वजनीन है। इस दृष्टि से उनसे सम्बन्धित किसी भी उत्सव का रूप सार्वदेशिक होना चाहिए। उत्सव की सयोजना मे जैन कार्यकर्त्ताओ का व्यक्तित्व व श्रम मुख्य तो रहेगा ही, किन्तु कार्यक्रम पर केवल वह ही हावी नही होना चाहिए। माला मे धागे की आवश्यकता तो है, पर वह भीतर ही भीतर प्रच्छन्न रूप से गुथा रहता है, बाहर उभर कर नही आता, माला पर धागा हावी नही होता, मेरे विचार मे जैन कार्यकर्त्ताओ को भी उत्सव की माला मे इसी रूप मे जुडना चाहिए। कार्यक्रम का विस्तार एव व्यापक रूप तभी होगा जब उसमे सर्व साधारण जनता की दिलचस्पी होगी, उसका भी उचित सहयोग

और सद्भाव प्राप्त किया जायेगा। मैं तो यह भी चाहता हूँ कि ऊपर से लेकर नीचे तक प्रत्येक सयोजक समितियों में जैनेतर कार्य-कर्त्ताओ को भी पदेन उचित स्थान दिया जाए, उन्हे भी धागे के स्थान पर लगाया जाए।

यह बात मुझे बहुत अखरती है कि जैन समाज के प्राय: हरेक उत्सव, कार्यक्रम या तो कुछ श्रीमतो या विद्वानो तक सीमित रह जाते हैं, अधिक विस्तार हुआ तो सामान्य श्रद्धालु जैन उसमे सम्मिलित हो लेते हैं। किन्तु वे उत्सव सर्व साधारण से दूर एव अपरिचित से ही रह जाते हैं। आयोजन की सयोजना मे सबसे पहला विचार यह होना चाहिए कि इसमे विभिन्न वर्ग, धर्म, सप्र-दाय एव विभिन्न राष्ट्रो के सर्व साधारण जन अधिक से अधिक भाग लें और वे परिचय मे आए। विश्व के वातावरण मे एक स्पन्दन तो पैदा हो कि हाँ, किसी महापुरुष का कोई उत्सव मनाया जा रहा है।

(२) उत्सव का एक केन्द्र—(केन्द्रीय स्थान) निश्चित होना चाहिए। केन्द्र से मेरा अभिप्राय यह नही कि एक ही स्थान पर कार्यक्रम या उत्सव मनाया जाए। कार्यक्रम व्यापक रूप तो तभी लेगा जब सम्पूर्ण विश्व मे उसकी आयोजना होगी। किन्तु उसके सचालन एव मार्ग दर्शन की जिम्मेदारी एक सक्रिय केन्द्रीय सगठन पर होनी चाहिए। व्यवस्था, मार्गदर्शन आदि के लिए एक केन्द्र की आवश्यकता अनिवार्य है। अभी तक आयोजन के संयोजक व कार्यकर्त्ताओ ने केन्द्रीय सगठन का कोई निश्चय नही किया, यह अवश्य ही विचारणीय बात है। समय रहते इसका निर्णय होना चाहिए, निर्णायक बुद्धि की श्लथता किसी भी समाज के लिए हिता-वह नही होती। अत: जितना भी हो सके शीघ्र ही इस दिशा मे कार्य कर्ताओं को निर्णय की तत्परता दिखलानी चाहिए।

(३) प्रान्तीय आयोजन—केन्द्र द्वारा मार्गदर्शन पाकर हर प्रान्त और हर ग्राम व शहर मे योजनानुसार कार्यक्रम आयोजित होने चाहिए। सर्व साधारण को सम्पर्क मे लेने के लिए यह आव-श्यक भी है कि प्रत्येक व्यक्ति को निकटता से सुनने देखने का अवसर प्राप्त हो। शहरो की भीड भाड मे तो आयोजन केवल तमाशे का

रूप लेकर रह जाते हैं, वांच्छित सफलता तो तभी प्राप्त होगी, जब जनता उसे निकट से और अपनत्व के साथ देखेगी। इसके लिए यह आवश्यक है कि केन्द्र द्वारा प्रस्तावित रूपरेखा के अनुसार मुख्य उत्सव, एव सम्बद्ध कार्यक्रम केन्द्रीय, एव प्रान्तीय तथा क्षेत्रीय स्तर पर आयोजित किये जाएँ।

(४) साहित्य प्रकाशनः—हमने उत्सव के सयोजन के स्वरूप पर कुछ विचार किया है, अब साहित्य प्रकाशन की रूपरेखा पर भी दो बात करलें।

(क) पहली बात है—भगवान महावीर के आदर्श चरित्र का प्रकाशन। श्रमण भगवान महावीर की जीवनी का प्रेरणादायी एव अविवादास्पद रूप, तटस्थ दृष्टि से लिखा जाना चाहिए और वह विश्व की अनेक भाषाओ मे प्रकाशित होकर प्रत्येक पाठक के पास पहुँचे, ऐसा प्रयत्न होना चाहिए। जब तक महापुरुष के उज्वल जीवन चरित्र का दर्शन सामान्य पाठक को नही होता, उसके हृदय मे श्रद्धा के अकुर प्रस्फुटित नही हो सकते। इसलिए जन श्रद्धा को जगाने की दिशा मे सर्वप्रथम भगवान महावीर की जीवनी का सुन्दर व तटस्थ प्रकाशन होना आवश्यक है।

(ख) जीवनी के साथ या अलग रूप से भगवान महावीर के सुभाषित वचनो का एक सस्करण भी प्रकाशित होना चाहिए, जिसमे कि जीवन निर्माण की प्रेरणा देने वाले उनके महत्वपूर्ण वचन मूल भाषा के साथ प्राप्त हो सके। हमने अभी सूक्ति त्रिवेणी के अतर्गत जैन धारा मे ऐसे ही सुभाषित वचनो का सकलन किया है। यह हो, अथवा अन्य भी कोई हो सकता है।

(ग) आगम प्रकाशन—निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष मे जैन आगमो का अद्युन तम शैली से सर्वमान्य सम्पादन एव प्रकाशन भी एक मुख्य विचारणीय प्रश्न है। इस दिशा मे कई क्षेत्रो मे कार्य प्रारम्भ हो चुका है। हमने भी आगम सपादन का संकल्प किया था, पर देखता हूँ कि इस विषय पर विभिन्न जैन सम्प्रदायो मे परस्पर सहयोग की कडी जुड नही रही है, सब अपने अपने विचार से अपनी अपनी दिशा मे चल रहे हैं। इसका परिणाम यह है कि आगम वाचना मे आज तक जो विशृखलता चली आई है, वही आगे भी

बरकरार रहेगी। इस कार्य में समाज के अर्थ, श्रम व बौद्धिकता का जितना अपव्यय हो रहा है, उसे देखकर मुझे खेद ही होता है और लगता है कि जैन समाज के मनीषी मुनिराज व विद्वान् इस दिशा मे कोई एक सर्वमान्य सस्करण तैयार करने की स्थिति मे निकट भविष्य मे नही आ सकेगे। फिर भी आगमो के सम्बन्ध मे विशेष शोध कार्य होना चाहिए। इस विषय पर अब अधिक सोचने की अपेक्षा कार्यक्रम शुरू हो जाना चाहिए। जैन आगमो मे लोक भाषा एव लोक-सस्कृति की दृष्टि से अध्ययन की विशाल सामग्री भरी है। साथ ही समाज विज्ञान, प्राणिविज्ञान, मनोविज्ञान एव आध्यात्मिक स्तर की विविध विधाओ का भी काफी अनुसधान किया जा सकता है। शताब्दी के उपलक्ष मे इस प्रकार का अध्ययन पूर्ण मौलिक साहित्य प्रकाश मे आना चाहिए।

(घ) भगवान महावीर प्रखरतत्त्व द्रष्टा तो थे ही, साथ ही समन्वय सूत्र के प्रणेता भी थे। अनेकान्त उनकी अमर देन है। अतः उनके वचनो का व उपदेशो का एक समन्वयात्मक संकलन ऐसा भी होना चाहिए जो विविध दर्शनो, धर्म सम्प्रदायो एव विभिन्न वर्गों के बीच एकता, प्रेम एव समन्वय की भावना को दृढ बनाए तथा उन्हे एक दूसरे के निकट लाकर उदारता की उदात्त दृष्टि दें।

(च) प्राकृत विश्वविद्यालय – प्राकृत भाषा भारतीय लोक भाषाओ की जननी है। प्राकृत भाषा की अर्धमागधी, पालि, अपभ्रंश आदि विभिन्न शाखाओ मे साहित्य का विशाल भण्डार भरा पडा है। साहित्यिक उपलब्धियों के साथ ही भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी उसका बहुत बड़ा महत्व है। भारत के विभिन्न प्रान्तो की भाषाओ के साथ प्राकृत की भाषात्मक एकता, समानता एक आश्चर्यकारी तथ्य है। अतः ज्ञान विज्ञान की नवीन उपलब्धि एव सास्कृतिक तथा भाषात्मक एकता के लिए प्राकृत भाषा का अध्ययन आज बहुत आवश्यक है। इस दृष्टि से प्राकृत के सम्पूर्ण अध्ययन, विकास आदि के लिए प्राकृत विश्वविद्यालय की स्थापना इस शताब्दी समारोह की सबसे बडी फलश्रुति होगी। प्राकृत विश्व विद्यालय भगवान महावीर की पावन स्मृति का महान चिरस्थायी स्मारक होगा, जो भारतीय जन जीवन मे राष्ट्रीय एकता की भावना का परिपोषक भी होगा।

इस सम्बन्ध में कुछ विचारको ने भी चर्चा की है। कुछ इसे जैन विश्वविद्यालय का रूप देना चाहते हैं, परिकल्पनाए तो उनकी भी सभवत: ये ही हो, पर नाम के साथ हमे कुछ व्यापकता का भी विचार रखना चाहिए। प्राकृत भाषा का अध्ययन, अनुसधान होगा तो श्रमण सस्कृति की उपेक्षा नही हो सकेगी, वह तो प्राकृत की मातृ-संस्कृति है, किंतु हमारा ध्येय जैनत्त्व को लादने का नही, उसे व्यापक बनाने का होना चाहिए।

इस सम्बन्ध मे मैंने कुछ कार्यकर्त्ताओ तथा अधिकारी विद्वानो से चर्चा भी की है। मेरी हार्दिक अभीप्सा है कि हमे सबसे अधिक बल इसी बुनियादी बात पर देना चाहिए। धर्म के साथ-साथ राष्ट्र की भी यह एक महान सेवा होगी।

(५) इस ऐतिहासिक अवसर पर हमे जैन समाज के सामाजिक उत्कर्ष को भी कुछ बाते सोचनी चाहिए। पहली बात है साधर्मिक वात्सल्य की।

साधर्मिक वात्सल्य की परिभाषा सिर्फ अपने स्वधर्म बधु को खिलाने पिलाने तक ही समझ ली गई है, यह अधूरी समझ है। स्व-धर्म बन्धु का अर्थ भी सकुचित नही होना चाहिए। प्रत्येक जैन, जैन के लिए स्वधर्म बन्धु है, चाहे वह श्वेताम्बर है या दिगम्बर। जब हमारा देव एक है, धर्म एक है, तो फिर स्वधर्म बन्धुता मे भेद क्यो?

स्वधर्म बन्धुओ के उत्कर्ष के समस्त पहलुओ पर हमे सोचना चाहिए। इनमे कुछ बातें मैं आपसे बताऊँगा।

(क) जातीय भेद का निवारण—जैन समाज मे जितने धर्म सप्र-दाय एव गच्छ हैं, उनसे भी बहुत अधिक जातीय भेद प्रभेद खड़े हुए हैं। ओसवाल, पोरवाल, अग्रवाल, दशा वीसा, आदि इतने भेद हैं कि गिने नही जा सकते। दुर्भाग्य से जैन समाज उन भेदो मे बहुत गहरा उलझा हुआ है। उनमे परस्पर प्रेम एव सद्भाव की बात तो दूर रही, एक दूसरे को देखकर जलते हैं, बुराई, निन्दा एव आलोचना करके इतर समाज मे उपहास के पात्र बनते है। समाज की बहुत-सी शक्ति, समय एव अर्थ इन्ही आपसी जातीय भेदो में खर्च होती रहती है। अब समय आया है कि जैन समाज

अपने इन जातीय भेदो को भुलाकर पारस्परिक सद्भाव एव स्नेह के सूत्र मे बधे। मेरी दृष्टि मे जैन धर्म के ह्रास का सबसे मुख्य कारण जातीय भेद भाव ही रहा है। भगवान महावीर की समत्त्व साधना-सामायिक की आराधना करने वाला समाज इस प्रकार टुकड़ो मे खण्ड-खण्ड होकर झगड़ता रहेगा, तो फिर क्या आशा की जा सकती है कि वह समता का झंडा विश्व मे कभी लहरा सकेगा? इस अवसर पर सार्धमिवात्सल्य की पहली बात यह सोचनी होगी कि स्वधर्म-बन्धुओ मे जातीय भेद एव ऊँच नीच के आधार पर किसी भी प्रकार का कोई विवाद न हो।

(ख) इसी सन्दर्भ मे मैं एक बात और कहना चाहता हूँ। जैन धर्म ने प्रारम्भ से ही जातिवाद का विरोध किया है। धर्म साधना के क्षेत्र मे जातीय भेद एव स्पृश्यास्पृश्य की भावना पर भगवान महावीर ने तीव्र प्रहार किया है। खेद है कि जैन समाज मे आज पुनः वे भावनाएँ घर कर गई है। इसी कारण से जैन धर्म अत्यन्त सकुचित दायरे मे सिमट गया है। जैन धर्म का तत्त्वज्ञान एव आचार सहिता निस्सदेह वहुत उच्चकोटि का है। वर्तमान युग मे उस आधार पर एक ऐसी आचार सहिता तैयार होनी चाहिए जो जन-जीवन के शुद्धीकरण में सहायक बन सके। जीवन के सामान्य नैतिक स्तर को स्थिर करने एव राष्ट्र प्रेम तथा भावात्मक एकता की दिशा मे ठोस कदम उठाने के लिए इस प्रकार की आचार सहिता की अत्यन्त आवश्यकता है और साथ ही जो पिछडी हुई निम्न जातियाँ है, छूआ-छूत की दीवार ने जिन्हे हमसे दूर कर दिया है उन्हे भगवान महावीर का जीवन शुद्धि का सदेश सुनाने की आवश्यकता है, सेवा, सदाचार की भावना को लेकर उनके वीच कार्य करने की आवश्यकता है। जैन धर्म के व्यापक प्रचार की दृष्टि से यह वात सवसे महत्वपूर्ण है कि वह जातीय भावनाओं से ऊपर उठकर जीवन शुद्धि की दिशा मे कितना सक्रिय कार्य करता है।

(ग) वात वहुत लम्वी हो चुकी है, मेरे विचार से हमने आवश्यक विषयो को छू लिया है, एक वात और कह दू जो सार्धमि वात्सल्य के क्षेत्र की भी हैं, वह यह है कि जैन समाज आर्थिक प्रतिस्पर्धा में भले ही कुछ गिनने लायक हो, किंतु वह वौद्धिक प्रतिस्पर्धा मे पिछडा हुआ है। उसमे प्रतिभाओ की कमी नही है, किन्तु उन्हें

साधनाभाव से आगे बढने का अवसर नही मिल पाता है और प्रतिभा कुण्ठित होती जाती है। ऐसी प्रतिभाओ को उच्च शिक्षा के लिए, उच्चत्तम अनुसधान के लिए प्रेरणा एव सहयोग की अपेक्षा है। इस प्रकार के सहयोग की प्रवृत्ति पूर्वापेक्षा बढी है, किन्तु अभी वाँछनीय प्रगति नही हुई है। इस अवसर पर कोई ऐसा स्थायी संगठन किया जा सकता है जो इस विषय मे दिलचस्पी एवं तटस्थता पूर्वक कार्य करें।

शिक्षार्थियो को शिक्षा मे सहयोग तथा बेकार युवको व प्रोढो को उद्योग व्यवसाय मे लगाकर समाज की अशिक्षा, अल्पशिक्षा एव आर्थिक विषमता को दूर करने की दिशा मे भी सोचना चाहिए।

ये कुछ विचार हैं जो बहुत समय से मेरी कल्पना में कभी-कभी उभरते रहे हैं, समय समय पर मैं उन्हें व्यक्त भी करता रहा हूँ। आज आपने पूछा तो मैं पुन उनकी चर्चा कर गया हूँ।

स्वर्ग, नरक, पशु व मनुष्य आदि योनियां तो मुखौटे हैं। जिस प्रकार बच्चे मुखौटे लगाकर शेर व कुत्तो का रूप बनाते हैं, किन्तु उनके पीछे तो वही बालक का शरीर रहता है न कि शेर कुत्ते का। इसी प्रकार इन योनियो के मुखौटे के पीछे तो आत्मा है। जो इन मुखौटो को वास्तविक समझता है, वह बालक को ही शेर व कुत्ता समझने जैसी भूल करता है।

\+ + +

विकार का विकार से टूटना साधना नही है। कभी राग की प्रबलता हुई तो द्वेष को दबोच कर रख दिया और कभी द्वेष की प्रबलता हुई तो राग को तोड़ डाला। इससे आत्मा मे शान्ति और प्रसन्नता की अनुभूति नही हो सकती।

साधना है—विकार को विचार से तोड़ना। विवेक पूर्वक विकारो पर विजय प्राप्त करना। जो विकार विचार से शान्त होते हैं, उनसे एक अद्भुत शीतलता एवं अपूर्व प्रसन्नता प्राप्त होती है।

""आगरा से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'अमरभारती में पूज्य उपाध्याय श्री के लेख प्रकाशित होते हैं, उनसे आज के युवक तथा वृद्ध समाज में एक अनूठी जागृति पैदा हुई है, एव धार्मिक भावनाओ मे दृढ़ता लाने मे पूर्णतया सहायक । उपाध्याय श्री के लेखो द्वारा घर-घर मे धार्मिक भावनाओ का प्रचार एव प्रसार हो रहा है, इतना ही नही, अपने समाज के अलावा अन्य समाज के भाई बहन भी अमर भारती के लेखों से पूर्णतया प्रभावित हो रहे हैं, तथा अन्य समाज के काफी लोग उक्त पत्रिका के ग्राहक बन रहे हैं। जो भी व्यक्ति एक बार अमरभारती के लेखों का अध्ययन करता है, वह उनसे प्रभावित हुए बिना नही रहता। पूज्य उपाध्याय श्री के साहित्य को घर-घर मे, जनमानस मे बिना प्रचार एव प्रसार के ही अध्ययन करने की अभिलाषा का विस्तार होता जा रहा है।

(पत्र का अश)

—सौभाग्यमल चतर, रतलाम

आपकी श्री अमरभारती पत्रिका पढ़ने का अवसर मिला। पत्रिका मुझे आध्यात्मिक सामग्री से भरपूर एवं रसप्रद लगी। मैं इसका ग्राहक बनना चाहता हूँ।

—रतीलाल चुन्नीलाल शाह, अहमदाबाद

साभार स्वीकार

[श्री अमर भारती के साहित्यानुरागी उदार सद्गृहस्थ समय-समय पर विभिन्न प्रसगो पर सहयोग करते आए है। उनके सद्भाव पूर्ण सहयोग के प्रति हम आभार प्रकट करते है। साथ ही इस निकटतम अवधि मे प्राप्त सहयोगियो की नामावली भी प्रकाशित कर रहे है। भविष्य मे भी यथासमय सहयोगियो की सूची प्रकाशित की जायेगी।

—सपादक]

२५) श्री प्रेमचन्द साकलचन्द, वनारस
(श्री अमर भारती के प्रचारार्थ)

२१) श्री० डी० आर० ओसवाल, वाराबकी
(श्री अमर भारती के प्रचारार्थ)

२१) श्री दुलीचन्द जी जैन, कलकत्ता
(श्री अमर भारती के प्रचारार्थ)

२१) श्री राजरूप जी टाक, जयपुर
(श्री अमर भारती के प्रचारार्थ)

५१) श्री धनरूपमल जी चौरडिया, जयपुर
(स्व० श्री स्वरूपचन्द जी चौरडिया की पुण्य स्मृति मे)

२१) श्री शान्ति भाई मेहता, रतलाम
(स्व० श्री सोमचन्द भाई की पुण्य स्मृति मे)

२१) श्री मोतीलाल जी कोचर, देहली
(चि० श्री कमल के विवाहोपलक्ष मे)

११) श्री समरथमल जी जीतमल जी, वदनावर
(सुश्री शशिप्रभा के दीक्षा उपलक्ष मे)

श्री अमर भारती की मूल्य वृद्धि

जून महीने के अक के साथ हमने अपने प्रिय पाठको को सूचित किया था कि पत्र के विभिन्न साधनो की मूल्य वृद्धि हो जाने के कारण श्री अमर भारती का वार्षिक शुल्क भी हमे बढाना पड रहा है। डाक टिकट की ढाई गुनी मूल्य वृद्धि, कागज के मूल्यो मे लगभग १४% की वृद्धि एव छपाई तथा मजदूरी [illegible]

उपाध्याय अमरमुनि

आज राज्य धर्म निरपेक्ष होकर चल रहा है, पर धर्म, राजनीति का पुछल्ला पकड़े हुए उसके पीछे-पीछे चलने की चेष्टा कर रहा है। जो धर्म राजसत्ता का मार्ग दर्शक था वह उसका अनुगमन करने वाला बन गया है। और क्या यह परिवर्तन स्पष्ट नही बता रहा है कि धार्मिको का तेज क्षीण हो रहा है और वे अपने निस्तेज व्यक्तित्व से धर्म को भी लांछित कर रहे हैं।

\+ \+ \+

भक्त ने पूछा—"भगवन् ! तुम किन बातों से प्रसन्न होते हो ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—मैं चार बातो से प्रसन्न होता हूँ। (१) अपने से बडो के प्रति सहनशील होने से, (२) अपने से छोटो के प्रति दया करने से, (३) अपने समान पुरुषो के साथ मित्रता करने से, और (४) समस्त प्राणियों को समान दृष्टि से देखने से।

\+ \+ \+

यह देखो, एक पाषाणखण्ड पडा है, इसमे भी गहरी शान्ति है, समदर्शिता भी है, किसी से कुछ भी अपेक्षा नही, इसे कोई भी भला-बुरा दृश्य प्रभावित नही कर सकता, कोई भी अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण उन को चचल नहीं बना सकता।

क्या पाषाण खण्ड की यह शान्ति सच्ची शान्ति है ? क्या यह जीवित शान्ति है ?

नही ! वह शान्ति नही, निष्क्रियता है, जडता है। वह जड शान्ति है, जड समदर्शिता है।

तुम अनन्त शक्ति सम्पन्न चैतन्य देव हो, तुम्हे यह जड शान्ति, जड़ समदर्शिता नही चाहिए। तुम्हारा ध्येय वह जीवित शान्ति एव जीवत समदर्शिता है, जिसमे विश्व के मगल एव कल्याण का स्वर मुखरित हो रहा है, विकास का अभियान चल रहा है।

●

पाठकों के पत्र

श्री अमर भारती के जिज्ञासु पाठक, अपने विचारों व सुझावो से हम समय-समय पर सूचित करते रहते हैं। इससे लगता है कि हमारे पाठक वर्ग मे एक चेतना है, जागृति है। पाठको के कुछ पत्रो मे से, कुछ अश हम यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं जिससे अन्य पाठको को भी प्रेरणा मिलेगी, और श्री अमर भारती की लोकप्रियता एव सुपाठ्य सामग्री की सुरुचिता का एक अनुमान भी।

…श्री अमरभारती के मई-जून अंक मे उपाध्याय श्री जी का स्पष्टीकरण पढने को मिला। लेख पढकर बहुत खुशी हुई, बहुत आनन्द आया।

—लखमीचद मुणोत, रतलाम

श्री अमरभारती के मई अक मे भगवान ऋषभदेव का वर्षी-तप लेख पढा। इतना ज्ञानवर्द्धक एव तर्क पुरःसर लेख पढकर हृदय मे एक प्रकाश-सा दौड गया, ऐसी खोजपूर्ण पाठ्यसामग्री प्रस्तुत करने वाला पत्र हमारी समाज को दिशादर्शक पत्र है।

—प्रो० श्री० मा० रणदिवे, सतारा

अमर भारती का जून अक पढा। 'मानवता का महामत्र' लेख सही माने में मानवता जागृत करता है। मानव-मानव के बीच जितनी भेद डालने वाली दीवारें हैं, उन पर कुठाराघात करता है। इस प्रकार का विशाल दृष्टिकोण ही श्रमण सस्कृति का सही रूप है। अमरभारती के पठन से श्रमण सस्कृति के सही रूप को समझने का मौका मिलता है।

—कालूराम बाफना 'बालाघाट'

पूज्य अमरमुनि जी के प्रशस्त विचार मुझे इतने अच्छे लगे हैं कि मैंने यह पत्रिका मेरे मित्र बधुओं को अपनी तरफ से भिजवाई है। यह पत्रिका टीकाटीपनी से परे आध्यात्मिक जिनवाणी का अमृतपान कराती है।

-एम्० सी० नथमल, विल्लिपुरम्

""""आगरा से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'अमरभारती में पूज्य उपाध्याय श्री के लेख प्रकाशित होते हैं, उनसे आज के युवक तथा वृद्ध समाज मे एक अनूठी जागृति पैदा हुई है, एव धार्मिक भावनाओ मे दृढ़ता लाने मे पूर्णतया सहायक । उपाध्याय श्री के लेखो द्वारा घर-घर मे धार्मिक भावनाओ का प्रचार एव प्रसार हो रहा है, इतना ही नही, अपने समाज के अलावा अन्य समाज के भाई बहन भी अमर भारती के लेखो से पूर्णतया प्रभावित हो रहे हैं, तथा अन्य समाज के काफी लोग उक्त पत्रिका के ग्राहक बन रहे हैं। जो भी व्यक्ति एक बार अमरभारती के लेखो का अध्ययन करता है, वह उनसे प्रभावित हुए बिना नही रहता। पूज्य उपाध्याय श्री के साहित्य को घर-घर मे, जनमानस मे विना प्रचार एव प्रसार के ही अध्ययन करने की अभिलाषा का विस्तार होता जा रहा है।

(पत्र का अंश)

—सौभाग्यमल चतर, रतलाम

आपकी श्री अमरभारती पत्रिका पढ़ने का अवसर मिला। पत्रिका मुझे आध्यात्मिक सामग्री से भरपूर एव रसप्रद लगी। मैं इसका ग्राहक वनना चाहता हूँ।

—रतीलाल चुन्नीलाल शाह, अहमदाबाद

साभार स्वीकार

[श्री अमर भारती के साहित्यानुरागी उदार सद्गृहस्थ समय-समय पर विभिन्न प्रसगो पर सहयोग करते आए है । उनके सद्भाव पूर्ण सहयोग के प्रति हम आभार प्रकट करते है । साथ ही इस निकटतम अवधि मे प्राप्त सहयोगियो की नामावली भी प्रकाशित कर रहे है । भविष्य मे भी यथासमय सहयोगियो की सूची प्रकाशित की जायेगी ।

—सपादक]

२५) श्री प्रेमचन्द साकलचन्द, बनारस
(श्री अमर भारती के प्रचारार्थ)

२१) श्री० डी० आर० ओसवाल, बाराबकी
(श्री अमर भारती के प्रचारार्थ)

२१) श्री दुलीचन्द जी जैन, कलकत्ता
(श्री अमर भारती के प्रचारार्थ)

२१) श्री राजरूप जी टाक, जयपुर
(श्री अमर भारती के प्रचारार्थ)

५१) श्री धनरूपमल जी चौरडिया, जयपुर
(स्व० श्री स्वरूपचन्द जी चौरडिया की पुण्य स्मृति मे)

२१) श्री शान्ति भाई मेहता, रतलाम
(स्व० श्री सोमचन्द भाई की पुण्य स्मृति मे)

२१) श्री मोतीलाल जी कोचर, देहली
(चि० श्री कमल के विवाहोपलक्ष मे)

११) श्री समरथमल जी जीतमल जी, वदनावर
(सुश्री शशिप्रभा के दीक्षा उपलक्ष मे)

श्री अमर भारती की मूल्य वृद्धि

जून महीने के अक के साथ हमने अपने प्रिय पाठको को सूचित किया था कि पत्र के विभिन्न साधनो की मूल्य वृद्धि हो जाने के कारण श्री अमर भारती का वार्षिक शुल्क भी हमे बढाना पड रहा है । डाक टिकट की ढाई गुनी मूल्य वृद्धि, कागज के मूल्यो मे लगभग १४% की वृद्धि एव छपाई तथा मजदूरी

Reg No. L 2043

सभव है कि इससे कुछ ग्राहको के मन पर बुरा असर भी हो। वे कुछ अन्यथा भी सोचें। किन्तु उनसे हमारा नम्र निवेदन है कि यदि आप पत्रिका की विचार सामग्री को पसन्द करते है, और इसके अध्ययन मे रुचि रखते है, तो वर्ष मे ६) रु० की जगह ८) रु० देना सामान्य गृहस्थ के लिए कोई खास बात नही है। फिर हम अपने मौज, शौक पर भी तो कितना खर्च कर देते हैं। उस दृष्टि से भी आप सोचेंगे तो यह मूल्य वृद्धि कुछ भी नही है।

आपसे निवेदन है कि जीवन का निर्माण करने वाली, एव अपने परिवार व समाज को दिशा दर्शन देने वाली इस पत्रिका के ग्राहक आप स्वय बने और दूसरो को भी बनायें।

अगस्त से श्री अमर भारती का शुल्क निम्न प्रकार से होगा।

वार्षिक	८) रु०
त्रिवार्षिक	२१) रु०
पच वार्षिक	३५) रु०
आजीवन सदस्य	१०१) रु०

श्री अमर भारती के आजीवन सदस्य
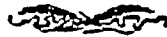
१५३	श्रीमती पुष्पादेवी छजवानी	जयपुर
१५४	श्रीमती सितारा देवी जैन	देहली
१५५	श्री कामता प्रसाद जी जैन	देहली
१५६	मुनि श्री यशोविजय जी महाराज (द्वारा जे० के० जवेरी)	बम्बई
१५७	श्री दुर्लभ जी श्याम जी वीरानी,	राजकोट
१५८	श्री सरदारचन्द जी अजीतचन्द जी भण्डारी	जोधपुर
१५९	श्री सुशीलकुमार जैन (S.D O.)	राजगढ (हि०प्र०)
१६०	श्री सज्जनसिंह जी डागा	भोपाल
१६१	श्री ज्ञानचन्द जी चोरडिया	जयपुर
१६२	श्री पवनकुमार जी जैन	कानपुर
१६३	श्री सौभागसिंह जी लोढा	दोसा
१६४	श्री चन्दनमल जी बैद	लाडनूं

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एव प्रेम प्रिंटिग प्रेस द्वारा मुद्रित।

श्री

अमर भारती

कर्म में अकर्म

जीवन का पथ पंकिल पथ है,
सँभल-सँभल कर चलना।
क्षण-क्षण, पल-पल जागृत रहना,
हो न कभी कुछ स्खलना ॥

सुख-दुख दोनों क्षणभंगुर हैं,
क्या हँसना, क्या रोना ?
रहो अकर्म कर्मरत रह कर,
मन का कलिमल धोना ॥

—उपाध्याय अमरमुनि

सितम्बर १९६५

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

श्री अमर भारती

वर्ष ५ सितम्बर १९६८ अंक

क्या कहाँ

★

★

प्रेरणा
श्री अखिलेश मुनि
मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

★

दिशा निर्देशक
श्री विजय मुनि 'शास्त्री'

★

संपादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'
वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०

★

व्यवस्था
रामधन बी० ए०, 'साहित्यरत्न'

★

प्रकाशक
सोनाराम जैन
मंत्री
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

★

मूल्य
आजीवन एक सौ एक रुपया
वार्षिक . आठ रुपया
एक प्रति पचहत्तर पैसे

मुद्रक
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी आगरा

आवरण
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-३

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

तिण्णो हु सि अण्णव महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ?
अभितुर पार गमित्तए, समय गोयम ! मा पमायए ॥

—उत्तराध्ययन १०।३४

तू महासमुद्र को तैर चुका है, अब किनारे आकर क्यो बैठ गया ? उस पार पहुँचने के लिए शीघ्रता कर। हे गौतम ! क्षण भर के लिए भी प्रमाद करना उचित नही है।

अह पचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई।
थभा कोहा पमाएण, रोगेणालस्सएण वा ॥

—उत्तराध्ययन ११।३

अहकार, क्रोध, प्रमाद (विषयासक्ति), रोग और आलस्य—इन पाच कारणो से व्यक्ति शिक्षा (ज्ञान) प्राप्त नही कर सकता।

न य पावपरिक्खेवी, न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स, रहे कल्लाण भासई ॥

—उत्तराध्ययन ११।१२

सुशिक्षित व्यक्ति न किसी पर दोषारोपण करता है और न कभी मित्रो-परिचितो पर कुपित ही होता है। और तो क्या, मित्र से मतभेद होने पर भी परोक्ष मे उसकी भलाई की ही बात करता है।

उपाध्याय अमरमुनि

हीरे की खोज

आप चाहे किसी भी प्रबुद्ध प्रवक्ता का प्रवचन सुनिए, किसी भी सत्यनिष्ठ उपदेशक का उपदेश सुनिए, विभिन्न प्रकार की शब्दावली के भीतर आपको एक ही सत्य की प्रतिध्वनि गूंजती सुनाई देगी। अभिव्यक्ति के माध्यम बदलते रहते हैं, किन्तु सत्य कभी नही बदलता, सत्य अनेक भी नही होते। **"एकम्हि सच्च, दुतियं नत्थि"**— सत्य दो नही होते, एक ही होता है। विभिन्न माध्यम उसी एक अखण्ड सत्य को सदा-सर्वदा व्यक्त करते आए है। मैं भी उसी सत्य को अपनी भाषा मे आपके समक्ष व्यक्त कर रहा हूँ।

हीरा बाहर में नहीं !

●

पूर्ववक्ता मुनिजी आपके समक्ष हीरे की बात कर रहे थे। हीरे की बात बहुत पुरानी है। अनन्त-अनन्त काल से मनुष्य हीरे की खोज मे भटकता रहा है, परन्तु मिला कहां है ? बात असल मे यह है कि मनुष्य हीरा बाहर मे खोजता रहा है, दूसरो की भूमि पर टोहता रहा है, जबकि वह उसीके भीतर मे है, उसी की धरती पर उसकी खदान है।

एक बहुत पुरानी बात है। एक समृद्ध और सुखी श्रीमत सेठ था। किसी दिन उसके घर पर एक भिक्षुक आया, सेठ ने सादर-स्वागत किया। अतिथि सत्कार तो भारत की परम्परा रही है। यहा का तो स्वर है—**"सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नाति ?"**[1] अतिथि देवता जिसका अन्न ग्रहण कर लेता है, उसके सब पाप जल कर भस्म हो जाते हैं। सेठ ने भिक्षुक का स्वागत-सत्कार किया, उसे तृप्त किया, मधुर वाणी से भी और अन्न जल से भी। तैत्तिरीय

---

१ अथर्व वेद ९।६।८।२५

ब्राह्मण का एक सूत्र स्मृति मे आ रहा है। "घृतैर्बोधयाऽतिथिम्"[1] अतिथि को घृत से अर्थात् स्नेह-सिक्त वाणी से प्रसन्न करो। घर पर आया हुआ अतिथि पहले मधुर सभाषण चाहता है, फिर अन्य कुछ! आपसे मुझे कहना यह है कि भारतीय सस्कृति के ये स्वर गृहस्थ जीवन के मधुर सगीत के स्वर हैं। ये सिर्फ सुनकर झूम उठने के लिए ही नही हैं, अपितु हृदय मे पूर्ण रूपेण प्रतिध्वनित हो जाने चाहिएँ और जीवन मे इनका गु जन सतत सुनाई देना चाहिए।

सेठ ने भिक्षुक को तृप्त किया, किंतु भिक्षुक ने सेठ को अतृप्त अशान्त बना दिया। अभिशाप नही दिया, पर वह वरदान भी किस काम का, जो व्यक्ति की अशान्ति का कारण बन जाए। बात यह हुई कि भिक्षुक के पास एक बहुमूल्य हीरा था, उसने प्रसन्न होकर वह सेठ को दे दिया।

सेठ ने पूछा—यह हीरा कहा होता है ? कहाँ मिला आपको ?

भिक्षुक ने बतलाया—सेठ! हीरा खदानो मे होता है। यह तो मुझे घूमते-फिरते कही पडा दिखलाई दिया तो मैंने उठा लिया कि चलो, किसी भक्त के काम आयेगा! जिसके पास हीरो की खदान होती है, उसका क्या कहना ? तब तो ससार का वैभव विलास उसके चरणो मे मुक्तरूप से लोटता है।

भिक्षुक हीरा देकर चला गया। पर सेठ के अमन-चैन हवा हो गए। उसे हीरो की खदान चाहिए थी, वह उसकी खोज मे निकल पडा। अपनी भूमि-खेत, मकान आदि सब बेचकर वन-पर्वत जगलो की खाक छानता रहा, हीरो की खदान पाने के चक्कर मे दूर-सुदूर भटकता रहा।

एक युग बीत गया। वह भिक्षुक एक दिन पुन उसी नगर मे, उसी मुहल्ले मे से गुजरा। सेठ के मकान के सामने आकर पूछा—यहा अमुक सेठ रहता था, वह कहा है ?

उस मकान मे रहने वाले व्यक्ति ने बताया—वह तो कब का ही इस मकान को बेचकर चला गया, अब यह मकान हमारा है। हमने खरीदा है।

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण १।२।१

"कहा गया ? क्यो चला गया ?" भिक्षुक ने आतुर जिज्ञासा से पूछा ।

उसने बताया—पता नही, उसके दिमाग मे क्या सनक सवार हुई ? कह रहा था 'हीरो की खदान खरीदूँगा, ससार का सबसे बड़ा वैभवशाली बनूँगा' । इसी सनक मे उसने अपने खेत, मकान आदि सब बेच डाले, हमने खरीद लिए ।

भिक्षुक ने एक गहरी दृष्टि उस मकान के अन्दर डाली । झाँक कर देखा कि एक कोने मे कुछ हीरे पड़े चमचमा रहे हैं । जो हीरा सेठ को दिया था, उससे भी अधिक मूल्यवान, अधिक चमकदार ! पूछा—"यह सब कहा मिले ?"

मकान मालिक ने बताया—"यह चमकदार पत्थर, जिसका यह मकान और खेत हमने खरीदा है, उसीके खेत मे पड़े मिले हैं ।"

भिक्षुक की दृष्टि चु धिया गई, उसने पूछा—"वह सेठ कहा गया, पता है कुछ ?"

"सुना है, वह किसी बड़े नगर मे भीख मागता फिरता था और अभी कुछ दिन पहले राजमार्ग पर उसका मृत शरीर मिला है । वह मर गया !"

भिक्षुक ने एक गहरा निश्वास खीचा, चल पडा उसी खेत की ओर, जहाँ ये हीरे मिले थे । खेत मे आकर देखा, खेत के एक भाग मे ही नदी बह रही है । नदी की चमचमाती बालू को हाथ मे उठा कर देखा, तो उसमे हीरे के कण चमक रहे थे । नदी की बालू मिट्टी मे ज्योही गहरा हाथ डाला. तो देखा कि बहुमूल्य हीरे मिट्टी मे इधर उधर दबे पड़े हैं ।

भिक्षुक का हृदय पीडा से विह्वल हो गया । वह गुनगुना उठा—

पास ही रे हीरे की खान !
खोजता कहा उसे नादान ?

कथा का रूप कुछ बडा हो गया है । अब आइए इसके मर्म पर, रहस्य पर ! सेठ की तरह, जिसे कुछ लोग बाहर खोजते रहे हैं, मैंने आपको बताया कि वह हीरा कही बाहर मे नही, अपने ही भीतर मे है, और किसी एक के पास ही नही, प्रत्येक आत्मा के पास

है। चाहे वह अनन्त ज्योति पु ज के रूप मे प्रकट है, या अभी अधकार मे ठोकरें खा रहा है। चाहे वह उच्च विकास की भूमिका पर पहुँच गया है, या कही अधगर्त मे पडा है।

जैन दर्शन इस बात मे विश्वास रखता है कि कोई भी आत्मा एकान्त रूप से सदा के लिए दीन-हीन या पतित नही है। पशु और नारक भी उस अवस्था मे ही सदा काल भटकने वाले नही हैं, उनमे देवत्त्व भी छिया है, वह भी कभी व्यक्त होगा। यहाँ हर कस मे कृष्ण के दर्शन किए जा सकते हैं, हर देवदत्त मे बुद्ध को रूपायित देखा जा सकता है, और हर गोशालक मे महावीर की आत्मा के दर्शन किए जा सकते हैं। अधकार को यह न समझो कि वह सदा अधकार ही रहेगा, उसमे से कभी ज्योतिस्फुलिंग प्रगट ही न होगे। कभी भी अधकार को चीरकर ज्योति उसमे से प्रज्वलित हो सकती है।

जैन चरित्रो और कथाओ को देखने-पढने का जिसे अवसर मिला है, वह देख सकता है कि व्यक्ति के एक ओर तमसाच्छन्न काली छाया दिखाई देती है तो दूसरी ओर महान् दिव्य छवि भी प्रकाशमान होती नजर आती है। हर चरित्र मे एक कृष्ण पक्ष है, तो दूसरा शुक्ल पक्ष भी है। वैदिक साहित्य मे भी जीवन की ये दोनो तस्वीरे दिखलाई देती हैं।

भारत के प्राचीन चरित्रो पर से एक निष्कर्ष निकलता है कि दोनो ही रूपो मे एक ही ज्योति जगमगा रही है। राम भी मुक्त होते हैं और रावण भी। जैनधर्म मे रावण की मुक्ति चरित्र साधना पर से स्वीकार की है, जो भविष्य मे होने वाली है। वैदिक परम्परा मे भगवान् राम के हाथ से मृत्यु होने के कारण उसकी मुक्ति बतलाई है। दोनो ही मान्यताओ मे रावण मुक्त है। इसका अर्थ है कि राम और रावण की आत्मा मे मूलत. कोई अन्तर नही किया गया है। भगवत्तत्व दोनो मे है। अन्दर मे दोनो एक हैं।

जैन परम्परा मे आप भगवान महावीर का चरित्र पढते हैं। जैन धर्म ने जहाँ महावीर की मुक्ति मानी है, वहाँ गोशालक को भी मुक्त होने की गारटी दी है। वह गोशालक, जो घृणा का एव वैर का वीभत्स रूप लिए, एक जलती हुई आग की तरह महावीर की धर्म सभा मे आता है, पागल मदोन्मत्त की तरह गर्जता है।

भगवान के प्रति कितनी अभद्रता, कितनी घृणा, कितनी अधिक कुत्सा ! दो-दो मुनियो को जलाकर भस्म कर डालता है। और तो क्या, स्वय भगवान महावीर को भी अपने तेजस् से झुलसा डालने का दुष्कर्म करता है और आखिर उस तेजस् से स्वय ही दग्ध हो जाता है। आप सोचिए, उस के लिए जन-जन के मन से घृणा और अवज्ञा के सिवाय और क्या बरसा होगा। कल्पना कीजिए, उस समय उपस्थित भक्तो की मन: स्थिति क्या बन रही होगी ? भगवान की जब अवमानना की जाती है, तो भक्त सह नही सकता। सोचिए, यदि इस सभा मे कोई व्यक्ति आकर मुझे गाली दे, कुछ पीडित करने का प्रयत्न करे तो उस स्थिति मे आप क्या करेंगे ? यदि आपके पास एक श्रद्धालु भक्त का हृदय है तो आप व्याकुल हो उठेंगे, उसे बर्दाश्त करना आपकी शक्ति से बाहर हो जायगा। यदि आप सयत भी रहे, कुछ न भी करे, तब भी उस व्यक्ति के प्रति आपके मन मे अवज्ञा की एक लहर तो मचल उठेगी ही।

भगवान के समवसरण मे यह दृश्य उपस्थित हुआ तो आप सोच सकते हैं, क्या हुआ होगा ? वहाँ सब मिट्टी के ढेले तो नही बैठे थे। उनमे भी अटूट श्रद्धा थी, साथ ही पौरुष भी था। उन सबके मन मे क्या गुजरी होगी ! गोशालक के प्रति कितनी घृणा उछलने लगी होगी उनके मन मे ! कितनी गालियाँ दे रहे होगे वे गोशालक को ?

गोशालक को भी आशीर्वाद

●

किन्तु भगवान महावीर ने उस समय क्या कहा, मालूम है आपको ? भगवान ने गोशालक को शाप नही दिया, गाली नही दी, अपितु आशीर्वाद दिया। उसके जीवन के भावी दिव्य रूप की चर्चा की उस समय उन्होने ! गोशालक के पूर्व जीवन की पुस्तक खोलकर नही बैठे, उसकी भूलो और दुष्कर्मों का बखान नही किया, किन्तु उसकी अगली जीवन धारा का वर्णन शुरू किया। उसके सुन्दर भविष्य का सुन्दर चित्र उपस्थित किया कि इस आत्मा मे भी मेरी ही तरह एक ज्योति है, वह प्रज्वलित होगी और एक दिन मेरी ही तरह यह भी शुद्ध बुद्ध ज्योतिर्मय बनेगा।

यह ठीक है कि कर्म निष्फल नही जाते। वह भूली भटकी आत्मा कुछ दिन ठोकरे भी खाएगी, किन्तु आखिर मे जागृत होकर अपने ज्योतिर्मय स्वरूप को प्राप्त कर ही लेगी। आप उक्त घटना पर से देख सकते हैं हमारी दृष्टि कहाँ है ? उसके कृष्ण पक्ष पर है, या शुक्ल पक्ष पर ? अधकार पर है या प्रकाश पर ? वह हीरे को कहाँ खोजती है, अपने ही भीतर मे या कही बाहर मे ? भारत का आध्यात्मिक मानव घर का मालिक बनकर अपने घर को देखता है, या भिखारी बनकर इधर-उधर ठोकरे खाता है ?

रात के बाद प्रभात भी

भारतीय दर्शन कहता है कि—वह हीरा, वह ज्योति तुम्हारे भीतर ही है। तुम ही वह हीरा हो, तुम ही वह ज्योति हो। जैन दर्शन के अध्यात्मवादी आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा है–"उवओग एव अहमिक्को"[1] मैं एक मात्र उपयोग रूप हूँ, ज्योतिर्मय हूँ। जो ज्योति है, ज्ञान है, बस वही मैं हूँ। यही स्वर आपको भारतीय चिन्तन के सुदूर अतीत मे गूँजता सुनाई देगा। ऋग्वेद का ऋषि भी यही पुकार रहा है—"अग्निरस्मि जन्मना जातवेदा"[2] मैं परम तत्त्व स्वरूप अग्नि हूँ, ज्योतिर्मय हूँ, मैं जन्म से ही अपने दिव्य स्वरूप को स्वय ही व्यक्त करता हूँ।

दर्शन, जो आत्मा का निगूढ चिन्तन है, प्रकृति के इस नियम को जीवन का ध्रुव सत्य मानता है कि अधकार से भरी काली रात के बाद स्वर्णिम प्रभात आयेगा, और निश्चित आयेगा। भारतीय दर्शन अधकार को सत्य नही मानता, प्रकाश को सत्य मानता है। जीवन के कृष्ण पक्ष को वह विकृति मानता है, शुक्ल पक्ष को सहज-स्वाभाविक ! प्राकृतिक ! वह जीवन को दीन-हीन दशा मे विश्वास नही करता, वह उसके विराट ज्योतिर्मय स्वरूप मे आस्था रखता है।

ऊपर की परतें तोड़िए

कुएँ मे अगाध जल भरा है, जल के अनेक मधुर स्रोत बह रहे हैं, पर यह तो सम्भव नही कि ऊपर बैठे-बैठे ही आपको वह निर्मल

१. समयसार ३७
२. ऋग्वेद ३। २६। ७

जल प्राप्त हो जाए। ऊपर जो मिट्टी और पत्थर की परतें है, उन्हें तोडना होगा। जब ऊपर की परतें टूटेंगी, तभी नीचे बहती हुई शीतल-निर्मल जल धारा प्राप्त हो सकेगी !

हमारा दर्शन कहता है—तू अक्षय अमृत कूप है। तेरे भीतर मे अनन्त अक्षय अमृत-स्रोत बह रहे हैं। किन्तु ऊपर मे जो अज्ञान के आवरण है इन्हे हटा, अविश्वास की परतो को तोड़, तभी उस अमृत की उपलब्धि हो सकेगी।

'पर' में भी वही रूप देखो

●

इस विराट आत्म-दर्शन के साथ एक महत्वपूर्ण बात और है, जो दर्शन की अनिवार्य शर्त है। हमारा दर्शन प्रत्येक आत्मा से कहता है कि 'तू अपने को हीन मत समझ !' साथ ही यह भी कहता है कि पर को भी हीन मत समझ। जो ज्योति तुम्हारे भीतर है, वही दूसरे के भीतर भी है। जो अमृत कूप तुम्हारे अन्दर है, वही दूसरे के अंदर भी है। अत. अपने समान ही पर मे भी वही रूप देखो, उसी अनन्त-ज्योति के दर्शन करो !

बहुत बार दूसरो में दोप और गलतियाँ देखकर हम यह समझ लेते हैं कि वह पतित है, हीन है, हम श्रेष्ठ हैं। यह अहकार तो आवरण है, तुम्हारी ज्योति को आच्छादित करता है। इसे तोड़ने की आवश्यकता है। अपनी बुराई का प्रतीकार करो, साथ ही दूसरे की बुराई का भी प्रतिकार करो, अपने आवरण को भी तोडो, साथ ही दूसरो के आवरण को भी तोड़ो। तुम में और 'पर' मे कोई मौलिक भेद नही है। जैन दर्शन कहता है—"हत्थिस्स य कुंथुस्स य समे चेव जीवे"[1] कीडी और कुन्जर मे एक समान जीव आत्मा है। सिद्ध और साधक की आत्मा में भी कोई मूल विभिन्नता नही है। हर साधक आत्मा के भीतर सिद्ध स्व-रूप की अखण्ड ज्योति विद्यमान है।

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सोइ सिद्ध होय।
कर्म मैल का अंतरा, बूझे बिरला कोय॥

---

१ भगवती ७।८

अन्तर जो दिखलाई पड रहा है वह केवल आवरण का है, कर्म मैल का है। वस्त्र-वस्त्र मे अन्तर दिखलाई दे रहा है, एक स्वच्छ है, एक मैला ! मैं पूछता हूँ—यह अन्तर वस्त्र का है या मैल का ? वस्त्र अपने मूल रूप से दोनो मे ही है, किन्तु एक पर मैल की परत चढ गई है, एक अभी उज्ज्वल है। हमारी दृष्टि मैल पर नही जानी चाहिए, मैल देखना दोष देखना है। दोषदृष्टि जीवन का जहर है, अन्धकार है। ऊपर ही नही, अन्दर मे भी देखो। अन्धकार के नीचे छिपे निर्मल प्रकाश को भी देखो। सत्य ऊपर मे नही, अन्दर मे है।

जगल बनाम उद्यान

●

भारतवर्ष का हर गुरु अपने शिष्य को यही सदेश देता रहा है—"अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही परमात्मा है। जो ज्योति आत्मा मे है वही परमात्मा मे भी है। फर्क यही है कि वह ज्योति जागृत हो गई है, और तुम्हारी लौ अभी जागृत होने को है। पर तुम्हारी दृष्टि सदैव उस जागृत होने वाली लौ की तरफ रहनी चाहिए। उत्थान पतन के बीच, दु ख-सुख के बीच, अन्धकार प्रकाश के बीच तुम अपने विराट् स्वरूप को कभी भुलाओ नही ! तुम वह मिट्टी के ढेले नही, जो गिरकर चकना चूर हो जाया करते हैं। तुम तो वह गेंद हो, जो जितनी जोर से गिरती है, उतनी ही वेग मे ऊपर उठती है। जो गिर कर उठना नही जाने, वह जीवन क्या ? वह जीव क्या ?

मैं आपसे दर्शन की इसी दृष्टि की चर्चा कर रहा हूँ कि हमारा जीवन विराट जीवन है, उसे देखने की दृष्टि भी विराट होनी चाहिए। स्पष्ट होनी चाहिए।

हमारा जीवन एक सुन्दर उद्यान की तरह है, जगल नही है। जगल मे जिधर भी जाइए, चारो ओर कटीली झाँड़ियाँ, कुटिल वृक्षो का सघन झुरमुट ! एक अजीव भयानकता, जटिलता छाई रहती है सब ओर। चोर, लुटेरे, हिंसक जानवर ! एक विभीषिका ! सब ओर साँय साँय भाँय-भाँय। कितना भयाकुल विकृत रूप है जगल का ! दूसरी ओर उद्यान है ! जिधर भी चले जाइए, एक से एक सुन्दर सुहावने वृक्षो की मोहक पक्तियाँ, सौरभ से मदमाते महकते

फूल, मन को ताजगी से भर देते हैं, उल्लास और प्रसन्नता बाँटते रहते है। जगल के मार्ग जटिल—कुटिल होते हैं, उद्यान के मार्ग सुन्दर-सरल ! व्यवस्थित !

हमारा जीवन जगल नही, उद्यान बनना चाहिए ! सद्‌गुणो के सुन्दर पुष्प खिलते रहने चाहिएँ। जो भी पास से निकले, सहसा आकृष्ट होकर दो क्षण रुककर जी भर कर देखता रहे, प्राणप्रद स्फूर्ति और ताजगी पाता रहे। उसमे उदात्त विचारो के सघन वृक्ष लहलहाते रहे, जो उत्तप्त एव श्रान्त लोगो को शीतल छाया देकर सतुष्ट करते जाएँ !

जीवन को उद्यान बनाना है और इसी सकल्प से आप यहा आए भी हैं। मैं इसी सकल्प से आपके समक्ष इतना कुछ कह चुका हूँ कि यह जीवन एक महान जीवन है, इससे भटकिए नही, इसके भीतर देखिए ! अपने 'हीरे' को प्राप्त कीजिए, अपनी ही धरती पर अपनी हीरो की खदान का पता लगाइए। जो दूसरो की धरती पर हीरा खोजता है वह भिखारी होता है। आप अपने जीवन के स्वामी हैं। अपनी भूमि पर ही हीरो की खोज कीजिए और जीवन के अनन्त ऐश्वर्य-वैभव को प्राप्त कीजिए !

- ओस :-

परोपकारी बनना तुम्हे तो,
अमूल्य शिक्षा कुछ ओस से लो।
करो सभी सत्कृत गुप्तता से,
प्रसिद्धि का नाम न भूल से लो ॥
समस्त ससार प्रसुप्त होता,
यदा, तदा भू पर ओस आती।
निशा-निशा में कर आर्द्र खेती,
प्रभात होते न कही दिखाती ॥

— अमर मुनि

उपाध्याय अमर मुनि

महामंत्री उदयन

मारवाड का एक गरीब बनिया घूमता घामता गुजरात की सुप्रसिद्ध कर्णावती नगरी मे पहुँच गया। जैन मन्दिर के एक कौने मे उसे उदास और चिन्तित बैठा देखा, तो एक श्राविका ने उससे पूछा— "बन्धु! तुम कौन हो? क्या नाम है तुम्हारा? परदेशी लगते हो?"

युवक बनिये ने जरा अपने को सम्हालते हुए कहा—"बहन! मेरा नाम 'ऊदा' है, परदेशी हूँ, इसीलिए मेरा यहा कोई नही, सोच रहा हूँ, कहा जाऊँ?"

श्राविका का नाम था लक्ष्मी। सब कोई उसे प्रेम मे 'लाछी' कहकर पुकारते थे। लाछी ने कहा—"भाई! तुम कोई चिन्ता मत करो! मेरे घर चलो, खाना पीना करो। बहन के घर जाने मे भाई को क्या विचार, क्या सकोच!"

ऊदा—"बहन! मैं अकेला नही, मेरे बालबच्चे भी साथ हैं, उन्हे कहा ठहराऊँ!"

लाछी ने बडी ममता से कहा—"भाई! कोई हर्ज नही। चलो, मेरे घर के पास मेरा ही अपना एक खाली मकान है, उसी मे रहना। और सब व्यवस्था भी धीरे धीरे हो जाएगी। भाभीजी साथ हैं और भतीजे भतीजिया भी! यह तो मेरे लिए और अधिक आनन्द की बात है।"

एक अनजाने आदमी के प्रति लाछी बाई की यह ममता देखकर 'ऊदा' का हृदय गद्-गद् हो गया—'जहाँ की बहनें अकारण इतना स्नेह और सौहार्द रखती हैं, वह भूमि कितनी धन्य है।' 'ऊदा' वहा आराम से रहकर घी का व्यापार करने लगा। धीरे धीरे उसके पास कुछ सम्पत्ति जमा हो गई, तो उसने वह पुराना मकान तुडवाकर नया बनाने के लिए लाछी बाई की अनुमति मागी। लाछीवाई ने

कहा—"भाई! यह मकान मैं तुम्हे दे चुकी, अब तुम जैसा चाहो वैसा कर सकते हो। मुझे प्रसन्नता है—तुम बहुत जल्दी ही इस योग्य हो सके कि नया मकान बना सको।"

जब नीव खुदने लगी तो उसमे से एक स्वर्णमुद्राओ से भरा कलश निकला। ऊदा ने सोचा—यह धन तो मेरा नही है। उसने बहन को बुलाकर अपना धन लेने के लिए आग्रह किया। बहन भी बडी निस्पृह थी। उसने कहा--मकान जब मैंने तुम्हे दे दिया, तो इस धन पर मेरा कोई हक नही है। यह तो तुम्हारे ही भाग्य का है।

ऊदा ने बहन से बहुत आग्रह किया, वह धन ले ले, क्योकि यह उसी का है, पर बहन थी कि अपने पथ से टस-से-मस नही हुई।

ईमानदारी, श्रम और बुद्धिमत्ता के कारण धीरे-धीरे 'ऊदा' का प्रभाव चारो ओर फैलने लगा। गुजरात का इतिहास कहता है कि आगे चलकर वही 'ऊदा' गुजरात का 'महामत्री उदयन' के नाम से विख्यात हुआ। महामत्री उदयन का युग गुजरात का स्वर्णयुग कहा जाता है।

—प्रबन्ध चिन्तामणि ३।६२।पृ० ६७

●

-: भक्ति योग :-

जिनकी रग-रग में न खोलता,
भव्य भक्ति का अभिनव रक्त।
हृदयहीन श्रद्धाविरहित वे,
हो सकते है क्यो कर भक्त?
भक्तियोग सर्वोच्च योग है,
अगर साथ हो उचित विवेक!
सर्वनाश का बीज अन्यथा,
अन्धभक्ति का है अतिरेक।

— अमर मुनि

उपाध्याय अमर मुनि

अनन्त भविष्य का दर्शन

भगवान महावीर ने साधक के लिए एक बहुत बड़ी बात कही है। साधक से यह न पूछो कि 'वह क्या था? और क्या है?' बल्कि 'वह क्या होना चाहता है'—यह पूछो।

जीवननिर्माण की दिशा मे अतीत का महत्व नहीं, भविष्य का महत्व है। जो गुजर चुका, वह कैसा भी हो, उसका महत्व समाप्त हो गया। जो आने वाला है, उसका महत्व है कि वह सुन्दर एव सुन्दरतम बने

वेदो के उद्‌भट भाष्यकार आचार्य उव्वट ने यजुर्वेद के एक मत्र का भाष्य करते हुए लिखा है—"भूत सिद्ध भव्यं साध्यम्, भूत भव्यायोपदिश्यते, न भव्य भूताय"[1]—भूत सिद्ध है और भविष्य साध्य है। भविष्य के लिए ही भूत का उपदेश किया जाता है, भूत के लिए भविष्य का नही। जो भूत है वह हाथ से निकल चुका, भविष्य तुम्हारे हाथ में है, जैसा चाहो वैसा उसे बना सकते हो।

गरुड़ बनकर चलना है

●

जैन साधना इस बात पर नही रुकती कि तुम अतीत मे देव थे, दानव थे, या पशु-पक्षी थे? तुम्हारा अतीत क्या था, अतीत मे तुम्हारा जीवन कैसा गुजरा है, यह प्रश्न साधना के क्षेत्र मे मूल्य हीन है। वहा तो इस सूत्र पर बल दिया गया है—"करेमि भंते! सामाइय · अप्पाण वोसिरामि" निर्मल भविष्य का सकल्प करता हूँ, जीवन को समता और श्रेष्ठता की ओर उन्मुख बनाता हूँ, अतीत की समस्त भूलो व अपराधो से मुक्त होता हूँ।

---

1 यजुर्वेदीय उव्वट भाष्य १ । १

भारतीय दर्शन की यही प्रतिध्वनि चारो ओर गूँजती रही है। वह अतीत के अन्धगर्त मे जाकर नही छुपता, वह भविष्य के शिखर पर खडा होकर अनन्त अनागत को देखने का दर्शन है। उसका अतीत दर्शन सिर्फ इसलिए है कि वह अतीत मे हुई सद् असद् प्रवृत्तियो से शिक्षा ले और सुन्दर भविष्य का निर्माण करे। 'हम क्या थे ?' यह तिहास का प्रश्न हो सकता है, किन्तु दर्शनशास्त्र का यह प्रश्न नही हो सकता। दर्शन शास्त्र के समक्ष तो प्रश्न यह है कि "हमें क्या होना है ?" भविष्य कैसा बनाना है ?" यही प्रश्न दर्शनशास्त्र की पृष्ठ भूमि का प्रश्न है।

पापों की स्मृति भी न करो

●

एक भारतीय चिन्तक ने तो यहा तक कहा है कि पुराने पापो की स्मृति भी तुम अपने मस्तिष्क से निकाल दो। जब तक पापो की स्मृति बनी रहेगी, मन भी पापी बना रहेगा।

हमारे यहा पाप का प्रायश्चित्त किया जाता है। प्रायश्चित्त का अर्थ भी यही है कि जो मैल मन पर लग गया है, उसको धोकर साफ कर दिया जाए ! उसकी स्मृतियाँ-समाप्त करदी जाएँ ! सोचिए, हाथ यदि गन्दा हो गया तो साफ कर लिया जाता है और उस गन्दगी की भावना को स्मृति से मिटा दिया जाता है। शुद्ध होने पर भी हाथ के गन्दा होने की स्मृति मस्तिष्क मे छाई रहेगी और खाने के समय वह उभराएगी तो आपकी क्या स्थिति हो जाएगी ? ऐसी स्मृतिया यदि मन मे जमा होती रही तो आपका मन एक कबाडखाना बन जाएगा और आप आनन्दपूर्वक जी नही सकेंगे। अतीत की बीती स्मृतियाँ भुलाने के लिए होती हैं, और भविष्य के सुन्दर स्वप्न कुछ कर डालने के लिए !

अतीत की स्मृतिया हमारे पास हैं भी कितनी ? भगवान महावीर ने बताया—तुम अनन्त-अनन्त बार नरक में हो आए, अनन्त-अनन्त बार कीट पतग बन गए, शूकर-कूकर बन गए, राक्षस और दैत्य बनगए ? क्या आपको उनकी स्मृतिया हैं अभी शेष ? कहा हैं वे ? यदि एक आध जन्म की स्मृति भी किसी को हो तो बडा आश्चर्य किया जाता है, पर वह भी कहा है ? हाँ, इस जन्म की थोडी-बहुत बची

खुची स्मृतियाँ अवश्य हैं, किन्तु इनका भी भार शिर पर क्यो ढोते हैं ? यदि कभी भूल हुई। किसी से झगडा हुआ, वेमनस्य हुआ तो उन स्मृतियो को मन मस्तिष्क से निकाल फेंकिए, पश्चात्ताप के द्वारा, 'अप्पाण वोसिरामि' कर डालिए ! इस प्रायश्चित्त विधि से ही मन की शुद्धि होगी ! स्मृतियो का पवित्रीकरण होगा !

भूल की चर्चा भी अपराध है

●

जैन आचार ग्रन्थो मे बताया गया है कि किसी साधु से भूल हो जाए तो आचार्य आदि के पास उसका प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए। आचार्य को भी चाहिए कि प्रायश्चित्त लेने के बाद उस भूल को भुलादे, 'नेकी कर कुए मे डाल' की तरह प्रायश्चित्त हो जाने पर जनता के समक्ष उस भूल की चर्चा भी मुह पर न लाए। इससे आगे यहा तक भी कहा गया है कि आचार्य यदि उस भूल की चर्चा हर किसी के सामने करे तो जितना प्रायश्चित्त उस साधु को आया है, उतना ही अपितु उससे भी कहीं अधिक प्रायश्चित्त इधर-उधर बात करने वाले को आता है। क्योंकि उसने मरे हुए भूतो को जगाया है, समाप्त हुए अपराध एव पाप को फिर से जागृत किया है, अतः पाप करने वाले से भी बढकर वह पापी है।

एक विदेशी बौद्ध भिक्षु की प्रार्थना मैंने एक बार पढ़ी थी। उसका कुछ भावार्थ याद है। वह भगवान बुद्ध से प्रार्थना करता है—प्रभो ! मैं कभी भी पाप न करूँ, यह बल दो। और इससे भी अधिक यह शक्ति दो कि किए हुए पापो को फिर याद न करूँ। उनकी स्मृति मेरे मन मे न रहे। पश्चात्ताप के बाद पाप की स्मृति मेरे मन से उसी तरह झड जाए, जैसे कि पतझड मे वृक्ष के पत्ते झड़ जाते हैं।

पाप को याद करने का मतलब यह है कि उस पाप की जड़ें अभी भी हमारे मन मे है। वह बुराई स्मृति से लुप्त नही हुई है। ध्यान एव योग साधना का सबसे प्रथम चरण यही है कि साधक मन को विगत की स्मृतियो से मुक्त करे, ताकि मन हलका एवं प्रसन्न रहे और एक मात्र अपने लक्ष्य पर केन्द्रित हो जाए।

साधना का यही राजमार्ग है कि साधक अतीत के सकल्पों से मुक्त होकर भविष्य का दर्शन लेकर आगे बढता रहे। जो व्यक्ति, जो जाति और जो राष्ट्र अतीत के सकल्पो मे उलझा रहता है उसका भविष्य कुछ नही होता और इसलिए उसका वर्तमान भी कुछ नही होता। वह कीडे का जीवन जीते हैं, धरती पर रेंगते हुए चलते है और समाप्त हो जाते हैं, उनके सामने आगे की मजिल नही होती। हमे कीड़े मकोडो की तरह नही, गरुड की तरह चलना है, जिसकी दृष्टि मे अनन्त आकाश पथ समाया हुआ है, और जो उन्मुक्त उडान भरकर झपाटे के साथ मजिल तय करता है। जो व्यक्ति, जो राष्ट्र भविष्य का स्वप्न लेकर चलते हैं, जिनके सामने जीवन के अभ्युदय एव विकास की श्रेष्ठ परिकल्पनाएँ होती हैं, वे ससार मे उन्नति के शिखर पर चढते हैं, उनका भविष्य बनता है और बनता है बहुत सुनहला! बहुत शानदार।

विकास का क्षेत्र असीम है

●

सस्कृत की एक सूक्ति पढी थी—"असतुष्टा द्विजा नष्टा. सतुष्टाश्च महीभुज·" ब्राह्मण असतोष से नष्ट हो जाता है, और राजा सतोष करने से। मतलब है इसका—जिसके सामने सिर्फ वर्तमान ही रहता है, वर्तमान का सुख ही जिसका सुख है, उसे भविष्य की आशा सुखी नही बना सकती। किन्तु जिसके सामने अनन्त भविष्य का द्वार खुला पडा है, विकास और उन्नति की असख्य-असख्य सभावनाएँ मचल रही हैं, वह वर्तमान पर टिका कि 'नष्ट हो गया, समाप्त हो गया उसका भविष्य! हमे ब्राह्मण वृत्ति से नही जीना है, राजवृत्ति से चलना है। जो सिर्फ जीवन के क्षुद्र वर्तमान पर टिके रहते हैं, वे मन्थरा का जीवन जीते है। रामायण की मन्थरा, जिसने रामायण की कथा को बिल्कुल नया मोड दे दिया, जो रामायण का एक बहुत विचित्र पटाक्षेप है। जब मन्थरा राम के राज्याभिषेक की तैयारियाँ देखती है तो अपनी स्वामिनी कैकेयी को आकर कहती है—"राम का राज्याभिषेक होने जा रहा है।" कैकेयी बहुत प्रसन्न होती है, प्रसन्नता मे ही उसने गले का हार निकाल कर मन्थरा को दे दिया कि "तुमने प्रसन्नता के समाचार सुनाए।" किन्तु मन्थरा गम्भीर होकर कहती है—"देवी! आज तुम प्रसन्न हो

रही हो, किन्तु भविष्य मे हाथ मल-मलकर पछताओगी। जब कौशल्या राजमाता कहलाएगी और तुम टुकर-टुकर देखती रहोगी ! हमे तो क्या है, चाहे जो राजा बने और चाहे जो राजमाता बने– "कोउ नृप होउ हमे का हानी।" हम तो दासी की दासी-बादी की बादी ही रहेगी।"

मैं सोचता हूँ, मन्थरा का यह क्षुद्र चिन्तन जिस जाति मे, जिस राष्ट्र में जगेगा, वह समाप्त हो जाएगा। जो अपने सम्बन्ध मे दासी पन से आगे कुछ सोच ही नही सकती, वह अपने उज्ज्वल एव महान भविष्य का द्वार कभी नही खोल सकती। जिनका चिन्तन सिर्फ इतना ही है कि हम तो जैसे हैं वैसे ही रहेगे, वह भविष्य मे कुछ भी नही बन सकते।

मैं आपसे कह रहा था कि यह मन्थरा की फिलासफी हमारे जीवन मे नही आनी चाहिए। भगवान महावीर ने इस फिलासफी को गलत बताया है। इस चिन्तन का परिष्कार किया है। उन्होने कहा है– अतीत तो सिर्फ इस आत्मनिरीक्षण के लिए है कि— "**इयाणि नो जमहं पुव्वमकासी पमाएण**" मैंने पूर्व जीवन मे, अतीत मे प्रमादवश जो कुछ भूलें की हैं, अपराध किए हैं, वे अब पुनः नहीं करूँगा'—इसी सकल्प को लेकर साधक अतीत को देखे और अपनी दृष्टि भविष्य के आने वाले क्षण पर टिकादे—"**अणभिक्कतं च वयं सपेहाए**" जो बीत गया सो बीत गया, आने वाले भविष्य को देखिए और उसके निर्माण का सकल्प लेकर खड़े हो जाइए। दृढता से अपने ध्येय की ओर चल पडिए। ऋग्वेद का स्वाध्याय करते समय एक ऋषि की ओजस्वी वाणी मेरी स्मृति मे तत्क्षण टकराई थी, अब भी उसकी प्रतिध्वनि जैसे गूँज रही है—

"यथा व शन्ति देवास्तथेदसत्
तदेषां न किरा मिनत्।"[1]

—दिव्य आत्माएं जैसा चाहते हैं, जैसा उनका संकल्प होता है, वे वैसे ही हो जाते हैं, उनके सकल्पो को कोई ध्वस्त नही कर सकता।

---

१. ऋग्वेद ८। २८। ४

भारतीय दर्शन की यही प्रतिध्वनि चारो ओर गूँजती रही है। वह अतीत के अन्धगर्त मे जाकर नही छुपता, वह भविष्य के शिखर पर खडा होकर अनन्त अनागत को देखने का दर्शन है। उसका अतीत दर्शन सिर्फ इसलिए है कि वह अतीत मे हुई सद् असद् प्रवृत्तियो से शिक्षा ले और सुन्दर भविष्य का निर्माण करे। 'हम क्या थे ?' यह तिहास का प्रश्न हो सकता है, किन्तु दर्शनशास्त्र का यह प्रश्न नही हो सकता। दर्शन शास्त्र के समक्ष तो प्रश्न यह है कि "हमें क्या होना है ?" भविष्य कैसा बनाना है ?" यही प्रश्न दर्शनशास्त्र की पृष्ठ भूमि का प्रश्न है।

पापों की स्मृति भी न करो

●

एक भारतीय चिन्तक ने तो यहा तक कहा है कि पुराने पापो की स्मृति भी तुम अपने मस्तिष्क से निकाल दो। जब तक पापो की स्मृति बनी रहेगी, मन भी पापी बना रहेगा।

हमारे यहा पाप का प्रायश्चित्त किया जाता है। प्रायश्चित्त का अर्थ भी यही है कि जो मैल मन पर लग गया है, उसको धोकर साफ कर दिया जाए। उसकी स्मृतियाँ-समाप्त करदी जाएँ। सोचिए, हाथ यदि गन्दा हो गया तो साफ कर लिया जाता है और उस गन्दगी की भावना को स्मृति से मिटा दिया जाता है। शुद्ध होने पर भी हाथ के गन्दा होने की स्मृति मस्तिष्क मे छाई रहेगी और खाने के समय वह उभराएगी तो आपकी क्या स्थिति हो जाएगी ? ऐसी स्मृतिया यदि मन मे जमा होती रही तो आपका मन एक कबाडखाना बन जाएगा और आप आनन्दपूर्वक जी नही सकेंगे। अतीत की बीती स्मृतियाँ भुलाने के लिए होती हैं, और भविष्य के सुन्दर स्वप्न कुछ कर डालने के लिए।

अतीत की स्मृतिया हमारे पास हैं भी कितनी ? भगवान महावीर ने बताया—तुम अनन्त-अनन्त बार नरक में हो आए, अनन्त-अनन्त बार कीट पतग बन गए, शूकर-कूकर बन गए, राक्षस और दैत्य बनगए ? क्या आपको उनकी स्मृतिया हैं अभी शेष ? कहा हैं वे ? यदि एक आध जन्म की स्मृति भी किसी को हो तो बडा आश्चर्य किया जाता है, पर वह भी कहा है ? हाँ, इस जन्म की थोडी-बहुत बची

खुची स्मृतियाँ अवश्य हैं, किन्तु इनका भी भार शिर पर क्यो ढोते हैं ? यदि कभी भूल हुई। किसी से झगडा हुआ, वैमनस्य हुआ तो उन स्मृतियो को मन मस्तिष्क से निकाल फेंकिए, पश्चात्ताप के द्वारा, 'अप्पाण वोसिरामि' कर डालिए ! इस प्रायश्चित्त विधि से ही मन की शुद्धि होगी ! स्मृतियो का पवित्रीकरण होगा !

भूल की चर्चा भी अपराध है

●

जैन आचार ग्रन्थो मे बताया गया है कि किसी साधु से भूल हो जाए तो आचार्य आदि के पास उसका प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए। आचार्य को भी चाहिए कि प्रायश्चित्त लेने के बाद उस भूल को भुलादे, 'नेकी कर कुए मे डाल' की तरह प्रायश्चित्त हो जाने पर जनता के समक्ष उस भूल की चर्चा भी मुह पर न लाए। इससे आगे यहा तक भी कहा गया है कि आचार्य यदि उस भूल की चर्चा हर किसी के सामने करे तो जितना प्रायश्चित्त उस साधु को आया है, उतना ही अपितु उससे भी कहीं अधिक प्रायश्चित्त इधर-उधर बात करने वाले को आता है। क्योंकि उसने मरे हुए भूतो को जगाया है, समाप्त हुए अपराध एव पाप को फिर से जागृत किया है, अतः पाप करने वाले से भी बढकर वह पापी है।

एक विदेशी बौद्ध भिक्षु की प्रार्थना मैंने एक बार पढी थी। उसका कुछ भावार्थ याद है। वह भगवान बुद्ध से प्रार्थना करता है—प्रभो ! मैं कभी भी पाप न करूँ, यह बल दो। और इससे भी अधिक यह शक्ति दो कि किए हुए पापो को फिर याद न करूँ। उनकी स्मृति मेरे मन मे न रहे। पश्चात्ताप के बाद पाप की स्मृति मेरे मन से उसी तरह झड जाए, जैसे कि पतझड मे बृक्ष के पत्ते झड़ जाते हैं।

पाप को याद करने का मतलब यह है कि उस पाप की जडें अभी भी हमारे मन मे है। वह बुराई स्मृति से लुप्त नही हुई है। ध्यान एव योग साधना का सबसे प्रथम चरण यही है कि साधक मन को विगत की स्मृतियो से मुक्त करे, ताकि मन हलका एव प्रसन्न रहे और एक मात्र अपने लक्ष्य पर केन्द्रित हो जाए।

संकल्प बल जागृत करो

●

भारतीय दर्शन का एक मात्र स्वर रहा है—'क्या थे, इसकी चिन्ता छोडो, क्या है, इसकी भी चिन्ता न करो, लेकिन यह सोचो कि क्या बनना है। अपने भविष्य का सकल्प करो! जो भवन बनाना है उसका नक्शा बनाओ, रेखाचित्र तैयार करो और पूरी शक्ति के साथ जुट जाओ, उसे साकार बनाने मे।

सकल्प कच्चा धागा नही है, जो एक झटका लगा कि टूट जाए। वह लौह शृखला से भी अधिक दृढ होता है। झटके लगते जाएँ, तूफान आते जाएँ, पर, सकल्प का सूत्र कभी टूटने न पाए। दिन पर दिन बीतते चले जाते हैं, वर्ष पर वर्ष गुजरते जाते हैं, और तो क्या, जन्म के जन्म बीतते जाते हैं, फिर भी साधक स्वीकृत पथ पर चलता जाता है, अटूट श्रद्धा एव सकल्प का तेज लिए हुए। चलने वाले को यह चिन्ता नही रहती कि लक्ष्य अब कितना दूर रहा है, वह तो चलता ही रहता है, एक न एक दिन लक्ष्य मिलेगा ही, इस जन्म मे नही तो अगले जन्म मे। सकल्प सही है तो वह पूरा होकर ही रहेगा। उसके लिए प्रयत्न अवश्य किया जाता है, परन्तु समय की सीमा नही होती। मृत्यु का भय भी नही होता। सकल्प लेकर चलने वाले के लिए मृत्यु सिर्फ एक विश्राम है। एक पटाक्षेप है। वह यहा भी चलता रहा है, नया जन्म धारण करेगा तो वहा भी उसकी यात्रा रुकेगी नही, मार्ग बदलेगा नही, वह फिर अगली मजिल तय करने को साहस के साथ चल पड़ेगा।

भगवान महावीर ने कहा है—साधक! तुम अपनी यात्रा के महापथ पर चलते-चलते रुक जाते हो तो कोई भय नही, पैर लड-खडा जाते हैं तो घबराने की कोई बात नही। सकल्प से डिगो मत, बैठो मत, वापस लौटो मत? चलते रहो! निरतर चलते रहो! चलते रहो।

बालक चलता है, लडखडाकर गिर भी जाता है, उठता है और फिर गिरता है। पर उसकी चिन्ता नही की जाती। चरण सध जाएँगे तो एक दिन वही विश्व की दौड़ मे सर्वश्रेष्ठ होकर आगे जायेगा।

मतलब यह है कि जो चलता है, वह एक दिन मंजिल पर अवश्य पहुँचता है, किंतु जो मार्ग मे हार कर बैठ जाता है, वह कभी आगे नही बढ़ सकता ! साधक को सकल्प की लौ जलाकर चलते रहना है, बढते रहना है। फिर उसकी यात्रा अधूरी नही रहेगी, उसका सकल्प असफल नही रहेगा।

एक विचारक ने कहा है—कि यदि तुम्हारी यह शिकायत है कि इच्छा पूरी नही हुई, तो इसका मतलब है कि तुम्हारी इच्छा पूरी थी ही नही, अधूरी इच्छा लेकर ही तुम आये थे। पूरी इच्छा एक दिन अवश्य पूरी होती है। वह भीतर से अपने आप बल जागृत करती हुई पूर्णता की ओर बढी चली जाती है। पूरी इच्छा मे स्वत. ही बल जाग्रत हो जाता है। किसी बच्चे ने सोते समय मा से कहा—"अम्मी ! देखो, मुझे भूख लगे तब जगा देना, मैं सो रहा हूँ।"

मुस्कराके माँ ने कहा—"बेटा ! जब भूख लगेगी तो मैं क्या जगाऊँगी, तू खुद ही मुझे जगा देगा।"

वास्तव मे यदि सच्ची भूख लगी होगी तो किसी दूसरे को जगाने की जरूरत नही होगी, भूखा पेट अपने आप पुकारेगा। साधक मे यदि लक्ष्य की भूख, निष्ठा सच्चे रूप मे जगी है तो फिर उसे दूसरो से बल पाने की जरूरत नही, वह अपने आप लक्ष्य की ओर बढ़ता चला जायेगा।

सच्ची निष्ठा का अभाव

●

हमारे भारतवर्ष मे आज के साधकजीवन की यह सबसे बडी विडम्बना है कि वह चलता तो है. पर उसके चरण मे श्रद्धा और निष्ठा का बल नही होता। चलने की सच्ची भूख उसमे नही जग पाती। कर्म करता जाता है, किंतु सच्ची निष्ठा उसके अन्दर जागृत नही होती। ऐसे चलता है जैसे घसीटा जा रहा हो, सशय, भय, अविश्वास से पद-पद पर लडखड़ाता-सा। ऐसा लगता है कि कोई जीर्ण-शीर्ण दीवार है, अभी एक धक्के से गिर पड़ेगी। कोई सूखा वृक्ष ककाल है, जो हवा के किसी एक झटके से भूमिसात् हो जायेगा।

संकल्प बल जागृत करो

●

भारतीय दर्शन का एकमात्र स्वर रहा है—'क्या थे, इसकी चिन्ता छोड़ो, क्या है, इसकी भी चिन्ता न करो, लेकिन यह सोचो कि क्या बनना है। अपने भविष्य का सकल्प करो! जो भवन बनाना है उसका नक्शा बनाओ, रेखाचित्र तैयार करो और पूरी शक्ति के साथ जुट जाओ, उसे साकार बनाने मे।

सकल्प कच्चा धागा नही है, जो एक झटका लगा कि टूट जाए। वह लौह शृ खला से भी अधिक दृढ होता है। झटके लगते जाएँ, तूफान आते जाएँ, पर, सकल्प का सूत्र कभी टूटने न पाए। दिन पर दिन बीतते चले जाते हैं, वर्ष पर वर्ष गुजरते जाते हैं, और तो क्या, जन्म के जन्म बीतते जाते हैं, फिर भी साधक स्वीकृत पथ पर चलता जाता है, अटूट श्रद्धा एव सकल्प का तेज लिए हुए। चलने वाले को यह चिन्ता नही रहती कि लक्ष्य अब कितना दूर रहा है, वह तो चलता ही रहता है, एक न एक दिन लक्ष्य मिलेगा ही, इस जन्म मे नही तो अगले जन्म मे। सकल्प सही है तो वह पूरा होकर ही रहेगा। उसके लिए प्रयत्न अवश्य किया जाता है, परन्तु समय की सीमा नही होती। मृत्यु का भय भी नही होता। सकल्प लेकर चलने वाले के लिए मृत्यु सिर्फ एक विश्राम है। एक पटाक्षेप है। वह यहा भी चलता रहा है, नया जन्म धारण करेगा तो वहा भी उसकी यात्रा रुकेगी नही, मार्ग बदलेगा नही, वह फिर अगली मजिल तय करने को साहस के साथ चल पड़ेगा।

भगवान महावीर ने कहा है—साधक! तुम अपनी यात्रा के महापथ पर चलते-चलते रुक जाते हो तो कोई भय नही, पैर लड-खडा जाते है तो घबराने की कोई बात नही। सकल्प से डिगो मत, बैठो मत, वापस लौटो मत? चलते रहो! निरतर चलते रहो! चलते रहो।

बालक चलता है, लडखडाकर गिर भी जाता है, उठता है और फिर गिरता है। पर उसकी चिन्ता नही की जाती। चरण सध जाएँगे तो एक दिन वही विश्व की दौड मे सर्वश्रेष्ठ होकर आगे जायेगा।

मतलब यह है कि जो चलता है, वह एक दिन मंजिल पर अवश्य पहुँचता है, किंतु जो मार्ग मे हार कर बैठ जाता है, वह कभी आगे नही बढ़ सकता ! साधक को सकल्प की लौ जलाकर चलते रहना है, बढ़ते रहना है। फिर उसकी यात्रा अधूरी नही रहेगी, उसका सकल्प असफल नही रहेगा।

एक विचारक ने कहा है—कि यदि तुम्हारी यह शिकायत है कि इच्छा पूरी नही हुई, तो इसका मतलब है कि तुम्हारी इच्छा पूरी थी ही नही, अधूरी इच्छा लेकर ही तुम आये थे। पूरी इच्छा एक दिन अवश्य पूरी होती है। वह भीतर से अपने आप बल जागृत करती हुई पूर्णता की ओर बढी चली जाती है। पूरी इच्छा मे स्वत. ही बल जाग्रत हो जाता है। किसी बच्चे ने सोते समय मा से कहा—"अम्मी ! देखो, मुझे भूख लगे तब जगा देना, मैं सो रहा हूँ।"

मुस्कराके माँ ने कहा—"बेटा ! जब भूख लगेगी तो मैं क्या जगाऊँगी, तू खुद ही मुझे जगा देगा।"

वास्तव मे यदि सच्ची भूख लगी होगी तो किसी दूसरे को जगाने की जरूरत नही होगी, भूखा पेट अपने आप पुकारेगा। साधक मे यदि लक्ष्य की भूख, निष्ठा सच्चे रूप मे जगी है तो फिर उसे दूसरो से बल पाने की जरूरत नही, वह अपने आप लक्ष्य की ओर बढता चला जायेगा।

सच्ची निष्ठा का अभाव

●

हमारे भारतवर्ष मे आज के साधकजीवन की यह सबसे बडी विडम्बना है कि वह चलता तो है, पर उसके चरण मे श्रद्धा और निष्ठा का बल नही होता। चलने की सच्ची भूख उसमे नही जग पाती। कर्म करता जाता है, किंतु सच्ची निष्ठा उसके अन्दर जागृत नही होती। ऐसे चलता है जैसे घसीटा जा रहा हो, सशय, भय, अविश्वास से पद-पद पर लडखडाता-सा। ऐसा लगता है कि कोई जीर्ण-शीर्ण दीवार है, अभी एक धक्के से गिर पड़ेगी। कोई सूखा वृक्ष ककाल है, जो हवा के किसी एक झटके से भूमिसात् हो जायेगा।

कुछ साधक (चाहे साधु हैं या श्रावक) यह पूछते रहते हैं—"महाराज ! हम भव्य हैं या अभव्य ? हम मर कर कहां जाएँगे ?"

मुझे हसी आती है, साथ ही तरस भी आता है उनकी इस असमजस भरी दशा पर। भला, यह बात भी कोई दूसरे से पूछने की है कि हम भव्य हैं कि नही ! कुछ लोग सीमंधर स्वामी से, या किसी देवता से भी पूछने का सकल्प-विकल्प किया करते हैं। दर-असल यह प्रश्न अपने आपसे पूछने का है, और वही से इसका सही यथार्थ उत्तर मिल भी सकता है। यदि आप अपने लक्ष्य की ओर चल रहे हैं, लक्ष्य सही है और उसमे निष्ठा सच्ची है, तो फिर अवश्य ही आप अपने लक्ष्य पर एक दिन पहुँच जाएँगे। इसमे सशय और अविश्वास के लिए कोई गुंजाइश ही नही है।

एक भाई ने मुझसे पूछा—"महाराज ! मेरी मुक्ति होगी या नही ?"

मैंने कहा—"भई, तुम्हारे लिए तो मैं क्या कह सकता हूँ, तुम्हारा अन्तर् हृदय ही तुम्हे कुछ बता सकता है। हा, मेरे लिए मैं कह सकता हूँ कि मेरी मुक्ति तो अवश्य होगी ?"

भाई चौंककर बोला—"महाराज ! इतना बडा विश्वास ? इतना बडा दावा ? यह कैसे ?"

मैंने कहा—"विश्वास नही है, तो फिर क्या वर्षों की दीर्घ साधना के रूप मे भाड ही झोका है ? यो ही व्यर्थ ही यह शिर नही मुडाया है ! विश्वास ही क्या, अटूट विश्वास है, तभी तो इस पथ पर चल रहा हूँ, सशय-विकल्प से मुक्त होकर दृढ निष्ठा लिए ! मुक्ति होगी, अवश्य होगी ! आप अपने लिए यह 'नही' का टुकडा जोडते ही क्यों है ? यह सशय साधना का विष है, यह शका साधना को ध्वस्त कर डालती है। यह अविश्वास साधक को विकल्पो के भँवर में बहा देता है। 'भव्य हूँ' मुक्ति होगी ही, यह विश्वास लेकर ही चलिए। यदि मन मे यह विश्वास नही है, तो फिर यह क्रियाकाड आखिर किसलिए ? मैं पूछता हूँ कि फिर इस साधना का आधार क्या है ? इस महल की नीव क्या है ? और इस यात्रा की मजिल कहा है ?"

संशय जीवन का खतरनाक बिन्दु

•

तैत्तिरीय ब्राह्मण का स्वाध्याय करते समय एक सूक्त आया था–"श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी"—श्रद्धा देवी ही विश्व को प्रतिष्ठा है, आधारशिला है। यदि यह आधार हिल गया तो समूचा विश्व डगमगा जायेगा। भूचाल आते हैं तो हमारे पुराने पडित लोग कहते हैं शेष नाग ने सिर हिलाया है', मैं सोचता हूँ साधक जीवन मे जब-जब भी उथल-पुथल होती है, गड़बड मचती है, तब अवश्य ही श्रद्धा का शेषनाग अपना सिर हिलाता है। अवश्य ही कही वह स्खलित हुई होगी, उसका कोई आधार शिथिल हुआ होगा।

पति-पत्नी का, पिता-पुत्र का सबसे निकटतम सूत्र भी विश्वास के धागो से जुडा हुआ है, और राष्ट्र-राष्ट्र का विराट् सम्बन्ध भी इसी विश्वास के सूत्र से बँधा हुआ है। मैं पूछता हूँ पति-पत्नी कब तक पति-पत्नी हैं ? जब तक उनके बीच स्नेह एव विश्वास का सूत्र जुडा हुआ है। यदि पति पत्नी के बीच सशय आ जाता है, मनो मे अविश्वास जग जाता है, तो वे एक दिन एक दूसरे की जान के ग्राहक बन जाते हैं। वे जीते जी भले ही साथ रहते हैं, परन्तु ऐसे कि एक ही जेल की कोठरी मे दो दुश्मन साथ रह रहे हो। घर, परिवार समाज और राष्ट्र के हरे भरे उपवन वीरान हो जाते हैं, बर्बाद हो जाते हैं; सशय एव अविश्वास के कारण। विश्व में और खासकर के भारत मे आज जो सकट छाया है, वह विश्वास का सकट है, श्रद्धा का सकट है। आज किसका भरोसा है कि कौन कब किस घडी मे बदल जायगा ? समर्थक विरोधी बन जाएँगे, इकरार इन्कार मे बदल जाएँगे ? अविश्वास के वातावरण से समूचा राष्ट्र दिशाहीन गति-हीन हुआ जा रहा है। जीवन अस्त-व्यस्त-सा बिखर रहा है। मैं आपसे कहता हूँ—यह निश्चय समझ लीजिए, जब तक मन से अविश्वास एव सशय का भाव समाप्त नही होगा, तब तक राष्ट्र प्रगति नही कर सकेगा, भुखमरी और दरिद्रता से मुक्ति नही पा सकेगा। अमेरिका और रूस को सहायता पर आप अधिक दिन नही जी सकते। आपके जीने का अपना आधार होना चाहिए। सोने के लिए पड़ौसी की छत मत ताकिये, आखिर अपनी छत ही आपके सोने के काम मे आ सकती है। अपना बल ही आपके चलने मे सहयोगी

होगा। और वह बल और कही से नही, आपके ही हृदय के विश्वास से, निष्ठा से प्राप्त होगा।

मैं आपसे कह रहा था कि हमारा जीवन कीड़े मकोड़ो की तरह अविश्वास की भूमि पर रेंगने के लिए नही है। आस्था के अनन्त गगन मे गरुड की भाति उडान भरने के लिए है। हम भविष्य के स्वप्न देखने के लिए हैं, सिर्फ देखने के लिए ही नही, स्वप्नो को साकार करने के लिए हैं।

श्रद्धा का बीज

●

श्रद्धा का बीज मन मे डालिए, फिर उस पर कर्म की वृष्टि कीजिए। तथागत बुद्ध ने एकबार शिष्यो से कहा था—भिक्षुओ! श्रद्धा का बीज मन की उर्बर भूमि मे डालो, उस पर तप की वृष्टि करो, सुकृत का कल्पवृक्ष लह लहायेगा—'सद्धा बीज तपो वुट्ठि'।

भारतीय जीवन आस्थावादी जीवन है, उसका तर्क भी श्रद्धा के लिए होता है। मैं आपसे निरी श्रद्धा—जिसे आज की भाषा मे अन्धश्रद्धा (ब्लाइन्ड फैथ) कहते है, उसकी बात नही करता। मैं कहता हूँ जीवन के प्रति, अपने भविष्य के प्रति विवेकप्रधान श्रद्धाशील होने की बात! अपने विराट् भविष्य का दर्शन करना, उस ओर निष्ठापूर्वक चल पड़ना, यही मेरी श्रद्धा का रूप है। यही भारत का गरुड-दर्शन है। हमारे जीवन में मन्थरा का दर्शन नही आना चाहिए। अपने भविष्य को, अपनी उन्नति एव विकास की अनन्त सभावनाओ को क्षुद्र दृष्टि मे बन्द नही करना है, किन्तु उसके विराट स्वरूप का दर्शन करना है और फिर दृढ निष्ठा, व दृढ सकल्प का बल लेकर उस ओर चल पडना है, लक्ष्य मिलेगा, निश्चित मिलेगा। एक बार विश्वास का बल जग पडा, तो फिर इन क्षुद्रता के बन्धनो के टूटने मे क्या देरी है—"बद्धो हि नलिनीनालैः कियत् तिष्ठति कुञ्जरः...?" कमल की नाल से बधा हुआ हाथी कितनी देर रहेगा? जब तक अपने चरण को गति नही दे, तब तक। बस चरण बढे कि बन्धन टूटे। आप भी जब तक श्रद्धा से चरण नही बढाते हैं, सशय से विश्वास की ओर नही आते हैं तब तक ही यह बन्धन है, यह सकट है! बस सच्चे विश्वास ने गति ली नही कि बन्धन टूटे नही, और बन्धन टूटे कि मुक्ति सामने खड़ी मिलेगी।

●

उपाध्याय अमरमुनि

जीने की कला

जीवन एक यात्रा है। यात्रा वह होती है, जिसमे लक्ष्य सिद्ध होने तक चरण कभी रुद्ध नही होते, गति कभी बन्द नही होती। मनुष्य के जीवन मे यह यात्रा निरन्तर चलती रही है, कर्म की यह गति कभी भी अवरुद्ध नही हुई है। और अवरुद्ध नही हुई, इसीलिए तो यह यात्रा है।

सद्भाग्य तो क्या, दुर्भाग्य ही कहिए कि भारतवर्ष मे कुछ ऐसे दार्शनिक धर्माचार्य पैदा हुए हैं जिन्होने इस यात्रा को रुद्ध करने का सिद्धान्त स्थापित किया है। उन्होने कहा—निष्कर्म रहो, कर्म करने की कोई आवश्यकता नही, जो भगवान् ने रच रखा है, वह अपने आप प्राप्त होता जायेगा।

> अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
> दास मलूका कह गए, सबके दाता राम।

ऐसे वाक्यो को जीवन सूत्र के रूप मे प्रस्तुत किया गया। 'कुछ करो मत, पड़े रहो, राम देने वाला है।'

मैं पूछता हूँ—इन विचारो से क्या यथार्थ समाधान मिला कभी ? जीवन मे शान्ति और आनन्द प्राप्त हुआ ? सर्व साधारण जन और इन सिद्धान्तो के उपदेष्टा स्वय भी, क्या सर्वथा निष्कर्म रहकर जीवन की यात्रा पार कर सके ? नही। तो इसका सीधा अर्थ है कि निष्कर्म रहने की वृत्ति सही नही है, मनुष्य निष्कर्म रह कर जी नही सकता।

निष्कर्म या निष्काम

●

मनुष्य परिवार एव समाज के बीच रहता है, अत: वहां की जिम्मे-

दारियो से वह मुह नही मोड सकता। आप यदि सोचे—परिवार के लिए कितना पाप करना पडता है, यह बन्धन है, भागो इससे, इसे छोड़ो! तो क्या काम चल सकता है? और छोड़कर भाग भी चलो, तो कहाँ? वनो और जगलो मे भागने वाला क्या निष्कर्म रह सकता है? गगा मे समाधि लेकर क्या पाप व बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है? सोचिए, ऐसा कौन-सा स्थान है, कौन-सा साधन है, जहाँ आप निष्कर्म रहकर जी सकते हैं। वस्तुत. निष्कर्म अर्थात् क्रियाशून्यता जीवन का समाधान नही है, अपितु पलायन है, और है केवल आखमिचौनी।

भगवान महावीर ने इस प्रश्न पर समाधान दिया है—निष्कर्म रहना जीवन का धर्म नही है। जीवन है तो कुछ न कुछ कर्म भी है। केवल कर्म भी जीवन का श्रेय नही, किन्तु कर्म करके अकर्म रहना, कर्म करके कर्म की भावना से अलिप्त रहना—यह जीवन का मार्ग है, बाहर मे कर्म, भीतर मे अकर्म—यह जीवन की कला है।

मैंने कहा—कोई भी मनुष्य निष्कर्म नही रह सकता। कर्म तो जीवन मे क्षण-क्षण होता रहता है, भगवद् गीता मे कर्मयोगी कृष्ण की वाणी है —

न हि कश्चित् क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्!

मूल प्रश्न कर्म का नही, कर्म के बन्धन का है। क्या हर कर्म बन्धन का हेतु होता है?

उत्तर है—नही होता।

बात यह है कि आप जब कर्म मे लिप्त होने लगते हैं, आसक्त होते हैं, तो मोह पैदा होता है, तब कर्म के साथ बन्धन भी आ जाता है। जीवन मे अच्छे बुरे जो भी कर्म हैं, उनके साथ मोह-राग और द्वेष का सपर्क होने से वे सब बन्धन के कारण बन जाते हैं।

मैं प्रवचन कर रहा हूँ, यह निर्जरा का कार्य है, पर इससे कर्म भी बाध सकता हूँ। आलोचना और प्रशंसा सुनकर यदि राग-द्वेष के विकल्प मे उलझ जाता हूँ, तो जो प्रवचन रूप कर्म करके भी अकर्म रहने का धर्म था, वह कर्म बन्ध का कारण बन गया। कर्म के साथ जहाँ भी मोह का स्पर्श होता है वही बन्ध होता है।

तथागत बुद्ध ने एक बार कहा था : न तो चक्षु रूपो का बन्धन है और न रूप ही चक्षु के बन्धन हैं। किन्तु जो वहाँ दोनो के प्रत्यय से (निमित्त से) छन्द राग अर्थात् स्नेह भाव, अथवा द्वेषबुद्धि जागृत होती है वही बन्धन है।

न चक्खु रूपानं सयोजनं, न रूपा चक्खुस्स सयोजन

यं च तत्थ तदुभयं पटिच्च उपज्जति

छन्दरागो स तत्थ संयोजन।[1]

भारतीय चिन्तन की यह वही प्रतिध्वनि है जो उस समय के युगचिन्तन मे मुखरित हो रही थी। कर्म-अकर्म का विवेचन, विश्लेषण जब किया जा रहा था, तब भगवान महावीर ने स्पष्ट उद्घोष किया—

न सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागय।
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए॥[2]

यह सभव नही है, और शक्य भी नही कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने मे न आये। वैसे ही अन्य इन्द्रियो के सम्पर्क मे आये हुए शब्दादि अन्य विषय भी उन पर स्पृष्ट न हो, अनुभव-गम्य न हो, अत: रसादि का त्याग यथाप्रसंग हो भी सकता है, नही भी हो सकता है। किन्तु उनके प्रति जगने वाले राग द्वेष का त्याग अवश्य करने जैसा है। कर्मबध वस्तु मे नही, वृत्ति में होता है, अत: रागात्मक वृत्ति का त्याग ही कर्मबध से मुक्त रहने का उपाय है, यही कर्म मे अकर्म रहने की कला है। गीता की भाषा मे इसे ही 'निष्काम कर्म' कहा गया है। समग्र भारतीय चिन्तन ने अगर जीवन का कोई दर्शन, जीवन की कोई कला--जीवन की कोई दृष्टि दी है, तो वह निष्कर्म मत रहो, कर्म करो, किन्तु निष्काम रहो, कर्मफल की आसक्ति से मुक्त रहो।

अकर्म में कर्म

●

हमारा जीवन दर्शन जीवन और जगत के सभी पहलुओ को

---

१. सयुक्त निकाय ४। ३५। २३२

१ आचाराग २। ३। १५। १३४

स्पर्श करता हुआ आगे बढता है । प्रत्येक पहलू का वहा सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेपण किया गया है ।

जिस प्रकार कर्म मे अकर्म' रहने की स्थिति]पर हमने विचार किया है, कुछ उसी प्रकार 'अकर्म मे कर्म' की स्थिति भी जीवन मे बनती है और उस पर भी हमारे आचार्यो ने चिन्तन, बहुत सूक्ष्म चिन्तन किया है, वे बहुत बारीकी तक गये है ।

अकर्म मे कर्म की स्थिति जीवन मे तब आती है, जब आप बाहर मे बिलकुल चुपचाप निष्क्रिय पड़े रहते हैं, न कोई हलचल, न कोई प्रयत्न ! किन्तु मन के भीतर अन्तर्जगत् मे रागद्वेष की तीव्र वृत्तिया मचलती-उछलती रहती हैं। बाहर मे कोई कर्म दिखाई नही देता, पर आपका मन कर्मों का तीव्र बन्धन करता चला जाता है । यह' अकर्म मे भी कर्म' की स्थिति है ।

'अकर्म मे कर्म' को स्पष्ट करने वाले दो महत्त्वपूर्ण उदाहरण हमारे साहित्य मे, दर्शन मे अत्यधिक प्रसिद्ध हैं । एक उदाहरण है- प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का और दूसरा है तन्दुल मत्स्य का ।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बाहर मे ध्यान मुद्रा लिए, निष्कर्म खड़े रहते हैं, किन्तु मन के भीतर भयकर कोलाहल मचा हुआ है, रणक्षेत्र बना हुआ है। मन घमासान युद्ध मे सलग्न है और तब भगवान महावीर के शब्दो मे वह सातवी नरक तक के कर्म दलिक बाध लेता है ।

तन्दुल मत्स्य का उदाहरण इससे भी ज्यादा बारीकी मे ले जाता है। एक छोटा सा मत्स्य ! नन्हे चावल के दाने जितना शरीर ! और आयुष्य कितना ? सिर्फ अन्तर्मुहूर्त भर ! इस लघुतम देह और अल्पतम जीवन काल| मे वह अकर्म मे कर्म इतना भयकर कर लेता है कि मरकर सातवी नरक मे जाता है ।

कहा जाता है कि तन्दुल मत्स्य जब विशालकाय मगरमच्छ के मुह मे आती-जाती मछलियो को देखता है, तो सोचता है—कैसा है यह आलसी ! इतनी मछलिया मुह मे आ रही हैं, लेकिन जबडा बद नही करता, निगल नही जाता। यदि मेरे मुंह मे इतनी

मछलियाँ आ जाती तो बस एक बार ही सबको निगल जाता। भीतर की भीतर ही उनका कलेवा कर डालता।

ये उदाहरण सिर्फ आम तौर पर व्याख्यान मे सुनाकर मन बहलाने के लिए नही है, इनमे बहुत सूक्ष्म चिन्तन छिपा है, जीवन की एक बहुत गहरी गुत्थी को सुलझाने का मर्म छिपा है इनमे।

मनसा पाप

●

हम बोलचाल की भाषा मे जिसे मनसा पाप कहते हैं, वह क्या है ? वह यही तो स्थिति है कि जब मनुष्य बाहर मे तो बडा शान्त, भद्र और नि स्पृह दिखाई दे, किन्तु भीतर ही भीतर क्रोध, ईर्ष्या और लोभ के विकल्प उसके हृदय को मथते रहे, क्षुब्ध महासागर की तरह मन तरगाकुल हो, किन्तु तन बिल्कुल शान्त !

आज के जन जीवन मे यह सबसे बडी समस्या है कि मनुष्य दुरगा, दुहरे व्यक्तित्व वाला बन रहा है। वह बाहर मे उतने पाप नही कर रहा है, जितने भीतर मे कर रहा है। तन को तो वह कुछ पवित्र अर्थात् सयत रख सकता है, कुछ सामाजिक व राष्ट्रीय मर्यादाओ के कारण, कुछ अपने स्वार्थों के कारण भी ! पर मन को कौन देखे ? मन के विकल्प उसे रात-दिन मथते रहते हैं, बेचैन बनाए रखते हैं, हिसा और द्वेष के दुर्भाव भीतर ही भीतर जलाते रहते है। इस मनसा पाप के दुष्परिणामो का निदर्शन आचार्यों ने उपर्युक्त उदाहरणो से किया हैं। और यह स्पष्ट किया है कि यह 'अकर्म मे कर्म की' स्थिति बहुत भयानक, दुःखावह और खतरनाक है।

कर्म में अकर्म

●

बाहर मे कर्म नही करते हुए भी भीतर मे कर्म किए जाते हैं—यह स्थिति तो आज सामान्य है, किसी के अन्तर की खिडकी खोल कर देख लीजिए, अच्छा तो है अपने ही भीतर की खिड़की उघाड कर देख लिया जाये कि अकर्म मे कर्म का चक्र कितनी तेजी और कितनी भीषणता के साथ चल रहा है। किन्तु यह स्थिति जीवन के लिए हितकर एव सुखकर नही है, इसलिए वांछनीय भी नही है।

हमारा दर्शन हमे 'अकर्म मे कर्म' से उठाकर 'कर्म मे अकर्म' की ओर मोड़ता है। ज्यादा अन्तर नही है, शब्दो का थोडा-सा हेर-फेर है। अग्रेजी मे एक शब्द है डोग 'DOG' और इसी को उलटकर एक दूसरा शब्द है गोड 'GOD'। डोग कुत्ता है और गौड ईश्वर है! 'अकर्म मे कर्म' यह जीवन मे डोग का रूप है, उसे उलट दिया तो 'कर्म मे अकर्म' यह गोड का रूप हो गया। मतलब इसका यह हुआ कि बाहर मे अकर्म, निष्क्रियता और भीतर मे कर्म—रागद्वेष के विकल्प —यह जीवन की हीन वृत्ति है, क्षुद्रवृत्ति है। और बाहर मे कर्म-क्रिया शीलता और भीतर मे अकर्म-रागद्वेष की भावना से अलिप्तता, यह जीवन की उच्चवृत्ति है, श्रेष्ठ अवस्था है।

'कर्म मे अकर्म' यह हमारे उच्च एव पवित्र जीवन की परिभाषा है। अब यह प्रश्न है कि यह अवस्था कैसे प्राप्त की जाय? कर्म मे अकर्म रहना कैसे सीखे, इसकी साधना क्या है?

कर्तृत्व बुद्धि का त्याग

●

दर्शन और मनोविज्ञान, इस बात पर एक मत है कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर 'कर्तृत्व बुद्धि' की स्फुरणा होती है। साधारण मनुष्य कुछ करता है, तो साथ ही सोचता भी है कि "यह मैंने किया, इसका करने वाला मैं हूँ।" कार्य के साथ कर्तापन की भावना स्फुरित होती है। और प्रत्येक कार्य के बीच मे वह अपने 'मैं' 'अह' को खडा कर देता है। वह सोचता है—मैं नही होता तो यह काम नही होता, मैंने ही यह किया है, मेरे बिना परिवार की -समाज की गाड़ी नही चल सकती। इस प्रकार 'मैं' के, कर्ताबुद्धि के हजार-हजार विकल्प एक तूफान की तरह उसके चिन्तन मे उठते हैं, और परिवार तथा समाज मे अशान्ति व कोलाहल की सृष्टि कर डालते हैं। व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन और राष्ट्रीय जीवन आज इसी तूफान के कारण अशान्त है, समस्याओ से घिरा है। परिवार मे जितने व्यक्ति हैं, सभी के भीतर 'मैं', का नाग फुकार मार रहा है, राष्ट्र मे जितने नागरिक हैं, प्राय प्रत्येक अपने कर्तृत्व के 'अह' से बौराया हुआ-सा है। और इस प्रकार एक दूसरे का 'अह' टकराता है, अग्नि स्फुलिंग उछलते हैं, अशान्ति फैलती है और जीवन सकटग्रस्त बनजाता है।

मैं आपसे कह रहा था, यह कर्तापन की बुद्धिही मनुष्य को शान्त नही रहने देती। शान्ति की खोज आप करते हैं, आपको शान्ति चाहिए, तो फिर आवश्यक है कि इस कर्तृत्व बुद्धि से छुटकारा लिया जाए, तभी अशान्ति से पिंड छूट सकेगा, अन्यथा नही।

कलकत्ता चातुर्मास के लिए जाते समय मैं विहार की 'गया' नगरी मे भी गया था। वहा एक फल्गु नदी है। प्राचीन वैदिक एव बौद्ध साहित्य मे उसका काफी वर्णन है। बुद्ध ने तो कहा है—'सुद्धस्स वे सदा फग्गु'[1] शुद्ध मनुष्य के लिए सदा ही फल्गु है। अब तो वह प्राय: सूख गई है। फिर भी काफी लोग उसे पवित्र मान कर श्राद्ध करने के लिए वहा आते हैं। मैंने श्राद्ध के लिए आए एक सज्जन से पूछा–घर पर भी आप लोग श्राद्ध कर सकते हैं, फिर 'गया' आकर फल्गु नदी के जल से श्राद्ध करने का क्या मतलब ?

उस सज्जन ने बताया—"गगाजी मे श्राद्ध कर लेने से एक ही साथ सब पितरो का श्राद्ध हो जाता है, सबसे सदा के लिए पिंड छूट जाता है।"

मैंने सोचा—जिस आचार्य ने यह बात कही है उसने काफी गहराई से सोचा होगा। आदमी कहा तक बड़े-बूढो को सिर पर ढोए चलेगा, कहा तक मृत पूर्वजो को मन मस्तिष्क मे उठाए फिरेगा, आखिर उनसे पिंड छुड़ाना ही होगा, सबको 'वोसिरे--वोसिरे' (परित्याग) करना ही होगा।

जीवन मे कर्तृत्व के जो अहकार हैं, मैंने यह किया, वह किया के जो सकल्प हैं, आप इनको कब तब सिर पर ढोए चलेंगे ? इन अह के पितरो से पिंड छुडाये बिना शान्ति नही मिलेगी। जीवन मे कब तक, कितने दिन तक ये विकल्प ढोते रहेगे, कब तक इन मुर्दों को सिर पर उठाये रखेंगे। जो बीत गया, जो कर डाला गया, वह अतीत हो गया, गुजर गया। गुजरा हुआ, याद रखने के लिए नही, भुलाने के लिए होता है। पर जीवन की स्थिति यह है कि यह गुजरा हुआ कर्तृत्व भूत बनकर सिर पर चढ जाता है और रात-दिन अपनी 'मैं' 'मैं' की आवाज लगाता रहता है। न स्वय व्यक्ति को चैन लेने देता है, न परिवार और समाज को ही !

---

१. मज्झिम निकाय १।७।६।

अपने सामर्थ्य और सीमा का विस्तार करिए

●

कर्तृत्व बुद्धि के अहकार को विसारने और भुलाने का आखिर क्या तरीका है ?—आप यह पूछ सकते हैं। मैंने इसका समाधान खोजा है। आपको बताऊँ कि अहकार कब जागृत होता है ? जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य अपनी सीमा को अतिरजित रूप मे आकने लगता है, जो है, उससे कही अधिक स्वय को देखता है, अपने को वास्तविकता से अधिक लम्बा बना कर अपने को नापता है, तब वह औरो से बडापन महसूस करता है, और यही भावना अहकार के रूप मे प्रस्फुटित होती है।

यदि मनुष्य अपने सामर्थ्य को सही रूप मे आँकने का प्रयत्न करे, वह स्वय क्या है और कितना उसका अपना सामर्थ्य है, यह सही रूप मे जाने, तो शायद कभी अहकार करने जैसी बुद्धि भी न जगे। मनुष्य का जीवन कितना क्षुद्र है, और वह उसमे क्या कर सकता है, एक साँस तो इधर-उधर कर नही सकता, फिर वह किस बात का अहकार करे ?

साधारण मनुष्य तो क्या चीज है ? भगवान महावीर जैसे अनन्त शक्ति के धर्ता भी तो अपने आयुष्य को एक क्षण भर आगे वढा नही सके। देवराज इन्द्र ने जब उन्हे आयुष्य को थोडा-सा बढाने की प्रार्थना की तो भगवान ने क्या कहा, मालूम है ? 'न भूय न भविस्सइ' देवराज! ऐसा न कभी हुआ और न कभी होगा, ससार की कोई भी महाशक्ति, अधिक तो क्या, अपनी एक साँस भी इधर उधर नही कर सकती।

मैं सोचता हूँ, महावीर का यह उत्तर मनुष्य के कर्तृत्व के अहकार पर सबसे बडी चोट है। जो क्षुद्र मनुष्य यह सोचता है कि मैं ऐसा कर लूँगा, वैसा कर लूँगा, वह अपने सामर्थ्य की सीमा से अनजान है। जीवन के हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दुःख जितने भी द्वन्द्व हैं, वे उसके अधिकार मे नही हैं, उसके सामर्थ्य से परे हैं, तो फिर उसमे परिवर्तन करने की बात क्या बेवकूफी नही है। मैं प्रयत्न एव पुरुषार्थ की अवहेलना नही करना चाहता, किन्तु पिछले

प्रयत्न से जो भविष्य निश्चित हो गया हैं, वह तो भाग्य बन गया। आप अब जैसा प्रयत्न एव पुरुषार्थ करेंगे, वैसा ही भाग्य अर्थात् भविष्य बनेगा। भाग्य का निर्माण आपके हाथ मे है, किन्तु भाग्य की प्रतिफलित निश्चत रेखा को बदलना आपके हाथ मे नही है, यह बात भले ही विचित्र लगे, पर ध्रुव सत्य है।

इसका सीधा-सा अर्थ है कि हम कर्म करने के तो अधिकारी हैं, किन्तु कर्मफल मे हस्तक्षेप करने का अधिकार हमे नही है। फिर कर्म की वासना से लिप्त क्यो होते हैं, कर्तापन के अहकार से व्यर्थ ही अपने को धोखा क्यो देते हैं—यह बात समझने जैसी है।

भारतीय चिन्तन कहता है—मनुष्य ! तू अपने अधिकार का अति-क्रमण न कर ! अपनी सीमाओ को लाँघकर दूसरे की सीमा मे मत घुस ! जब अपने सामर्थ्य से बाहर जाकर सोचेगा तो अहकार जगेगा, 'मैं' का भूत सिर पर चढ जायेगा और तेरे जीवन की सुख शान्ति विलीन हो जायेगी।

शान्ति का मार्ग

●

हमारे यहाँ एक कहानी आती है, कि एक मुनि के पास कोई भक्त आया और बोला—महाराज ! मन को शान्ति प्राप्त हो सके, ऐसा कुछ उपदेश दीजिए !

मुनि ने भक्त को नगर के एक सेठ के पास भेज दिया। सेठ के पास आकर उसने कहा—मुनि ने मुझे भेजा है, शान्ति का रास्ता बतलाइए !

सेठ ने समागत अतिथि को ऊपर से नीचे तक एक दृष्टि से देखा और कहा—'यहाँ कुछ दिन मेरे पास रहो, और देखते रहो।'

भक्त कुछ दिन वहाँ रहा, देखता रहा। सेठ ने उसे कुछ भी पूछा नही, कहा नही। रात दिन अपने काम मे, धधे मे जुटा रहता। सैंकडो आदमी आते जाते, मुनीम गुमास्ते बही खातो का ढेर लगाए सेठ के सामने बैठे रहते। भक्त सोचने लगा—''यह सेठ, जो रातदिन

माया के चक्कर मे फँसा है, इसे तो खुद ही शान्ति नही है, मुझे क्या शान्ति का मार्ग बतायेगा। मुनि ने कहाँ भेज दिया ?"

एक दिन सेठ बैठा था, पास ही भक्त भी बैठा था। मुनीम घबराया हुआ आया और बोला—"सेठ जी ! गजब हो गया। अमुक जहाज, जिसमे दस लाख का माल लदा आ रहा था, बदरगाह पर नही पहुँचा। पता लगा है—समुद्री तूफानो मे घिर कर कही डूब गया है।"

सेठ ने गभीरतापूर्वक कहा—मुनीम जी, शान्त रहो ! क्यो परेशान होते हो ? डूब गया तो क्या हुआ ? कुछ अनहोनी तो नही हुई ? प्रयत्न करने पर भी नही बचा, तो नही बचा, जैसा होना था हुआ, अब घबराना क्या है ?"

इस बात को कुछ ही दिन बीते थे कि मुनीमजी दौड़े-दौडे आये, खुशी मे नाच रहे थे—"सेठ जी, सेठजी ! खुशखबरी। वह जहाज किनारे पर सुरक्षित पहुँच गया है, माल उतरने से पहले ही दुगुना भाव हो गया और बीस लाख में बिक गया है।"

सेठ फिर भी शान्त था, गभीर था। सेठ ने उसी पहले जैसे शान्त मन से कहा—"ऐसी क्या बात हो गई ? अनहोनी तो कुछ नही हुई ? फिर व्यर्थ ही फूलना, इतराना किस बात का ? यह हानि और लाभ तो अपनी नियति से होते रहते है, हम क्यो इनके पीछे रोएँ और हँसें ?"

भक्त ने यह सब देखा, तो,उसका अन्त.करण प्रबुद्ध हो उठा। क्या गजब का आदमी है। दस लाख का घाटा हुआ तब भी शान्त ! और बीस लाख का मुनाफा हुआ तब भी शान्त ! दैन्य और अहकार तो इसे कही छू भी नही गये, कही रोमाच भी नही हुआ इसको।यह गृहस्थ है या परम योगी ! उसने सेठ के चरण छू लिए और कहा—जिस शान्ति की खोज मे मुझे यहाँ भेजा गया था वह साक्षात् मिल गई। जीवन मे शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, इसका गुरुमन्त्र मिल गया मुझे !

सेठ ने कहा—"जिस गुरु ने तुम्हे यहाँ भेजा, उसी गुरु का उपदेश मेरे पास है। मैंने कभी भी अपने भाग्य पर अहङ्कार नही किया, इसलिए मुझे कभी अफसोस भी नही हुआ। हानि-लाभ के चक्र मे

अपने को मैं निमित्त मात्र मानकर चलता हूँ, विश्व गतिचक्र की इस मशीन का एक पुर्जा मात्र । इसलिए मुझे न शोक होता है, और न हर्ष । न दैन्य और न अहकार ।"

भाग्य सम्मिलित और प्रच्छन्न

●

मैंने आपसे बताया कि कर्तृत्व के अहकार को किस प्रकार शात किया जा सकता है। सेठ की तरह आप यदि अपने को अहकारबुद्धि से मुक्त रख सकें तो मैं गारण्टी देता हूँ कि जीवन मे आपको कभी भी अफसोस एव चिन्ता नहीं होगी ।

मनुष्य परिवार एव समाज के बीच बैठा है। बहुत से उत्तरदायित्व उसके कधो पर हैं और उसी के हाथो से वे पूरे होते हैं । परिवार मे दस-बीस व्यक्ति हैं और उनका भरण पोषण सिर्फ उसी एक व्यक्ति के द्वारा होता है, तो क्या वह यह समझ बैठे कि वही इस रङ्ग मञ्च का एक मात्र सूत्रधार है। उसके बिना यह नाटक नही खेला जा सकता । वह किसी को कुछ न दे तो बस सारा परिवार भूखा मर जाएगा, बच्चे भिखारी बन जाएँगे, बडे बूढे दाने-दाने के मुँहताज हो जायेंगे । मैं सोचता हूँ, इससे बढकर और क्या बेवकूफी हो सकती है ।

बालक जब गर्भ मे आता है तो उसका भी भाग्य साथ में आता है, घर मे प्रच्छन्न रूप से उसका भाग्य अवश्य काम करता है। कल्पसूत्र आदि मे आपने सुना है कि जब भगवान महावीर माता के गर्भ मे आये, तब से उस परिवार की अभिवृद्धि होने लगी। उनके नामकरण के अवसर पर पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय, अपने मित्र बन्धुओ के समक्ष पुत्र के नामकरण का प्रसग लाते हैं, तो कहते हैं जब से यह पुत्र अपनी माता के गर्भ मे आया है, तब से हमारे कुल मे धन धान्य, हिरण्य सुवर्ण, प्रीति सत्कार आदि प्रत्येक दृष्टि से निरन्तर अभिवृद्धि होती रही है, हम बढते रहे हैं, इसलिए इस कुमार का हम गुणनिष्पन्न वर्द्धमान नाम रखते हैं—**त होउ ण कुमारे वद्धमाणे वद्धमाणे नामेणं ।**"

बात यह है कि किसी का भाग्य प्रच्छन्न काम करता है, किसी का प्रकट । सयुक्त परिवार मे यह नही कहा जा सकता कि सिर्फ एक ही

व्यक्ति उसका आधार है। वहा, केवल एक का नही; अपितु सबका सम्मिलित भाग्य काम करता है।

परिवार मे बडे बूढो के बारे मे भी कभी-कभी व्यक्ति सोचता है कि यह तो बेकार की फौज है। कमाते नही, सिर्फ खाते हैं। मैं इनका भरण पोषण क्यो करूँ ? यदि दो चार बूढ़े आदमी परिवार मे १०-१५ साल रह गए तो २०-२५ हजार के नीचे ले ही आयेंगे।

यह सोचना, निरी व्यक्ति परक एव स्वार्थवादी बुद्धि है। अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से उसके आकडे सही हो सकते है, लेकिन क्या जीवन मे कोई कोरा अर्थशास्त्री और गणितशास्त्री बनकर जी सकता है ? जीवन इस प्रकार गणित के आधार पर नही चलता। वह नीति और धर्म के आधार पर चलता है। नीति एव धर्मशास्त्र यह बात स्पष्ट कहते हैं—कि कोई कर्म करता है, और कोई नही करता, यह सिर्फ व्यावहारिक दृष्टि है। वस्तुत. प्रच्छन्न रूप से सबका भाग्य कार्य कर रहा है, और उसीके अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति को मिलता भी रहता है। सक्करखोर को सक्कर मिल ही जाती है।

बात बहुत लम्बी हो चुकी है, और इधर उधर काफी फैल भी गई है। मैं इस बात पर चला था कि जीवन मे कर्म करके भी अकर्म अवस्था कैसे प्राप्त की जा सकती है। उसीके विस्तार मे अकर्म मे कर्म, कर्तृत्व बुद्धि का त्याग और प्रच्छन्न भाग्य की बात आपसे कह गया हूँ। वस्तुत· हमारा जीवनदर्शन आज धुँधला हो गया है। आज का मनुष्य भटक रहा है, जीवन के महासागर में तैरता हुआ इधर उधर हाथ पाव मार रहा है, पर उसे कही किनारा नही दिखाई दे रहा है। इसका कारण यही है कि वह इस दृष्टि से नही सोच पाता कि करना, फिर भी करने के अह से दूर रहना—यही जीवन की कला है। इसी कला से जीवन मे सुख एव शान्ति प्राप्त की जा सकती है।

उपाध्याय अमर मुनि

भविष्य-चिन्ता

महाराज भोज को पडितो एव याचको को यथेच्छ धन लुटाते देखकर मत्री रोहक का हृदय चिन्ता से आकुल व्याकुल हो उठा—'इस प्रकार तो कुछ ही दिनो मे राज्य का भडार खाली हो जायेगा?' मगर राजा को रोके कौन ? मत्री ने एक उपाय सोचा और मौका देखकर सभामण्डप के एक भार पट्ट पर खडिया (चौक) से बडे-बडे अक्षरो मे लिख दिया—"आपदर्थं धन रक्षेत्"—आपत्ति काल के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए।'

प्रातः महाराज ने जब इस लेख को पढा तो एक क्षण पढ़ते रह गए। फिर जरा मन ही मन हँसते हुए उसी के नीचे एक दूसरा वाक्य लिख दिया—"भाग्यभाज. क्व चापद"—भाग्यवान का आपत्ति कहाँ है ?"

मत्री ने जब महाराज का उत्तर देखा तो पुनः विचारमग्न हो गया-यह अहकार ही तो मनुष्य को नष्ट करता है। यदि भाग्य ने पलटा खाया और आपत्ति आ गई तो ? कोई भरोसा है ? मत्री ने कॉपते हाथो से तीसरी पक्ति मे लिख दिया—"दैव हि कुप्यते क्वापि" यदि कभी दैव कुपित हो जाय तो ?"

राजा ने प्रात· जब इस वाक्य को पढा तो मत्री की मानसिक दुर्बलता पर ठहाका मारकर हँस पडा। उसकी नस-नस मे विराट् आत्मविश्वास स्फुरित हो उठा। राजा ने सुदृढ हाथो से मत्री के वाक्य का उत्तर लिखा—"सचितो पि विनश्यति"—(तब तो) सचय किया हुआ भी नष्ट हो जायगा।"

रोहक ने जब यह पढा तो उसकी आँखें चकित-सी उसे पढती ही रहगयी। जिसके हृदय मे इतना उत्कट आत्म-विश्वास लहरा रहा है, उसे भविष्य की क्या चिन्ता ? भविष्य तो उसी के हाथो मे खिलता है।" मत्री ने विनम्र भाव से राजा के समक्ष आकर अपने अविनय की क्षमा माँगी और कहा--"मैं व्यर्थ ही चिन्ता से परेशान रहा, जहाँ इतना बडा आत्म-विश्वास खडा है, वहाँ भविष्य की चिन्ता करना निरर्थक है।"

—प्रबन्ध चिन्तामणि १। पृ० ३३

उपाध्याय अमर मुनि

एकान्त कहाँ ?

चेदी देश मे शुक्तिमती नाम की नगरी थी। वहा का राजा अभिचन्द्र बडा न्यायी और प्रतापी था। राजा के एक पुत्र था, जिसका नाम था—'वसु'। वसु बचपन से ही सत्यव्रत पर दृढ़ निष्ठा रखता था।

उसी नगर मे एक क्षीरकदबक नाम के उपाध्याय रहते थे। उपाध्याय जितने बड़े विद्वान थे उतने ही सरल और धर्मनिष्ठ भी थे। बड़े-बड़े राजकुमार, श्रेष्ठीपुत्र एव ब्राह्मण कुमार उपाध्याय के पास विद्याध्ययन के लिए आते थे। राजकुमार वसु भी उपाध्याय के पास अध्ययन करता था, उसी के साथ दो अन्य विद्यार्थी भी अध्ययन करते थे, एक का नाम था 'पर्वतक' और दूसरे का नाम था 'नारद'। पर्वतक उपाध्याय का पुत्र था, नारद कही बाहर से आकर उपाध्याय के गुरुकुल मे शिक्षा ले रहा था।

एक दिन उपाध्याय और तीनो विद्यार्थी गुरुकुल की छत पर सोए थे कि इसी बीच दो चारण ऋषि (विद्याधर मुनि) विद्यार्थियो के सम्बन्ध मे परस्पर बाते करते हुए आकाश मार्ग से गुजरे कि—"इन तीनो छात्रो मे से एक तो उच्चगति (स्वर्ग) मे जाने वाला है, और दो अधोगति (नरक) मे।"

चारण ऋषियों के ये शब्द उपाध्याय के कानो मे पड़ गए वे सोचने लगे—"मेरे छात्र होकर भी ये नरक में जायेंगे ? ऋषि के वचन असत्य नही होते, नरक मे जाने वाले नरक मे जाएँगे ही, परन्तु

पता तो लगाना चाहिए कि कौन स्वर्गगामी है और कौन नरक-गामी ?"

उपाध्याय ने छात्रो की परीक्षा करने के लिए कलाकार से आटे के तीन मुर्गे बनवाए। जो देखने में बिलकुल मुर्गे जैसे ही लगते थे। छात्रों को बुलाकर उपाध्याय ने एक-एक मुर्गा देते हुए कहा—"वत्स ! इन मुर्गों को ऐसी जगह पर ले जाकर मारना, जहाँ कोई भी नही देखता हो।"

पर्वतक ने गाव के बाहर जाकर किसी वृक्ष की ओट मे बैठकर मुर्गे को मार दिया, सोचा—"यहा कौन देख रहा है ? कोई भी तो नही है।"

राजकुमार वसु ने सोचा—'खुले आकाश के नीचे तो अनेक पक्षी देख रहे हैं, उपाध्याय ने कहा है 'जहाँ कोई न देखे, वहा मारना !" वह ऐसे स्थान की तलाश मे इधर-उधर घूमता हुआ एक पर्वत की गुफा मे पहुँचा और वहा चारो ओर देखकर उसने मुर्गे को कलम कर दिया।

नारद भी एकान्त स्थान की खोज मे घूमता हुआ एक गहन पर्वत-गुफा मे पहुँचा। वहाँ उसने स्थिरचित्त हो, इधर उधर देखा, कोई चिडिया भी नही दिखाई दी। सोचा, यह एकान्त स्थान अच्छा है। मुर्गे को हाथ मे लेकर ज्यो ही वह मारने को उद्यत हुआ, तो उसे विचार आया—"गुरु ने कहा है—एकान्त स्थान मे, जहा कोई न देखता हो वहा मारना, किन्तु यहा पर और तो कोई नही देख रहा है, पर, मैं स्वय तो देख रहा हूँ। फिर जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तज्ञानी भगवान हैं, वे भी तो ससार की समस्त घटनाओ को देख रहे हैं। ससार में कही एकान्त है ही नही ? प्रत्येक स्थान पर आत्मा स्वय अपने को देख रहा है ? स्वय द्रष्टा होते हुए भी अपने को अद्रष्टा समझे, यह कैसी आत्म-प्रवचना ? आत्मा अपने आपसे कभी धोखा नही खा सकता? वह सदा और सर्वत्र देखता है। इसी प्रकार भगवान सदा सर्वदर्शी सब जगह हमारे सामने हैं। फिर कृपालु गुरु ने निरर्थक ही इस प्राणी का बध करने के लिए क्यो कहा ? अवश्य ही इसमे कोई अन्य महत्त्वपूर्ण

हेतु है। शायद मेरी परीक्षा ही ली हो,—नारद विचारो मे गहरा उतर गया और मुर्गे को बिना मारे ही लौटकर गुरु के समीप आया। मुर्गे को गुरु के सामने ज्यो-का-त्यो रखा, तो गुरु ने जरा तीखे शब्दो मे न मारने का कारण पूछा।

नारद ने कहा–"प्रभो! आपने कहा था, एकान्त मे मारना। मुझे एकान्त कही नही मिला। भगवान से क्या छुपा है? वे तो सर्वदर्शी हैं। सदा और सर्वत्र देखते हैं। और भगवान ही क्यो? अपनी आत्मा भी तो अपने को देख रहा है कि खुद बुरा काम कर रहा है? ऐसी स्थिति मे आप ही बताइए,मैं अपने आपके साथ यह आख-मिचौनी कैसे खेलता?"

गुरु ने देखा—"नारद के हृदय मे करुणा और दया के अकुर हैं, आत्म-दर्शन है, आत्मदर्शन के साथ भगवद्दर्शन भी है। पाप का भय है। यही स्वर्गगामी है।"

तभी पर्वतक और वसु हँसते हुए उपाध्याय के पास आए और बताया कि हमने एकान्त मे मुर्गे को मार डाला। उपाध्याय को समझते देर नही लगी कि इनके हृदय मे कितना अज्ञान और क्रूरता भरी है। क्रूर हृदय ही तो नरक गामी होता है।

उपाध्याय ने दोनो को तर्जना देते हुए कहा—"तुम दोनो पढे जरूर हो, पर तुम्हे ज्ञान नही हुआ। एकान्त कहा मिला तुम्हे? क्या वहाँ सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु नही देख रहे थे। और फिर तुम अपने आप भी तो देख रहे थे। क्या तुम अपने को द्रष्टा नही समझते? दुनिया से आँख चुराकर चलना ही एकान्त है क्या? हृदय में पाप का भय नही, तो कैसी तुम्हारी शिक्षा की साधना?"

उपाध्याय की ताडना पर वसु और पर्वत दोनो बाहर से लज्जित होकर चुप तो हो गए, दोनो का सिर भी नीचे झुक गया। परन्तु उनके अन्दर का अहकार नही झुका, वह नही टूटा। मन के विकल्प चलते रहे--उपाध्याय भी क्या है? आए दिन कोई-न-कोई नाटक खेलते हैं, और धर्मशास्त्रो का गला सडा उपदेश बघारते रहते हैं।

इधर आचार्य नें नारद के ज्ञान और विवेक की सराहना करते हुए उसकी पीठ थपथपाई, और ऐसे योग्य शिष्य को पाकर स्वय को भी गौरवान्वित अनुभव किया।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित ७।२

—भत्त पइन्ना (प्रकीर्णक) १०१

पाप क्यों ?

मानव पापाचरण करता है, तो अन्धा हो जाता है। सर्व प्रथम उसका विवेक, उसका चिन्तन-मनन-दर्शन लुप्त होता है। वह पापाचार करने से पूर्व इधर-उधर आख फैलाकर लोगो को देखता है कि कोई देख तो नही रहा है। परन्तु वह यह नही देखता कि और कोई भले ही नही देख रहा हो, स्वय तो देख रहा है। ईश्वर एव परमात्मा तो देख रहा है। यदि यह दृष्टि प्राप्त हो जाए तो फिर कोई पाप ही न हो, दुराचार ही न हो।

—अमरमुनि

●

चिन्ता

मानव भविष्य की चिन्ताओ मे उलझा रहता है और सोचता रहता है कि 'यह होगा' वह होगा। मैं क्या करूगा, क्या कर सकूगा ?' यह चिन्ताचक्र मानव की बौद्धिक एव कर्मशक्ति को दुर्बल बनाता है, वर्तमान की सुखद उपलब्धियो से चिपटा रहना, सिखाता है वह मानव मन के तेज, उत्साह एव साहस को क्षीण करता है। भविष्य के प्रति जाग्रत एव सतर्क रहना अलग चीज है और दिशाहीन चिन्ता करते रहना, अलग चीज है।

—अमरमुनि

उपाध्याय अमरमुनि

परिग्रह और परिग्रहवाद मे अन्तर है। परिग्रह उतना हानिकर नही, जितना कि परिग्रहवाद है। यदि परिग्रह के मूल मे श्रम है व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ है, न्यायनीति है, तो वह परिग्रह समाज कल्याण के लिए भी उपयोगी हो सकता है। किन्तु परिग्रहवाद मे आसक्ति का स्वर छिपा है। उसके मूल मे शोषण है, उत्पीड़न है, अन्याय है, अत्याचार है। यह स्वय व्यक्ति के लिए भी घातक है, और समाज एव राष्ट्र के लिए भी। आज जो समाज मे शोषक और शोपित, स्वामी और सेवक, अमीर और गरीब के आत्यन्तिक विभेद की, वैर और विरोध की जो दीवारे खडी हैं। ये किसने खडी की हैं? परिग्रहवाद ने खडी की हैं।

\+ \+ \+ \+

प्रेम अलग चीज है, भौतिक शक्ति और बल अलग चीज है भौतिक शक्ति के प्रयोग मे मनुष्य का अह बोलता है, दर्प गूँजता है और प्रेम मे विनय एव निरभिमानिता मुखरित होती है। प्रेम अमर है, वह कभी किसी से नष्ट नही किया जा सकता। किन्तु शक्ति अपने से बडी शक्ति से नष्ट हो जाती है। महात्मा ईसा ने इसी सन्दर्भ मे कभी कहा था—तू अपनी तलवार म्यान मे रखले, क्योकि जो तलवार के बल पर आगे बढते हैं वे तलवार से ही नष्ट भी हो जाते हैं।

●

प्रश्न आपके ?

उत्तर कवि श्री जी के !!

अमर भारती, जुलाई अगस्त के अक मे सम्यग्दर्शन का प्रथम उपदेश न देकर सीधा ही मद्य मास विरति आदि का उपदेश देने की आलोचना की है, और इसके लिए बृहत्कल्प भाष्य एव उसकी टीका का प्रमाण उद्धृत किया है। यह अभी हमारी समझ मे नही आया है। क्या इस प्रकार के सीधे ही नैतिक एव व्यवहार शुद्धि का उपदेश देने वाले गलत हैं ? कृपया इस पर और प्रकाश डालिए।

—रिसालसिह जैन
अमीनगर सराय (मेरठ)

धर्म का मूल क्या है, यह प्रश्न जब जैनाचार्यों के समक्ष उपस्थित हुआ तो उन्होने स्पष्ट उत्तर दिया कि धर्म का मूल सम्यग् दर्शन है—'दसणमूलो धम्मो [1]।' मूल के बिना वृक्ष कैसा ? और वृक्ष की शाखा—प्रशाखा एव पत्र, पुष्प, फल कैसे ? 'मूल नास्ति कुत शाखा।'—'छिन्ने मूले नैव पत्रं न पुष्पम्।' इसका अर्थ यह हुआ कि सम्यग् दर्शन के होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र होता है, धर्म होता है। सम्यग्दर्शन के अभाव मे ज्ञान कुज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है, धर्म कुधर्म है। इसीलिए भगवान महावीर ने अपनी पावापुरी की अन्तिम देशना मे कहा था—

नादसणिस्स नाण,
नाणेण विणा न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥

—उत्तराध्ययन २८।३०

---

१. दर्शन प्राभृत। २

अर्थात् दर्शन के अभाव मे ज्ञान नही होता, ज्ञान के अभाव मे चरण गुण-आचार एव धर्म नही होता, चरणगुण के अभाव मे मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के अभाव मे आत्मा को निर्वाण यानी सदाकाल स्थायी अविनाशी आत्मानन्द रूप परमशान्तभाव नही प्राप्त होता।

धर्माचरण की प्रथम भूमिका सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन क्या है ? आत्मदृष्टि, आत्म प्रतीति को ही सम्यग् दर्शन कहते हैं—'दर्शनमात्मविनिश्चितिः[1]।' जिस व्यक्ति को स्वय का बोध ही नही है कि मैं कौन हूँ, चैतन्य हूँ या जड हूँ ? वह क्या धर्माचरण करेगा ? पथ पर चलने से पहले दृष्टि तो मिलनी चाहिए। दृष्टि ही नही है, व्यक्ति अन्ध है, भला वह क्या मार्ग का अच्छा या बुरापन जानेगा ? उसे कैसे पता लगेगा कि मैं अपने लक्ष्य की ओर जाने वाले सही मार्ग पर चल रहा हूँ, अथवा लक्ष्य से विपरीत पथ पर भटक गया हूँ। यही बात साधक के लिए भी है ! जब साधक को अपने आपका, अपनी आत्मा का ही बोध नही हैं, आत्मदृष्टि ही उसे प्राप्त नही है, तो दर्शनशास्त्र की भाषा मे वह अन्धा है। और वह अन्धा धर्मपथ का सही अनुसरण कैसे कर सकेगा ? अत: सद्गुरु का प्रथम कर्तव्य है कि साधक को आत्मबोध कराए, उसके अन्तर् मे शुद्ध आत्म दृष्टि जगाए। सद्गुरु धर्मबोध ही देता है, और कुछ नही ! और धर्मबोध आत्मबोध पर आधारित है। इसीलिए भारतीय गुरु का शिष्य को यही शाश्वत सन्देश है—आत्मान विद्धि—अपने को जान, अपने को परख !

बृहत्कल्प भाष्य और उसके टीकाकार ने, जो अपने युग के महान श्रुतज्ञानी हैं, जो यह कहा है कि सम्यग्दर्शन का उपदेश दिए बिना पहले ही मद्यमास विरति आदि का उपदेश देना, उचित नही है, ठीक ही कहा है। तत्त्वज्ञान का यही मार्ग है, यही जिनशासन की सेवा है, यही जिज्ञासु की आत्मा का वास्तविक कल्याण है। इसका यह भावार्थ नही है कि मद्य मास आदि के त्याग का उपदेश देना अनुचित है। भावार्थ केवल इतना है कि सर्वप्रथम साधक को आत्मबोध कराओ, और उसके बाद मद्यमास आदि का त्याग, ताकि वह त्याग, धर्म का रूप ले सके, मोक्ष का मार्ग बन सके। अन्यथा वह केवल नैतिक धरातल पर रहने वाला एक बाह्याचारमात्र बनकर रह

१. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, २१६

जाएगा, आत्मा का निज धर्म नही बन सकेगा। धर्म, प्रबुद्ध आत्मा का आचार है, जो साधक के अन्तर्जीवन मे स्फुरित होता है, और नैतिकता उपरिथरातन की चीज है, जो पश्चिम के कुछ नास्तिक देशो मे भी अमुक अश मे मान्य है। अध्यात्म-प्रधान जैनदर्शन की प्राचीन परम्परा इस प्रकार के सम्यग्दर्शनहीन आचारो को धर्म की कोटि मे नही लेती, उससे आत्मशुद्धि नही मानती, वह केवल अधिक से अधिक पुण्य का मार्ग हो सकता है, और कुछ नही। जैनदर्शन, जैनदर्शन ही क्या, कुछ भारतीय दर्शन भी साधना का प्रमुख लक्ष्य स्वरूपोपलब्धि मुक्ति ही मानते हैं पुण्यफलरूप स्वर्गादि नही। स्वर्गादि गौणरूप से बीच मे आ जाते है तब, जबकि पूर्ण वीतरागता प्राप्त नही हो पाती है। अत पुण्य धर्मसाधना का मुख्य लक्ष्य नही, अपितु साधक की दुर्बलता का सूचक है कि वह अपनी साधना मे से रागाश को समाप्त नही कर पाया।

और सम्यग्दर्शन के अभाव मे होने वाले पुण्य के सम्बन्ध मे एक बात और है कि वह पुण्य साधारण कोटि का होता है, उत्कृष्ट नही। सम्यग्दर्शन के सद्भाव मे ही रागाँश की स्थिति मे पुण्य की उत्कृष्टता होती है, अन्यथा नही। अत बृहत्कल्प भाष्यकार का उक्त चर्चित कथन दर्शनपक्षीय सत्य के निकट है, दूर नही।

हा, यह बात ठीक है, भाष्यकार एव टीकाकार स्वय भी यही कहते हैं कि मुनिधर्म, श्रावक धर्म, तथा सम्यग्दर्शन का उपदेश देने पर भी यदि व्यक्ति तदनकूल जागृत नही होता है तो उसे मद्य मास विरति आदि का उपदेश देना चाहिए। यह नही कि उसे योही छोड दो। यदि वह पहले धर्म पक्ष मे न जगे तो फिर उसे नैतिक पक्ष मे जगाना चाहिए, जैसा कि चित्तमुनि ने ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती को उपदेश देते हुए कहा है। चित्तमुनि पहले सयम साधना का उपदेश देता है, और जब ब्रह्मदत्त उसके लिए तैयार नही होता है तो फिर उसे आर्यकर्म का उपदेश देता है—'जइ त सि भोगे चइउ असत्तो, अज्जाइ कम्माइ करेह राय[1]।' यह उपदेशदान की प्राचीन विधि है, जो बृहत्कल्प भाष्यकार आदि को उत्तराधिकार मे मिली है।

यह हो सकता है कि यदि प्रवक्ता मुनि को ऐसा लगे कि सामने वाला व्यक्ति अभी सम्यग्दर्शन की भूमिका पाने जैसी स्थिति मे नही

१. उत्तराध्ययन १३।३२

है, अत. वह सम्यग्दर्शन का उपदेश दिए बिना भी उसे नैतिक जीवन का सीधा उपदेश दे दे। इसमे कोई दोष-या आपत्ति नही है। परन्तु सम्यग्दर्शन पाने जसी भूमिका हो, साधक आत्मबोध पाने की स्थिति मे हो, फिर भी उसे आत्म बोध एव तत्त्वबोध का उपदेश न देकर, उसको अन्तरात्मा को सत्य के प्रति न जगाकर, सीधा ही नीचे की भूमिका के नैतिक उपदेश देने लगना, और इसे ही अपने प्रचार का मुख्य केन्द्र बिन्दु बना लेना, न शास्त्र सम्मत है और न परम्परा-सम्मत। गहराई से सोचा जाए तो इसका परिणाम उचित भी नही आता। साधक को जब पहले ऊँची भूमिका न बताकर, केवल नीचे की भूमिका बताकर ही अलँ कर लिया जाता है, तो इसका यह परिणाम होता है कि अधिकाश साधक उसे ही महत्वपूर्ण मानकर सतुष्ट हो जाते हैं, अपनी साधना के आगे इति लगा लेते हैं, आगे और अधिक विकास नही कर पाते। अत प्रवचन पद्धति का यह रूप आचार्यों ने स्थिर किया था कि पहले उच्च भूमिका का उपदेश दो, साधुत्व, श्रावकत्व एव सम्यग्दर्शन का उपदेश दो। यदि साधक इन भूमिकाओ पर आ जाए तो ठीक है। यदि साधक दुर्बल है, इन उच्च भूमिकाओ पर नही आ सकता है तो फिर उसे चित्तमुनि की तरह आर्य कर्म का, नैतिक जीवन का उपदेश दो, ताकि वह आध्यात्मिक शुद्ध धर्म की भूमिका पर न आ सके तो कम से कम शुभ की भूमिका पर, पुण्य की भूमिका पर तो आ सके। नैतिक जीवन से उसका, उसके आसपास के समाज का तो वातावरण सुधरे, भविष्य मे फिर कभी समय मिलेगा तो उसे पुन आध्यात्मिक-भूमिका पर लाया जा सकेगा, उसकी अन्तरात्मा को जागृत किया जा सकेगा। और उसने एक वार तत्त्ववोध सुन लिया है, अत. कुछ न कुछ उसका अश एव महत्व उसकी स्मृति मे रहेगा ही। सभव है, समय-पकने पर वह स्वय ही उस सुनी हुई उच्च भूमिका की ओर प्रेरित हो, यथावसर उसके द्वारा अपना आत्म कल्याण कर सके।

अतीत मे कौन क्या करता रहा है, और अब कौन क्या कर रहा है? सत्य की विवेचना के समक्ष न कभी यह महत्वपूर्ण-रहा है और न कभी होगा। सत्य को परम्पराओ का महत्व अपना निजी होता है। वह इधर उधर के व्यक्तियो के वैयक्तिक आचरण पर आधारित नही होना है, सत्य को प्रतिष्ठा व्यक्ति पर नही, स्वय उसके अपने ऊपर है।

एक साहित्य-प्रतिष्ठान

बीज से वट रूप मे पल्लवित-पुष्पित होने वाली सस्था का इतिहास भी निश्चित ही उत्कर्ष एव गौरव की एक गाथा होनी चाहिए। सन्मति ज्ञानपीठ आगरा का इतिहास और प्रगति विवरण उसके पिछले तेईस वर्षों की सफलता एव उपलब्धियो की गौरवपूर्ण गाथा है।

सम्मति ज्ञानपीठ, श्वेताम्बर जैनसमाज मे एक प्रतिष्ठित, विश्वसनीय तथा कार्यक्षम साहित्यिक प्रतिष्ठान है। इसकी स्थापना सन् १९४५ मे बहुश्रुत विद्वान उपाध्याय श्रीअमरमुनिजी की प्रेरणा से उस समय मे की गई थी, जब जैन क्षेत्रो मे साहित्य तथा साहित्य प्रकाशन सस्थानो की आवश्यकता तीव्र रूप मे अनुभव की जा रही थी। सस्थान ने अनेक श्रेष्ठ साहित्यकारो को जैनदर्शन सस्कृति, इतिहास एव आचार से सम्बन्धित नव-साहित्य सर्जन की प्रेरणा दी है तथा नवोदित साहित्यकारो को उत्साह एव दिशा दर्शन भी।

साहित्य प्रकाशन की दिशा मे अद्यतन शैली, एव स्वच्छता, सुन्दरता की दृष्टि से भी सस्थान ने अपने लेखको एवं पाठको की युगीन सुरुचियो को परितृप्त किया है। वर्तमान मे यह सस्थान जैन समाज का एक असाम्प्रदायिक लोकप्रिय तथा कार्य-शील प्रतिष्ठान के रूप में सुविश्रुत है।

सस्थान के उद्देश्य, दो दशको की प्रगति, एव आगामी कार्यक्रम की रूपरेखा इस प्रकार है—

उद्देश्यः—

१—जैनधर्म, दर्शन, सस्कृति, इतिहास एव आचार से सम्बन्धित मौलिक तथा अन्वेषणात्मक साहित्य का सर्व विधि सुन्दर प्रकाशन करना।

२—साम्प्रदायिक पूर्वग्रहो से मुक्त रहकर विद्वानो का सहयोग प्राप्त करना, तथा उच्चकोटि के लोकमान्य साहित्य का सर्जन करवाना।

३—सस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भारतीय भाषाओ मे सदृब्ध प्रकाशित, दुर्लभ साहित्य का नवीन शैली से अनुसधान, सम्पादन एव प्रकाशन करना।

३—भारतीय सस्कृति और विशेषत: श्रमण सस्कृति के उत्कर्ष के लिए किए जाने वाले किसी भी उचित प्रयत्न मे यथावसर सहयोग करना।

प्रवृत्तियां —

प्रकाशन—

१—दर्शन, इतिहास, जीवनचरित्र, कहानी (ऐतिहासिक), प्रवचन, उपदेश, स्तोत्रपाठ आदि विभिन्न विषयो पर प्रमुख विद्वानो, विचारको एव प्रवक्ता मुनिजनो के असाप्रदायिक श्रेष्ठ तथा उपयोगी साहित्य का प्रकाशन किया गया है।

२—विद्यालयो में बालको को नैतिक तथा धार्मिक शिक्षण के लिए सरल सर्वमान्य बालशिक्षण साहित्य का प्रकाशन भी किया है।

३—जैन आगमो के विशिष्ट सपादन के साथ मूल व हिन्दी अनुवाद का प्रकाशन भी चल रहा है।

अब तक लगभग १२ पुस्तकें प्रकाशित की जा चुकी हैं।

श्री दलसुखभाई मालवणिया, डा० मोहनलाल मेहत्ता, डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, प० बेचरदास दोशी, उपाध्याय कविरत्न अमर मुनि आदि जैन दर्शन के अनेक प्रतिष्ठित तथा उच्चकोटि के विद्वानो का साहित्य विशेष रूप से प्रकाशन के लिए प्राप्त होता रहा है।

भविष्य के कार्यक्रम की रूपरेखा.—

सास्कृतिक प्रकाशनो की गति मे तीव्रता लाने के लिए सस्थान ने अपने भावी कार्यक्रम के दो लक्ष्य निर्धारित किए हैं—

१. विश्व के धर्मों के तुलनात्मक और ऐतिहासिक अध्ययन पर आधारित समन्वयात्मक साहित्य का प्रकाशन।

२ प्राचीन प्राकृत-सस्कृत साहित्य और विशेषकर आगम साहित्य पर अनुसंधान करके अधुनातन शैली मे सम्पादन व हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन।

अपने साधन स्रोतो की अनुकूलता के अनुसार सस्थान ने इस दिशा मे भी कार्य प्रारम्भ कर दिया है।

पत्रिका का प्रकाशन –

समाज के श्रद्धालु वर्ग की धार्मिक जडता और वैचारिक कुण्ठाओ को तोडकर नव चिन्तन को जागृत करने के लिए सस्था की ओर से 'श्री अमर भारती' नामक विचारपत्रिका का प्रकाशन लगभग पाच वर्ष से किया जा रहा है। नव-चिन्तन एव विचार क्रान्ति की दिशा मे पत्रिका को अच्छी सफलता प्राप्त हो रही है। जैन व जैनेतर वर्ग मे इसकी विचार सामग्री को पसन्द किया जाता है, लगता है पत्रिका अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही है।

इस सस्था की गति-प्रगति एव दिशा-निर्देशन का सर्वाधिक श्रेय जैन परम्परा के बहुश्रुत विद्वान उपाध्याय कवि श्री अमर मुनिजी को है। आशा है उन जैसे तटस्थ एव उदार विद्वान विचारक के निर्देशन से सस्थान अपने लक्ष्यो मे सदा सफल होता रहेगा।

साहित्य विक्री:—

साहित्यविक्रय की दृष्टि से भी सस्थान की गति सतोषजनक रही है। सस्था के प्रकाशनो से बराबर लाभान्वित होने की दृष्टि से लगभग ४०० इसके स्थायी ग्राहक हैं, जिनका आजीवन शुल्क सस्था को पूर्व प्राप्त हो जाता है, और प्रत्येक प्रकाशन उनकी सेवा मे पहुँच जाता है।

स्थायी ग्राहको के अतिरिक्त भारत के प्रमुख नगरो में इसके एजेन्ट भी हैं। विद्यालयो के पुस्तकालयो मे भी साहित्य की काफी मांग रहती है।

जर्मन अमेरिका आदि विदेशो में भी सस्था के प्रमुख प्रकाशन समय-समय पर मँगाए जाते हैं।

अनुसन्धान कार्य.—

प्राचीन प्राकृत भापा के दुष्प्राप्य साहित्य पर विशेष अनुसन्धान करके उपाध्याय श्री अमरमुनि ने 'निशीश चूर्णि' नामक एक महत्व पूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन किया। यह दुर्लभ ग्रन्थ प्राचीन भारतीय साहित्य का आकर ग्रन्थ है। २०×३०×८ पेजी चार भागो मे इसका प्रकाशन हुआ है। विदेशी विश्वविद्यालयो, पुस्तकालयो एव भारतीय विश्वविद्यालयो एव विद्वानो मे इस ग्रन्थ की पर्याप्त माग रही। अनेक छात्र इस ग्रन्थ पर शोध कार्य कर रहे हैं।

जैन आगमों पर अनुसन्धान को दिशा मे उपाध्याय श्री अमर मुनि जी तथा उनके दिशानिर्देशन मे कुछ विद्वान पिछले दशक से कार्यशील है। यथा प्रसग जैनदर्शन, प्राकृत आदि प्राच्य विद्या के सम्वन्ध मे अनुसन्धान करने वाले छात्रो को भी सस्थान की ओर से यथा-शक्य सुविधा व उपाध्याय श्री अमरमुनि जी का निर्देशन प्राप्त होता रहता है।
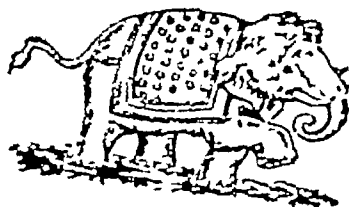
पुस्तक परिचय रेखा

अहिंसा की बोलती मीनारें......

लेखक गणेश मुनि शास्त्री

प्रकाशक सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा

मूल्य चार रुपये

अहिंसा के विषय मे हमारा बहुत-सा साहित्य उपलब्ध है, किन्तु अधिकाश पुस्तकें इतनी दुरूह हैं कि जिनकी धार्मिक आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि नही है, वे उन्हे समझ नही सकते। उन पुस्तको मे प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली तो ग्रीक-लेटिन जैसी कठिन होती है। दूसरी बात यह है कि वे अहिंसा का विवेचन वर्तमान समस्याओ के सन्दर्भ मे चाहते हैं, जो उन्हे इन पुस्तको मे प्राय नही मिलता।

अपने बहुत से लेखो तथा भाषणो मे मैंने इस बात पर बराबर जोर दिया है, कि हमे सरल सुबोध भाषा मे कुछ ऐसी पुस्तकें तैयार करनी चाहिए, जो सामान्य बुद्धि और सीमित ज्ञान रखने वाले व्यक्तियो की भी समझ मे आजाएँ और वे उन्हे पढ कर जान सकें कि अहिंसा की शक्ति कितनी तेजस्वी है और उस पर आचरण करके किस प्रकार राष्ट्रीय एव अन्तर राष्ट्रीय जगत मे स्थायी शान्ति और सुख स्थापित किया जा सकता है।

इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक को देखकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई। इसके लेखक जैन मुनि हैं और उन्होने अहिंसा तथा उससे सम्बन्धित सभी विषयो का सूक्ष्म अध्ययन एव चिन्तन किया है 'सात खण्डो मे उन्होने अपनी बात इस ढग से कही है कि सामान्य पाठक भी उसे हृदयगम कर सकता है।

पहले खण्ड मे उन्होंने आदर्श को समझाया है, दूसरे मे बताया है कि मानव जाति एक है, तीसरे मे इस बात पर प्रकाश डाला है कि अहिंसा की साधना किस प्रकार की जा सकती है। इस खण्ड के अन्तर्गत उन्होने अपरिग्रह की विस्तार से चर्चा की है और दिखाया है कि विषमता की जननी सग्रह वृत्ति है। मनुष्य के लिए

Reg. No. L. 2043

आवश्यक है कि वह 'सादा जीवन, उच्च विचार' के आदर्श को सामने रखकर जीवन यापन करे।

बाद के चार अध्यायो मे लेखक ने अहिंसा के बुनयादी सिद्धान्तो का बडा ही सरल भाषा मे विवेचन करते हुए उन चीजो को लिया है, जिनका सम्बन्ध हम सबके जीवन के साथ आता है। उदाहरण के लिए आज मानव समाज के सामने एक प्रश्न है कि वह शाकाहारी क्यो और किस प्रकार रहे ? इस प्रश्न का समुचित उत्तर पाचवें खण्ड मे मिल जाता है।

इस प्रकार एक प्रश्न है कि अहिंसा और विज्ञान का किस प्रकार समन्वय हो। छठे अध्याय मे लेखक ने रेडिया-सक्रियता, आणविक शक्ति, अणुपरीक्षण आदि का उल्लेख करते हुए प्रतिपादित किया है कि विज्ञान पर अहिंसा की किस प्रकार विजय होती जा रही है।

अन्तिम खण्ड मे अहिंसा एव विश्वशान्ति के ज्वलन्त प्रश्न पर विचार किया गया है और यह बताते हुए कि इस दिशा मे भारत ने क्या योग दिया है, यह विश्वास प्रकट किया गया है कि अहिंसा की आधारशिला पर ही विश्वशान्ति का भवन खडा रह सकता है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक सस्कृत, प्राकृत, हिन्दी आदि भाषाओ के ज्ञाता हैं और अपनी अध्ययनशील वृत्ति के कारण उन्होने इन भाषाओ के साहित्य को बारीकी से पढा है। अपनी बात को समझाने के लिए उन्होने अन्य धर्मावलम्बियो के मन्तव्य देने मे सकोच नही किया।

...कुल मिलाकर पुस्तक अहिंसा की महिमा और उसके व्यावहारिक पक्ष पर सुपाठ्य सामग्री प्रदान करती है।

७ म दरियागज
दिल्ली

सुप्रसिद्ध पत्रकार
—यशपाल जैन

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एव प्रेम प्रिंटिग प्रेस द्वारा मुद्रित।

अक्टूबर १९६८,

बहे धार मधुता की

काम, क्रोध, छल, लोभ, ग्रहं ही,
ग्रन्दर की पशुता है।
मानव-मन के सुधा-सिन्धु को,
यही एक कटुता है।।

★

ज्ञान-यज्ञ की ज्वालाओं में,
बलि हो जब पशुता की।
मंगलमय हो जीवन का पथ,
बहे धार मधुता की।।

—उपाध्याय ग्रमरमुनि

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

वर्ष ५

अक्टूबर, १९६८

अंक १

क्या कहाँ

★

★
प्रेरणा
श्री अखिलेश मुनि
मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'
★
दिशा निर्देशक
श्री विजय मुनि 'शास्त्री'
★
सपादक
श्रीचन्द सुराना 'सरस'
वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०
★
व्यवस्था
रामधन बी० ए०, 'साहित्यरत्न'
★
प्रकाशक
सोनाराम जैन
मत्री
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२
★

मूल्य

आजीवन एक सौ एक रुपया
वार्षिक आठ रुपया
एक प्रति पचहत्तर पैसे

मुद्रक
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी आगरा
आवरण
प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस, आगरा-३

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

अमृत-वाणी

एस खलु गंथे, एस खलु मोहे,
एस खलु मारे, एस खलु नरए।

—**आचारांग** १।१।२

यह आरम्भ (हिंसा) ही वस्तुतः ग्रन्थ=बन्धन है, यही मोह है, यही मार=मृत्यु है, और यही नरक है।

जाए सद्धाए निक्खंते तमेव अणुपालेज्जा,
विजहित्ता विसोत्तिय।

—**आचारांग** १।१।३

जिस श्रद्धा के साथ निष्क्रमण किया है, साधनापथ अपनाया है, उसी श्रद्धा के साथ विस्रोतसिका (मन की शका या कुण्ठा) से दूर रह कर उसका अनुपालन करना चाहिए।

वीरेंहि एयं अभिभूय दिट्ठं,
सजतेंहि सया अप्पमत्तेंहिं।

—**आचारांग** १।१।४

सतत अप्रमत्त=जाग्रत रहने वाले जितेन्द्रिय वीर पुरुषों ने मन के समग्र द्वन्द्वो को अभिभूत=पराजित कर, सत्य का साक्षात्कार किया है।

उपाध्याय अमर मुनि

जागते रहो....

ससार-चक्र में यह चैतन्य तत्त्व, अनन्त अनन्त काल से भटकता रहा है—कभी सुख के लिए तो कभी दुख के लिए, कभी यश के लिए तो कभो अपयश के लिए, कभी हानि के लिए तो कभी लाभ के लिए। जीवन मे यह द्वैत चलता रहा है, सघर्ष उठते रहे हैं, तूफान आते रहे हैं और चैतन्य अपना भान भूलकर गिरता-पडता-भटकता रहा है। जब तक अन्तर की चेतना जाग्रत नही होती, तब तक ठोकरें लगती रही है, लगती रहेगी। चेतन गिरता रहा है, गिरता रहेगा। झोके खाता रहा है, खाता रहेगा।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जिस साधक को हम बहुत ऊची भूमिका पर खडा देखते हैं, आदर्श की ऊची कल्पनाओ मे विचरण करता देखते हैं, वह साधक भी कभी कभी ठोकरें खाकर भटक जाता है। परिस्थितिया उसे झकझोर कर रख देती हैं।

ऐसी स्थिति क्यो होती है ? अन्तर मे जागरण नही होता, तभी साधक राह चलता चलता ठोकर खा जाता है। जागृति का प्रकाश नही होता है तो अधकार छाया रहता है। जीवन मे यह सब से बडा खतरनाक मोड है, जहा मनुष्य नीद मे ही चलता रहता है। यहा तो हर समय जगते रहने की जरूरत है। जरा झपकी लगी नही कि गठरी चोरो के हाथ। जरा नजर चूकी नही कि पाव काटो से छिलकर लहू लुहान ! इसलिए साधक के लिए कहा गया है कि सदा जगता रहे। —"जागरह णरा निच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी" जागते रहो, जागते हुए की बुद्धि जागती रहती है। जो सो जाता है, उसकी बुद्धि भी सो जाती है। और जिसकी बुद्धि सो जाती है, उसका सब कुछ सो जाता है। अस्तु जीवन मे फूल मिलें तब भी जागते रहो और नुकीले काटे आएँ तब भी जागते

रहो। जीवन यात्रा के पथ पर निरतर चलते रहो; किन्तु सोते हुए नही, जागते हुए चलो।

आनन्द पाने के लिए है

●

हम देखते रहे हैं—यह ससार सुख में भी पागल होता है और दु.ख मे भी। रावण और दुर्योधन जैसे पागल ससार मे हुए हैं, वे दु.ख की ठोकरें खाकर पागल नही हुए, सुख की मादकता से पागल हुए हैं। सुख का, ऐश्वर्य का अहकार जगा कि ज्ञान और विवेक की आखे बन्द होगई, आदमी भटक गया। विवेकशून्य व्यक्ति विकारो, वासनाओ की दलदल मे फसता चला जाता है। प्रतिक्षण गहरा और गहरा डूबता जाता है। एक दोष जगा कि अनेक दोष बिना न्योते ही घर मे आ घुसते है। "छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति" कपडे मे कही एक छेद हुआ तो फिर छेद पर छेद होते ही चले जाते हैं। और एक दिन वह आता है कि कपडा पडा नहीं रह कर छलनी हो जाता है, जीर्ण शीर्ण गुदडी हो जाता है।

मैं आपसे कह रहा था कि मनुष्य सुख मे भी पागल होता है, उन्मत्त हो जाता है, और दु ख मे भी। महल भी पागल होते हैं और झोपडी भी। जब मन की लालसाए पूरी नही होती, तो मनुष्य उनकी पूर्ति के लिए संघर्ष करता है। स्वार्थों की टक्कर जहाँ होती है, वहा विद्वेष और घृणा की भावनाए जन्म लेती हैं। मनुष्य जब सघर्ष मे सफल नही होता है तो वह वैर और घृणा के भावो में बह जाता है। मन की कुंठाए काटने लगती हैं, मन विक्षिप्त हो जाता है।

मनुष्य के हृदय मे सुख की लालसा बडी तीव्र होती है। वह प्रत्येक वस्तु मे सुख और आनन्द की खोज करता है। प्रकृति की प्रतिकूल स्थितियो को भी अपने अनुकूल बनाने के लिए मचलता रहता है। सर्दी की मौसम आती है तो इन्सान गर्मी चाहता है। सर्दी से ठिठुर कर कहता है—सर्दी ज्यादा न गिरे तो अच्छा। पर सृष्टि के प्राङ्गण मे अनेक जीवनदायिनी वनस्पतियाँ सर्दी मे ही फलती फूलती हैं ससार के लिए नया जीवन देती हैं। तुम्हारे लिए भी जीवनदान करती हैं। तुम चाहो कि सर्दी न आए, यह कैसे हो

सकता है ? हां, अपना इन्तजाम कर सकते हो, सर्दी से बचने के लिए। किन्तु प्रकृति क्षेत्र मे सर्दी आए ही नहीं, यह असभव है।

समय पर गर्मी भी आती है, आकाश आग बरसाने लगता है। गर्म लू चलती है। लोग घबरा जाते हैं और कल्पना करने लगते हैं कि गर्मी न पडे तो कितना अच्छा हो। हे भगवान्! गर्मी को रोको, अन्यथा हम तो मरे। पर, आपको मालूम होना चाहिए, हजारो वृक्ष, लताएँ गर्मी की राह देखते रहते हैं। धूप तपती है, तभी कुछ वनस्पतियो को जीवन मिलता है, वे फलती फूलती हैं। सृष्टि का उत्कर्ष परिताप मे ही होता है। गर्मी न गिरे, धूप न तपे, तो जल कहाँ से बरसेगा ? प्यासी धरती को अमृत कहा से प्राप्त होगा ?

वर्षा की भी यही बात है। वर्षा होती है, कीचड हो जाता है। जब देखो तब पानी गिरता रहता है। सब काम ठप हो जाते हैं। लोग कह उठते हैं—भगवान्! यह पानी बन्द करो। पर, वर्षा न हो तो क्या हाल गुजरेगा ? न अन्न पैदा होगा, न घास। मनुष्य भी भूखे, पशु भी भूखे।

मतलब यह है कि मनुष्य सृष्टि के क्रम से विपरीत दिशा मे स्वय को ले जाना चाहता है। इस प्रकार अपने मे उलझ जाता है। प्रकृति के साथ लड़ना, सघर्ष करना बहुत कठिन है। आनन्द और सुख का स्रोत प्रकृति के विरुद्ध चलने से प्राप्त नही होता। यदि आनन्द ग्रहण करने की दृष्टि जग चुकी हैं, तो कही से भी आनन्द प्राप्त हो जाता है। फूलो से भी और काटो से भी। आनन्द आनन्द चिल्लाने से आनन्द नही मिलता। आनन्द तो अन्दर मे पाने की चीज है। जब अदर मे आनन्द की भूमिका होती है तभी आनन्द मिलता है। विचारो मे यदि आनन्द की धारा है तो जिन्दगी का हर क्षण आनन्द देता है। जिन्दगी ही क्यो, मौत भी आनन्द देती है, हसी भी आनन्द दे सकती है और रुलाई भी।

ससार एक रगमच है। यहां सुख हसता हुआ आता है, और दुःख रोता हुआ। आपने रगमच पर खेले जाने वाले नाटक देखे हैं ? रगमच पर अभिनय करने वाला हसता है तो दर्शक आनन्द विभोर हो जाते हैं। और रोता है तब भी वह दर्शको को रुलाकर आनन्दित करता है। जितना ही वास्तविक रोना होगा, दर्शको को उतना ही

अधिक आनन्द आएगा। नाटक का पात्र भिखारी का रूप लेकर आए तो क्या, और राजा का रूप लेकर आए तो क्या, आपकी नजर हर हालत मे सिर्फ अपना आनन्द, मनोरजन ही खोजती रहेगी। आप एक द्रष्टा की भूमिका पर रहते हैं, आपका ध्येय सिर्फ आनन्द लेना है, रस लेना है। इधर उधर के फूलो मे या काँटो मे उलझना नही है।

यही भूमिका जीवन की होनी चाहिए। ससार मे हम द्रष्टा बन कर रहे। प्रकृति अपने क्रम से चलती है, चलने दे। जो भाव, जहा जिस रूप मे घटित होरहा है, उसे होने दें। हम उसके साथ अनुप्राणित न होकर सिर्फ द्रष्टा की भूमिका पर रहे। हसी मे भी और रुलाई मे भी अपने को जागृत रखें, स्थिर रखे और आनन्द लेते रहे।

यह भी चला जाएगा

●

सूरज तपता है तो बादल आकर उसे ढकने का प्रयत्न करते हैं और कुछ समय बाद चले जाते हैं, बिखर जाते हैं। आधी के रूप मे रजकण आकाश में मडरा कर सूर्य पर छा जाते हैं, पर वे भी आखिर साफ हो जाते हैं। सूर्य फिर पहले की तरह तपने लगता है। चैतन्य पर भी अनेक बादल मडराते रहते हैं। अनन्त अनन्त बार यह नरक मे घूम आया। अनन्त अनन्त बार स्वर्ग के सुखो का उपभोग कर आया, नन्दन वन का आनन्दविहार कर आया। ससार का कोई तमाशा ऐसा नही रहा, जो इसके लिए नया हो। सब खेल खेल चुका है। पर, आखिर मे खेलने वाला चैतन्य सर्वत्र एक जैसा रहा है। सुख मे वह कोई दो चार गज का लम्बा चौड़ा नहीं बना है, और न दु.ख मे सिकुड कर रजकण ही रह गया है। सुख आए तो चले गए, दु:ख आए तो भी चले गए। सुख दु:ख के बादल चले जाते हैं और चेतन वैसे ही चमकता रहता है।

सस्कृत मे एक सूक्ति है '**इदमपि गमिष्यति**' यह भी चला जायेगा। वास्तव मे चैतन्य का जीवन दर्शन यही है। वह अपने 'स्व' को जब पहचान लेता है तो अपने पर 'पर' का असर नही होने देता। सुख दु ख सब 'पर' हैं। आते है और चले जाते हैं। यदि कोई दु ख आता

है, तब भी सोचो—यह चला जायगा। आने वालों के भाग्य मे जाना लिखा रहता है। यदि लक्ष्मी के पायल की झनकार बज रही है, तो वह भी एक दिन चली जाएगी, उसकी ममता मे मत फँसो। विपत्तियो का राक्षसी अट्टहास कितना ही क्यो न प्रताडित-प्रकम्पित करे, पर वह भी शान्त होगा ही, मन को धैर्य से विचलित न होने दो।

एक प्राचीन कहानी है कि एक राजकुमार गुरुकुल मे शिक्षा प्राप्त करके राजमहल लौटा। राजा ने कहा—"बेटा! अब तू होशियार हो गया है, सब नीतियो मे कुशल हो गया है, अतः मैं राज्य की चिन्ता से मुक्त होकर अध्यात्मसाधना मे निवृत्तिमय जीवन बिताना चाहता हूँ।" प्राचीन सस्कृति कुछ ऐसी थी कि प्रत्येक कार्य का जीवन मे समय होता था। यह नही था कि आदमी जीवन भर घर गृहस्थी की चक्की मे पिसता ही दम तोड दे। जीवन मे जो जब आवश्यक होता, वह क्रिया, कर्त्तव्य उसी समय मे सपन्न किया जाता था। कालिदास ने रघुवश मे इसी सस्कृति का एक चित्र अकित किया है—

शैशवेऽभ्यस्त विद्यानां, यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनि वृत्तीनां, योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

—प्राचीन काल मे भारतीय जन बचपन मे विद्या अर्जित करते थे। जब बुद्धि कोमल स्वच्छ तीव्र होती है तभी विद्याभ्यास सुन्दर हो सकता है। यौवन मे जब सुखोपभोग की साधनसामग्री उपस्थित होती, तो उसका भी आनन्द लेते। अकेले नही, स्वय भी आनद लेते, और दूसरो को भी आनद देते। स्वयं आनन्दित रहना और दूसरो को आनन्दित रखना, भारतीय सस्कृति का यही तो मूल स्वर है। खाये तो अकेले नही, सबको बाटकर खाए।

बुढापा आए तो यह नही कि तब भी घर से चिपके रहे। विषय भोग में फँसे रहे। मोह, ममता और अहकार मे बधे रहे। बाल बच्चे होशियार हो गये है, घर को ठीक तरह संभाल रहे हैं, अपने कर्त्तव्य के बल पर सब कुछ ठीक ढग से चला रहे हैं, तो फिर बात बात मे अपनी टाग अडाना, अपनी पुरानी गाडी को ही आगे धकेलते रहना, यह ठीक नही होता। तुमने अपनी जवानी मे काफी कर लिया, अब बुढापा आया है, तो विश्राम करो, कुछ मन को शान्ति लेने दो। काम करने के लिए समाज का क्षेत्र बहुत बडा

है, वह सूना पड़ा है। उसे जगाओ, जन-सेवा करो। यदि अन्त तक सभी घर के घिराव मे ही रहेगे, तो फिर सार्वजनिक क्षेत्र मे कौन काम करेगा ?

बुढापे मे निवृत्त होने की भारतीय परम्परा बहुत ही विचार-पूर्ण रही है। बुढापे मे आदमी का स्वभाव चिडचिडा हो जाता है। करने से ज्यादा सोचने की वृत्ति जग जाती है। नये खून के साथ यह मनोवृत्ति मेल नही खाती है, अत: परस्पर टकराहट होती है, सघर्ष की चिनगारियाँ उछलने लगती हैं। बुढापे मे जहाँ मन शान्त और प्रसन्न रहना चाहिए, वहाँ और अधिक क्षुब्ध और व्याकुल रहने लग जाता है। इसीलिए पुराने समाजशास्त्रियो ने कह दिया कि बुढापे मे घर छोडकर वानप्रस्थ हो जाएँ। निवृत्ति ले ले। पर, आज कल वह परम्परा टूट गई है। अब तो तन जराजीर्ण हो गया है, हाथ पैर धूजते हैं। फिर भी लाला दूकान मे जाकर तो बैठेगा ही। निगाह रखेगा, कही छोकरे व्यापार मे घाटा न लगा दे। पुराने विधान के अनुसार जहाँ अन्तिम जीवन मे साधना करते करते, योग की भूमिका पर पहुँच कर, देह त्याग किया जाता है, वहाँ आज कल देखते हैं **'योगेनान्ते तनुत्यजाम्'** की भूमिका **'रोगेणान्ते तनुत्यजाम्'** मे बदल गई है। हाय हाय करते प्राण छोडने पडते हैं। सोचता है— कुछ और कमा जाऊँ, बेटो पोतो के लिए काफी बडा बैंक बैलेन्स छोड जाऊँ। यह नही सोचता कि तू नही छोड़ेगा तो कुदरत छुडा देगी। आखिर तो छोड जाना ही होगा।

प्राचीन सस्कृति आज विलुप्त होती जा रही है। इसीलिए जीवन मे अनेक नई से नई समस्याएँ खडी हो रही हैं। भारत का गौरव उसी पुरानी परम्परा को हृदय से अपनाने मे है। उस पर-म्परा मे ही निर्माण के चरण छिपे हैं। मध्यकाल की धारणाएँ भारत के गौरव के अनुकूल नही हैं। अभी मैं इस चर्चा को विस्तृत नहीं करना चाहता। प्रस्तुत है राजकुमार की कहानी।

मैं कह रहा था कि राजकुमार को राज्य भार सोपकर राजा ने निवृत्त होने का विचार किया। राजकुमार अपने गुरु के पास आशीर्वाद लेने गया। कहा उसने —"महाराज! इतना बडा उत्तर-दायित्व, मैं कैसे निभा सकूँगा ?"

गुरु ने कहा—वत्स, यह तो तुम्हारी परीक्षा है। तुमने जो विद्याभ्यास किया है, शास्त्रो का जो अनुशीलन किया है, ज्ञान का जो प्रदीप प्राप्त किया है, उसकी रोशनी मे चलकर तुम्हे इस उत्तरदायित्व को पार लगाना होगा। जिम्मेदारियो से कतराना, भाग जाना, यह तो कायरता है। उन्हे कुशलतापूर्वक शान के साथ निभाना चाहिए। इसी मे तुम्हारे कर्त्तव्य और व्यक्तित्व की परीक्षा है।

राजकुमार ने कहा—महाराज! तो फिर कुछ मार्ग बताएँ। राजमुकुट तो काँटो का ताज है, इसे पहनने मे तो बडी सावधानी चाहिए। सुख मे, दुःख मे मैं अपना उत्तरदायित्व अच्छी तरह से निभा सकूँ, ऐसा कोई विशिष्ट गुरु मत्र दीजिए अपने बच्चे को।

गुरु ने राजकुमार को जीवन मत्र दिया—'इदमपि गमिष्यति'—यह भी चला जायगा। गुरु ने मत्र का भाष्य करते हुए कहा—राजकुमार, इसे अपनी राजमुद्रिका मे अकित करवा लो। जब राजवैभव का अहकार मन पर छाए तो इस मत्र पर विचार करना—यह भी चला जाएगा। बस, ऐश्वर्य का नशा तुझे दबा नही सकेगा। बुद्धि निर्मल और स्वच्छ बनी रहेगी। और जब कभी मन निराशा और दीनता से व्याकुल होने लगे, दु ख के झझावात मे प्रकम्पित होने लगे, तब भी इसी मत्र पर ध्यान देना। विवेक शक्ति कुठित नही होगी। मानसिक सतुलन बराबर बना रहेगा। विक्षोभ और दैन्य पास नही फटकेंगे। और इस प्रकार अपने उत्तर दायित्वो को तुम ठीक तरह से निभा सकोगे। न सुख मे नाचोगे, उछलोगे। और न दु ख मे घबराओगे, रोओगे।

चक्का घूमता ही रहता है

●

यह उपदेश आज ही नही, हजारो हजार वर्षों से सुनते सुनाते रहे हैं कि जीवन मे परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। सुख न रहा तो दु ख भी न रहेगा। सुख दु ख गाडी का पहिया है, घूमता रहता है। ऊपर का भाग नीचे जाता है तो नीचे का भाग ऊपर आ जाता

है। कुछ ही क्षण मे नीचे वाला भाग फिर ऊपर आ जाता है और ऊपर वाला भाग नीचे चला जाता है। जीवन का यही क्रम है। ससार मे सदा काल सुख ही सुख कभी नही रहता और न सदा काल दुःख के बादल ही छाए हुए रहते हैं। कालिदास के शब्दो मे कहूँ तो—

—'कस्यात्यन्तं सुखमुपनत दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च पुन. चक्रनेमिक्रमेण ।"

—गाडी के चक्र की तरह जीवन का चक्का घूमता रहता है, कभी सुख की दिशा मे तो कभी दु ख की दिशा मे।

जीवन मे एकान्त सुख राम को भी नहीं मिला, कृष्ण को भी नही प्राप्त हुआ। बुद्ध और महावीर को भी जीवन मे अनेक सकट और कष्ट उठाने पड़े। विपत्तियाँ ही व्यक्ति को चमकाती है। पुरुष से महापुरुष की भूमिका पर पहुँचाती हैं। राम की कहानी पढ जाइए। दु.खो और वेदनाओ से भरी कहानी है। आँसुओ से छलछला रही है। पीडाओ से कितनी बार राम का हृदय टुकडे टुकड़े हो जाता है। अन्ततः साहस और धैर्य से उस पर विजय पाने का उपक्रम चलता है। और आखिर विजय प्राप्त भी कर लेते हैं। कृष्ण की जीवनपोथी उठाकर देख लीजिए। जन्म से पहले ही उनकी मौत के सोदागर तैयार खड़े हैं। प्राणो को डसने के लिए कितने काले नाग घूम रहे हैं। एक दिन ब्रजभूमि को छोडकर भागना पडता है। और बहुत दूर तक भागना पड़ता है, ठेठ समुद्र के किनारे तक। जीवन मे कितने सघर्ष हैं, द्वन्द्व हैं। पीडा और वेदना पदे पदे और क्षणे क्षणे मुँह फैलाए खडी है। और अन्त मे क्या हुआ आप जानते हैं? द्वारिका का अपार ऐश्वर्य देखते देखते भस्म हो जाता है। मिट्टी मे मिल जाता है। विश्व के महापुरुष की सूने जगल मे मृत्यु होती है, एक व्याध के वाण से। जन्म हुआ तो गीत गाने वाला नही, मृत्यु हुई तो कोई शोक करने वाला नही, रोने वाला नही। यह हाल है स सार के महापुरुषो के जीवन का। उनके जीवन को तोलेगे तो पता चलेगा कि सुख की अपेक्षा दु ख का पलड़ा ही भारी रहा है। उन जैसे विराट् पुरुषो के जीवन मे भी जब सुख दुःख की यह चक्की चलती रही है, तो फिर इस ससार के सामान्य कर्तृत्व वाले प्राणी किस गिनती मे हैं? हमारा अह क्या मूल्य रखता है?

गुरु ने कहा—वत्स, यह तो तुम्हारी परीक्षा है। तुमने जो विद्या-भ्यास किया है, शास्त्रो का जो अनुशीलन किया है, ज्ञान का जो प्रदीप प्राप्त किया है, उसकी रोशनी मे चलकर तुम्हे इस उत्तर-दायित्त्व को पार लगाना होगा। जिम्मेदारियों से कतराना, भाग जाना, यह तो कायरता है। उन्हे कुशलतापूर्वक शान के साथ निभाना चाहिए। इसी मे तुम्हारे कर्त्तव्य और व्यक्तित्व की परीक्षा है।

राजकुमार ने कहा—महाराज! तो फिर कुछ मार्ग बताएँ। राजमुकुट तो काँटो का ताज है,। इसे पहनने मे तो बडी सावधानी चाहिए। सुख मे, दुःख मे मैं अपना उत्तरदायित्व अच्छी तरह से निभा सकूँ, ऐसा कोई विशिष्ट गुरु मत्र दीजिए अपने बच्चे को।

गुरु ने राजकुमार को जीवन मत्र दिया—'इदमपि गमिष्यति'—यह भी चला जायगा। गुरु ने मत्र का भाष्य करते हुए कहा—राजकुमार, इसे अपनी राजमुद्रिका मे अकित करवा लो। जब राजवैभव का अहकार मन पर छाए तो इस मत्र पर विचार करना—यह भी चला जाएगा। बस, ऐश्वर्य का नशा तुझे दबा नही सकेगा। बुद्धि निर्मल और स्वच्छ बनी रहेगी। और जब कभी मन निराशा और दीनता से व्याकुल होने लगे, दु.ख के झझावात मे प्रकम्पित होने लगे, तब भी इसी मत्र पर ध्यान देना। विवेक शक्ति कुंठित नही होगी। मान-सिक सतुलन बराबर बना रहेगा। विक्षोभ और दैन्य पास नही फटकेगे। और इस प्रकार अपने उत्तर दायित्वो को तुम ठीक तरह से निभा सकोगे। न सुख मे नाचोगे, उछलोगे। और न दुख मे घबराओगे, रोओगे।

चक्का घूमता ही रहता है

●

यह उपदेश आज ही नही, हजारो हजार वर्षों से सुनते सुनाते रहे हैं कि जीवन मे परिवर्तन का चक्र चलता रहता है। सुख न रहा तो दुख भी न रहेगा। सुख दुख गाड़ी का पहिया है, घूमता रहता है। ऊपर का भाग नीचे जाता है तो नीचे का भाग ऊपर आ जाता

है। कुछ ही क्षण मे नीचे वाला भाग फिर ऊपर आ जाता है और ऊपर वाला भाग नीचे चला जाता है। जीवन का यही क्रम है। ससार मे सदा काल सुख ही सुख कभी नही रहता और न सदा काल दुःख के बादल ही छाए हुए रहते हैं। कालिदास के शब्दो मे कहूँ तो—

—'कस्यात्यन्तं सुखमुपनत दुःखमेकान्ततो वा,
नीचैर्गच्छत्युपरि च पुनः चक्रनेमिक्रमेण।"

—गाड़ी के चक्र की तरह जीवन का चक्का घूमता रहता है, कभी सुख की दिशा मे तो कभी दु ख की दिशा मे।

जीवन मे एकान्त सुख राम को भी नहीं मिला, कृष्ण को भी नही प्राप्त हुआ। बुद्ध और महावीर को भी जीवन मे अनेक सकट और कष्ट उठाने पडे। विपत्तियाँ ही व्यक्ति को चमकाती हैं। पुरुष से महापुरुष की भूमिका पर पहुँचाती हैं। राम की कहानी पढ जाइए। दु.खो और वेदनाओ से भरी कहानी है। आँसुओ से छलछला रही है। पीडाओ से कितनी बार राम का हृदय टुकडे टुकड़ हो जाता है। अन्तत. साहस और धैर्य से उस पर विजय पाने का उपक्रम चलता है। और आखिर विजय प्राप्त भी कर लेते हैं। कृष्ण की जीवनपोथी उठाकर देख लीजिए। जन्म से पहले ही उनकी मौत के सोदागर तैयार खड़े हैं। प्राणो को डसने के लिए कितने काले नाग घूम रहे हैं। एक दिन ब्रज़भूमि को छोडकर भागना पड़ता है। और बहुत दूर तक भागना पडता है, ठेठ समुद्र के किनारे तक। जीवन मे कितने सघर्ष हैं, द्वन्द्व हैं। पीडा और वेदना पदे पदे और क्षणे क्षणे मुँह फैलाए खडी है। और अन्त मे क्या हुआ आप जानते हैं? द्वारिका का अपार ऐश्वर्य देखते देखते भस्म हो जाता है। मिट्टी मे मिल जाता है। विश्व के महापुरुष की सूने जगल मे मृत्यु होती है, एक व्याध के वाण से। जन्म हुआ तो गीत गाने वाला नही, मृत्यु हुई तो कोई शोक करने वाला नही, रोने वाला नही। यह हाल है स सार के महापुरुषो के जीवन का। उनके जीवन को तोलेंगे तो पता चलेगा कि सुख की अपेक्षा दु ख का पलड़ा ही भारी रहा है। उन जैसे विराट् पुरुषो के जीवन मे भी जब सुख दुःख की यह चक्की चलती रही है, तो फिर इस ससार के सामान्य कर्तृत्व वाले प्राणी किस गिनती मे हैं? हमारा अह क्या मूल्य रखता है?

तुम तो नहीं बदले

●

सुख दुःख की इस स्थिति पर चिन्तन करते हुए हमारे सामने दर्शन की एक भूमिका उत्तर आती है: जीवन मे सुख दुख का क्रम बदलता रहता है। सुख दुख यथाप्रसंग बादल की तरह चैतन्य के सूर्य को आवृत करते रहते हैं। परन्तु उन बादलो की यह ताकत नही कि सूर्य के स्वभाव को बदल डालें। बादलो के आक्रमण से सूर्य कभी तपना बन्द तो नही करता। हमारे भीतर मे जो चैतन्य सूर्य है, चेतना का विराट् प्रकाश है, वह सुख दुःख की अनुभूतियों से प्रभावित जरूर होता रहा है, पर बदला नही है। उसका ज्योतिर्मय स्वरूप वही है, जो अनन्त अनन्त काल पहले था। उसमे कोई परिवर्तन नही आया है, न आ सकता है। यह बात दूसरी है कि तुम अज्ञानवश अपने आपको बदला हुआ समझ बैठे हो। लेकिन अपने पर विश्वास करो कि संसार की समस्त भौतिक शक्तियाँ बदल सकती हैं, पर तुम्हारी अखण्ड चेतना नही बदल सकती।

सम्राट कुमार पाल के जीवन की एक घटना है कि एक बार उनका सपादलक्ष सांभर के राजा से, जो उसका बहनोई होता था, युद्ध छिडा। सपादलक्षनरेश ने चालाकी से कुमारपाल के सब सामन्त और सेनापतियों को प्रलोभन देकर अपने चक्कर मे ले लिया था। युद्ध शुरू हुआ। पर अपनी ओर से शस्त्र किसी का चल नही रहा था। किसी का शस्त्र चल भी रहा था, तो अनमने ढग से। शत्रु कही खडा है, वाण कही बरसाये जा रहे हैं। और सेना धीरे धीरे पीछे हटने लगी। कुमारपाल ने अपने महावतसे पूछा—यह क्या बात है? मेरी सेना पीछे क्यो हट रही है? आगे कैसे नही बढ रही है।

महावत ने निवेदन किया—"महाराज! दाल मे कुछ काला है। आपके सामन्त और सेनापति सांभरनरेश के चक्कर मे आ गये हैं, बदल गये हैं।

कुमार पाल ने सुना तो उसकी भुजाएँ फडक उठी! बोला—सेनापति बदल गये तो क्या हुआ, सेना बदल गई तो क्या हुआ? कुमार पाल तो नही बदला है, उसकी भुजाएँ और उसकी तलवार तो नही बदली है?

महावत ने कहा—"महाराज ! यह तो कैसे बदल सकते हैं ? आप आप ही है। आप अपने से कभी नही बदल सकते ?"

—"तो फिर हाथी को आगे बढाओ, कुमारपाल अकेला ही काफी है ?"

सम्राट कुमार पाल जब ताव खाकर आगे बढे और वाण वर्षा करने लगे, तलवार के घातक वार करने लगे तो शत्रुदल काई की तरह फटने लगा, शत्रु सैनिक इधर उधर भागने लगे। और जब इस प्रकार विजय होती देखी तो फिर सभी सैनिक और सेनापति भी युद्ध मे कूद पड़े। और सपाद लक्ष नरेश को बन्दी बना लिया।

अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य का विश्वास नही बदलता तो चाहे और कुछ भी बदल जाए, वह अपनी भूमिका से नही हटता। ससार मे चैतन्य अनन्त काल से जड के साथ रह रहा है, पर वह कभी जड तो नही हुआ। हजारो लाखो शरीर धारण किए, छोड दिए, पर चैतन्य तो अजन्मा और अमर रहा। यह न कभी जन्मा और न कभी मरा ! भगवान ने कहा है—अथिरे पलोट्टइ थिरे नो पलोट्टई। जो अस्थिर है, वही परिवर्तित होता रहता है। स्थिर कभी नही बदलता। बच्चे को पूछो—अरे कौन है, तो वह कहेगा—जी मैं हूँ।" 'मैं' वहाँ अबोधदशा में भी जागृत है। युवक को पूछो, तब भी कहेगा—'मैं' हूँ। और बुढापे मे भी, शरीर जर्जर होने पर भी अन्दर मे 'मैं' जागृत ही रहता है। यह 'मैं' कभी नही मरता। शरीर की सभी स्थितियाँ बदल जाती है, अवस्थाएँ बदल जाती हैं। शरीर विज्ञान के अनुसार सात वर्ष मे मनुष्य के शरीर के समस्त परमाणु बदल जाते हैं—नसें, नाडिया, रक्त, माँस, चमडी आदि सब कुछ बदल जाता है। शरीर के भौतिक उपकरणो मे आमूल चूल परिवर्तन हो जाता है। परन्तु यह सब कुछ बदल जाने पर भी उसके भीतर की चेतना तो वही रहती है। उसकी स्मृत्तियो और अनुभूतियो का अधिष्ठान तो नही बदलता। वह तो उसी 'मैं' मे जागृत और स्थिर रहता है।

पहचान क्या है ?

●

कलकत्ता से लौटते समय हम नालन्दा गये थे। वहाँ पर उन दिनो लका निवासी बौद्ध भिक्षु डा० धर्म रक्षित बहुत अच्छे विद्वान

और विचारक प्रोफेसर थे। बात चल पड़ी बौद्ध दर्शन के 'क्षणिक-वाद' की। भिक्षुजी ने कहा—"आत्मा कोई एक स्थायी तत्व नही है, वह प्रतिक्षण आमूल चूल बदलता रहता है, जो आत्मा पहले क्षण था, वह अब नही रहा और जो अब है वह अगले क्षण नही रहेगा। 'सर्वं क्षणिकम्'।

मैंने उनसे कहा—"आप यहाँ प्रोफेसर हैं। महीने भर तक आप पढाते हैं और फिर एक तारीख को वेतन लेने जाते हैं, तो बौद्ध-दर्शन के अनुसार कोई यह कह सकता है कि आप कौन होते हैं—वेतन लेने वाले? जिसने पढाया वह तो कोई दूसरा था, आप कोई और हैं?"

भिक्षु जी हँसने लगे—यह कैसे हो सकता है? मैंने पढाया है, वेतन मुझे मिलना चाहिए।

मैंने कहा—'तो फिर बदले कहाँ? 'मैं वही हूँ'—यही तो वह पहचान (प्रत्यभिज्ञान) है, जो आत्मा का स्थिरत्व सूचित करता है, अखण्ड एक धारा की साक्षी देता है।

हमारी भूतकालीन स्मृतियाँ अतीत के गर्भ मे जाकर 'वह' का रूप धारण कर लेती हैं। और प्रत्यक्ष की जो अनुभूतियाँ हैं, वे 'यह' के आकार मे खडी रहती हैं। 'वह' और 'यह' की कडी जोडने वाला तीसरा ज्ञान है, जिसे दर्शन शास्त्र की भाषा में हम 'प्रत्य-भिज्ञान कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान अर्थात् स्मृति और अनुभूति को मिला कर जो एकत्वरूप सकलनात्मक ज्ञान होता है, भूत और वर्तमान की कड़ी जिस ज्ञान मे जुडती है, वह ज्ञान प्रत्यभिज्ञान अर्थात् पह-चान कहलाता है। एक साल पहले हमने किसी को देखा, उसकी स्मृति ज्ञान कोष में कही सुरक्षित रह गई। अब आज पुन. उसे देखते ही याद हो आया कि इसे तो हमने पहले कभी देखा था—'यह तो वही है'—यहाँ अतीत के साथ वर्तमान जुड जाता है। यह प्रत्य-भिज्ञान, पहचान ही हमारे ज्ञान की अविच्छिन्न परम्परा को सूचित करती है। भूतकाल मे जिसने अनुभव किया है वही वर्तमान में उसकी स्मृति करेगा। अतीत मे देखने वाला मोहन है और वर्तमान मे देखने वाला सोहन है, तो फिर पहचान, वह और यह के रूप में एकत्व की पहचान किस को होगी? जब द्रष्टा बदल गया, पहले वाला

नही रहा, तो क्षणिक वाद के अनुसार तो पहचान करने वाला कोई रहा नही।

बात यह है कि मानना कुछ और होता है, मगर सत्य कुछ और होता है। शरीरविज्ञान के अनुसार सात वर्ष मे मनुष्य के शरीर के समस्त परमाणु भले ही बदल जाएँ। किन्तु अन्तरग मे चैतन्य कभी नही बदलता। शरीर बदलने के बाद भी अनुभूति की धारा सतत प्रवाहित होती रहती है। यदि चैतन्य पृथक पृथक हो, बदल गये हो तो फिर स्मृति करने वाला कौन रहता है ?

प्रवेश बन्द है

●

हमारा तत्त्वज्ञान आत्मा की नित्यता पर इतना बल देता है, उसका अर्थ यह है कि जीवन मे जब यह धारणा स्थिर हो जाएगी कि सुख आए तो वह भी चला जाएगा, आत्मा का कुछ नही बिगाड सकता, दुख आए तो वह भी चला जाएगा, वह भी आत्मा की कुछ क्षति नही कर सकता। जन्म और मरण शरीर के धर्म हैं। आत्मा न जन्म लेता है, न मरता है। इस प्रकार की भावनाओ से जीवन मे समता की भूमिका बनती है। परिस्थियो के क्षणिक प्रभाव से आत्मा को मुक्त रखा जा सकता है। आज हमारी स्थिति विचित्र बन रही है। बाह्य वातावरण से प्रभावित होकर हम बर्फ की तरह गलते चले जा रहे हैं। अन्तर का साहस और धैर्य टूटता चला जा रहा है। जीवन मे **'क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः'** की स्थिति बन रही है। थोडे से सुख मे पागल की तरह फूल उठते मे और थोडी सी पीडा मे ही रो देते हैं, छटपटाने लग जाते हैं बालक की तरह। इस अधीरता की स्थिति को तभी बदला जा सकता है, जब आत्मा की शाश्वतता का अखण्ड विश्वास सुदृढ हो जाता है। हमारे ज्ञान के द्वार इतने मजबूत हो जाने चाहिएँ कि बाहर के अविश्वास और अधैर्य की गर्म हवाएँ वहाँ प्रवेश न पा सकें। उनका प्रवेश बन्द हो जाए।

मैं देखता हूँ—आज कल स्थान स्थान पर बोर्ड (सूचना पट्टिकाएँ) लगे रहते है—'बिना आज्ञा भीतर आना मना है"। घर और आफिस मे तो पट्टिया लगा दी, परतु मन के ऊपर यह No Ademition पट्टी नही लगी। इसके अन्दर सभी कोई भागे चले आरहे हैं। सुख दुःख

के, सकल्प विकल्प के कुत्ते और बिल्लिया बेरोक टोक दबादब भीतर घुस रहे हैं। विकारो के चूहे इधर उधर दौड लगा रहे हैं। देखो तो जरा, मन के द्वार कब से खुले पडे हैं ? कितनी भीड जमा होगई है इसके अन्दर। जिसका भी जी चाहता है, वही घुस आता है और परेशान करने लग जाता है। क्रोध और मान के कुत्ते चारो ओर झपट रहे हैं। वासनाओ की बिल्लियाँ तुम्हारे ज्ञान का दूध पीरहीं है। विकारो और असत्संकल्पो के चूहे धैर्य और विश्वास को कुतर कुतर काट रहे हैं। अब जाग्रत होकर इनको भगाने की जरूरत है और इन सबके प्रवेश पर सख्त पाबन्दी लगाने की आवश्यकता है। मन के स्वामी हो तुम, अतः कोई भी विचार एव विकल्प तुम्हारी अनुमति के बिना मन मे प्रवेश न पा सके, इस दिशा मे सतत सतर्क रहना है, सावधान रहना है।

फैसला बुद्धि के हाथ मे

•

मैंने प्रारभ मे कहा था कि मन जाग्रत रहना चाहिए। बुद्धि को सावधान रहना चाहिए। जीवन का प्रत्येक फैसला बुद्धि के हाथ मे है। कान सुन लेते हैं, आखें देख लेती है, पर उनका फैसला कौन करता है ? बुद्धि। मन सब की फाइल तैयार कर लेता है—अमुक ने मेरी प्रशसा की है, अमुक ने मेरी निन्दा की है। वह अच्छा है, यह बुरा है। सब रिपोर्ट तैयार कर के मन बुद्धि के पास भेज देता है। मन का काम सिर्फ जाँच करके फाइल तैयार कर देना है, बुद्धि उसका निरीक्षण करती है और निर्णय देती है। परतु आज की बुद्धि तो आजकल के अफसर की तरह होगई है, जो फाइल को खोल कर देखती ही नही कि क्या लिखा है ? बस, हस्ताक्षर करके लौटा देती है मन के पास। और मन राग द्वेष के विकल्पो मे उलझ जाता है। कि इसने हमारी प्रशसा की, सुन्दर बातें कही, इसने निन्दा की है। यह रूप सुन्दर है, यह कुरूप है। बस फिर इन्ही आसक्तियो मे फँस जाता है। विकारो के साथ बध जाता है और इस प्रकार जीवन मे परवशता, अशान्ति और सघर्ष खड़े हो जाते हैं।

यह काम बुद्धि का है कि वह इन्द्रियो और मन की फाइल को ठीक तरह से जाच कर निर्णय करे। इन्द्रियो के सम्पर्क मे सब

विषय आते हैं, परतु उनके साथ बध जाना या उनसे अलग-विरक्त रहना, यह निर्णय बुद्धि को करना होता है। इसलिए बुद्धि सदा परिष्कृत और स्वच्छ रहनी चाहिए। वह ऊघती रही तो, बस, घर चौपट हो जाएगा।

प्राचीन आचार्य शिक्षा पूर्ण करके घर की ओर लौटने वाले शिष्य को उपदेश देते हुए एक वाक्य कहा करते थे—"धर्मे ते धीयतां बुद्धि"—वत्स, तेरी बुद्धि धर्म मे स्थिर रहे। सघर्षों और विपत्तियो मे भी बुद्धि कुठित नही होनी चाहिए। वह तीव्र, तीक्ष्ण और जागृत रहेगी तो जीवन मे सुख दुखो के प्रसग आने पर, हानि लाभ और यश अपयश के द्वन्द्व उपस्थित होने पर बुद्धि विचलित नही होगी, बल्कि स्थिरतापूर्वक उनका उचित निर्णय करेगी। उनसे प्रभावित नही होगी, अपितु अपने अन्तर मे उन्हे विवेचित करके प्रसन्न और स्वस्थ बनी रहेगी। अपना सहज प्रकाश क्षीण नही होने देगी। इसलिए जीवन की इस लम्बी यात्रा मे चलने वाले पथिक को सबसे पहला सन्देश यही दिया गया है कि—"जागरह णरा णिच्च" सदा जागते रहो। सोते-सोते नही, जागृत होकर चलो, चलते रहो।

★

शिक्षा जीवन का संस्कार है। वह केवल शब्दो का रटन नही है, प्रबुद्ध भावो को आत्मीकरण की प्रक्रिया है। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह व्यक्ति के दिशाहीन व्यक्तित्व को ऐसे ढाले कि उसका सामाजिक एव आध्यात्मिक रूप मे सुनिश्चित विकास हो।

★

उपाध्याय अमर मुनि

क्या देवी बलि चाहती है?

परमार्हत चौलुक्यराज कुमारपाल एक बार सन्ध्या समय राजप्रसाद के गवाक्ष मे बैठे, राजपथ की चहल-पहल का निरीक्षण कर रहे थे। तभी उन्होने देखा कि कुछ मनुष्य, पशुओ को वधस्थान की ओर ले जा रहे हैं। पशु भयकर क्रन्दन कर रहे थे, डडो की मार से धकेले जा रहे थे। पशुओ का यह हृदय को दहलाने वाला आर्त-नाद सुनकर राजा का कोमल मन द्रवित हो उठा। अन्त: करुणा प्रबुद्ध हो उठी। राजा सोचने लगा—"क्या मेरे राज्य मे इन निरपराध, निरीह पशुओ का कोई सरक्षक नही है? इनके प्रिय प्राणो से खेल-कर कुछ मनुष्य आनन्द, भोग और धनोपार्जन कर रहे हैं? मैं शासक हूँ, जनता का पिता तुल्य हूँ। तो क्या मेरे न्याय पूर्ण शासन मे इन गरीब और मूक पशुओ को न्याय का कोई हक नही है? नही, नही! इनकी करुण और निर्मम हत्या मेरे धर्मराज्य का कलक है।"— राजा कुमार पाल का हृदय आन्दोलित हो उठा। रात भर इन्ही विचारो मे डूबा रहा।

दूसरे दिन राजा ने अपनी अन्तर्व्यथा आचार्य हेमचन्द्र के समक्ष प्रकट की। आचार्य ने राजा को दया और करुणा के सहज रस से परिपूर्ण कोमल भावनाओ को जन-जीवन मे प्रवाहित करने का उपदेश दिया। उसी दिन से राज्य मे अमारि घोषणा कर दी गई। निरपराध पशुओ का वध अपराध घोषित कर दिया गया।

सत्य का विरोध भी होता है। कुछ लोगो ने कहा—राज्य की कंटकेश्वरी देवी को यदि बलि नही दी गई तो जनता पर महान सकट आ जाएगा, राज्य मे महामारी या दुर्भिक्ष आदि के उत्पात खड़े हो जाएँगे।

आचार्य हेमचन्द्र के सकेत पर कुमारपाल ने इसका न्यायपूर्ण तर्कसगत समाधान करने के लिए सभी धर्मावलम्बियो को आमन्त्रित किया, और कहा—देवी की बलि के योग्य जो पशु हैं, उन्हे रातभर

देवी के मन्दिर मे बन्द कर दिया जाय। यदि देवी को सचमुच मे बलि प्रिय है, तो वह अपना मनचाहा भक्ष्य प्राप्त कर लेगी। हम क्यो किसी को मारें। सब कुछ देवी को समर्पित कर देते हैं, वह अपना अभीष्ट निर्णय स्वय कर लेगी।

राजा के आदेशानुसार सभी पशु देवीमन्दिर मे बन्द कर दिए गए

प्रातः मन्दिर के सामने हजारो नर-नारियो की भीड़ जमा हो गई। राज्य के मन्दिराध्यक्ष, पुरोहित आदि सभी की उपस्थिति मे राजा ने मन्दिर का द्वार खोलने का आदेश दिया। सभी पशु आनद मे विचरण कर रहे थे, अपना-अपना चारा आनन्द से खा रहे थे—निर्भय और निर्द्वन्द्व !

राजा ने देवी के उपासको के सामने गम्भीर दृष्टि से देखा और पूछा—"इन पशुओ मे सभी जीवित हैं न ? कोई मरा तो नही। कोई खाया तो नही गया।"

"हाँ, महाराज ! देखिए न सभी पशु कितने प्रसन्न हैं ! आनन्द से हरी हरी घास चर रहे हैं।"

राजा ने कहा—"आप लोग समझे न ? देवी मा है, वह कभी अपने पुत्रो का बध नही चाहती। वह एक महान शक्ति है, यदि उसे इन पशुओ का मास प्रिय होता तो वह अपना भक्ष्य लिए बिना कभी नही रहती ? उसने किसी भी पशु को कुछ कष्ट नही दिया, इससे स्पष्ट होता है कि देवी को मास प्रिय नही है, वह किसी भी पशु को अपना बलि नही बनाना चाहती। यह तो मनुष्य का ही अपना अज्ञान अथवा दम्भ है कि वह अपनी क्रूरता देवीमाता पर थोपना चाहता है।"

राजा की यह हृदय ग्राही तथा न्यायसगत बात सुनकर जनता मन्त्रमुग्ध हो गई।

देवी माता की जय, सम्राट कुमारपाल की जय, अहिंसा धर्म की जय, के नारो से आकाश गूँज गया।

जीवदया और अहिंसा का कितना निर्मल स्रोत उमड़ रहा था—राजा के अन्तस्तल मे ! इतिहास साक्षी है, आचार्य हेमचन्द्र के तर्क-प्रधान विचारो का, भारतीय जन-जीवन को परिष्कृत एव सुसंस्कृत करने में, कितना बड़ा योगदान है।

उपाध्याय अमर मुनि

सच्ची चाह

प्रत्येक मनुष्य मे महत् की भावना होती है कि वह अपने से महान् की ओर देखता है, महानतम की ओर उसकी दृष्टि दौडती हैं, और वह महानतम को प्राप्त करना चाहता है। अपने मे वह उस अनन्त ज्योति का प्रकाश चाहता है। उसका दर्शन करना चाहता है। प्रश्न यह पैदा होता है कि जब वह चाहता है तो मिलता क्यो नही ? अन्तरग मे जिस चीज की भूख लगी है, दर्शन की इच्छा जागृत हुई है, तो वह भूख मिटती क्यो नही ? वह दर्शन प्राप्त क्यो नहीं होता ? साधनाक्षेत्र का यह 'यक्ष प्रश्न' सदा सदा से चलता आया है।

चाह सच्ची हो

कहते हैं 'जहाँ चाह वहाँ राह'—जब चाह होती है तो राह मिल ही जाती है। चाह अगर सच्ची है, उसमे लगन है, तडप है, तो राह मिलकर रहेगी। ऐसा हो नही सकता कि सच्चे दिल से चाहने पर कोई चीज मिले नही ? मगर मुँह से चाहना कुछ और बात है, मन से चाहना कुछ और है। जब तक मन की ऊपर की तह से चाह उठती है, तब तक उसमे शक्ति नही होती, किन्तु अन्तर की गहराई से जब लहर उठती है, तो वह तूफान बनकर उठती है, तब ससार की कोई भी शक्ति उसे रोक नही सकती।

वास्तव में चाह की परीक्षा होनी चाहिए। जिसे हम चाहते हैं वह क्या है ? हम कभी उसे छोड़ भी सकते हैं या नही ? उस ज्योति के दर्शन होने का जब समय आए तो हम उसे पीठ तो नही दिखाते हैं ? उसकी आवाज जब हमारे कानो में गुनगुनाए तो हम उसे अनसुनी तो नही करते हैं ? यदि सच्ची चाह मन मे जगी है तो ऐसा नही हो सकता।

कुछ साधक कहते हैं कि हमे अपनी आत्मा का उद्धार करना है, प्रभु का दर्शन करना है। वे अन्तर मे श्रद्धा और भक्ति लेकर चलते हैं, कुछ कदम-साधना के पथ पर बढाते भी हैं, मगर कुछ दूर चल-कर लडखडाने लगते हैं। एक ओर ईश्वर का दर्शन है तो दूसरी ओर ससार का ! एक ओर वह दिव्य ज्योति जगमगाती है तो दूसरी ओर कामनाओ की विचित्र चकाचोंध ! ऐसी स्थिति मे निर्णय करना होता है कि वह क्या चाहता है ? ईश्वर को छोडकर ससार में तो नही भटक जाता ? कामनाओ के पीछे तो नही दौडता ? परम-ज्योति को पीठ दिखाकर काम और वासना की अँधेरी गलियो मे तो ठोकरें नही खाता ? सच्ची चाह वाला ससार के द्वन्द्वो को ठुकराकर आगे बढ जाता है, और जिसके मन में सच्ची चाह नहीं है, वह सासारिक सुखो की चकचोध मे भ्रान्त हो जाता है, अतः लक्ष्य से भटक जाता है, आगे बढने के बजाय वापस लौट पडता है।

राजस्थान के एक नगर पर शत्रु-सेना का आक्रमण हुआ। आक्रान्ताओ ने नगर को घेर लिया। सेनापति ने लोगो से कहा कि अपने अपने घरो से बाहर निकल जाओ। एक जैन गृहस्थ राज्य के महामत्री थे, उनके घर पर पहुँच कर सेनानायक ने कहा—"तुम यहाँ के मंत्री रहे हो। हम तुम पर महरबानी करते हैं। तुम अपने घर से, जो सबसे अच्छी और मूल्यवान चीज हो, वह ले जा सकते हो। परन्तु सिर्फ एक ही चीज। सुना है, तुम्हारे पास बहुत बडी सपत्ति है, लाखो-करोडो मूल्य के हीरे हैं, मोती हैं, माणिक्य हैं, रत्न हैं। तुम बहुत बड़े जौहरी रहे हो। हम तुम्हारी सब सपत्ति लूटेंगे, सिर्फ एक बहुमूल्य चीज, जो तुम्हे अभीष्ट हो, ले जा सकते हो। यह तुम्हे छूट दी जाती है ! समझे ?"

मंत्री ने सुना तो हर्ष से गद्गद हो गया। झपट कर घर के अन्दर गया और अपना एक स्वाध्याय ग्रन्थ, जिसका वह नित्य पाठ किया करता था, उसे लेकर झटपट बाहर आ खडा हुआ। सेनापति ने बड़े आश्चर्य से पूछा—"यह क्या ? हीरे, मोती, माणिक्य कुछ नही लिए ? यह कागज की पोथी ली है, इसका क्या करोगे ?

मत्री बोला—"यह कागज की पोथी नही, मेरी जीवन पोथी है, यह वह पुस्तक है जो ससार के हीरे मोती से भी ज्यादा कीमती है,

यह मुझे सकट की घड़ियो में धैर्य देगी, दु:खों के घोर अंधेरे मे भी सुख की ज्योति जगायेगी। यही मेरा सबसे बडा धन है।"

आप विचार कर सकते हैं—यह स्थिति जीवन में कब आती है? जब कि अन्तर्मन मे 'चाह' सच्ची होती है, विचारो की उच्चता और श्रेष्ठता हमारे कण कण में समा जाती है, और तब हम अपनी चाह के पीछे सर्वस्व अर्पण करने को तैयार हो जाते है। तब हम कामनाओ और लालसाओ के चक्कर मे नही आते। पूरी निष्ठा और ईमानदारी से अपनी चाह के पीछे चलते हैं, उसी की लगन में मस्त रहते हैं, और एक दीवाने की तरह सब सुधबुध भुलाकर साधना पथ पर बढ चलते हैं। तब न सुख की परवाह होती है, न दु.ख की। न पथ मे मिले फूल ही रोक पाते हैं, न काटे ही।

चाह किसकी ?

●

यह बात भी समझ लेना जरूरी है कि हम 'प्रभु प्रेम' की बात करते हैं, तो उसका मूलार्थ क्या है? क्या प्रभु के शरीर से प्रेम की चाह करते हैं? प्रभु का शरीर क्या है? वह पृथ्वी, जल,, अग्नि, वायु, आकाश—इन पचभूतो का पिंड तो नही है? वह तो अमूर्त है, भौतिक पिंड नही है, वह अनन्तानन्त अध्यात्म गुण स्वरूप हैं। दया, क्षमा, सत्य, शील, सतोष, करुणा आदि गुण ही तो उसकी देह है। वह भौतिक रूप नहीं, अनन्त चैतन्य रूप है। हमारा प्रेम उस चैतन्य से है, गुणो से है। उस ज्योति से है, जो महातिमहान है। एक सन्त ने कहा है—हे प्रभु! मुझे तुम्हारी एक किरण के भी दर्शन हो जाएँ तो मैं उसके समक्ष हजारो इन्द्रो के स्वर्गीय ऐश्वर्य को ठुकरा दू। इतनी महान है वह ज्योति। यदि हम उक्त ईश्वरीय गुणो से प्रेम करते हैं तो फिर हम लालसाओ की मायाविनी राक्षसी के समक्ष विमूढ क्यो हो जाते है? काम क्रोध की अधेरी गलियो मे भटक क्यो जाते है? प्रकाश मे रहने वाला तो अधेरे मे एक क्षण भी नही रहेगा, उसका दम घुटने लग जाएगा। मतलब इसका यह हुआ कि भगवान् की चाह मे शैतान की चाह नही रह सकती। कबीर ने कहा है—

'प्रेम गली अति सांकरी तामें दो न समाय'

प्रेम की गली इतनी तग है कि उसमे राम और काम दोनो एक साथ नही चल सकते हैं। साथ नही चल सकते, इसका अर्थ है कि प्रारब्ध के उदय से जो काम, जो भोग प्राप्त हो, उन्हे आवश्यकता के रूप मे ही स्वीकार किया जाए, कामना और लालसा के रूप मे नही, आसक्ति और लालच के रूप मे नही।

हा तो चाह की तीव्रता साधक के लिए अतीव आवश्यक है परन्तु इस सन्दर्भ मे साधक को एक निर्णय करना है कि वह चाह क्या है, किस पर है ? यह निश्चय करें। उसका चुनाव करे।

भरत चक्रवर्ती की बात सुनी है आपने ? चक्रवर्ती सिहासन पर बैठे है, जय जयकार हो रहा है, भाट और याचक विरुदावलियाँ गारहे हैं, इसी बीच पुत्रजन्म की बधाई आती है। साथ ही शस्त्रागार रक्षक ने आकर बधाई दी कि शस्त्रागार मे 'चक्ररत्न' प्रकट हुआ है। भरत दोनो बधाई अच्छी तरह सुन भी नही पाए थे कि वनपालक ने आकर भगवान आदिनाथ के उद्यान में पधारने की बधाई दी। तीन तीन सुखसंवाद एक साथ आए।

ससार की एषणाओ मे 'पुत्रैषणा' बहुत बडी एषणा है। धन, सपत्ति और साम्राज्य से भी बडी चीज है पुत्र ! पुत्र के बिना साम्राज्य सूना लगता है—जैसे दीपक के बिना मन्दिर—

'अपुत्रस्य गृह शून्यम्।

विचार कीजिए, जब पुत्र जन्म की बधाई आई होगी तो उसकी खुशी का क्या आर पार रहा होगा ? और उस खुशी मे चार चाद लगाने वाली दूसरी बधाई भी 'चक्र रत्न' का प्रकट होना। ससार मे राजाओ के लिए दिव्य शस्त्र का प्राप्त होना बहुत बडी चीज है। सस्कृत की एक सूक्ति है—

"शास्त्र यतीनां, शस्त्र भूपतीनाम्"

साधुओ, विद्वानो को शास्त्र और राजाओ को शस्त्र प्रिय होते हैं। यही तो उनकी सपत्ति होती है। मैं अपनी ही बात कहूँ। जब कभी मैं सुनता हूँ कि अमुक भडार का अमुक प्राचीन शास्त्र प्रकाशित हो गया है, तो मुझे सबसे ज्यादा खुशी होती है। यही बात वीर क्षत्रिय के लिए शस्त्र की है। शस्त्र के देखते ही उसका हृदय गुदगुदा उठता है, वीरत्व जग पडता है। इसी लिए तो कहावत चल पडी है—

"जिसकी लाठी उसकी भैस।' जिसके पास शस्त्र है, उसी का राज्य है। आज भी तो दुनिया मे यही बात चल रही है—जिस राष्ट्र के पास ज्यादा से ज्यादा शस्त्रशक्ति है, उसका सभी राष्ट्रो पर प्रभाव है, दबदबा है। चीन के आक्रमण के समय भारत के शस्त्रो और शस्त्रधारियो ने पराजय का मुँह देखा तो ससार मे उसकी प्रतिष्ठा कम होगई, और पाकिस्तान के आक्रमण के समय उसके छोटे से 'नैट' हवाई जहाज ने अपना जौहर दिखाया, तो अमरीका और रूस जैसे महा देशो ने भी दातों तले अगुली दबा ली। भारत के शौर्य से सब विश्व दग रह गया। पुराणो मे भी तो ब्रह्मास्त्र की चर्चा आती है। बडी से बड़ी तपस्याएँ करके उसे प्राप्त किया जाता था और जिसको वह मिल जाता, वह विश्व को रोद डालता, अपने प्रभाव से विश्व को प्रकम्पित कर देता। भरत का यह 'चक्र रत्न' भी तो एक 'ब्रह्मास्त्र' ही था। उसकी प्राप्ति की बधाई भी आती है। उधर प्रभु के पदार्पण का संवाद आता है। केवल ज्ञान प्राप्त करने के बाद भगवान का पहला समवसरण अयोध्या (पुरिमताल) मे होता है, यह भी तो आध्यात्मिक साम्राज्य की बात थी।

भरत के सामने अब यह बात थी कि वह पहले पुत्र जन्म का उत्सव मनाए, चक्र रत्न की खुशियो मे मगन हो जाए, या प्रभु का केवल उत्सव मनाने को दौड़ पड़े? वह सोच सकता था कि भगवान तो यही ठहरे हुए हैं, अभी जाएगे नही, पहले पुत्र जन्म एव चक्र-रत्न की खुशिया मनाली जायँ। साधारण व्यक्ति उक्त स्थिति मे यही निर्णय करता है, किंतु भरत ने दोनो काम छोड कर प्रभु के समवसरण की ओर कदम वढाए, वह दौड पडा कैवल्य महोत्सव करने को।

ध्येय आलम्बन है

मैं आपसे यह पूछता हूँ कि भरत ऐसा निर्णय क्यो कर सका? तीन मार्गों मे से इसी मार्ग को क्यो चुना? आप कहेगे कि उसमे सच्ची चाह जग गई थी। जिस की चाह जगी, वह उसे पाने दौड़ पडा, पुत्र और राज्य के हर्ष एव प्रलोभन उसे अपने भक्ति मार्ग से विचलित नही कर सके।

एक तर्क यहां उठता है कि व्यक्ति जब एक ही ध्येय के पीछे लग जाए, तो वह अपनी अन्य जिम्मेदारियों को कैसे निभा पाएगा ? ससार मे रहता है, तो उसे सभी काम सभालने पडेगे। इसका उत्तर भारतीय सस्कृति के प्रकाश में इस प्रकार है—तुम सब अगो को अपना काम करने दो, हाथ अपना काम करें, पैर अपना काम करें, आंखें अपना काम करें, पर, मन प्रभु के चरणों मे लगा रहे। उस केन्द्र को पकड कर शरीर कही भी घूमे फिरे, कोई खतरा नही, कुछ भी काम करें, कोई आपत्ति नही। परन्तु केन्द्र यदि टूट गया तो फिर भटक गए। बहुत से व्यक्ति तैरना नही जानते, तो तैरते डरते हैं, कही डूब न जाएँ ? इस स्थिति मे वे क्या करते है कि जलाशय मे बडे बड़े रस्से डालते हैं, तट से बाँध देते हैं और उन्हे पकड कर तैरते जाते हैं। जल मे तैरने का आनन्द लूटते हैं, मगर रस्से को पकड़े रख कर ! यदि कही रस्सा छूट गया तो फिर डूब गए मँझधार मे।

साधक ससार के प्रवाह मे तैरता है। यह बहुत बड़ा वेगवान प्रवाह है, इसमे बड़े बडे मगर मच्छ मुँह बाये बैठे हैं, बडी तेज धार है इसकी ! यदि साधक प्रभु का अवलम्बन (रस्सा) पकड कर तैर रहा है तो वह ससार का आनन्द भी ले लेगा और जब चाहेगा किनारे पर भी आ जाएगा ! अब सोचो यदि वह आलम्बन छूट गया तो फिर क्या होगा ? बस ! फिर आदमी विचारे की क्या बात, बडे बडे गजराजों के पाव उखड जाते हैं उस तेज धार मे। बड़े बड़े ऋषि मुनि भी बह गये, पता नही लगा।

मेरा भाव यह है कि हमारे सामने जो ध्येय है, आदर्श है, वह आलम्बन के रूप मे होना चाहिए, उसे पकड कर चलना चाहिए। हम जो भगवान का नाम लेते हैं, धर्म और पुण्य का काम करते हैं, वह मन की गहराई मे उतरना चाहिए, सब कर्मों के मूल मे वही एक परमतत्व रहना चाहिए। पर आदमी ने उल्टा कर दिया है, कामनाओ को—वासनाओ को तो अन्दर गहराई मे डाल दिया है और प्रभु की चाह, भक्ति को खाली मुँह पर ले आया है !

एक बार गोपाल कृष्ण गोखले बम्बई मे किसी बडे पादरी से मिलने गये। वहाँ देखा कि पादरी के सामने गीता की पुस्तक

सबसे नीचे रखी हुई है, उसके ऊपर कुछ और पुस्तकें थी, और सबसे ऊपर थी वाइबिल ! पादरी ने कहा—देखो तुम्हारी गीता सबसे नीचे है, और हमारी बाईबिल सबसे ऊपर है। गोखले ने उत्तर दिया—ऊपर बाइबिल तो है, पर सब के मूल मे गीता ही है........।

ऊपर मे कुछ भी रूप हो, यदि मूल मे परमतत्व के प्रति दृढ निष्ठा है, भक्ति है, आत्मस्वरूप की साधना है, तो फिर ऊपर की ये ससार की जिम्मेदारियाँ, ये परिवार और समाज के कर्त्तव्य, हमे ध्येय से भटका नही सकते। आत्म साधक सब कुछ करते हुए भी उन सब को शून्यवत् मानते हैं। सब कुछ करते हुए भी सामने ध्येय सिर्फ एक ही रहता है, उसी का महत्व साधक की दृष्टि मे समाया रहता है।

कल्पना कीजिए—जेठ की भयकर गर्मी है, आसमान धूप के रूप मे आग बरसा रहा है, धरती जल रही है, पानी सूख गया है और रेगिस्तान मे एक आदमी मारे प्यास के तडप रहा है, बूँद बूँद के लिए वह छटपटा रहा है, गला सूख रहा है, आँखे बाहर निकल रही हैं और प्राण उडने को कर रहे है। उस समय कोई आदमी आता है और कहता है—लो, छटपटाओ मत ! मैं ये लाख रुपये का चैक देता हूँ, जाओ आनन्द करो, तो क्या सचमुच ही वह खुश होगा ? उसे धन्यवाद देगा ? या और कुछ ! नहीं, गालिया देगा। कहेगा—मैं प्यास से मर रहा हूँ। बता, तेरे इस लाखो के दान का मैं क्या करूँ ? मुझे लाखों नही, जल की एक घूँट चाहिए, बस, और कुछ नही ?

और यदि प्यासे के सामने स्वर्ग की अप्सराओ और परियो के झुंड पर झुंड उतर कर आजाएँ, तो क्या वह उनके सौंदर्य पर ललचाएगा ? उस झुंड के पीछे दौड़ेगा ? नही, यह सब कुछ नही। उस समय तो सिवाय जल के उसे कोई भी बात अच्छी नही लगेगी। उसकी चाह पानी की है, वासना पूर्ति की नही। पानी के बिना सब शून्य लगता है, क्योकि वह सच्ची प्यास है !

●

इस प्रकार जो मन में सच्ची प्यास जगती है, जिस को पाए बिना हम अकुला जाते हैं, जिसके बिना सब शून्य प्रतीत होता है, वह है हमारा ध्येय ! मजिल या चाह ! हम उस प्यास को श्रद्धा भी कह सकते हैं ! लगन भी कह सकते हैं, और भी कुछ कह सकते हैं। जब तक श्रद्धा जागृत नहीं होती; और श्रद्धा मे सत्य नही जगता, तब तक वह सच्ची प्यास नही है। श्रद्धा के बिना भक्त भक्त नही, शून्य है। भक्ति भी शून्य है, और भक्त भी शून्य हैं। विना सच्ची प्यास के भक्त सिर्फ एक हाड मास का पुतला है, भक्त और भगवान दोनो मायाजाल हैं। श्रद्धा से ध्येय का साक्षात्कार होता है। ध्येय के प्रति अविचल निष्ठा होती है। सुख दु ख के झझावातो मे भी हिमालय की तरह अडिग रहने का बल होता है।

कभी आपने सोचा होगा—कि विपरीत परिस्थितियो मे आप घबड़ा क्यो जाते है ? आपका धैर्य टूट क्यो जाता है ? यही कि श्रद्धा स्थिर नही रह पाती। प्रभु की जगह पर वासनाओ की पूजा होने लगती है, मन के सिहासन पर भगवान की जगह शैतान बैठ जाता है। उच्च सकल्पो की जगह काम, क्रोध, मान, लोभ के अशुद्ध विचार उठने लगते हैं। और तब जो भक्ति की ओर चले थे, वे भुक्ति की ओर घूम जाते हैं। जो योग और प्रेम की ऊँचाई पर चढ़ने को निकले थे, वे भोग और राग की खाई मे डूब जाते हैं। चले थे हिमालय को और पहुँच गए सागर पर !

"हिमवद् गन्तुकामस्य गमनं सागर प्रति।'
"निकले थे हरिभजन को ओटन लगे कपास"

भगवती सूत्र मे वर्णन आया है—तुंगिया नगरी के श्रावक बड़े तत्त्वज्ञानी थे, उनके मन मे एक प्रश्न आया—साधक देवलोक मे क्यो जाता है ? उसकी साधना तो मुक्ति के लिए है, फिर उसे स्वर्ग क्यो मिलता है ? वह वासनाओ को मिटाने के लिए चलता है, फिर उल्टा वासनाओ के केन्द्र मे क्यो पहुँच जाता है ? यह साधना-क्षेत्र का बहुत ही महत्व पूर्ण प्रश्न है—एक कारण से दो विरोधी कार्य कभी नही हो सकते। धर्मसाधना से स्वर्ग भी मिले और मोक्ष

भी, यह कैसे हो सकता है ? धर्म बन्धन के लिए नही, बन्धन से मुक्ति के लिए है ।

आप जानते हैं—उक्त प्रश्न का भगवान् महावीर ने क्या उत्तर दिया है ? भगवान् ने कहा है—साधक आत्मभाव मे न होने के कारण स्वर्ग मे जाता है। आत्मभाव मोक्ष का हेतु है और अनात्मभाव ससार का। देवलोक भी एक ससार ही है, अत: साधक जब आत्मभाव से बाहर होता है, तभी बन्धन मे आता है—फिर भले ही वह नरक का बन्धन हो या स्वर्ग का। आत्मभाव मे बन्धन नहीं, बन्धन है अनात्म भाव मे। मतलब यह हुआ कि जब आत्मभाव (स्वरूप) मे स्थिति नही रहती है, तब सयमी साधक स्वर्ग में जाता है। स्वरूप की साधना करने वाला तो स्वरूप को पाएगा, मुक्ति को पाएगा। जब साधक स्वरूप से हट जाता है, तो भटक जाता है—स्वर्ग के नदनवनो मे, स्वर्ग की अप्सराओ में और सम्राटो के स्वर्ण सिंहासनो में।

तो जहाँ स्वरूप की साधना मे कोई रुकावट नही आती है, वहाँ ध्येय की प्राप्ति होती है। जहाँ चाह सच्ची होती है, वहाँ राह अवश्य मिलती है। जहाँ श्रद्धा स्थिर होती है, वहाँ श्रद्धेय के दर्शन अवश्य होते हैं। बात घूमकर वही आती है कि हमे वह राह, वह ध्येय और वह श्रद्धेय क्यो नही मिल रहा है ? उत्तर भी मैंने इतनी देर तक आपको समझा दिया है—अगर आपकी चाह हृदय के मूल मे है, तो राह अवश्य मिलेगी, यदि आपकी प्यास सच्ची है, तो वह अवश्य बुझेगी। और सत्य के महासरोवर के दर्शन होने मे कोई रुकावट नही आ सकती, उस ज्योति के प्रकट होने मे कोई आवरण बाधक नही बन सकता।

*

उपाध्याय अमर मुनि

सोने के पात्र में कूड़ा न भरो

मनुष्य के शरीर मे जितने भी अग प्रत्यग हैं, इन्द्रियाँ हैं, सबका अपना महत्त्व है, उपयोग है, किंतु उन सब मे सबसे बडा महत्त्व हमारे मस्तिष्क का है। मस्तिष्क हमारे हाथ, पैर आदि समस्त अगो का सचालन करता है। अगो के सचालन की जो भी प्रेरणाएं आती हैं, उनका उद्भव सर्व प्रथम मस्तिष्क के केन्द्र मे होता है। प्रत्येक इन्द्रिय की चेतन-धारा का आधार हमारा मस्तिष्क ही है। इसीलिए भारतीय तत्त्व-चिन्तको ने इसका सर्वोपरि महत्त्व माना है, मनुष्य के मस्तिष्क को 'सुवर्णमय कोष' कहा गया है। यह मनुष्य के साहस, धैर्य और प्रतिष्ठा का प्रतीक भी है। मस्तक जब उन्नत रहता है तो मनुष्य की प्रतिष्ठा और मनोबल का परिचय मिलता है। यह झुक जाता है तो दीनता और लज्जा का भाव प्रकट होता है। मस्तक का ऊचा रहना, शरीर का ही गौरव नही, जीवन का भी गौरव है। 'सुवर्णमय कोष' कहने का तात्पर्य भी यही है कि इसमे विचार, विज्ञान और बुद्धि का सर्व श्रेष्ठ दिव्य खजाना भरा है—कारू के खज़ाने से भी अधिक बड़ा और महत्त्व पूर्ण ! अक्षय निधि।

मस्तिष्क : एक दर्पण

•

कल्पना कीजिए, सोने का पात्र आपके हाथ मे है, तो उसमे आप क्या भरेंगे ? पवित्र और स्वच्छ वस्तु भरेंगे या गदी ? सोने के पात्र मे सिहनी का दूध रखा जाता है, और अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ भी उस स्वर्ण-पात्र मे रखी जाती हैं, पर कोई मनुष्य उसमे घर का कूडा कचरा, कागज के गन्दे टुकड़े, सड़े गले कपडों के चिथड़े भरे तो ? यह उसकी मूर्खता है। सोने का पात्र रद्दी की टोकरी बनाने की वस्तु नही है। दुनिया भर का कूडा व गन्दगी भरने के लिए नही है।

बात यह है कि मानव-जीवन को आस-पास के समाज का वातावरण प्रभावित करता है। मनुष्य के जीवन मे, जीवन के परिपार्श्व मे जो भी हलचले होती हैं, विचार तरगे उठती हैं, क्रिया प्रतिक्रियाएँ चलती रहती है, उन सव का प्रतिबिम्व मस्तिष्क पर पड़ता चला जाता है। यह मैं नही मानता कि जव तक मन के राग-द्वेष समाप्त नहीं हो जाते, तव तक मन-मस्तिष्क पर किसी भी प्रकार की छाया का प्रतिबिम्ब न पडे, वाह्य परिवर्तन और हलचल मस्तिष्क को प्रभावित न करें, उसमे राग का जल न रहे और न द्वेष की आग ही रहे। ये सव कुछ तो तव तक रहेगे, जब तक वीतराग अवस्था प्राप्त न हो जाए। अस्तु, ससार मे जो भी इधर उधर सम्मान और प्रतिष्ठा के फूल हैं, अथवा अपमान एव घृणा के नोकदार काटे हैं, उनका जव तक हमारे जीवन पर प्रभाव पड़ता है, तब तक हमे यह कला सीखनी होगी कि यदि फूलो का बाग मिले तो मन एक दम गुदगुदा न उठे, अपने स्थान एव अधिकार का ज्ञान खोकर उछल न पड़े, और यदि काटे विछे मिलें तो उनमे इस कदर उलझ न जाए कि तीखी वेदना और जलन से कराहता ही रहे।

जब सन्मान मनुष्य के मस्तिष्क पर अपना प्रभाव डालता है, तो वड़े वड़े गद्दीधारी आपा भूल जाते हैं। ये लोग जहाँ उसकी प्राप्ति के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करते हैं, वहा उसकी रक्षा के लिए भी सब कुछ 'उचित अनुचित' कर बैठते हैं। अपमान की चोट जब अहकार पर पड़ती है, तो बड़े बड़े त्यागी तिलमिला उठते हैं, अन्दर ही अन्दर घुटते चले जाते हैं। अपमान का बदला लेने के लिए किसी के सुख के महल को उजाडना हो, तो वे जरा भी सकोच नही करते।

वातावरण का प्रभाव तो मस्तिष्क पर पड़ता है, पर इतना ही पडना चाहिए कि एक दर्पण मे जैसे छाया पडती है। जब कोई वस्तु दर्पण के सामने आती है, तो उसका एक वार तो प्रतिबिम्ब दर्पण मे झलक उठता है परन्तु वस्तु के दूर होते ही प्रतिबिम्ब हट जाता है। किसी राजा की सवारी निकलती है तो दर्पण मे उसकी छाया भी पड़ेगी, किसी की शवयात्रा निकल रही है तो उसका प्रतिबिम्ब भी उसमे झलक उठेगा और कोई दरिद्र भिखारी रोता बिलखता उसके सामने से गुजर जाये तो उसका चित्र भी दर्पण मे अकित होता

दिखाई देगा, पर यह सब नाटक कितनी देर के लिए है ? जब तक कि बिम्ब (वस्तु, घटना) सामने रहता है, तब तक ही प्रतिबिम्ब दर्पण मे दिखाई देगा। ज्यो ही बिम्ब हटा, कुछ दूर गया कि प्रतिबिम्ब अपने आप साफ हो जाता है। दर्पण से प्रतिबिम्ब को मिटाने के लिए किसी प्रकार के 'डस्टर' की जरूरत नही होती।

मस्तिष्क की उस उच्च परम पवित्र अवस्था की बात अभी हम नही करते हैं कि प्रतिबिम्ब पड़े ही नही। हम तो उस अवस्था की बात करते हैं, जब प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस पर हमारा कहना यही है कि दर्पण की तरह हमारा मस्तिष्क होना चाहिए, जिसमें प्रतिबिम्ब पड़े, परन्तु ज्योही वस्तु दूर हो कि दर्पण साफ। मस्तिष्क मे किसी प्रकार का दु सकल्प अथवा दुर्विचार गाठ रूप मे बद्ध न हो। पर, आज दुर्भाग्य से मनुष्य के मस्तिष्क की स्थिति यह हो रही है कि—प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो वह जीवन भर मिटता नही। किसी से वैर के सकल्प हो गए, शत्रुता हो गई, मन मुटाव या कुछ कहा-सुनी हो गई, तो वर्षों के बर्ष वे सब दुर्भाव मस्तिष्क पर छाये रहते हैं। वैर-विरोध के इस काटे को मनुष्य अन्तर मे दबाए चलता रहता है, अन्दर ही अन्दर घुटता रहता है, जीवन के अन्तिम क्षणो तक इसी काटे की पीडा से छटपटाता रहता है, वैर की स्मृतियो मे कुढता रहता है, और कोई-कोई तो मरते समय भी अपने पुत्र-पौत्रो को बुलाकर कहता है—"अमुक से अपना वैर चल रहा है, तुम भुलाना मत। तुम्हारे मे कुछ भी मर्दानगी हो तो मेरे वैर का बदला लेना।" इस प्रकार वह जीवन के गदे प्रतिबिम्ब अपने बेटो पोतो को भी विरासत मे देता जाता है। जिस काटे से जीवन भर खुद छटपटाता रहा, वही कांटा अपनी सन्तान के हृदय मे चुभोकर उसे भी वेदना से तिल-तिलकर जलते रहने के लिए छोड़ जाता है। जीवन की यह कितनी दुर्भाग्य पूर्ण अवस्था है।

मकान के दरवाजे खुले रहते हैं, तो उसमे धूल, गर्दो-गुबार आ जाता है, हवा के साथ मिट्टी भी आती है, कूडा-कचरा भी आता है। पर यह तो नही होता कि आप उस कूडे-कचरे को सभाल संभाल कर बैठे रहे, सोने चाँदी की तरह उसे घर मे दबाए रखे, ? घर में झाडू किसलिए है ? कचरा साफ करने के लिए ही तो है ? मस्तिष्क

के मन्दिर मे इन्द्रियो की खिड़कियाँ खुली हैं, तो कुछ न कुछ धूल, कूडा-कचरा आ ही जाता है। पर, उस कूड़े कचरे को साफ करने के लिए ज्ञान का झाडू प्रतिदिन लगता रहना चाहिए। असावधानी से जो गन्दगी आ गई है, वह साफ करने के लिए है, सभाल कर रखने के लिए नही है, न ही वह जीवन भर ढोते रहने के लिए है। और न ही अगले जीवन के लिए है कि महाप्रयाण करते हो तो उसे भी सजोकर साथ ले जाएँ, या जाते जाते अपनी सन्तान के मन मस्तिष्क में वह गन्दगी, वह कूडा कचरा डालते जाएँ। जीवन की यह कितनी दयनीय स्थिति है कि मनुष्य जिस मिट्टी के घर मे रहता है उसकी तो सफाई रखता है, जो कपड़े पहनता है उन्हे लक्स या सर्फ से या टिनोपाल से सफेद बगुले जैसे कर के पहनता है। परन्तु जिस मस्तिष्क से सोचता है उसमे कितनी गन्दगी, कितना कूडा कचरा, कब कब का भरा हुआ है, उसे साफ नही करता। कितने युगो के गदे विकल्प भरे हैं, इस अन्तर् मन मे! खेद है मानव उन्हे ढोये जा रहा है और अन्धा होकर दौड रहा है सर्वनाश की ओर ''

आधा पापड़

●

सन्तो के प्रवचन साहित्य मे एक घटना प्रसिद्ध है, और जब मैं उस घटना पर विचार करता हूँ, तो मनुष्य के मन का, अन्तर्मन का एक क्षुद्रतम कुत्सित-चित्र मेरे सामने उभर आता है।

एक सेठ के घर पर पुत्र विवाह की दावत हुई। पूरी बिरादरी निमन्त्रित थी। नाना प्रकार के मेवा, मिष्टान्न, मोहन भोग, खट्टे मीठे चटपटे, मुक्त मन से परोसे गए। उपस्थित जनसमूह वाह-वाह कर उठा। दावत के अन्त मे सेठ स्वय अपने बन्धुओ को पापड परोसने लगा। परोसते परोसते जब वह अन्त मे एक भाई के पास पहुँचा तो उसकी टोकरी मे आधा पापड ही शेष रह गया था। सेठ ने वही आधा पापड सहज भाव से उस भाई को परोस दिया और आगे चल पडा। न परोसने वाले सेठ के मन में किसी प्रकार का दुर्विचार था और न आस-पास मे खड़े या बैठे लोगो के मन मे ही कोई दुर्विचार जगा। पर, जिसको परोसा गया था उसके मन मे तो इस हवा के हलके से झोके ने तूफान खडा कर दिया, तिल का ताड

बन गया। वह सोचने लगा—मैं गरीब हूँ, इसलिए मुझे आधा पापड दिया गया है। पूरी बिरादरी मे मेरा अपमान! घोर अपमान!! उसका खाया-पीया सब का सब भस्म हो गया, अग-अग मे आग लग लग गई।

यद्यपि पुराने युग मे इस प्रकार जातीय प्रीतिभोजो मे किसी प्रकार का अमीर-गरीब का भेद नही रहता था। भगवान के समवसरण मे जहाँ चक्रवर्ती सम्राट आकर बैठता है, वहा उसी के बगल मे उसके घोड़े का सईस भी यदि आकर बैठ जाए तो कोई उसे यह नही कह सकता कि यहाँ क्यो बैठा? प्रीतिभोज (जीमन) भी समाज का एक समवसरण होता था। गरीब और अमीर सब एक ही पक्ति मे समानभाव से बैठते थे, किसी से किंचित भी भेद भाव नही किया जाता था। सेठ की इस दावत मे भी कोई भेद नही था। पर आधा पापड पाने वाले ने इस घटना की तस्वीर अपने चिन्तन के कैमरे से ऐसी खीची, इतनी विद्रूप खीची कि उसकी सासें गर्म हो उठी, आखे लाल हो गई और वह अन्दर ही अन्दर घुटता चला गया। काले नाग की तरह उसका दुर्मन अन्दर ही अन्दर फुफकारने लगा।

वर्षों के वर्ष बीत गये, वह अपने ही दुश्चिन्तन रूप काटे के इस दर्द से कराहता रहा। किसी भी दावत मे जाता, कही भी दावत की बात सुनता तो वह उस घटना की स्मृति से तड़प उठता। न मिष्टान्न भोजन का आनन्द ले पाता और न किसी से हँसी खुशी की दो बात ही कर पाता। मनुष्य का मन जब जहरीली स्मृतियो से भरा रहता है, तो बाहर का अमृत उसे कुछ भी आनन्द नही लेने देता। मन मे एक विंचित्र प्रकार की घुटन छाई रहती है। आखिर वह बेकरार हो गया, इस घटना का बदला लेने के लिए। बाप-दादो से चला आया अपना घर बेचा, पास मे जो थोड़ी बहुत साधन सामग्री थी, वह बेची, और बस, अन्त मे बिना प्रसग के ही एक दावत का आयोजन किया उसने। बिरादरी के पचो ने पूछा—भई! दावत किसलिए दे रहे हो? उसने कहा—'मैंने जीवन भर समाज का खाया ही खाया है, अब कुछ खिलाता भी जाऊँ।" घर बेचकर दावत खिलाना और झोपड़ी जलाकर आग तपाना—ये कहावतें यो ही नही चल पड़ी है? ऐसी विचित्र विभूतिया होती रही हैं समाज मे। मूर्खता तो क्या, अहकार, ईर्ष्या, और दुर्विचार की

पराकाष्ठा है यह ! आखिर दावत हुई, पूरी बिरादरी निमंत्रित की गई। प्रायः सभी लोग आये। वह सेठ भी आया। मिष्टान्न आदि का वैसा का वैसा आयोजन, जैसा कि सेठ ने किया था। अन्त मे पापड परोसने का जब समय आया तो परोसने वाले पापड़ परोसने लगे। जब वे लोग पापड परोसते हुए सेठ के पास पहुँचे तो उसने पापड की टोकरी दूसरे आदमी से छीनकर अपने हाथ मे ले ली और पापड़ से भरी टोकरी मे से एक पापड तोडकर आधा पापड सेठ को परोसा। सेठ ने कहा—भाई साहब ! आपने मेरे लिए इतना कष्ट किया, अपने हाथ से मुझे पापड़ परोसा, बडी कृपा की आपने। पर, पूरा अखण्ड पापड तोड़कर, आधा पापड परोसने का क्या मतलब ?

उसने तनक कर कहा—"अच्छा, मतलब पूछता है ? तेरे उस आधे पापड ने ही तो मुझे बर्बाद किया है।"

"क्या मतलब ? मैं नही समझा ?"

"तूने अपने पुत्र की शादी की दावत में मुझे आधा पापड परोसा था, पूरी बिरादरी मे मुझे गरीब समझ कर अपमानित किया था, उसी का—बस उसी का बदला लेने के लिए ही तो मैंने यह दावत दी है। यह आधा पापड़, उसी आधे पापड के बदले मे परोसा है मैंने।"

"मुझे तो कुछ याद नही कि मैंने आपको किसलिए आधा पापड परोसा था, मेरे मन मे कोई ऐसा बुरा संकल्प ही नही था। इसपर भी यदि आपको कुछ बुरा लगा था तो मुझे कहते, मैं क्षमा मांगता। घर पर बुलाकर मुझे आधा क्यो, पाव चौथाई पापड ही परोस देते, इतने से के लिए इतना बडा उपक्रम ? इतनी बड़ी बर्बादी ? और इस प्रकार आप व्यर्थ ही तबाह हो गए !"

ईर्ष्यालु भाई जमीन मे आँख गडाए देखता रह गया। अपमान का बदला लेने के लिए उसने घर बार बेचा, पर वह अपमान का जहर घुला नही, बल्कि और भयकर रूप से उमड़ पडा। जिसने भी सुना वह उसे तिरस्कार और घृणा भरी नजर से देखने लगा। उसकी बेवकूफी पर आप भी हँस रहे हैं। पर मैं सोचता हूँ, यह आधे पापड . . एक भाई की कहानी नही हैं, हजारो क्या, लाखो ही आधे पापड ी इस मनोवृत्ति के शिकार मिलेंगे। हमारे जीवन मे इस प्रकार के

अनेक प्रसग गुजर जाते हैं, जब दिमाग व्यर्थ ही ऐसी गन्दी तस्वीरों से भर जाता है, और वे गदी तस्वीरे मन मस्तिष्क में ऐसी जम जाती हैं कि जीवन की स्वच्छता, पवित्रता, समाप्त कर डालती हैं। वहाँ गदे विचारो का कूडा कचरा जमा हो जाता है।

मन कबाड़ी की दुकान नहीं है

●

आचार्यों ने बताया है कि यह तुम्हारा मन मस्तिष्क-प्रभु का मन्दिर है, इसे स्वच्छ और पवित्र रखो। शुद्ध संकल्पो से इसे सजाओ।

किसी भाई ने बहुत अच्छा सुन्दर बंगला बनाया। सगमरमर के पत्थर लगाए। सोने चाँदी की चित्रकारी का काम किया गया। अब प्रश्न खड़ा हुआ, बंगला तो तैयार हो गया, पर उसमे भरें क्या ? और कुछ ध्यान में नही आया, तो इधर से उधर से उठाकर कूड़ा कचरा ही भर डाला। पुरानी टूटी खाट और कुर्सियों से कमरे भर कर रख दिये। मैं पूछता हूँ आपसे कि क्या भवन का निर्माण इसीलिए हुआ है कि उसमें टूटी खाट और कुर्सियाँ भर दी जाएँ ? नही ! उसमें आप रह सकते हैं, आपका परिवार उसका आनन्द ले सकता है, आपके स्वजन मित्र, अतिथि भी उस सुन्दर भवन का आनन्द उठा सकते है। भवन रहने के लिए है, बहुमूल्य उपयोगी सुन्दर वस्तुओ के सग्रह के लिए है, न कि गंदा कूड़ा करकट भरने के लिए।

याद रखिए, हमारा मन कबाडी की दुकान नही है, कूडा भरने का गोदाम नही है, जिसमें संसार भर का कूड़ा, कचरा टूटा फूटा कबाड़ खाना भर दिया जाय। यह जोहरी की सुन्दर दुकान है, इसमें विचारों के मणि मुक्ता और रत्न जितने भी अच्छे और मूल्यवान होंगे, उतनी ही इसकी प्रतिष्ठा और साख जमेगी, ससार में उतना ही अधिक इसका आदर होगा।

स्मृति भी, विस्मृति भी

●

लोग स्मरणशक्ति की बातें करते हैं, कि हमारी स्मृति अच्छी नही है, बच्चो की स्मरणशक्ति कमजोर है। बड़ी चिन्ता है स्मृति

को तीव्र करने की। अनेक प्रयत्न किए जाते हैं, स्मृति को तीव्र बनाने के। ब्राह्मी-घृत चाटते हैं, बादाम और मुनक्का भी खाते हैं। वास्तव मे स्मरण शक्ति बहुत बडी चीज है। वह नष्ट हो गई, तो जीवन की महत्ता ही नष्ट हो गई। कमजोर स्मृति वाला मनुष्य जीवन के किसी भी क्षेत्र मे सफल नही हो सकता। पर मैं आपसे एक बात कहता हूँ कि जितनी चिन्ता स्मृति को जागृत करने की आप कर रहे है, उतनी ही चिन्ता विस्मृति की भी कीजिए। यदि जीवन मे विस्मृति नही है, तो स्मृति भी नष्ट हो जाती है। आप दिन में हजारों प्रकार के दृश्य देखते हैं, बाजार मे से गुजरते हैं तो सैकडो ही अच्छी और बुरी वस्तु आंखो के सामने से गुजर जाती हैं। यदि हर चीज को याद रखने का प्रयत्न किया गया, तो वे सब चीजे तो याद नहीं होगीं, बल्कि जो महत्त्वपूर्ण बातें हैं, जिन्हें याद रखना आवश्यक है, वे भी विस्मृत हो जाएँगी। फल यह होगा कि अच्छी चीजें, आवश्यक बाते आप भूलते चले जाएगे और अनावश्यक गन्दी स्मृतियाँ दिमाग में भर जाएँगी। आखिर होगा यह कि जो आवश्यक स्मृति है वह नष्ट होती रहेगी, क्षीण पडती रहेगी और इस प्रकार जीवन मे विस्मरण का रोग पैदा हो जाएगा।

मैं बहुधा कहा करता हूँ कि खेती की तरह हमारी स्मृति मे भी काट छांट होती रहनी चाहिए। स्मृतियाँ घनी भूत नहीं होनी चाहिएँ, अनावश्यक स्मृति दिमाग का भार होती है, वह आवश्यक स्मृतियो को भी नष्ट कर डालती है।

बाग मे जब पेड पौधे लगाए जाते हैं तो हर एक वृक्ष की अलग अलग दूरी निश्चित होती है। छोटे वृक्ष पांच सात फुट की दूरी पर लगाते हैं तो सन्तरे जैसे बड़े वृक्ष बीस बाईस फुट की दूरी पर लगाये जाते हैं, आम जैसे विशालकाय वृक्ष काफी दूर-दूर लगाये जाते हैं। चतुर माली हर एक वृक्ष का गणित रखता है, हर पौधा एक दूसरे से कितनी दूरी पर लगाना चाहिए, इसका अनुभूत स्पष्ट ज्ञान उसे रहता है। यदि कोई अनाडी बागवान मिल जाये और एक दम पास-पास मे पेड पौधे लगा दे तो न तो उनका पूरा विकास हो सकेगा, न वे फल फूल सकेंगे। बौने रह जाएगे वे सब, एक दूसरे की छाया मे दबे रहने के कारण। पत्र, पुष्प, फल भी ज्यादा एव अच्छे नही लगेगे।

यदि आप जीवन के बाग को सुन्दर ढंग से लहलहाना चाहते हैं, पूर्ण रूप से फला फूला देखना चाहते हैं, तो उसमे स्मृतियो को विरल रखिए, एक दम घनीभूत मत होने दीजिए। उसमे आवश्यक अनावश्यक का विश्लेषण करते चलिए। जो आवश्यक है उन्हे सुरक्षित रखिए, जो सुन्दर स्मृतियाँ हैं, जीवन मे उपयोगी हैं, वे फलवान वृक्षो की तरह हैं, उन्हे खाद पानी देकर पुष्ट करते जाइए। और जो अनावश्यक, निरुपयोगी एव जीवन का विघटन करने वाली हैं, उन्हे बाग में उगे फालतू घास-पात की तरह काटते छाटते रहिए, उखाड़ते रहिए। तभी जीवन की फसल सुन्दर स्वस्थ और भरपूर मिलेगी।

जीवन मे जो स्मृतियां निर्माणकारी हैं, स्वयं के या संसार के उत्थान के लिए जिनका महत्व है, उन्हे अपने मस्तिष्क के बगीचे मे पल्लवित पुष्पित होने दीजिए। किन्तु इनके साथ साथ जीवन में जो गलत विचारो के बीज मनोभूमि पर घास पात की तरह उग आते हैं, उनको याद रखने से न आपका कुछ भला होने वाला है, न समाज और न देश का ही। अतः उन्हें तुरन्त भुला दीजिए, उखाड़ फेंकिए। नही तो जो उपयोगी और आवश्यक स्मृतियां हैं, उनकी भी प्रगति, उनका भी उचित विकास अवरुद्ध हो जायेगा, फिर यह बगीचा न रह कर काटो का जगल बन जाएगा। इसलिए मैंने आपसे कहा कि याद रखना है तो किसी की ओर से की गई सेवा याद रखना, किसी को कष्ट दिया हो तो याद रखना, किसी का कुछ उधार बाकी ले रखा हो तो याद रखना, अपने दुष्कृत्य एव भूलें भी याद रखना। जब तक कि भूलो का प्रायश्चित्त न हो, पश्चात्ताप न हो, तब तक उन्हें याद रखना है।

और यदि आपने किसी की सेवा की हो, किसी को कुछ दान दिया हो, भलाई की हो, तो उसे भूल जाइए। सत्कर्म की स्मृति प्रेरणा लेने के लिए है, अहंकार करने के लिए नही। यदि सत्कर्म की स्मृति प्रेरणा न देकर अहकार जगाती है तो उसे भी भूल जाना ही श्रेयस्कर है। यदि किसी दूसरे से अपमान आदि के रूप में अपनी बुराई हो गई हो तो उसे भी भूल जाना चाहिए। मतलब यह है कि जीवन मे जो दूसरो की भलाई आपने की हैं और जो बुराई दूसरो ने आपके साथ की है, उसे भुला देना ही सच्ची स्मृतिकला है, जीवन की कला है। जो बुराई आपने किसी के साथ की है या किसी दूसरे ने

आपके साथ भलाई की है, उसे याद रखना स्मृति का उपयोगी तत्त्व है। इस प्रकार की स्मृति से जहाँ आपके मन में सेवा और सद्भाव की जागृति होगी, वहां विस्मृति से अहकार और प्रतिशोध की भावना समाप्त होती चली जाएगी। जीवन के बाग मे रसदार वृक्ष एवं पौधो का विकास होता चला जाएगा और निरुपयोगी घास फूस का विनाश भी होता रहेगा।

दु ख की विस्मृति सुख का स्वरूप है

प्रतिक्रमण क्या है ? बार-बार 'तस्स मिच्छामि दुक्कड' का उच्चारण क्यो किया जाता है ? इसीलिए तो कि जीवन मे जो भूलें होती हैं, असावधानी से जो कूड़ा कचरा भर जाता है, वे मन को गन्दा किए रखते हैं, अतः उन्हें साफ कर दिया जाना चाहिए। प्रतिक्रमण, भूलो की शुद्धि है ! किंतु मनुष्य का मन कितना विचित्र है कि जो भूले अदर ही अन्दर मन को घुलाती जाती हैं, आदमी जिनकी पीडा से छटपटाता रहता है, वह उन्हें निकाल कर बाहर फेंक नही सकता।

महाभारत मे एक जगह पूछा गया है कि दुःख मन को सदा काटता रहता है, कचोटता रहता है, इसे कैसे मिटाएँ ? दुःख को मिटाने की औषधि क्या है ? तो कहा गया है कि दु ख को मिटाने की एक ही दवा ससार मे बनी है, दूसरी कोई दवा नही है, जिस से मन का दुःख शान्त हो सके। वह दवा क्या है—एतद् दुःखस्य भैषज्यं तदेतन् नानुचिन्तयेत्'—दु ख की दवा है, दुःख का विचार मन मे न आने देना। बस, इसके सिवाय और कोई दवा नही है। जब तक दुःख मनुष्य की स्मृति भरा रहेगा, तब तक मन से छन-छन कर जीवन में दुःख आता ही रहेगा। जब कभी उसकी स्मृति होगी, अन्तर मे विह्वलता छा जाएगी, आखें भर आएँगी, और हृदय फटने लग जाएगा।

मुझे इस प्रसग पर दो बहनो की घटना याद आरही है। एक बार एक बहन दर्शन करने आई, कुछ और बहनें भी बैठी थी। बातचीत के सिलसिले मे किसी के पुत्र के विवाह की बात चली तो वह बहन सुबक-सुबक कर रोने लगी। बहुत देर तक मैं देखता

रहा,—उसके आंसू नही सूखे, भीतर ही भीतर जैसे घुलती जारही थी। मैंने उससे पूछा कि बात क्या है ? तो बताया उसने कि मेरा इकलौता लड़का था, आज बीस साल होगए उसे जीवन समाप्त किए, पर जब भी किसी के लडके की बात चलती है तो मुझे उसकी याद आजाती हैं और हृदय फटने लग जाता है। न किसी के पुत्र-जन्म की खुशी मे मैं जाकर खुश हो सकती हूँ, न किसी के विवाह-शादी पर जाकर ही अपना हर्ष व्यक्त कर सकती हूँ। जब कभी कोई ऐसा सुखद प्रसंग मामने आता है तो आसू बहने लग जाते हैं। पुत्र की याद मे मैं घुली जा रही हूँ, बीस साल से यही हाल है।

मैंने उसे समझाया बहन इस प्रकार घुलने से तो तुम्हारा दुःख कम नही हो सकता। जो बात असंभव है, जाने के बाद आजतक कोई लौट कर आया नही, उसकी चिन्ता और याद करके अपना जीवन दुःखमय बनाने से क्या लाभ है ? उसे भुला दो, और तुम्हारे परिवार के या पास पडौस के जो पुत्र हैं, उन्हें ही अपने पुत्र के रूप मे देखो।

बात यह है कि वह बहन बीस साल से दुःख भोग रही है, रोती रहती है। पुत्र जो चला गया वह लौट कर नही आएगा, यह भी जानती है। एक दिन सभी को यहा से प्रस्थान करना है, यह उपदेश भी सुन चुकी है। किंतु फिर भी उसकी व्यथा हलकी नहो हो रही है, क्योंकि स्मृति मे वह पुत्र-दुःख को सजोए बैठी है। जब तक मस्तिष्क से दुःख की स्मृति समाप्त नही हो जाएगी, तब तक वह ऐसे ही घुलती चली जाएगी। दुःख की विस्मृति किए बिना दुःख समाप्त नही होता।

दूसरी एक घटना है—राजस्थान में बीकानेर प्रदेश की। हम बीकानेर (भीनासर) साधु सम्मेलन के लिए बिहार करते हुए एक गाँव मे गए। जैनेतर बस्ती थी, दुपहर में कुछ बहने उपदेश सुनने को आई। एक बहन, जो अभी जवान थी, बहुत अच्छी धर्म चर्चा करने लगी। वैदिक धर्म की बहुत अच्छी जानकारी थी उसे। वेदान्त की चर्चा भी उसने की। बात चली तो मैंने कहा—बहन, तुम्हारा अध्ययन एव धार्मिक रुचि देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। हा, तो बस इतना कहते ही पास बैठी उसकी वृद्धा मां रो पडी।

बोली—"महाराज ! विचारी ने कुछ नही देखा। पाच वर्ष होगए, दुःख पड़े को। हीरे सा दामाद था, अकाल ही विछोहा दे गया"—और वह फिर सुबक-सुबक कर रोने लगी।

बेटी हँसकर बोली—"महाराज, मा कहती हैं—दुःख पड़ गया। पर मैं तो कहती हूँ कि दुःख क्या, सुख पड़ गया। पहले मैं इस घेरे मे ऐसी कैद थी कि आज आप से इतनी ज्ञान-चर्चा कर सकी हूँ, वह कभी नही कर सकती थी। हिम्मत भी नही थी, किसी से बात करने की। 'घर की चिड़िया घर के घोसले मे।' मैं तो उस दुःख को भाग्य की बात मानकर भूल गई, पर यह मां मुझे बार-बार याद दिलाती रहती है। इसे कहो कि यह उसकी चर्चा न करे, जो हुआ उसे भूल जाए। अब बीती बात पर रोने से कुछ लाभ ?"

मैंने वृद्धा माता को समझाया—"बहन ! तू यह चर्चा क्यो करती है ? जो बात बीत गई, उसे अब व्यर्थ में ही याद करके अपने और दूसरे के घावो को हरा करने से क्या फायदा ? दुःख की चर्चा करने से दुःख का विस्तार होता है, वह बढ़ता जाता है, आसू पैदा करता जाता है। उसे भुला देना ही उचित।

पुरानी लीक पीटते न चलो

कुछ लोग, जो किसी जमाने में धनी-अमीर रह चुके हैं, अब समय की ठोकरें खाकर बर्बाद हो गए हैं, आज दुर्भाग्य उनका साथी बन गया है। पर, वे आज भी अपनी अमीरी को भूले नही हैं, उसे बरकरार रखना चाहते हैं, उसी की लाश सिर पर उठाये चले जा रहे हैं। आज उन्हे दुःख है, पीडा है, तो इसी कारण से हैं कि अमीरी के संस्कार और स्वप्न अभी दिमाग से साफ नही हुए हैं। जीवन की नब्बे प्रतिशत समस्याएँ इसी कारण उलझी हुई हैं। यदि वे समय के साथ जीना शुरू कर दें, तो समस्या का समाधान हो सकता है। विचित्र बात तो यह है कि वर्तमान का मनुष्य अतीत में जी रहा है। पुराने संस्कार, रीति रिवाज, संकल्प और स्वप्न आज भी उसकी स्मृतियो में अतीत का नशा बनकर छाए हुए हैं। वर्तमान की समस्याओ को अतीत के प्रकाश मे देखने की कोशिश करता है, फल यह होता है कि समस्या का समाधान मिलता नही है, पीड़ा का

मायाजाल टूटता नहीं है। अतीत को वर्तमान में लाने की क्षमता नही है और वर्तमान को ठीक ढग से अपनाया नही जा रहा है, वर्तमान को वर्तमान मे जी नहीं रहा है। इसलिए लडखडाता चल रहा है, वेदना और पीडा से व्यथित होकर दु ख का भार लिए चल रहा है।

एक घर मे देखा मैंने कि लडकी की उम्र २५-२६ साल से ऊपर हो गई है, फिर भी पिता अभी तक उसकी शादी नही कर रहा था। घर मे उसे कैद कर रखा था। बाहर कहीं आना जाना नही। यहाँ तक कि निकट की रिस्तेदारी में भी नही। समाज में भी नहीं, धर्मोपदेश श्रवण के लिए धर्मस्थानक मे भी नही। विचारी घुट रही थी—भीतर ही भीतर। लोगो ने उसे समझाया कि भले आदमी शादी क्यो नही कर देता? उसने बड़े दर्प से कहा—शादी होगी तो वैसी होगी, जैसी मेरे बाप दादो ने की थी। नही, तो होगी नही। चाहे घर मे बैठी बैठी बुढ़िया हो जाए, मर भी क्यों न जाए?

आज साधारण स्थिति है उसकी। अब वैसी सपत्ति नही है, जैसी बाप दादों के पास थी। पर, बाप के उस अतीत गौरव सम्बन्धी हठ और मूर्खता का दुष्परिणाम, सन्तानो को भोगना पड़ रहा है। वह अपनी पुरानी ऐंठ आज भी कायम रखना चाहता है। समय बदल गया, पर वह नही बदल रहा है। बाप दादे जैसी स्थिति आज हो नही सकती और लड़की तब तक कुंवारी घर में बैठी रहेगी। न नौ मण तेल होगा और न राधा नाचेगी। बाप को अतीत की स्मृतियां तग कर रही हैं। और उसके कारण लडकी का जीवन नरक हो रहा है। पुरानी स्मृति को भुलाने से ही समस्या का हल हो सकता है।

समाज मे ऐसी एक नही, हजारो समस्याएं सुलग रही हैं, जगह जगह विद्रोह विस्फोट हो रहे है। परिवार और समाज की शृ खलाए आज टूट रही हैं, इसीलिए कि नया चिन्तन इस पुरानेपन के व्यामोह को बर्दाश्त नही कर सकता! कोई विद्रोह अन्दर मे सुलगता है और कोई बाहर मे फूट पडता है। युवको के जीवन के साथ मा बाप अपने पुराने खानदानी बधनो को, जो आज निर्माल्य होगए हैं, मजबूत करने की चेष्टा करते हैं उसी ढग से, जिस ढग से कि उनके माता पिता ने किया था। वे वर्तमान के जीवन को नही देखे

रहे हैं, अभी तक उसी बीते अतीत में ही भटक रहे हैं। इस प्रकार वर्तमान और अतीत का सघर्ष हो रहा है, चिनगारियां उछल रही हैं, और समाज की एकता, प्रेम और विश्वास की कड़ियाँ टूटती जा रही हैं। जीवन पगु बनता चला जा रहा है।

प्रथम अजमेर सम्मेलन के समय विहार करते हुए हम एक गांव मे गए। एक घर मे भिक्षा के लिए साधु गये तो बहनो ने कहलाया—कि बड़े महाराज से कहना, दर्शन देने की कृपा करे। साधु ने कहा कि तुम स्वयं दर्शन कर लो, महाराज को यहाँ क्यो बुलाती हो? बहनो ने बताया कि महाराज ! हमारे पर्दा है, हम बाहर नही निकल सकती। बाहर जाएँ तो बादी (नौकरानी) साथ में होनी चाहिए। अब बादी है नही, इसलिए हमारा बाहर जाना भी नही हो सकता है।

पूर्वजो की स्थिति ऐसी थी कि वे दस-बीस बादियां रख सकते थे, आज एक बादी रखने की भी स्थिति नही है। फिर भी उस लीक को पीटते चले जा रहे हैं। परिस्थिति मे परिवर्तन हो गया तो प्रवृत्ति में परिवर्तन क्यो नही किया जाए? स्थिति सदा एकसी नही रह सकती, तो तदनुसार व्यवहार सदा एक जैसा कैसे रखा जा सकता है? आज बादी नही है, तो उन बहनो का साधु दर्शन भी बद हो गया। यह निरी अर्थहीन दासता है, पुरानेपन की। विचारों में आज भी अमीरी के शाही स्वप्न छाए हुए हैं और वे ही उन्हे जकड़े हुए हैं।

बात यह है कि अतीत में पूर्वजों ने जो कुछ किया है, क्या वह सब इतना ही किया है, जिसे आज आप प्राणपण से सुरक्षित रख रहे हैं। जीवन मे उन्होने अनेक सत्कर्म भी तो किए थे, दान पुण्य भी किए थे। खेद है, आज आप उनके सत्कर्मों को तो भूल गए हैं। सिर्फ उनकी कुछ रुढ़ियो को ही ढो रहे हैं, जो बिल्कुल निष्प्राण और मुर्दा हैं।

नए संकल्प जगाएँ

●

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि आज जो धनाढ्य हैं, बंगले और कार जिनके पास हैं, मिलें और कारखाने चल रहे हैं, वे किसी समय मे बहुत गरीब रहे थे। दरिद्रता मे उनका जन्म हुआ

था, पालन पोषण हुआ था, आज प्रारब्ध ने उन्हे सुखी समृद्ध बना दिया है। पर मनोवृत्ति आज भी उसी गरीबी की पाई जाती है। गरीबी की स्मृतियो ने आज भी उनका पिंड नही छोड़ा है। समाज की सेवा का, हित का कोई प्रसग आता है तो आज भी अपनी गरीबी को याद किए चलते हैं—"हमारे पास क्या है ? हम तो गरीब हैं, कोई पुराने साहूकार थोडे ही हैं, हम क्या कर सकते हैं ?" अभिप्राय यह है कि लाखो के बगले मे बैठ कर भी आज वही झोपडो की याद लिए बैठे हैं, अमीर होकर भी गरीबी की भाषा बोलते है। चाहे अपनी कजूसी छिपाने के लिए बोलें या स्वभाववश ! पर उनकी स्मृतियो से गरीबी के सस्कार घुले नही हैं।

जब स्थिति बदल जाती है तो स्मृति भी बदल देनी चाहिए। यदि मस्तिष्क मे इसी प्रकार पुरानी स्मृतियो को लिए चलते रहे तो जीवन मे कही सफल नही हो सकेंगे। बुद्धि की खिडकियाँ हमेशा खुली रहनी चाहिएँ, ताकि नया ज्ञान, नया चिन्तन और नई अनुभूतियाँ उचित प्रवेश पा सके।

मैं यह नही कहता कि सभी पुरानी स्मृतियाँ खो देनी चाहिएँ, फिर तो मस्तिष्क शून्य हो जाएगा, जीवन-निस्तेज हो जाएगा। मेरा सिर्फ इतना ही कहना है कि उनका विश्लेषण करना चाहिए, जो पुरानी स्मृतियाँ उपयोगी हैं, जीवन मे निर्माणकारी हैं, जीवन और जगत् के लिए जिनका महत्व है, उन्हे सभाल कर सुरक्षित रखना चाहिए, और जो निरुपयोगी हो गई हैं, निष्प्राण-मुर्दा बन गई हैं, आज केवल कूडा-कचरा मात्र बन कर रह गई हैं, उन्हे मस्तिष्क में रख कर उसे कूड़ा कचरा भरने वाली रद्दी की टोकरी नही बनाना चाहिए। मस्तिष्क सोने का पात्र है, तो इसमें सद्विचारो का, पवित्र और शुभ सकल्पो का जवाहरात सजाना चाहिए, जो आपके जीवन को बहुमूल्य बनाएगा और यथा प्रसग सुख समद्धि की ओर ले जाएगा।

●

उपाध्याय अमर मुनि

संस्कार छिपते नहीं

एक बार यतिराज आचार्य शीलगुण सूरि गुजरात मे विहार कर रहे थे। सूने जगल मे 'वण' नामक वृक्ष पर झोली मे लटकते हुए एक बालक को देखा। बालक के कुछ अद्भुत लक्षण देखकर आचार्य ने इधर उधर उसकी मा का पता लगाना चाहा, कुछ दूर झाडियो मे एक सुन्दरी लकडियाँ चुन रही थी। आचार्य उसके पास आये।

सुन्दरी ने श्रद्धा से गद्गद होकर आचार्य को प्रणाम किया। आचार्य ने पूछा—"क्यो बहन, यह भाग्यशाली पुत्र तुम्हारा है ?"

"हा, महाराज ! चापोत्कट वश का यही दीपक है।"

"....और फिर यह अवस्था ?" आचार्य ने आश्चर्य के साथ कहा।

"समय है, महाराज ! समय के दुर्दम प्रवाह को कोई कैसे रोक सकता है। राजधानी पर शत्रुओ का आक्रमण हुआ, राजा जी वीर गति को प्राप्त हो गए, और मैं उनकी निशानी के लिए प्राण छिपाए वन वन भटक रही हूँ।"

"तो यह बालक हमे दे दो, जानती हो, इसका पालन पोषण इधर अच्छी तरह होगा।" आचार्य बालक के अद्भुत लक्षणो पर भविष्य के सपने सजो रहे थे।

सुन्दरी दो क्षण स्तब्ध खडी रही, फिर कुछ सोचकर उसने पुत्र को आचार्य के हाथो मे सोप दिया।

आचार्य प्रसन्न हुए बालक को लेकर। एक सद्गृहस्थ श्रावक के यहां उसके पालन-पोषण की व्यवस्था कर दी गई। उसका नाम 'वनराज' रखा गया। वन मे जन्मा था, वन मे मिला था, इसलिए वनराज ! वनराज, अर्थात् वन का राजा सिह हो गया।

वनराज आठ वर्ष का हो गया। आचार्य ने उसे देव पूजा के द्रव्यो को चूहो से बचाने का काम सोपा। वनराज चूहो को भगाता, चूहे फिर खाने की लालच से आ जाते। फिर भाग जाते। आखिर वनराज उबल पड़ा, उसने एक छोटा-सा धनुष बनाया, अपने हाथो से बास की एक खप्पच का एक नुकीला बाण बनाया, और अब चूहों से देवद्रव्य की रक्षा करने को सन्नद्ध हो गया। जो भी चूहा आता, उसी को बाण से बीधने लगा। आचार्य ने देखा तो स्तब्ध !—अरे ! यह क्या ?

"हानि पहुँचाने वाले दुष्टो को तो दण्ड से ही साधना चाहिए, गुरु देव ! प्रकृतिदुष्ट ऐसे कैसे मान सकते हैं ?"—वनराज के अन्दर का क्षत्रियत्त्व दृढ़ स्वर मे बोल उठा।

आचार्य स्तम्भित से, चकित से दो क्षण उसकी तेजस्वी मुख मुद्रा की ओर देखते रहे—"अभी से यह तेज ! यह साहस ! यह पौरुष !"

आचार्य चिन्तन सागर की गहराई मे उतर गए। आखिर उन्होने अतिम निर्णय किया—"यह बालक साधुओ की छाया मे रहने वाला नही, युद्ध भूमि मे दहाड़ने वाला है। सहज शक्ति को विकसित होने के लिए उसे मुक्त अवसर मिलना चाहिए।" आचार्य ने वनराज को पुन उसकी मा को सोप दिया।

एक दिन वनराज, वनराज चावड़ा के नाम से सुप्रसिद्ध गुजरात का प्रतापी राजा हो गया। उसने अपने अदम्य पुरुषार्थ के बल से कुछ नही मे से सब कुछ की उपलब्धि की। वनराज चावडा के प्रचण्ड शौर्य की अद्भुत गाथाएँ, आज भी गर्वीले गुजरात की गर्वीली जनता के मुक्त कंठो से गाई जा रही हैं। आचार्य शीलगुण सूरी के द्वारा किया गया मानव के सहज सस्कारो का अध्ययन शत प्रतिशत सही निकला।

—प्रबधचिन्तामणि १। पृ० १५

? प्रश्न आपके

उत्तर कवि श्री जी के....

महामुनि गजसुकुमार के मोक्ष प्राप्त करने मे सोमिल निमित्त बनता है, परन्तु वह बहुत दुष्ट स्वभाव का व्यक्ति है। भगवान् नेमि ने उसकी तुलना वासुदेव श्री कृष्ण के उस सहयोग से कैसे की, जो उन्होने एक वृद्ध को ई ट उठाने मे करुणार्द्र हो कर सहयोग एव सहायता प्रदान की थी। और यह कैसे कहा कि कृष्ण तुम उस पुरुष पर क्रोध न करो, वह तो गजसुकुमार को मोक्ष के लिए सहायता देने वाला है। मस्तक पर दहकते अगारे रखने जैसे क्रूर एव जघन्य कार्य करने वाले को सहायक, वह भी कृष्ण जैसा सहायक कहना, कैसे सगत हो सकता है ? तो क्या सोमिल नीच गति मे नही गया ?

—चपालाल बांठिया (भीनासर) बीकानेर

भगवान् अरिष्टनेमि का उत्तर वस्तुत स्वय उनके अपने आन्तिरिक अनन्त अहिसा केन्द्र से दिया गया उत्तर है, साथ ही गजसुकुमार की आत्मलीन साधना का उत्तर है। अहिसामूर्ति श्री अरिष्टनेमि की ओर से इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उत्तर हो ही नही सकता था। भगवान् वीतराग है, उनकी आत्मा राग से परे है, उनके यहाँ शत्रु और मित्र जैसी न कोई द्वैत भावना है, न भापा है। जन साधारण जिसे सताने वाला शत्रु कहता है, वह भी भगवान् की दृष्टि मे एक भटका हुआ आत्मा है। भगवान् की अनन्त मैत्री उसके प्रति भी वैसी ही है, जैसी और जितनी कि सेवा शुश्रूषा करने वाले स्नेहस्निग्ध सेवक के प्रति है। भगवान् सर्वभूतात्मभूत हैं, विश्वात्मा है। वे सब को समत्व भाव से देखते हैं, यह निर्वैरता की सर्वोच्च स्थिति है। 'सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइ पस्सओ।' 'वासीचदणकप्पो।'

दूसरी ओर जिनके सम्बन्ध में उत्तर दिया गया है, वह क्षमा मूर्ति गजसुकुमार हैं। गजसुकुमार के साधना केन्द्र से भी इससे भिन्न दूसरा उत्तर और क्या हो सकता था? गजसुकुमार जीवन और मृत्यु की परिकल्पना से परे हो गया है। और जीवन की सुरक्षा के भयाकुल विकल्पो से मुक्त एक साधक का समाधान, यही तो हो सकता है। इस समाधान मे जन्म, जीवन और मरण के पारगामी साधक की द्वैतातीत भावदशा का निर्मल प्रतिबिम्ब है।

अविनाशी स्वस्वरूप का अज्ञान एव अविवेक ही, मृत्यु के भय का कारण है। यही चिन्ता का स्रोत है। विनाशी शरीर के केन्द्र पर से तो भय का भाव फूटेगा ही। गजसुकुमार शरीर के स्तर से ऊपर उठ कर अजर, अमर, अविनाशी चैतन्य के केन्द्र पर पहुँच गए थे, शरीर के दु ख की प्रतीति भी उनकी अनुभूति मे नही रही थी। दु.ख और कष्ट को समभाव से सहन करने की बात हम कहते हैं। परन्तु गजसुकुमार के अन्तर मे, "दु:ख है और मैं उसे समभाव से सहन करूँ"—ऐसा कुछ विकल्प था ही नही। दु ख का और जिसको सहन करने का विकल्प जब तक बना रहता है, तब तक आत्मलीनता पूर्णता पर पहुँच नही सकती है। और जब तक आत्म-लीनता पूर्णता पर न पहुँचे, तब तक कैवल्य कैसे हो सकता है? प्रारम्भ में ऐसा कुछ विकल्प हुआ हो तो हुआ हो, परन्तु जैसे जैसे गजसुकुमार आत्मलीनता की गहराई मे गहरे और गहरे प्रविष्ट होते गए, वैसे वैसे दु खानु भृति और उसे समभाव से सहन करने का विकल्प क्षीण होता गया। समभाव सहज हो गया, उसमे से दु ख सहन करने का विकल्पांश क्षीण हो गया। आत्मद्रष्टा के समक्ष जीवन और मृत्यु जैसे कुछ प्रश्न रहते ही नही। और जब यह आत्मज्ञता की द्वन्द्वातीत भूमिका प्राप्त हो जाती है तो फिर दु ख देने वाला, मृत्यु को सामने उपस्थित करने वाला जैसा कोई रहता ही नही। उसकी दृष्टि मे जो है, वह सम है। वह मानता नहीं, अपितु जानता है कि ज्ञाता द्रष्टा, आत्मा की मृत्यु कभी है ही नहीं। वह जन्म, जीवन और मरण के विकल्पो की भूमिका को लांघ जाता है—"जीवियासामरणभय विप्पमुक्के, "—'नत्थि जीवस्स नासोत्ति।" जो साधक चैतन्य के इस परम तथ्य एवं परम रहस्य को जान लेता है, वह बन्धनो से मुक्त हो जाता है। स्वानुभूति के क्षणो

मे बाह्य जगत से प्रभावित और पीडा के भार से विमुक्त गजसुकुमार की आन्तरिक अखण्ड आनन्द सगीति और शान्ति को सोमिल का उपक्रम एक अणु भर भी नही तोड सका है। सोमिल की बाह्य क्रिया गजसुकुमार की आन्तरिक क्रिया को सर्वांश मे अस्वीकृत है. सोमिल के समग्र व्यवहार, दुर्व्यवहार एव प्रहार को गजसुकुमार ने केवल सरलता से, सजगता से और सहजता से शुद्ध द्रष्टा बन कर देखा हैं। इसी कारण गजसुकुमार के अन्तर से सोमिल की अशुभ क्रिया से भी कोई अशुभ प्रतिक्रिया नही हुई। आन्तरिक सहज सौन्दर्य बाहर मे कुरूपता पैदा कर ही कैसे सकता है? यही कारण है कि उसके लिए बाहर का अमगल निमित्त भी, मगल सिद्ध हुआ है। अन्तर्निष्ठ साधक के लिए ससार की प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थिति और निमित्त भी अनुकूल एव सहयोगी बन जाता है। विष भी अमृत हो जाता है, मार्ग मे पडा बाधक पत्थर भी उनके लिए सोपान बन जाता है। गजसुकुमार के लिए यही सब कुछ हुआ। इस का यह अर्थ नही कि सोमिल स्वय विष से अमृत हो गया, पत्थर से सोपान हो गया। सोमिल तो जैसा था, वैसा ही था, किन्तु गजसुकुमार की अपनी भावभूमिका मे वह बदल गया था। आखिर साधक का मूल्याकन अन्तर के उसके अपने भावो पर निर्भर है, बाहर मे नही। भगवान् अरिष्टनेमि का उत्तर इसी भाव भूमिका का उत्तर है। और यह उत्तर एक अरिष्टनेमि भगवान् का ही नही, अपितु अध्यात्म जगत् के अनन्तानन्त ज्ञाता द्रष्टाओ का उत्तर है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तर अध्यात्म केन्द्र से हो ही नहीं सकता है।

निमित्त अपने आप मे तटस्थ है। उसके हाथ मे प्रभुसत्ता की समग्रता नही है। वह जैसे तैसे खुद नाच सकता है, परन्तु यह नही कि अपने साथ वह सामने वाले को नचा ही दे। रोष और तोष का केन्द्र व्यक्ति स्वय है। व्यक्ति यदि स्वय अन्तर मे जागृत नही है, तो सुख दुःख के निमित्तो को हटाने या मिटाने पर भी आन्तरिक सुख दुःख को नही हटाया मिटाया जा सकता है। सुख दुःख का आधार बाह्य स्थिति पर उतना निर्भर नही है, जितना कि व्यक्ति की अपने अन्दर की मनः स्थिति पर निर्भर है। यही बात बाहर के शुभाशुभ निमित्तो के सम्बन्ध से है। बाहर मे अशुभ से अशुभ निमित्त भी

कभी साधक के अन्तर में शुभ एव शुभ हेतुक हो जाता है, और इसके विपरीत शुभ से शुभ निमित्त भी अन्तर्विमूढ आत्मा के लिए आत्म घाती अशुभ सिद्ध होता है। इतिहास साक्षी है कि तथागत बुद्ध कैसे निमित्त थे? शुभ थे न ? पर देवदत्त के लिए अशुभ हो गए, महाश्रमण महावीर कैसे निमित्त थे, परम शुभ ! परन्तु हुआ क्या? गौशालक के लिए वही परम अशुभ हो गए। एक दो क्या, अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं इस सदर्भ में। भारतीय चिन्तन तत्व को नही, अन्दर को महत्त्व देता है, निमित्त को नही; उपादान को शिखर चढाता है। निमित्त की गरिमा नही; उपादान की गरिमा है। उपादान अच्छा है तो बाहर का अशुभ भी साधक के लिए अन्दर मे शुभ हो जाता है, काँटा भी पुण्य बन जाता है।

गजसुकुमार अन्तर्दृष्टि के साधक हैं। सत्य को देखने की उनकी आपकी एक भिन्न ही दृष्टि है। भगवान् अरिष्टनेमि द्वारा कृष्ण को दिया गया उत्तर उसी दृष्टि का है। वे राजनीति के महापुरुष नही हैं, जो बदले की भाषा मे कुछ सोचते या कहते। वे आध्यात्मिक दृष्टि के महापुरुष हैं, उनके चरण समत्व योग के अन्तिम शिखर पर हैं। उनका यही एक उत्तर हो सकता था, जो उन्होंने दिया है। एक क्या, अन्त सत्य के दर्शन से जिस किसी को भी परम ज्ञान उपलब्ध हुआ है, उन सब का यही उत्तर रहा है, यही एक भाषा है। उन्होने ससार के विरोधी से विरोधी निमित्त को भी विरोध मे नही देखा है उनकी ऐसी कोई समस्या ही नही है। अपने आप मे पूर्ण विकसित गुलाब की तरह नुकीले काटो मे भी खिलना वे जानते हैं।

प्रश्न का दूसरा अश है—सोमिल और श्री कृष्ण की समानता कैसी ? अन्धकार और प्रकाश की तुलना ही क्या ? प्रश्न महत्त्व पूर्ण है। जहा तक अन्दर की भावना का प्रश्न है—दोनो दो विरोधी ध्रुव पर है। कृष्ण के अन्तस्तल मे करुणा का स्वच्छ शीतल प्रवाह बढता है, और इसके विपरीत सोमिल के भीतर प्रतिशोध की, वैर की आग भडक रही है। अत. भगवान् अरिष्टनेमि ने भावनात्मक दृष्टि से दोनो को समान नही कहा है। समानता एकागी है, सर्वांगीण नही, जिस बिन्दु पर समानता की बात कही है, वह है समय। वृद्ध का ईंट ढोने का कार्य दीर्घ काल साध्य था, कृष्ण के निमित्त से वह

अल्पकाल में शीघ्र ही संपन्न हो गया। इसी प्रकार गजसुकुमार को कर्मनिर्जरा का कार्य भी दीर्घकाल साध्य था, सोमिल के निमित्त से वह अल्प समय में शीघ्र ही पूर्ण हो गया। दोनो मे समानता केवल कार्य सपादन मे शीघ्रता हेतुक है, और कुछ नही। कृष्ण कृष्ण है, सोमिल सोमिल है। दोनो मे धरती और आसमान का अन्तर है। कृष्ण निमित्त बनते हैं तो पुण्यार्जन करते हैं, और सोमिल निमित्त बनता है तो पापार्जन करता है। अपने कार्यकेन्द्र से कृष्ण शुभ है तो सोमिल अशुभ है। सोमिल जैसा अशुभ वृत्ति और प्रवृत्ति वाला व्यक्ति नीच गति नही पाएगा, तो और कौन पाएगा ?

गति, अवगति एव प्रगति की हेतुकता दूसरे के लिए शुभाशुभ होने मे नही है, वह है स्वय के शुभाशुभ होने मे।
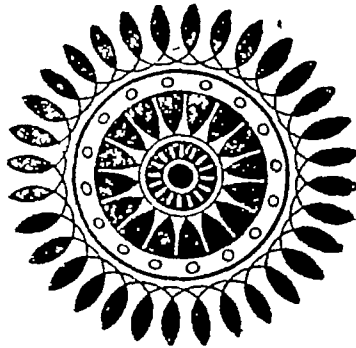
सन्मति ज्ञान पीठ के नये सम्मान्य सदस्य

(इस वर्ष सदा की भाँति श्री अमर भारती के सपादक श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' पर्युषण पर्व पर मद्रास प्रवास पर गए। सन्मति ज्ञान पीठ की बहुमुखी प्रकाशन योजना एव श्री अमर भारती के प्रति स्थानीय जैन समाज मे बहुत ही आकर्षण एव सद्भाव पूर्ण वातावरण मिला। मद्रास श्री सघ के स्थानीय कार्यकर्त्ता श्री सघ के मत्री श्री भवर लाल जी गोठी, श्री जवरचन्द जी गेलडा, श्री रतनचन्द जी चोरडिया, श्री पुखराज जी बाफना, श्री भँवरीमल जी चोरडिया एव श्री सागरमल जी पीचा आदि महानुभावो ने बडे ही उत्साह के साथ सुरानाजी का सहयोग करके उनके प्रवास ध्येय को सफल बनाया। एतदर्थ हम उन महानुभावो की हार्दिक सद्भावना के प्रति कृतज्ञ हैं। सदस्यो की सूची नीचे यथाक्रम प्रकाशित की जा रही है।

—व्यवस्थापक)

श्री अगरचन्द मानमल	प्रधान स्तभ
श्री इन्दरचन्द जी गेलडा	स्तभ
श्री अमोलकचन्द जी गेलडा चेरिट्रीज ट्रस्ट	,,
श्री खिवराज जी चोरडिया	,,
श्री सिरेमल जी हीराचन्द जी चोरडिया	,,
श्री गुमानमल जी चोरडिया	,,
श्री जवरचन्द जी गेलडा	,,
श्री सिमरथमल एण्ड सन्स	,,
श्री पुखराज जी बाफना	,,
श्री वचनमल गुलाबचन्द सुराना (बुलारम)	,,
श्री भँवरलाल जी गोठी	सरक्षक
श्री छगनलाल जी गोठी	,,
श्री भँवरीमल जी चोरडिया	,,
श्री जे० रतनचन्द जी बोहरा	,,
श्री के० हसराज जी बोथरा (मैलापुर)	,,
श्री पी० मोतीलाल जी चन्द्रशेखर जी नाहर	,,
श्री सागरमल जी पीचा	,,
श्री लालचन्द जी ज्ञानचन्द जी मरलेचा	,,
श्री अमरचन्द जी दुगड	आजीवन सदस्य
श्री एच० पारसमल कोठारी	,,
श्री जी० कनैयालाल जी साउकार	,,
श्री हेमराज जी सुराना	,,
श्री दुगड फाइनेन्स कपनी	,,
श्री आर० एस० मेहता	,,
श्री कल्याणमल कनकमल चोरडिया	,,
श्री अनराज जी पृथ्वीराज जी चोरडिया	,,
श्री जे० दुलीचन्द जी चोरडिया	,,
श्री जे० हुक्मीचन्द जी चोरडिया	,,
श्री जे० सायरचन्द जी चोरडिया	,,

Reg No L 2043

श्री जे० सायरमल जी चोरडिया	आजीवन सदस्य
श्री तिलोकचन्द जी चोरडिया	,,
श्री सुगनचन्द मोतीचन्द चोरडिया	,,
श्री अमरचन्द जी बोथरा	,,
श्री किशनलाल जी बेताला	,,
श्री सिंघवी ब्रदर्स	,,
श्री हेमराज शान्तिलाल सिंघवी (रायपेंठ)	,,
श्री मोहनलाल सम्पतराज	,,
श्री प्यारेलाल जी डागी	,,
श्री चपालाल जी प्रेमचन्द जी राका (पुदुपैठ)	,,
श्री जयवतमल जी चोरडिया (मैलापुर)	,,
श्री रावनमल मिम्बुमल (मैलापुर)	,,
श्री एच० चन्दनलाल मेहता चैरिट्रीज ट्रस्ट	,,
श्री रूपचन्द जी खिवेसरा	,,
श्री एस० मानिकचन्द पुखराज	,,
श्री जैन रत्न विद्यालय (भोपालगढ)	,,
(श्री रतनचन्द जी चोरडिया की तरफ से)	,,
श्री भारत फाइनेन्स कॉर्पोरेशन	,,
श्री कालूराम जी हस्तीमल जी मुथा (रायचूर)	,,
श्री केवलचन्द जी मोहनलाल जी (रायचूर)	,,

श्री अमर भारती के आजीवन सदस्य

१६५	श्री जी० कनैयालाल जी साउकार	आरकोनम
१६६	श्री चचलमल जी चोरडिया	शिरपुर, कागज नगर
१६७	श्री पी० एम० चोरडिया	मद्रास
१६८	श्री के० चुनीलाल प्रसन्नमल जी गादिया	चिगलपैठ
१६९	श्री हीराचन्द जी रतनचन्द जी	मद्रास
१७०	श्री वी० सी० बोहरा	राजमुदडी
१७१	श्री नेमीचन्द जैन	मद्रास
१७२	श्री रिधकरण जी बेताला	,,
१७३	श्री भारत फाइनेन्स कॉर्पोरेशन	,,
१७४	श्री दूगड फाइनेन्स कपनी	,,
१७५	श्री मदनचन्द देवराज दरडा	,,
१७६	श्री जुगराज जी कोठारी	,,
१७७	श्री प्यारेलाल जी डागी	,,
१७८	श्री केवलचन्द जी मोहनलाल जी	रायचूर

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२ की ओर से सोनाराम जैन द्वारा प्रकाशित
एव प्रेम प्रिंटिंग प्रेस द्वारा मुद्रित ।

श्री अमर भारती

मधुमय जीवन

जीवन का कण-कण मधुमय हो,
मधुरस क्षिति पर बरसाओ।
अन्दर में अपने प्रसुप्ततम,
भाव सुदिव्य जगाओ॥

★

—उपाध्याय अमर मुनि

नवम्बर १९५८

श्री सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

श्री अमर भारती

उपाध्याय कविरत्न श्री अमर मुनि जन्म दिवस-समारोह परिशिष्ट अंक के साथ

वर्ष ५ नवम्बर, १९६८ अंक ११

क्या... कहाँ

☆

प्रेरणा
श्री अखिलेश मुनि
मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

दिशा निर्देशक
श्री विजय मुनि 'शास्त्री'

सपादक :
श्रीचन्द सुराना 'सरस'
वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०

व्यवस्था :
रामधन बी० ए०, 'साहित्यरत्न'

प्रकाशक
सोनाराम जैन
मत्री
सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

मूल्य :
आजीवन : एक सौ एक रुपया
वार्षिक : आठ रुपया
एक प्रति : पचहत्तर पैसे

मुद्रक
प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा
आवरण :
प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

जं इच्छसि अप्पणतो,
जं च न इच्छसि अप्पणतो ।
तं इच्छ परस्स वि,
एत्तियगं जिणसासणयं ॥

—बृहत्कल्प भाष्य ४५८४

जो अपने लिए चाहते हो वह दूसरो के लिए भी चाहना चाहिए । जो अपने लिए नही चाहते, वह दूसरो के लिए भी नही चाहना चाहिए—बस, यही इतना जिनशासन है अर्थात् तीर्थंकरो के उपदेश का यही सार है ।

जं कल्लं कायव्वं,
णरेण अज्जेव तं वरं काउं ।
मच्चू अकलुणहिअओ,
न हु दीसइ आवयंतो वि ॥

—बृहत्कल्प भाष्य ४६७४

जो कर्तव्य कल करना है, वह कल पर न छोड कर आज ही कर लेना अच्छा है । (क्योंकि) काल—मृत्यु अत्यत निर्दय है, वह कब आजाए, कोई मालूम नही ।

तप जीवन की सर्वांगीण समुन्नति का सोपान है, जीवन का प्रत्येक आचरण जब तप के रूप में आचरित होगा, जीवन का प्रत्येक कर्म जब तप की दृष्टि से प्रेरित होगा, तब निश्चय ही हमारा जीवन तपस्वी जीवन होगा, हमारा हर क्षेत्र तपोभूमि होगा। तप के उस व्यापक व विराट् रूप का दर्शन करने के लिए पढ़िए तप की ये परिभाषाएँ— उपाध्याय श्री जी की भाषा में।

तप की परिभाषाएँ

जहाँ अहिंसा, संयम और तप है, वहीं धर्म है !
मन, वचन, शरीर से किसी को दुःख न देना, अहिंसा है !
भोग की लालसाओं को वश में रखना, संयम है !
मन की वासनाओं को भस्म करने का उद्योग, तप है !

× × ×

लालसाओं को भस्म करने वाली आध्यात्मिक अग्नि, यह तप है !
पूर्व कर्मों को जलाने वाली आध्यात्मिक अग्नि, यह तप है !

× × ×

उपवास, मिताहार, परिश्रम करके आहार करना, यह तप है !
शरीर को आरामतलब न बना कर सादगी से रहना, यह तप है !
गुरु-जनों की विनय भक्ति करना, सेवा करना, यह तप है !

× × ×

थोड़ा बोलने का अभ्यास करना, यह भी तप है !
विचार कर बोलने का अभ्यास करना, यह भी तप है !
दीन दुखी की सेवा, परोपकार करना, यह भी तप है !
अपनी भूलो को स्वीकार करना, यह भी तप है !
सदैव ज्ञानाभ्यास करना, ज्ञान की वृद्धि करना, यह तप है !
भगवत्स्वरूप का ध्यान चिन्तन करना, यह तप है !

★

उपाध्याय अमर मुनि

विजेता की हार क्यों ?

आत्मा की शक्ति बहुत बडी शक्ति है। भौतिक क्षेत्र मे मनुष्य ने जो उन्नति और प्रगति की है, प्रकृति पर विजय प्राप्त करने मे जो अपूर्व सफलता प्राप्त की है, वह आत्मा की प्रचण्ड शक्ति का एक उज्ज्वल प्रमाण है। मानव ने जल पर विजय प्राप्त की है, अगाध समुद्रो की तूफानी लहरो पर निर्भय तैरता चला जा रहा है, स्थल पर उसने अपना शासन जमा लिया है, तीव्र गति से चलने वाली ट्रेन और मोटरकार आदि वाहन सुबह से शाम तक कही से कही पहुँचा देते हैं। अब आकाश पर भी वह विजय की मुहर लगाता हुआ आगे बढ रहा है। चन्द्रलोक तक अधिकार करने की योजनाएँ चल रही है। परमाणु का पता लगाकर तो उसने शक्ति का एक अक्षय-भडार ही अपने अधिकार मे कर लिया है, जिसके हजारो हजार चमत्कार आज मानव जगत् को आश्चर्यचकित कर रहे हैं। विराट भौतिक शक्तिया आज मनुष्य की मुट्ठी मे बन्द है, जो उसकी अनन्त शक्तियो के अक्षय भण्डार पर हमे विश्वास दिला रही हैं। मानव आत्मा मे अनन्त शक्ति के स्रोत छिपे हुए है, जिनके बारे मे आज हम जानते हुए भी अनजान बने हुए हैं।

बात यह है कि मनुष्य ने भौतिक शक्तियो पर तो विजय अवश्य प्राप्त की है, किन्तु वह अपने ही घर मे पराजित होता रहा है। बाहर मे विजय दुन्दुभि बजाने वाला अपने घर के केन्द्र मे दासता की बेडिया पहने बैठा है, यह कितनी बड़ी आश्चर्य की बात है। उसके घर से मेरा अभिप्राय है—शरीर, इन्द्रिया और मन। मन के केन्द्र मे जो तरगें उठ रही हैं, हिलोरे उछल रही हैं और इच्छाएँ भडक रही हैं, मनुष्य उनके सामने पालतू कुत्ते की तरह दुम हिलाता रहा है। ससार के बड़े से बड़े पराक्रमशाली विजेता, जिनकी धाक से भूमडल कापता था, वे भी इच्छाओ के सामने घुटने टेककर बैठ गए। वासनाओ के सामने पराजित हो गए। रावण का बल और पौरुष कितना प्रचड और कितना दुर्द्धर्ष था, किन्तु हम देखते है कि वह भी मन की

एक हलकी तरग के ऊपर, वासना की एक छोटी-सी हिलोर पर काबू नही पा सका, और उसके बहाव मे बहकर सर्वनाश के सागर मे जा गिरता है, अपना सर्वनाश कर बैठता है, और सिर्फ अपना ही नही, समूची राक्षस जाति का गौरव मिट्टी मे मिला देता है। आज भी हजारो लाखो वर्षो के बाद ससार प्रतिवर्ष उसके पुतले जलाता है। छोटे-छोटे दूध मुहे बच्चे, जिन्हे कपड़े पहनने तक का भी अभी सऊर नही है, रामलीला मे दशहरे के समय पर वे भी कहते है—चलो, आज रावण को मारेगे। रावण को मारने का पता तो तब लगता, जब वह जीवित था। श्री राम लक्ष्मण जैसो के पसीने छूट गये थे। मगर बात यह है कि मनुष्य जब अपने आप से हार जाता है, अपने घर मे पराजित हो जाता है, तो उसकी प्रचड शक्ति भी ससार मे उसे विजयी नही बना सकती।

संसार अप से हारता रहा है

●

यह एक केवल कहने की बात है कि अमुक व्यक्ति ने अमुक व्यक्ति को हरा दिया, अमुक जाति ने अमुक जाति पर विजय प्राप्त करली। वास्तविकता यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी से पराजित नही हो सकता, कोई भी जाति और कोई भी देश किसी अन्य जाति या देश से हार नही खा सकता। ससार का इतिहास साक्षी है कि जो भी जाति, देश और समाज पराजित हुआ है वह अपनी ही दुर्बलताओ के के कारण हुआ है। स्वय की कमजोरियो के घुन भीतर ही भीतर खा खा कर जब उसे खोखला कर डालते हैं, तो फिर किसी भी सकट के एक हलके से झोके से ही वह भूमिसात् हो जाता है। उसमे मूल कमजोरी उसकी अपनी ही छिपी रहती है।

भारतवर्ष का इतिहास उठाकर देखिए—जब तक भारत वर्ष मे तप और त्याग की प्रबलता रही है. इच्छाओ पर अधिकार करने की शक्ति रही है, यहा के राजा और प्रजा जब तक स्वय पर नियत्रण करने के अभ्यासी रहे है, तब तक वह ससार के सामने गौरव से सिर उठाए खडा रहा। ससार की अनेक दुर्दान्त जातियो के एक के बाद एक क्रूर आक्रमण भी होते रहे है, पर वह किसी के समक्ष झुका नही, अपना गौरवमडित भाल कभी नीचा नही होने दिया, जब तक उसके भीतर शक्ति का स्रोत बहता रहा, उत्साह, शौर्य और आत्म-सयम का ओज उसकी नसो मे भरा रहा, तब तक वह

अपने बल, अपनी शक्ति और अपने ज्ञान एव विवेक के बल पर ससार का 'गुरु' बना रहा। ससार को अपने ज्ञान और चरित्र की प्रेरणाओ से शिक्षा देता रहा। इसी विराट् शक्ति पर सात्त्विक गर्व करते हुए मनु ने कहा था—

"एतद्देशप्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मनः।
स्व स्व चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवाः।"

भारत देश मे जन्म लेने वाले मानव संसार के अन्य मनुष्यो को ज्ञान और चरित्र की शिक्षा देते रहे है, उन्हे जीवन का तत्त्व समझाते रहे है।

मैं समझता हूँ, मनु की यह उक्ति कोई दर्पोक्ति नही थी, बल्कि भारतीय जीवन की सच्ची तस्वीर थी। ससार के दूर दूर देशो तक भारत की निर्मल ख्याति फैली हुई थी, जिससे आकर्षित होकर अनेक विदेशी दुर्गम पहाडो, घाटियो, और नदी नालो को लाघकर यहाँ पर शिक्षा प्राप्त करने आते रहे है। ज्ञान की एक दिव्य ज्योति यहाँ प्रज्वलित हो रही थी, उससे समागत यात्री अपना ज्ञान दीप जलाकर अपने अपने देशो मे भी वह ज्योति ले गये। फाहियान ह्युएनसाग आदि विदेशी पर्यटको के विवरण आज भी भारत की उस गौरवमयी परम्परा का चित्र प्रस्तुत कर रहे है।

किंतु जब से भारतीय समाज, धर्म तथा जाति के अन्दर पारस्परिक सघर्ष, वैमनस्य एव एक दूसरे पर शासन करने की भावनाओ ने जन्म लिया, दूसरो की प्रतिष्ठा गिराकर अपनी प्रतिष्ठा बढाने का घुन लगा, तब से वह अन्दर ही अन्दर खोखली होती चली गई। तप, त्याग और सेवा का तेज उसके भीतर से लुप्त होता गया। हम देखते हैं—तब से भारतीय समाज और जातियाँ शौर्य, पराक्रम, वैभव, कला, ज्ञान आदि प्रत्येक क्षेत्र मे निरन्तर क्षीण होती गई, और एक दिन विदेशी शक्तियो के सामने पराजित होकर दीन बन गई। महमूद गजनवी जब भारत मे आया, तब भारत मे भी उसका जसा चाहिए था, उचित प्रतिरोध नही हुआ। कुछ राज्यो ने उसका मुकाबला किया, तो कुछ अपने ही देश के वासी उसके स्वागत में खड़े हो गये। इस पारस्परिक विग्रह का परिणाम यह होता है कि वह मजे से खैबर दर्रे को पार करके वीर भूमि पजाब, राजस्थान आदि को चीरता हुआ सारे देश के बीचोबीच होकर सोमनाथ के मन्दिर तक पहुँच जाता है। वहाँ मनचाही सपत्ति लूट कर, ऊँटो पर बहु-

मूल्य मणि-मुक्ता जवाहरात लादे, भारत की धरती को रोंदता हुआ फिर अपने देश चला जाता है। ऐसा लगता है—जैसे देश के सभी क्षत्रिय वीर सो गए है, और मानो, सूने जगल मे जगली भैंसा वन-राजि को रोदता हुआ मजे से घूम रहा है, कोई उसे ललकारने वाला भी न रहा है, ऐसी स्थिति उस समय भारत की हो चली थी। इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि भारत देश, जो किसी समय ससार का गुरु कहलाता था, मध्यकाल में किस प्रकार विदेशी आक्रान्ताओ के हाथो पराजित होकर अपना गौरव खो चुका। और इसका कारण क्या रहा है? आने वाले लाखो नही आये थे, कुछ हजार आदमी ही आये होगे? तो क्या उन हजारो आदमियो का मुकाबला करने की शक्ति इस विशाल देश के करोडो सपूतो में नही रही थी? बात यह है कि अपनी आन्तरिक फूट, वैमनष्य, ईर्ष्या आदि के कारण भारतीय समाज भीतर मे खण्ड खण्ड हो चुका था। उसका साहस और मनोबल मिट चुका था, और उसका लाभ उठाया कुछ विदेशियो ने। वे मुट्ठीभर आदमी इस विशाल देश के स्वामी बन बैठे और जो देश के स्वामी थे, वे उनके गुलाम हो गए।

मालिक नौकर से हार रहा है

●

मैं आपसे कह रहा था कि मनुष्य अपने ही केन्द्र मे हारता रहा है। वह अपने मन की दुर्बलताओ के समक्ष दास बनता रहा है। भारतीय दर्शन कहता है कि मनुष्य तू किधर बहक रहा है? अपनी इच्छाओ के बहाव मे मत वह! उनको अपने बहाव मे ले चल! तू उनका निर्माता है, स्वामी है। यह मन तेरा है, तूने ही इसका निर्माण किया है, तेरे ही सकल्पो से इसका जन्म हुआ है, तेरी ही वृत्तियो के कारण यह ससार निर्मित हुआ है। तू इसका अधिष्ठाता है। आश्चर्य है—तूने जिस महल का निर्माण किया, उसमे स्वय ही कैद होता चला जा रहा है। यह क्या बात है? कैसी विडम्बना है, यह कि तू अपने ही शरीर का, इन्द्रियो का, मन का, इच्छाओ का, विकल्पो का दास बनता जा रहा है।

कल्पना कीजिए, मालिक बाज़ार मे से निकलता है, और उसके अपने ही नौकर उसे ठोकरे मारे, भरे बाजार मे उसके सिर पर जूते लगाएँ तो मालिक के लिए कितनी बड़ी शर्म की बात है? दूसरो से अपमानित होना एक बात है, किंतु जब मनुष्य अपने ही

आदमियो से, अपने ही नौकरो से अपमानित हो, तो उसके लिए इससे बडी शर्म की और क्या बात हो सकती है ?

आपने स्वयं ही अपने मन और इन्द्रियो का निर्माण किया है, आप इनके स्वामी हैं, मालिक हैं। जब ससार के भरे बाजार मे ये आपके सिर पर जूते मार रहे हैं, ठोकरे लगा रहे हैं, तो आपके लिए इससे बढ कर दुर्भाग्य और पराजय की क्या बात होगी ? इसका तो मतलब यह हुआ कि मालिक अपने गुलामो का गुलाम बन रहा है। स्वामी दासानुदास हो रहा है।

मनुष्य आज प्रकृति पर अधिकार कर रहा है, पृथ्वी तत्त्व पर, जल तत्त्व पर, अग्नि तत्त्व पर एव वायु तत्त्व पर वह अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा है, इसका मतलब है कि उसके भीतर मे शक्ति का अपार भण्डार तो भरा है, फिर भी वह पराजत क्यो होता जा रहा है ?

इसका कारण है कि वह भीतर मे अपने को, अपनी शक्ति को देख नहीं रहा है। वह सिर्फ बाहर मे उलझा है। प्रकृति पर हो उसकी नजर जा रही है, भौतिक शक्ति और समृद्धि पर ही उसका लक्ष्य टिक गया है। इसलिए वह प्रकृति से सघर्ष करता है, अपने पडोसियों से सघर्ष करता है, अपनी इच्छाओ की पूर्ति में जो बाधा बन कर खड़ा होता है उसे ही जड से समाप्त कर देने पर तुला हुआ है। मनुष्य की इस मूढता को समाप्त करने के लिए ही भगवान महावीर ने कहा था—

> अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
> अप्पाणमेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

मनुष्य तू बाहर मे युद्ध कर रहा है, रणक्षेत्र मे योद्धाओ का खून बहा रहा है, इसका अर्थ क्या है ? अपने ऐश्वर्य के लिए, सुन्दर स्त्रियो के लिए, यश और प्रतिष्ठा के लिए लाखो मनुष्यो के प्राणो से खेल रहा है, यही तेरी बुद्धिमानी है ? शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए मचल रहा है, पर सोच, वास्तव मे तेरा शत्रु है कौन ? तेरे शत्रु तेरे भीतर मे छिपे हैं, उनसे युद्ध कर, सघर्ष का ब्रिगुल बजा और टूट पड उन पर ! तू अपने शत्रुओ के पजे मे तो फंसता जा रहा है, उनकी दासता स्वीकार करता जा रहा है और अपने आपको वीर, योद्धा घोषित करने के स्वप्न देख रहा है ? तू आखो की दासता मे जकड़ा जा रहा है, कानो की गुलामी के फदे मे फसा है,

जीभ का दास बना बैठा है, मन और इन्द्रियो के बन्धन मे कैद हो रहा है और फिर भी अपने को वीर घोषित करने की अकड़ लिए बैठा है ?

क्षत्रियत्व जगाओ

क्रोध का थोडा सा प्रसग आया, कि तुम उसमे बह गये, अपने आप को भूल गये, उसे रोक नही सके । प्रतिरोध नही कर सके, क्रोध को दबा नही सके, यही दुर्बलता है । क्रोध तुम्हारा शत्रु है, शत्रु पर शासन करना सीखो । वाहरी शत्रुओ पर नही, अपने ही अन्तरंग शत्रुओ पर । शासन करना मनुष्य का एक स्वभाव है, अधिकार करने की भावना उसमे वहुत प्रवल होती है, पर वह अधिकार दूसरो पर नही, अपने आप पर होना चाहिए । क्षत्रियत्व का अश प्रत्येक व्यक्ति मे रहता है । शौर्य और पराक्रम की भावनाएँ, अधिकार और शासन की भावनाए, यह क्षात्र भाव है । यह नही कि क्षत्रिय ही क्षत्रिय होता है, हर मनुष्य क्षत्रिय होता है, हर मनुष्य ब्राह्मण होता है । हमारे मे जो ज्ञान व विवेक का अश है, वह ब्राह्मणत्त्व है । हमारी समझदारी ब्राह्मण धर्म है तो हमारी कर्मठता, वीरता, अधिकार की भावना क्षत्रिय धर्म है ।

भगवान महावीर के वारे मे जो हम यह कथा कहते हैं कि उन्होने पहले ब्राह्मण के घर मे जन्म लिया और वाद मे क्षत्रिय के घर मे । इसका परम्परागत ऐतिहासिक अर्थ तो जो है, उसे तो हम सब जानते ही हैं । मैं एक दार्शनिक भाव का अर्थ करता हूँ । रूढ शब्दार्थ के साथ भाव सत्य को समझने का प्रयत्न करे, तो हमे उक्त कथा संदर्भ का यह भाव भी समझना चाहिए कि उनका पहला जन्म ब्राह्मणत्त्व का अर्थात् ज्ञान का है । ज्ञानी और विवेकी के रूप मे उनका पहला जन्म होता है । जव ज्ञान की ज्योति जीवन मे जल उठती है, सत्य का प्रकाश फैल जाता है, तव फिर वे क्षत्रियत्त्व की ओर बढते है । तव उनका जन्म क्षत्रियत्त्व का होता है । अपनी इच्छाओ से युद्ध करते है और अन्त मे उन पर विजय प्राप्त कर के अपने क्षात्र धर्म को उजागर करते हुए दिखाई देते है ।

मैं कहता हूँ, यह परम सत्य आप समझले कि ज्ञान और कर्म का समन्वय ही जीवन को आगे वढ़ाना है, उन्नति की ओर अग्रसर

करता है। हमारे जीवन मे पहले ब्राह्मणत्त्व आयेगा, तो हम स्वय को पहचान लेंगे, अपनी शक्तियो को जान लेगे। किसके साथ हमे सघर्ष करना है, हमारा निशाना कहा होगा, यह सब जानकारी हो जाने के बाद फिर क्षत्रियत्त्व को जगाना होगा। इच्छाओ और वासनाओ के साथ द्वन्द्व, सघर्ष करना होगा और अपने आप पर अपना नियन्त्रण, अनुशासन स्थापित करना होगा।

अभावों की लड़ाई

मनुष्य मे दूसरो पर अनुशासन करने की जो वृत्ति है, उससे सघर्ष का जन्म होता है। रगड से चिनगारिया उछलती हैं, टक्कर से आग पैदा होती है। जब तक मनुष्य अपने आप पर शासन नही कर लेता, तब तक उसे बाहर मे शासन स्थापित करने मे सफलता कैसे मिलेगी ? जब तक अपनी वृत्तिया नियन्त्रित नही होती, तब तक सघर्ष पैदा होता रहेगा।

बात यह है कि ससार के जितने भी पदार्थ है वे सब सीमित है। वास्तव मे ससार मे जो लडाई चल रही है, वह अभावो की लडाई है, वस्तुओ की कमी की लड़ाई है। भोग की जितनी सामग्री है, वस्तुए हैं, उनकी एक सीमा है। ससार की प्रत्येक वस्तु का परिमाण है, सख्या है। किन्तु मन की वृत्तियो की कोई सीमा नही है। अत मन की वासनाओ के इस अतल अधगर्त को यदि जगत की भौतिक वस्तुए डालकर भरना चाहे, तो कैसे भर सकते हैं ?

कल्पना करिए—आख है, इसमे रूप डालते जाएँ। एक रूप देखा, पर, तृप्ति नही हुई, सौ रूप देखे, हजार रूप देखे और लाख रूप भी देख लिए तो क्या आप को लगेगा कि बस बहुत देख लिया, अब कभी नही देखना चाहिए। नही, ऐसा नही हो रहा है। इतना होने पर भी परितृप्ति की भावना आप के हृदय मे नही उठती। जीवन भर सुन्दर से सुन्दर रूप देखते चले जाने पर भी आखो की तृप्ति नही होती। यह तृप्ति तभी हो सकती है, जब अन्दर की आख खुल जाए, वस्तु का भौतिक स्वरूप समझ मे आ जाए, और मन की वासना पर नियन्त्रण हो जाए।

यही बात कान के सम्बन्ध मे है। प्रिय और मधुर शब्द रोज सुनते चले जाइए, अपनी प्रशसा के हजारो शब्दो से कान भरते रहिए, और एक दो दिन नही, वर्षों तक ! तो, क्या आपका मन तृप्त होगा कि बस अपनी प्रशसा बहुत सुन ली ! अब नही सुनेंगे, अब तो अपनी निन्दा सुनेंगे। बीस वर्ष तक प्रशसा के शब्द कहने वाला यदि एक शब्द निन्दा का कह गया तो बस सारा गुड-गोबर हो गया। एक अप्रिय एव कटु शब्द भी आप सुन नही सकते, और जीवन भर प्रिय एव मधुर शब्द सुनते सुनते अघाते नही, उससे तृप्ति नही होती। तृप्ति तभी हो सकेगी, जब विवेक जागृत होगा और इच्छानुसार ज्ञान की लगाम लग जाएगी।

अन्य इन्द्रियो के सम्बन्ध मे भी यही तथ्य हमारे सामने आता है कि उनके द्वारा गन्ध, स्वाद, स्पर्श आदि का जीवन भर अनुभव करते हुए भी हमारा मन उनसे भरता नही, तृप्ति नही होती, प्यास ! एक अमिट प्यास बनी रहती है।

इच्छा और आवश्यकता

●

अक्सर दो बाते हमारे समक्ष आती रहती हैं। पहली है—आवश्यकता और दूसरी है इच्छा ! यदि जरा-सा चिन्तन करने का कष्ट करेंगे, तो यह समझते देर नही लगेगी कि दोनो मे बहुत अतर है, गहरा अन्तर है। आवश्यकता एक अलग चीज है, इच्छा एक अलग !

भूख लगती है, भोजन चाहिए—यह आवश्यकता है। हलुआ चाहिए, रवडी या रसगुल्ला चाहिए, तभी मन प्रसन्न हो सकता है—यह आवश्यकता नही, इच्छा है। रोटी के विना काम नही चलता, भूखे पेट श्रम नही हो सकता—**"भूखे भजन न होय गोपाला"** इसलिए पेट भरना जरूरी है, आवश्यक है। यह पेट दाल रोटी से भी भरा जा सकता है और रवडी मलाई से भी। पेट भरा और मन शान्त हुआ, यह तो आवश्यकता की पूर्ति हो गई। अव यदि रवडी न मिले, तो मन वेचैन हो उठे, उसके विना न आनन्द है, न शान्ति है, यह आवश्यकता नही, इच्छा है।

किसी किसी को पात्र (वर्तन) की भी बड़ी सनक होती है। भोज़न के लिए चादी का या स्टील का थाल चाहिए। एक सज्जन को मैंने देखा कि वे कही भी जाते, तो चादी का थाल साथ मे ले जाते, उसी में भोजन करते। खाने को रोटी ही खाई जायेगी, थाल नही खाया जायेगा। पर, रोटी तो साथ मे नही रखते, थाल ही अपने साथ रखते है। यह भी मनुष्य की एक इच्छा है। जब सही भूख लगती है तो वह न बासी रोटी देखती है और न फूटी थाली देखती है। पत्तल मे, या केले के पत्ते मे, और तो क्या हाथ मे भी खाया जा सकता है, पर सच्ची भूख न हो, नकली भूख हो, जिसे हम इच्छा कहते हैं, तो वह पत्तल आदि पर खाने से कैसे तृप्त हो सकती है ?

मैंने उडीसा मे देखा कि वहा के लोग बहुत ही सीधे सादे जीवन के आदी हैं। एक हडिया मे चावल पका लिया, साथ मे नमक मिला दिया, और बस, पत्तल मे या केले के पत्तो मे लेते गये और खाते गये। मनुष्य अपनी आवश्यकता को कैसे भी पूरी कर सकता है, पर इच्छा पूरी होना बहुत कठिन है।

आपके लिए जब थाल लगे, तो उसमे चार साग होने चाहिए, दो चार मिठाइया होनी चाहिएँ, नमकीन होना चाहिए, आचार, मुरब्बा, चटनी और जाने क्या क्या होना चाहिए। मैं समझता हूँ, यह पेट की भूख मिटाने के लिए नही होता, किन्तु अपने अहकार की भूख मिटाने के लिए, यह सब होता है। वासना और इच्छा की शान्ति के लिए यह उपक्रम होता है, पर वह तो इनसे शान्त थोड़े ही होती है, अपितु और अधिक उद्दीप्त हो उठती है।

देश की सपत्ति आज आवश्यकतापूर्ति के लिए उतनी बर्बाद नही हो रही है, जितनी मनुष्य की इच्छा पूर्त्ति के लिए हो रही है। बढिया से बढिया बहुमूल्य सुन्दर प्रसाधनसामग्री आवश्यकता के लिए है, या इच्छा, अहकार और वासना के लिए ?

देश मे आज हर तरफ अभावो का सघर्ष है। वह इसी आधार पर है कि कुछ व्यक्ति अपनी वासना और इच्छाओ की पूर्ति के लिए ससार की वस्तुए बटोर रहे है, उन्हे बर्बाद कर रहे है, तो कुछ भूख प्यास से तडपते हुए मर रहे हैं। वासना की आग मे बड़े बड़े साम्राज्य

होम दिए गए, चक्रवर्तियो का वैभव उसमे डाल दिया गया, फिर भी वह तृप्त नही हुई। समुद्र मे चाहे कितनी ही नदिया आती रहे, क्या वह कभी कहेगा कि बस, अब रहने दो, बहुत पानी हो गया। उसमे तो नदिया गिरती जाएगी और विलीन होती जाएगी, वह एक क्षण के लिए भी कभी किसी को नही रोकेगा। यही हाल मनुष्य की इच्छाओ का है। मन का यह महासमुद्र कभी नही भर सकता, इस मे चाहे जितना वैभव, ऐश्वर्य डाल दिया जाए, फिर भी वह तो हाय हाय करता ही रहेगा।

इसलिए मै कह रहा था कि मनुष्य आज अपनी वासनाओ और इच्छाओ के सामन हारता जा रहा है। उनकी गुलामी के पजे मे गहरा जकडता जा रहा है। प्रकृति पर विजय करने वाला मनुष्य अपनी वासनाओ के समक्ष दास बना हुआ है, और उनके इशारो पर जीवन मे बन्दर की तरह नाच रहा है, बगूले की तरह लक्ष्यहीन भटक रहा है।

मनुष्य जब तक अपनी इस दासता को नही समझेगा, इन इच्छाओ की जजीरो को नही तोड़ेगा, तब तक उसके हृदय में सच्ची शान्ति और सच्चे सुख की तरगें नही उमड सकती। जीवन मे आनन्द और परितृप्ति की अनुभूतिया नही जग सकती। और जब जीवन जी कर भी आनन्द नही पा सके, इधर उधर दौड धूप करके भी सुख न पा सकें, तो फिर जीवन जीना ही क्या हुआ ? पशु के और मनुष्य के जीवन मे फिर क्या भेद हुआ ? पशु के और मनुष्य के जीवन मे फिर क्या अन्तर रहेगा ? अन्तर तो यही है कि जहा पशु पराधीन और कष्ट-मय जीवन गुजारता है, वहा मनुष्य हसता हुआ, आनन्द बिखेरता हुआ जीता है। जिधर भी जाता है बस हँसी खुशी और आनन्द बाटता चला जाता है। इस आनन्दमय जीवन के लिए अपने आप पर, अपनी इच्छा पर नियन्त्रण करना सीखे, मन पर शासन करना सीखे, बस यही आनन्द और सुख का मूल मत्र है।

●

महामंत्री शकडाल

उपाध्याय अमर मुनि

पाटलिपुत्र मे जिस समय नवम नन्द का राज्य था; उस समय कल्पकवशीय मत्री श्रीवत्स राजा का महामात्य था। महामात्य श्रीवत्स अपने द्वितीय नाम 'शकडाल' से ही प्रख्यात थे। शकडाल के दो पुत्र थे—स्थूलिभद्र और श्रियक। स्थूलिभद्र बचपन से ही विरक्त और ससार से उदासीन से रहते। मदभरी जवानी मे भी भोग विलास की रगीनी उनके जीवन को नही छू सकी। दिन रात अन्तश्चिन्तन मे लीन, चुपचाप, गुमसुम ! न कही आना, न कही जाना। न कुछ करना, न कुछ सुनना। यौवन मे वैराग्य, किसी योगी का भूषण हो सकता है, किंतु गृहस्थ के लिए तो वह अभिशाप ही माना जाता रहा है। स्थूलिभद्र की यह उदासीनता महामात्य के लिए सिर दर्द बन गई। महामन्त्री जब देखो तब यही सोचते रहते, विचारते रहते कि–"जब तक उसके जीवन मे स्फूर्ति, चहल-पहल, सासारिक दक्षता, व्यवहारपटुता, महत्वाकाक्षा और बोलने चालने का सुन्दर सरस आकर्षक ढग न हो, वह महामात्य के पद की गौरवमयी परम्परा को कैसे अक्षुण्ण रख सकेगा ? "शकडाल को यही चिन्ता दिन रात कचोटती रहती। आखिर महामात्य ने विचार करके स्थूलिभद्र को ससार की सभी कलाओ मे निपुण, अथच सुदक्ष बनाने के लिए मगध की तत्कालीन महान् नर्तकी अनिद्य सुन्दरी कोशा की छाया मे भेजा।

उन्ही दिनो पाटलिपुत्र मे वररुचि नाम का एक ब्राह्मण विद्वान रहता था। सरस्वती उस पर प्रसन्न थी, किन्तु वह बड़ा अहकारी और दम्भी था। वह प्रतिदिन राजा नन्द के सामने सभा मे सस्कृत के एक सौ आठ श्लोक बनाकर उसकी स्तुति किया करता। राजा उसकी विद्वत्ता पर मुग्ध हो उठता, प्रशसा की धारा मे बह जाता,

किन्तु जव भी वह वररुचि को 'प्रीतिदान' देने की इच्छा से महामात्य की ओर देखता, तो उनकी अनिच्छा एव अरुचि देखकर सकोच कर जाता ।

वररुचि से महामात्य की उदासीनता छिपी नही रही । वह महामात्य को प्रसन्न करने के उपाय सोचने लगा । एकदिन अवसर पाकर वह महामात्य की पत्नी के निकट पहुँचा । पुरुष से स्त्री अधिक भावुक, उदार और सवेदनशील होती है । वररुचि ने मत्री की पत्नी पर अपनी विद्वत्ता की छाप जमाली । अपनी व्यथा सुनाते हुए उसने कहा—"यदि महामात्य थोडा-सा भी सकेत कर दे तो राजा नन्द मेरे पर धन की बरसा कर सकते है, और मै दरिद्रता की पीडाओ से मुक्त हो सकता हूँ ।"

मत्री की भावनाशील पत्नी ने उसे आश्वासन दिया कि "वह अवश्य ही महामात्य को प्रसन्न करके तुम्हारे लिए, प्रशसा के दो शब्द, राजा के सन्मुख कहलायेगी ।"

वररुचि अपना पासा सीधा पडता देखकर वहुत प्रसन्न हुआ । मत्री महोदय की पत्नी की सज्जनता और गुण ग्राहकता की मुक्तकठ से प्रशसा करके उसने अपना काम बना लिया ।

अब महामत्री से उनकी पत्नी रोज-ब-रोज इस बात की चर्चा करने लगी कि "आप वररुचि जैसे योग्य विद्वान की प्रशसा क्यो नही कर रहे हैं ? गुणी का समादर और अभिनदन तो होना ही चाहिए न ? यह तो हमारी उदारता का परिचय है । किसी के वास्तविक गुण पर भी चुप रहना, मन की क्षुद्रता और असहिष्णुता का द्योतक है । आप इतने महान् नीतिज्ञ होकर भी अपने धर्म का पालन नही कर रहे हैं, स्वामी !"

महामत्री पत्नी की सरल बाते सुनकर हस पडते । आखिर उन्होने कहा—"प्रिये ! तुम नही जानती, वररुचि विद्वान अवश्य है, पर उसकी विद्वत्ता का सबसे बडा दोष अहकार है, जो फूल मे काटे की तरह उसके साथ लगा हुआ है । वह भद्र जनता को अपनी विद्वत्ता की ओट मे भ्रान्त बनाता है, सर्वसाधारण में दम्भ और मिथ्याचार फैलाता है, इसीलिए मैं उसको प्रोत्साहन नही देता । मेरी प्रशसा उसके अहकार को उत्तेजित कर सकती है, दम्भ की [illegible]क बन सकती है ।"

"किसी के दम्भ और मिथ्याचार से आपको क्या लेना देना है ? विचारा दरिद्रता की चक्की मे पिस रहा है, यदि आप प्रशंसा के दो शब्द कह दे तो उसका भला हो जाएगा, इसमे आपकी और जनता की कौनसी हानि होने वाली है ? टकेभर की जीभ हिलाने से किसी का भला होता हो, तो अवश्य कर देना चाहिए और कुछ नही, तो करुणा की दृष्टि से ही आपको वररुचि की विद्वत्ता की प्रशसा करनी चाहिए।"

पत्नी के बार-बार के आग्रह पर आखिर महामत्री शकडाल पिघल गये। एक दिन राज सभा मे वररुचि के श्लोक पढने पर महामात्य ने मद हास्य के साथ एक बहुत छोटा सा अर्थगम्भीर शब्द कह दिया—'सुन्दर !' बस, मत्री के द्वारा प्रशसा सुनते ही राजा नद ने एक सौ आठ श्लोको के बदले मे एक सौ आठ स्वर्ण मुद्राएँ पुरस्कार मे दे डाली। वररुचि बाग-बाग हो उठा। अब वह प्रतिदिन एक-सौ आठ श्लोक सुनाता और बदले मे उतनी हीं स्वर्ण मुद्राए पुरस्कार मे प्राप्त कर लेता। थोड़े ही दिनो में उसका रग जम गया। सरस्वती उस पर प्रसन्न थी ही, अब लक्ष्मी भी प्रसन्न हो गयी। बस, अब फिर क्या था, ज्ञान का अहकार दीप्त हो उठा। करेला और नीम चढा ! अब क्या था प्रचुर धन एव राज्य सम्मान पाकर वह जनता मे अपना झूठा दम्भ फैलाने लग गया।

इधर प्रतिदिन एक सौ आठ स्वर्ण मुद्राए निरर्थक लुटती देखकर मत्री शकडाल ने सोचा—यह ठीक नही हो रहा है, प्रजा के हित के लिए सचित किया गया राजकोष व्यर्थ ही खाली होता जा रहा है, और उधर वररुचि राजा की उदारता का दुरुपयोग कर रहा है। महामात्य ने अवसर देखकर एक दिन एकान्त मे राजा नन्द से कहा—"महाराज ! आप वररुचि को निरर्थक ही राजकोष लुटा रहे हैं ?"

"नही मन्त्रिवर ! ऐसा तो कुछ नही ! वररुचि वहुत विद्वान है। प्रतिदिन एक सौ आठ नवीन श्लोक रचना करके लाता है। यह क्या कुछ कम अद्भुत है। विद्वान का सम्मान तो करना ही चाहिए न ? यह तो हमारा वशानुगत राज धर्म है।"

"महाराज ! यह हमारी आखो मे धूल झोकने की चेष्टा करता

है। नवीन नही, वल्कि पुराने ही श्लोक रटकर आता है और हमे अपनी नवीन रचना वता देता है। यह साहित्य का चोर है।"

"अच्छा ..? आपने कैसे जाना, ये श्लोक पुराने है ?"—राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा।

"महाराज! यह जो श्लोक बोलता है, वे सव मेरी यक्षा, यक्षदत्ता आदि सातो पुत्रियो को पहले से कण्ठस्थ है। आप सुनना चाहे, तो विलम्व क्या, कल ही इसकी परीक्षा हो जाए।"

"अवश्य!"—राजा ने उत्सुकता के साथ कहा।

दूसरे दिन राज सभा मे एक ओर यवनिका डाल दी गई, उसके भीतर महामत्री शकडाल की सातो पुत्रिया आकर वैठ गई। इधर वररुचि आया, और सदा की भाति गुरुगंभीर स्वर से एक सौ आठ श्लोक बोले।

महामत्री ने एक अर्थ पूर्ण दृष्टि से वररुचि की ओर देखा—"पडित जी! कहिए, ये श्लोक किस की रचना है? कव के बनाये हुए है?"

अपनी आशु-प्रतिभा बुद्धि का उपहास होता देख कर वररुचि का अहकार तिलमिला उठा—"मत्रीवर! इतने दिन हो गए, अभी तक आपको पता नही चला कि ये श्लोक नवीन है या प्राचीन! मै जो भी श्लोक यहाँ बोलता हूँ, वे सव सर्वथा नवीन और स्वनिर्मित होते है। पहले से नही, तत्काल यही पर बनाता जाता हूँ और बोलता जाता हूँ।"

"असत्य! विल्कुल असत्य!—"महामात्य ने गर्ज कर कहा—"वररुचि! तुमने जो आज श्लोक कहे है, वे सव प्राचीन है, किसी अन्य विद्वान के वनाये हुए है।"

"महामात्य! क्षमा करे, आप बिल्कुल सफेद झूठ कह रहे हैं! आपके कथनानुसार ये किसी अन्य की रचना है, और प्राचीन है, तो इसका प्रमाण दीजिए।" वररुचि ने अहकार से मस्तक हिलाते हुए कुछ घूरते हुए कहा।

"प्रमाण प्रस्तुत है! मेरी यक्षा आदि सातो कन्याओ को ये श्लोक कण्ठस्थ हैं, वे अभी तुम्हारे समक्ष प्रस्तुत करेगी।"

सभा मे चारो ओर सन्नाटा छा गया। राजा चुपचाप बैठा इस विवाद की मध्यस्थता कर रहा था। मत्री शकडाल के सकेत से कुमारी यक्षा मच पर आई। मत्री ने पूछा—"क्यो बेटी! वररुचि ने जो श्लोक सुनाये है वे तुझे भी याद है?"

"हा पिताजी!"

"तो, सुनाओ बेटी!"

और उसने वररुचि के कहे हुए एक सौ आठ श्लोको की अस्खलित रूप मे ज्यो की त्यो आवृत्ति कर डाली।

वररुचि के हाथ पाव ढीले पड गए। मस्तक शून्य! आखे निस्तेज! और चेहरा फक! यह क्या हो गया?

मत्री शकडाल ने वररुचि की आत्म-विस्मृत आखो मे झाका। बोले—"वररुचि! यदि चाहो तो एक ही नही, सातो पुत्रिया सुना सकती हैं, सब को ये श्लोक याद है।"

'हूँ! सुनवाइए' .. वररुचि ने होठ काटते हुए कहा।

मत्री के सकेत से दूसरी कन्या यक्षदत्ता मच पर आई और उस ने भी सब के सब श्लोक ज्यो-के-त्यो दुहरा दिए। इस प्रकार क्रमशः सातो ही कन्याओ ने वररुचि के श्लोको को सुनाकर राजा और सभासदो को स्तब्ध कर दिया।

सभासद वररुचि के झूठे दभ पर छि छि कर उठे। राजा ने उसकी भर्त्सना की। वररुचि मन–ही–मन जलता हुआ मुह लटकाये अपने घर पर आ गया। महामत्री की चालाकी को वह समझ नही पा रहा था, पर इस अपमान पर उसका खून खौल गया। मत्री के प्रति रोष और प्रतिरोध की भावना ने उसके मन को सब ओर से घेर लिया।

वास्तव मे मत्री की सातो कन्याओ की स्मृति इतनी तीव्र और विलक्षण थी कि पहली को एकबार सुनते ही कठिन-से-कठिन पद्य याद हो जाते थे, दूसरी को दो बार मे, तीसरी को तीन बार मे और इस प्रकार क्रमश सातवी को सात बार मे। जो कुछ भी सुना जाता, उसका एक एक अक्षर कण्ठस्थ हो जाता था। मस्तिष्क क्या था, एक विचित्र कैमरा था, जिसमे पूरा–का पूरा–शब्दचित्र अकित हो

जाता था। किन्तु इस रहस्य को न राजा जानता था और न वररुचि। मत्री ने वररुचि के दम्भ को समाप्त करने के लिए ही यह योजना बनाई थी, वररुचि मत्री की रहस्यभरी योजना के जाल मे बुरी तरह उलझ गया।

वररुचि, वररुचि था। वह विना दभ के रह ही नही सकता था। अस्तु, कुछ दिन बाद उसने एक नया दम्भ फैलाया। वह प्रात काल सूर्योदय की स्वर्णिमवेला मे गगातट पर जाकर एक सौ आठ श्लोको से गगा की स्तुति करने लगा। एक-एक श्लोक बोलता जाता और एक-एक सीढी पर आगे बढता जाता। जैसे ही एक सौ आठ श्लोक पूरे करके पैरो को पानी मे डाल कर नमस्कार करने के लिए नीचे झुकता कि एक सौ आठ स्वर्ण-मुद्राए पानी मे से उछल कर उसके सामने बाहर आ गिरती।

जनता ने यह चमत्कार देखा तो चकित रह गई। गगा के किनारे रोज भीड जमा होने लगी। वररुचि के कविता पाठ पर गगा द्वारा दी जाती स्वर्ण-मुद्राए देखकर लोग उसकी असाधारण विद्वत्ता एव साधना पर बलि-बलि हो गए। वररुचि ने लोगो से कहा—"मेरी कविता पर गगा माता प्रसन्न है। राजा और मत्री अपनी कृपणता छिपाने के लिए मेरी वद्या का अपमान कर रहे है। किंतु गुणी और विद्वान को ससार मे कही आदर की कमी नही है। देखते हो, अब मुझ पर मानवी कृपा नही, तो दैवी कृपा है।"

मत्री शकडाल ने वररुचि के इस पाखण्ड की चर्चा सुनी तो गुप्तचरो द्वारा इस रहस्य का पता लगवाया। गुप्तचरो ने बताया कि—"वररुचि स्वय रात्रि मे गगा के तट पर जाकर पानी मे स्वर्ण मुद्राए एक यत्र मे रख देता है। यत्र इस ढग से बनवाया गया है कि पैरो से दबाते ही वह स्वर्ण मुद्राए उगल देता है।" मत्री के सकेत पर गुप्तचर वही छिपे रहे। वररुचि ने रात्रि के नीरव वातावरण मे चुपचाप आकर मुद्राए डाली, और इधर उधर देखकर लौट गया। गुप्तचर ने पीछे से मुद्राएँ निकाल कर मत्री के समक्ष लाकर रख दी।

दूसरे दिन राजा स्वय मत्री के साथ गगातट पर वररुचि का चमत्कार देखने के लिए आए। वररुचि का क्षुद्र मन आज बहुत

गर्वाया हुआ था। राजा और मत्री को छकाने के लिए आज वह श्लोको को और भी जोर से पढ रहा था। परन्तु वररुचि को क्या पता था कि महामत्री के बुद्धिचक्र से बचना आसान नही है। वररुचि ने श्लोक पढकर सदा की भाँति यत्र दबाया, पर स्वर्ण मुद्रा नही निकली। कुछ और जोर से दबाया, पर यत्र तो चर् चर् करके रह गया। वररुचि का मु ह सफेद पड गया। यह क्या हुआ ?

मत्री शकडाल जरा आगे बढकर सामने आए—"क्यो पडितजी ! मोहरे डालना भूल गए, या चोरी चली गई ?"

वररुचि का चेहरा फक् हो गया। वह मन ही मन भुनभुनाने लगा—"दुष्ट शकडाल की ही करतूत है यह ?"

शकडाल ने गभीर हसी के साथ कहा—"कोई बात नही, चिन्ता न कर ! गगा प्रसन्न न हुई तो क्या है ? महाराज नद आप पर प्रसन्न होकर यह थैली आपको दे रहे है, लीजिए। आप हा की यह वह थैली है, जो आप कल रात को इस यत्र मे डाल कर गए थे।"

भीड मे सन्नाटा छा गया। वररुचि को काटो तो खून नही ! उसकी नजर जमीन मे गडी थी, उसका ससार भूकम्प के धक्को से जैसे डोल उठा था।

महामत्री ने गगा मे से गुप्त यत्र को बाहर निकलवाया और राजा तथा प्रजा के समक्ष वररुचि की पाखण्ड-लीला को उघाड कर रख दिया। अब क्या था,—"इतना बडा विद्वान् और इतना बडा मायावी ! इतना बडा धूर्त !"—सबकी जबान पर यही एक तिरस्कार का स्वर था।

वररुचि के हृदय मे शकडाल के प्रति भयकर प्रतिशोध की आग भडक उठी। वह किसी भी प्रकार शकडाल का अस्तित्व समाप्त करने की सोचने लगा। कई षडयत्र रचे, पर वे समय से पहले फूट गये। आखिर शकडाल की एक दासी के साथ उसने साठ गाठ की। शकडाल के घर की प्रत्येक गुप्त बात, वररुचि के पास आने लगी। इधर वररुचि ने और सब कुछ छोड कर बच्चो को पढाना प्रारम्भ कर

दिया था। नगर के अनेक बालक उसकी शाला में आकर ज्ञानाभ्यास करने लगे।

एक दिन वररुचि को दासी ने बताया—"आजकल महामत्री के घर मे श्रियक के विवाह की जोरदार तैयारिया चल रही है। महाराज एव मगध के सभी सामन्त उपस्थित होगे। उन्हे भेट देने के लिए विशेष प्रकार के अस्त्र, शस्त्र, छत्र, आभूषण आदि तैयार किये जा रहे है।"

वररुचि को एक अच्छा अवसर हाथ लग गया। उसने घटना को तोड-मरोड कर जनता मे भ्रम फैलाना शुरू किया—

नंदराय नवि जाणई, ज शकडाल करेसि।
नंदराय मारि उ करी, सिरिय उ राज ठवेसि॥

—"नद राजा शकडाल के विश्वास मे बैठा है, उसे कुछ खबर नही है कि शकडाल क्या करने वाला है? किंतु यह राजा नद की हत्या करके अपने पुत्र श्रियक को सिंहासन पर बिठलाएगा।"

वररुचि ने बच्चो को यह पद्य सिखला दिया और मिठाई का प्रलोभन देकर घर-घर, गली-गली, कूचे-कूचे मे इसको प्रसारित कर दिया। बच्चे जहा देखो वहा यही गीत गाते फिरते थे। अब तो घर-घर मे शकडाल के राजद्रोह के षड्यत्र की चर्चाए होने लगी। शकडाल के दुश्मनो की बन आई। वे जगह जगह पर इस बात का जोरशोर से प्रचार करने लग गए। शकडाल के विरुद्ध राज्य कर्मचारियो के, राजा के निकट-सेवको के, कान भर दिये गये। बात ज्यो-ज्यों फैलती गई, उस पर नमक मिर्च लगते गये। लोगो ने राजा से निवेदन किया—"शकडाल के घर राजविद्रोह की जोर शोर से तैयारिया हो रही है, अनेक प्रकार के अस्त्र शस्त्र, आयुध निर्माण किये जा रहे है, दूर-दूर से सम्बन्धी एव मित्रो को आने का निमत्रण दिया जा रहा है।"

राजा ने गुप्तचरो को भेज कर पता लगवाया तो जन-प्रवाह बहुत कुछ सही निकला। श्रियक के विवाह की तैयारिया सयोगवश राज-विद्रोह की तैयारियां समझ ली गई। राजा का मन आशकाओ से भर उठा। चापलूसों ने राजा को और अधिक बरगला दिया।

महामत्री शकडाल के प्रति राजा के मन मे भयकर रोष और घृणा उमड पडी।

इधर सदा की भाति महामत्री प्रात. राजसभा मे आए। राजा को प्रणाम किया तो राजा के बदले हुए रग ढग देखकर वह दग रह गए। राजा की भौहे घृणा और क्रोध से तनी हुई थी। आखो मे खून बरस रहा था। लग रहा था, जैसे क्रोध की ज्वालाए धधक कर महामत्री के कुल-वश को भस्म कर डालेगी। मत्री शकडाल राजसभा मे कुछ क्षण रुके और राजा को प्रणाम करके तुरत घर लौट आए।

शकडाल के मन मे आशकाओ का भयकर तूफान मचल उठा। राजा के रोष का कारण समझते उन्हे देर नही लगी। राजा झूठे बहम का शिकार हो रहा था, पर सयोग और वातावरण ऐसा था कि वह सफेद झूठ भी बिल्कुल सच बन रहा था। मत्री को लगा—"राजा इस वहम के वश शीघ्र ही कोई अनर्थ कर बैठेगा। कही सारे परिवार को ही मौत के घाट न उतार दे?" उसे सूझ नही रहा था, वह क्या करे, कैसे इस स्थिति को सुलझाए?

शकडाल ने श्रियक को बुलाया। श्रियक ने आकर चरणस्पर्श-पूर्वक नमस्कार किया। देखा—कि पिता के सदा प्रसन्न चेहरे पर गभीर चिंता छा रही है, ठुड्डी पर हाथ धरे आज वह किसी विकट उलझन को सुलझाने मे लगे है। शकडाल ने श्रियक को पास मे बुला कर कहा—"बेटा, राजनीति बडी विकट है। भाग्य की तरह इसका किस समय क्या चक्र चलता है, कोई कह नही सकता। जिस घर मे तुम्हारे मगलविवाह की तैयारिया हो रही थी, उत्सव मनाया जा रहा था, उसे राजविद्रोह का अड्डा समझ लिया गया है। राजा और उसके निकटवर्ती अधिकारी मेरे दुश्मन बन गये हैं। मुझे राजद्रोही समझ लिया गया है। पता नही, किस समय परिवार को मृत्यु का निमत्रण आ जाए"—कहते-कहते महामत्री का गला भर आया, आंखे गीली हो गईं।

श्रियक कलेजा थामे सुनता जा रहा था। वह महाराज नद का मुख्य अंगरक्षक था। घटनाचक्र की भनभनाहट कुछ दिनो से उसके कानो पर भी टकरा रही थी। पर उसका स्वच्छ सरल हृदय इस

पर कभी विश्वास नही कर सका था कि नदवशीय राजा कभी अपने परपरागत कल्पक वश के मत्रियो पर राजविद्रोही होने की आशका भी कर सकेगे। किंतु आज अनहोनी हो रही है। वह जो सुन रहा है, अविश्वसनीय होते हुए भी सच है।

शकडाल ने हृदय पर हाथ धर के मन को मजबूत बनाया। उस ने श्रियक की उदास आखो मे झाका और फिर कहा—"इस गभीर आरोप का प्रतिकार तुझे करना होगा। समय आ गया है, तुझे राजा को विश्वस्त करने के लिए अपनी निश्छल राजभक्ति का प्रमाण देना पडेगा।"

"हा पिता जी! तैयार हूँ,"—युवा श्रियक की भुजाए जैसे मचल उठी। "पिताजी, आदेश कीजिए, राजभक्ति के लिए मै अपने प्राण भी दे सकता हूँ।"

"बेटा! तुम्हारे बहुमूल्य प्राणो की अभी जरूरत नही है! इसके लिए तो अभी सिर्फ मेरे ये बूढे प्राण ही काफी है।" शकडाल ने अपनी तलवार उठाकर श्रियक के हाथ मे दी, और कहा—"कल राजा को प्रणाम करते समय वही पर इस तलवार के एक ही प्रहार से मेरे प्राणो की बलि लेकर राजभक्ति का परिचय देना होगा। बस, थमाओ मेरी इस तलवार को अपने सुदृढ हाथो मे."

श्रियक के वज्र हाथ धूज उठे। हृदय धक् धक् करने लग गया —"पिताजी, यह कैसी राजभक्ति! एक निरर्थक बहम के लिए आपके प्राण! और वह भी मेरे हाथो से... नही, यह नही हो सकता, कभी नही हो सकता....।"

"बेटा! यह नही होगा तो फिर क्या होगा, पता है तुझे? नन्द राजा पूरे के पूरे कल्पक वश को राजद्रोह का आरोप लगाकर जीवित ही कोल्हू मे पिलवा डालेगा, क्या कुल-क्षय मंजूर है तुझे....?"

श्रियक के होठो पर शब्द नही आए। उसका हृदय हाहाकार कर उठा। यह कैसी राजभक्ति? कैसा यह राज-सम्मान! जहा मनुष्य के जीवन का कोई मूल्य नही, किस समय क्या हो जाए, कुछ पता नही? क्षण में निर्माण, क्षण मे ध्वस! क्षण मे सृष्टि, क्षण मे प्रलय! क्षण मे जीवन, क्षण मे मृत्यु! हर समय सिर पर मौत

लटक रही है। क्या यही राजनीति है ? यदि यही राजनीति है, तो फिर अनीति क्या होगी ? यह राजनीति नही, यमराजनीति है, जो क्रूर नियति की तरह मनुष्य के जीवन के साथ निर्मम खेल खेलती रहती है। पिता पुत्र के हाथ मे तलवार दे रहा है कि उसके प्राण झूठी राजभक्ति की वेदी पर चढा दिए जाए। नहीं हो सकता। यह कभी नही हो सकता।।"

शकडाल ने श्रियक का कधा झकझोरते हुए कहा—'बेटा! तुम अभी राजनीति की गभीर गतिविधि को नही समझ सकते, अत अधिक नही, सिर्फ इतना ही समझ लो— अपने पितृवश की प्रतिष्ठा और कुल की रक्षा के लिए, तुझे यह काम कल करना ही है....?"

श्रियक सहसा चीख उठा—"पितृहत्या!"

"नही, नही! मेरे से नही होगी।"

शकडाल ने श्रियक को छाती से लगा लिया। "बेटा! पितृहत्या का पाप तुझे नही होगा। मै राजसभा मे पहुँचते ही मुह मे सद्य. प्राणघाती ताल-पुट विष रख लूगा, अत मेरी मृत्यु तो निश्चित है ही, बस, तुझे तो सिर्फ निमित्तमात्र बनना है, और वह निमित्त तुम्हारी राजभक्ति का प्रमाण होगा, कल्पकवश की प्रतिष्ठा का आधार होगा और तुम्हारी गौरवशील कुल परम्परा का एक उज्ज्वल प्रतीक होगा। मुझे वचन दो, तुम मेरे आदेश का पालन करोगे, अवश्य करोगे। पिता की आज्ञा की अवहेलना, क्या पितृहत्या नही है ?"

श्रियक की आखो से आसू टपक पडे। उससे बोला नही गया। शकडाल ने जैसे अन्तिम बार अगाध प्यार से श्रियक को चूम लिया।

\+ + +

महामत्री शकडाल सदा की भाति आज प्रसन्न थे। जीवन की अन्तिम कृतार्थता का तेज जैसे, उनकी मुखाकृति पर दीप्त हो रहा था। नवीन वस्त्र आभूषण से सज्ज होकर वीतराग देव को आज जीवन का अन्तिम नमस्कार किया, और मन मे अपूर्व शान्ति लिए राजसभा की ओर बढ चले।

श्रियक राजा की सेवा मे नित्य की भाति अगरक्षक के स्थान पर खडा था। ज्योही महामत्री ने राजसभा मे प्रवेश किया—राजा

की आखो मे खून वरस पडा। महामत्री ने प्रणाम के लिए शिर झुकाया कि लपलपाती तलवार उनके मस्तक पर आकर गिरी। मस्तक धड से अलग होकर एक ओर गिर पड़ा, रक्त की धाराए चारो ओर बह चली। राज सभा मे भयकर हाहाकार मच गया। महामत्री की हत्या! श्रियक के हाथ से...! लोग दिङ्मूढ से वने देखते रह गये।

राजा ने घूर कर श्रियक को देखा—"श्रियक! यह क्या अन्याय कर डाला! महामत्री का खून! अपने पिता का खून! किसलिए किया? किसने कहा ?"

"महाराज! मुझे ऐसा पिता नही चाहिए, जो राज-द्रोह की तैयारियाँ करता हो! मैं राजभक्त हूँ, जो महाराज से विद्रोह करता है, वह मेरा शत्रु है, चाहे पिता हो या वन्धु! उसकी अन्तिम दशा यही होती है"—श्रियक के तेजस्वी स्वर सभा मे गूज उठे। उसका मन भीतर से हाहाकार कर रहा था, वेदना से भरा था, पर मुह पर कृत्रिम तेज और उत्साह चमक रहा था। इसी कपट और दम्भ पर तो राजनीति की नीव टिकी है। मन मे राजा के प्रति घृणा भरी थी, पर मुह पर स्वामिभक्ति के स्वर गूज रहे थे।

राजा ने एक अद्‌भुत आश्चर्य के साथ श्रियक की आखो मे आखे गडादी—"श्रियक! सच, मत्री शकडाल राजविद्रोह की तैयारी कर रहे थे ?"

"महाराज, सत्य वह नही होता, जो वास्तव मे होता है। सत्य वह है, जो राजा समझता है। आपने महामत्री को राजद्रोही समझा, तो वे परम राजभक्त होते हुए भी राजद्रोही हो गए।"—श्रियक स्पष्ट होने लगा।

"क्या कह रहे हो, श्रियक! क्या तुम्हारे घर पर राज्यविप्लव की तैयारिया नही हो रही थी? क्या यह धोखा था ?"

"महाराज! विप्लव की तैयारी नही, किन्तु मेरे विवाह की तैयारी थी। आपको कुछ दुष्ट व्यक्तियो ने धोखा दिया और उस धोखे ने महामत्री की वलि ले ली!"

महाराज नन्द के मुह से सहसा निकल पडा—"हाय ! धोखा ! धोखे मे महामत्री चले गये . श्रियक ! तुमने मुझे पहले क्यो नही कहा ...?"

"महाराज ! आपके मन मे यह बात इतनी गहरी पैठ गई थी कि समझाने से नही निकल सकती थी । आप इस बहम मे कोई अनर्थ कर डालते . आपके मन को झकझोरे बिना यह बहम नही निकल सकता था, इसलिए महामत्री के अमूल्य प्राणो की बलि आप के चरणो मे मुझे चढानी पडी ।"—श्रियक मन की वेदना को अब छिपा नही सका, आखो मे वेदना बरस पडी, हाथ से तलवार छूटकर एक ओर जा पडी । वह महाराज के चरणो मे गिर पडा । राजा की आखे भी महामत्री के शोक मे छलछला आई । श्रियक को अपने पुत्र की तरह छाती से लगा लिया और गर्म गर्म आसुओ से जैसे श्रियक का मत्रिपद पर अभिषेक कर दिया ।

महामात्य शकडाल चले गए । एक बार चारो ओर शून्यता छा गई । अनन्त अन्तरिक्ष तक शून्यता ही शून्यता लग रही थी ! इस शून्यता को भर रही थी, केवल महामात्य की स्मृतिया, उनकी राज-भक्ति, प्रजा-प्रेम, विचक्षण राजनीतिज्ञता और सच्ची धर्मनिष्ठा !

—उत्तराध्ययन लक्ष्मी वल्लभी टीका—अध्ययन २

●

शरीर मानसं दुःख, योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःख द्वानर्थौ च विन्दति ॥
महा० शा० १७।१०

जो मनुष्य अतीत के बीते हुए शारीरिक अथवा मानसिक दुःखो के लिए बार-बार शोक करता है, वह एक दुःख से दूसरे दुःख को प्राप्त होता है । उसे दो-दो अनर्थ भोगने पडते हैं ।

की आखो मे खून बरस पडा। महामत्री ने प्रणाम के लिए शिर झुकाया कि लपलपाती तलवार उनके मस्तक पर आकर गिरी। मस्तक धड से अलग होकर एक ओर गिर पडा, रक्त की धाराए चारो ओर बह चली। राज सभा मे भयकर हाहाकार मच गया। महामत्री की हत्या! श्रियक के हाथ से.. ! लोग दिङ् मूढ से बने देखते रह गये।

राजा ने घूर कर श्रियक को देखा—"श्रियक! यह क्या अन्याय कर डाला! महामत्री का खून! अपने पिता का खून! किसलिए किया? किसने कहा .?"

"महाराज! मुझे ऐसा पिता नही चाहिए, जो राज-द्रोह की तैयारियाँ करता हो! मैं राजभक्त हूँ, जो महाराज से विद्रोह करता है, वह मेरा शत्रु है, चाहे पिता हो या बन्धु! उसकी अन्तिम दशा यही होती है"—श्रियक के तेजस्वी स्वर सभा मे गूज उठे। उसका मन भीतर से हाहाकार कर रहा था, वेदना से भरा था, पर मुह पर कृत्रिम तेज और उत्साह चमक रहा था। इसी कपट और दम्भ पर तो राजनीति की नीव टिकी है। मन मे राजा के प्रति घृणा भरी थी, पर मुह पर स्वामिभक्ति के स्वर गूज रहे थे।

राजा ने एक अद्भुत आश्चर्य के साथ श्रियक की आखों मे आखे गडादी—"श्रियक! सच, मत्री शकडाल राजविद्रोह की तैयारी कर रहे थे?"

"महाराज, सत्य वह नही होता, जो वास्तव मे होता है। सत्य वह है, जो राजा समझता है। आपने महामत्री को राजद्रोही समझा, तो वे परम राजभक्त होते हुए भी राजद्रोही हो गए।"—श्रियक स्पष्ट होने लगा।

"क्या कह रहे हो, श्रियक! क्या तुम्हारे घर पर राज्यविप्लव की तैयारिया नही हो रही थी? क्या यह धोखा था?"

"महाराज! विप्लव की तैयारी नही, किन्तु मेरे विवाह की तैयारी थी। आपको कुछ दुष्ट व्यक्तियो ने धोखा दिया और उस धोखे ने महामत्री की बलि ले ली!"

महाराज नन्द के मुह से सहसा निकल पडा—"हाय ! धोखा ! धोखे मे महामत्री चले गये श्रियक ! तुमने मुझे पहले क्यो नही कहा ...?"

"महाराज ! आपके मन मे यह बात इतनी गहरी पैठ गई थी कि समझाने से नही निकल सकती थी। आप इस बहम मे कोई अनर्थ कर डालते... आपके मन को झकझोरे बिना यह बहम नही निकल सकता था, इसलिए महामत्री के अमूल्य प्राणो की बलि आप के चरणो मे मुझे चढानी पडी ।"—श्रियक मन की वेदना को अब छिपा नही सका, आखो मे वेदना बरस पडी, हाथ से तलवार छूटकर एक ओर जा पडी। वह महाराज के चरणो मे गिर पडा। राजा की आखे भी महामत्री के शोक मे छलछला आई। श्रियक को अपने पुत्र की तरह छाती से लगा लिया और गर्म गर्म आसुओ से जैसे श्रियक का मत्रिपद पर अभिषेक कर दिया।

महामात्य शकडाल चले गए। एक बार चारो ओर शून्यता छा गई। अनन्त अन्तरिक्ष तक शून्यता ही शून्यता लग रही थी। इस शून्यता को भर रही थी, केवल महामात्य की स्मृतिया, उनकी राज-भक्ति, प्रजा-प्रेम, विचक्षण राजनीतिज्ञता और सच्ची धर्मनिष्ठा !

—उत्तराध्ययन लक्ष्मी वल्लभी टीका—अध्ययन २

●

शरीरं मानस दुःख, योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःख द्वानर्थौ च विन्दति ॥

महा० शा० १७।१०

जो मनुष्य अतीत के बीते हुए शारीरिक अथवा मानसिक दु खो के लिए बार-बार शोक करता है, वह एक दु ख से दूसरे दु ख को प्राप्त होता है। उसे दो-दो अनर्थ भोगने पडते है।

उपाध्याय अमर मुनि

सम्यग् दर्शन और ब्रह्मचर्य

आजकल हमारे कुछ प्रेमी भाई बहन बाहर से आये हुए है। कुछ सिर्फ दर्शन करने के लिए ही आते है। कुछ चिन्तन व विचार लेकर आते हैं। उनके मन मे कुछ प्रश्न होते हैं, कुछ उलझन होती हैं, समस्याए होती है, और वे समाधान मागते हैं। कुछ सज्जन तो विचार चर्चा मे बहुत गहरे उतर जाते है, उनकी जिज्ञासा और विचार चर्चा से मुझे भी आनन्द आता है। आप भी जानते है—सत समाज मे मैं एक बौद्धिक व्यक्ति माना जाता हूँ, फलत· किसी श्रद्धालु श्रावक मे जब भी कभी मैं बौद्धिक चेतना की स्फुरणा देखता हूँ, उसके चिन्तन की सूक्ष्मता देखता हूँ, तो सहज ही मुझे एक प्रसन्नता होती है।

पजाब से आए श्री विजयकुमार जी ने कल सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य पर चर्चा की थी, उनका आग्रह था कि प्रवचन मे इस विषय पर कुछ विशेष चर्चा की जाए।

आप सोचेगे—सम्यग् दर्शन और ब्रह्मचर्य! दोनो दो किनारे की चीज हैं। एक किनारे पर सम्यग्दर्शन है, तो ब्रह्मचर्य एक दूसरे किनारे पर है। बडी दूर है, बडा व्यवधान है इन के बीच! सचमुच कुछ ऐसा लगता होगा! पर कुछ गहराई मे उतरे, शब्द से भाव तक जाएँ, तो पता लगेगा, वस्तुत सम्यग्दर्शन और ब्रह्मचर्य एक ही है। शब्द का आवरण कभी-कभी वस्तु के मूल स्वरूप को छिपा देता है, अत हमे उस पर्दे को हटा देना चाहिए और अन्दर मे जाकर भाव को पकडना चाहिए।

मिथ्यादर्शन क्या है ?

●

सम्यग् दर्शन की भूमिका को समझने से पहले मिथ्या दर्शन की भूमिका को समझ लेना आवश्यक है। यदि मिथ्यादर्शन को ठीक तरह समझ लिया तो सम्यग् दर्शन का परिज्ञान स्वतः हो जाएगा।

मिथ्यादर्शन एक विचार है, एक दृष्टि है। जब आत्मा की अपनी दृष्टि 'स्व' से हटकर 'पर' की ओर चली जाती है, 'स्वभाव' से दूर होकर 'परभाव' मे लीन हो जाती है, फलत पर मे स्वबुद्धि, आत्मबुद्धि होने लगती है, तब वह दृष्टि विपरीत दृष्टि कहलाती है— यही मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यादर्शन है।

और व्यभिचार क्या है? अब्रह्मचर्य किसे कहते है। 'स्व'—से, स्वकीयता से अर्थात् अपनी वस्तु से अलग होकर 'पर' और परकीयता की ओर उन्मुख होना—व्यभिचार है। शब्दशास्त्र की दृष्टि से व्यभिचार का अर्थ होता है 'वि + अभिचार' अर्थात् दूसरी ओर, पर की ओर गमन करना। जब दृष्टि 'स्व' मे सतुष्ट नही रहती है, आत्मरूप पर केन्द्रित नही होती है, 'पर–रूप' की ओर अभिचार— अर्थात् गमन करती है, तब वह दृष्टि का व्यभिचार होता है, दृष्टि का यह व्यभिचार ही मिथ्यादर्शन है।

हमारी उपयोग चेतना की एक दृष्टि होती है, वस्तुतत्त्व को समझने की एक बुद्धि होती है। यह आत्म-दृष्टि. आत्म-बुद्धि जब आत्मा के केन्द्र से हटकर देह पर केन्द्रित हो जाती है, चैतन्य से जड़ पर चली जाती है, देह आदि जड पदार्थ मे चैतन्य की परिकल्पना करने लगती है, इन्द्रियो और विषयो मे भटक जाती है, जो सत् है— अविनश्वर है, उससे विमुख होकर असत् और नश्वर की ओर उन्मुख हो जाती है, तब हम कहते हैं—दृष्टि भटक गई, व्यभिचरित हो गई। मिथ्या दर्शन और कुछ नही, दृष्टि की यह भटकन, दृष्टि का यह व्यभिचार ही मिथ्या दर्शन है।

दृष्टि का 'कुलटापन'

●

हम लोग एक शब्द सुनते आये हैं—'कुलटा'। 'कुलटा' शब्द का व्यभिचारिणी स्त्री के अर्थ मे प्रयोग हुआ है। कुलटा का अर्थ है— "कुलानि अटतीति– कुलटा" कुल-कुल मे अर्थात् घर घर मे जो भटकती रहती है, वह कुलटा है। इसका अर्थ व्यभिचार से लिया गया है, जो अपने घर को छोड कर दूसरे घरो मे भटकती है, उसको 'कुलटा' के नाम से पुकारा गया है।

अब जरा अपनी बात पर आइए। हमारी दृष्टि का कुल अर्थात् केन्द्र क्या है? आत्मा! चैतन्य! हम स्वय चेतन है, हमारा 'स्व' केन्द्र भी चेतन ही हो सकता है, चेतन हमारा 'स्व' है, जड पर है। जब हमारी दृष्टि अपने कुल मे अर्थात् चेतन केन्द्र मे आनन्द प्राप्त नही कर सकती, वहा पर रम नही सकती, और देह के कुल मे, मन के कुल मे, इन्द्रियो के कुल, विषयो के कुल मे, भटकती रहती है, 'पर' मे आनन्द अनुभव करने लगती है, तब 'स्व' से भिन्न पर मे भटकने वाली दृष्टि क्या कुलटा नही कहलायेगी?

कुलटा दृष्टि 'स्व' का दर्शन नही कर सकती, चैतन्य-सत्य का दर्शन नही कर सकती। और जब 'स्व' अर्थात् चैतन्य-सत्य का दर्शन नही होगा, तो सम्यग्दर्शन भी नही होगा।

सम्यग्दर्शन की परिभाषा

●

'मिथ्यादर्शन' क्या है, यह आप ने समझा है, पूर्ण रूप से नही तो आंशिक रूप मे तो मेरी बात अवश्य आप के ध्यान मे आई होगी? अब जरा सम्यग्दर्शन के स्वरूप की चर्चा भी कर ले।

हमारे कुछ अति बुद्धिमान सज्जन (?) सम्यग्दर्शन की परिभाषा को इतनी जटिल बना देते है कि दृष्टि कुलटा न हो तो हो जाती है। एक प्रकार का बौद्धिक विभ्रम फैला देते है, उलझन खडी कर देते है, कि सत्य क्या है, सूझता ही नही।

सम्यग्दृष्टि का मतलब है—'स्व की दृष्टि, 'स्व' का ज्ञान! आत्मदृष्टि, आत्मप्रतीति! आत्म-दृष्टि का मतलब है, आत्मा का अपना ज्ञान, आत्मा का अपना बोध! परन्तु सम्यग्दृष्टि की रूढिगत (पन्थवादी) परिभाषा करने वाले कहते है—शास्त्र मे ऐसा लिखा है, अमुक धर्मग्रन्थ यह कहता है, तुम उस बात पर आख बन्द करके विश्वास करो। कोई ननुनच नही, कोई तर्क वितर्क नही। शास्त्र के समक्ष अपने चिन्तन का कुछ मूल्य नही। बस, और कुछ नही। जो उस पुस्तक की दृष्टि है, उसे ही अपनाओ! और शास्त्र? अर्थात् एक पुस्तक! पुस्तक अर्थात् 'पर'! जो 'पर' की दृष्टि पर विश्वास करेगा, जो पुरुष पर की दृष्टि को अपनाएगा, वह कौन होगा? जो नारी 'पर' की दृष्टि को अपनाएगी वह कौन होगी? आप गलत

मत समझिए, कि मैं तत्त्वज्ञान का निषेध कर रहा हूँ, शास्त्र और ज्ञान मे अन्तर है। ज्ञान अर्थात् आत्म दृष्टि ! वीतरागता का दर्शन, चैतन्य का दर्शन ! और शास्त्र का मतलब है, पुस्तक ! पुस्तक जड होती है। पुस्तक पर विश्वास करना, पुस्तक दृष्टि को अपनाना, यह जड की दृष्टि है, पर-दृष्टि है। शास्त्र बाहर मे है, ज्ञान भीतर मे है। शास्त्र, ज्ञान मे निमित्त हो सकता है, पर वह स्वय ज्ञान नही है। और यह भी नियम नही है कि शास्त्र, ज्ञान मे अवश्यभावी निमित्त होगा ही अर्थात् शास्त्र से ज्ञान होगा ही। यह सब कुछ आत्मा का अपना उपादान है। उपादान ठीक होगा, तो ज्ञान होगा, अन्यथा नही।

हा तो, कुछ पन्थवादी सज्जन 'स्व' की दृष्टि अर्थात् आत्म-दृष्टि, वीतराग-दृष्टि नही देते, वे सिर्फ शास्त्र की दृष्टि देते है। वे कहते हैं—अमुक गुरु की यह दृष्टि है, तुम इसे अपनाओ ! अपनी अन्तर्दृष्टि अर्थात् आत्म-दृष्टि की बात भूल जाओ, और केवल गुरु एव ग्रन्थ की दृष्टि पर चलो ! वैष्णव कहते है—वैष्णव ग्रन्थो की दृष्टि सही है, उसी पर चलो ! शैव कहते है—शैव ग्रन्थो की दृष्टि पर चलो ! बौद्ध अपने ग्रन्थ की दृष्टि बताता है, जैन अपने ग्रन्थ की, ईसाई अपने ग्रन्थ की दृष्टि देता है और मुसलमान अपने ग्रन्थ की ! बात यह है कि जितने ग्रन्थ हैं, जितने पन्थ है, उतनी ही दृष्टिया है, और वे सब 'स्व' पर नही, पर के केन्द्र पर भटकने वाली है।

यह 'पर-दृष्टि' है

•

मेरे अधिकाश श्रोता जैन हैं, इसलिए मैं आप से जैन दृष्टि की बात कहूँगा। जैन धर्म की दृष्टि आत्मकेन्द्र पर चलने वाली दृष्टि है, स्वात्मबोध करने वाली दृष्टि है, किन्तु दृष्टि को पर की ओर उन्मुख कर दिया जाता है। कुछ तथाकथित सम्यग्दर्शन के ठेकेदार साधारण जन की दृष्टि को पर की ओर मोड रहे हैं। वे कहते है—अमुक ग्रन्थ मे इतने बड़े बड़े मच्छ कच्छ बताए हैं, इतनी नदिया बताई हैं, इतने पहाड हैं, उनमे इतने सोने के है, इतने चादी के, इतने रत्नो के है। अमुक देवताओ का इतना वैभव है। अस्तु, इन सोने के पहाड़ो,

नदी नालो, और देवताओ की ऋद्धि पर विश्वास करो। यदि आप विश्वास नही करते है तो आप मिथ्यादृष्टि है, सम्यग्दृष्टि नही।

मैं पूछता हूँ सोने के पर्वत हैं तो है, पत्थर के है तो है, आपको उन पर विश्वास केन्द्रित करने से लाभ क्या है ? किस देवता का वैभव कितना है, और किस नदी का विस्तार कितना है, आपको इन वातो से क्या लेना देना है ? उन देवनाओ से भी कुछ धन्धा करने का विचार है क्या ? और उन नदियो को बाधने की कोई योजना है क्या ? सोने के पहाडो का सोना दरिद्र देश के उद्धार के लिए यहा लाना है क्या ? यदि यह कुछ नही, तो फिर जड की चर्चा मे उलझने से लाभ क्या ? किन्तु मैं देखता हूँ, पूरी योजनाबद्ध ताकत के साथ उक्त जड दृष्टि को हमारे भीतर डालने का प्रयत्न हो रहा है, हमारी दृष्टि का पर के साथ गठबन्धन किया जा रहा है। आत्म-दृष्टि से और आत्म अन्वेषण से भटकाकर लोक-दृष्टि और लोक-ऐषणा की और खीचने का चेष्टा की जा रही है। मैं पूछता हूँ—यह दृष्टि का ब्रह्मचर्य है या व्यभिचार है ?

मैं जब अपने श्रोताओ और पाठको को 'पर-दृष्टि' से 'आत्म-दृष्टि' की ओर उन्मुख होने की बात कहता हूँ, तो कुछ सज्जन मुझे भी मिथ्यादृष्टि कह देते हैं। मैं समझता हूँ, यह एक व्यर्थ की झुझलाहट है, और कुछ नही। वस्तुत सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टि की परिभाषा इतनी मनमानी रूढ मान्यताओ पर निर्भर नही है कि जिस पर उनका सिक्का लग गया, वह सम्यग्दृष्टि, और जो उनकी मोहर छाप का नही है, वह मिथ्यादृष्टि !

मुझे आश्चर्य होता है कि जो जैन दर्शन इतनी गम्भीर वात कहता है कि—"यह घर पर है, परिवार पर है। यह शरीर भी पर है, ये इन्द्रिया भी पर हैं, और क्या, तुम्हारा मन भी पर है, जितने भी भौतिक पदार्थ है, वे सव पर हैं, तुम्हारे नही है, और हर तरह की पर बुद्धि से मुक्त होकर आत्मबुद्धि मे केन्द्रित होना ही, तुम्हारा लक्ष्य है।" उस जैन दर्शन के नाम पर हमारी बुद्धि को पर मे केन्द्रित किया जा रहा है। आप सोचिए–देह-बुद्धि से मुक्त होने की वात करने वाला दर्शन यह कहे कि नदी, पहाड और देवविमानों पर बुद्धि को केन्द्रित करो, ग्रन्थ और पन्थ की दृष्टि पर चलो, कैसे सगत हो

सकता है ? और वह यह भी कहे कि—इन सब पर विश्वास नही किया, इन को सत्य नही माना तो तुम मिथ्यादृष्टि हो गए। कितनी विचित्र बात है ?

हमारे बहुत से साथी व मित्र इस प्रकार का प्रयत्न करते हैं, कि बाहर की दृष्टि भीतर के साथ जुड जाए। एक बार एक सत मिले, जो भी आता उससे पूछते—समकित ली है या नही ? बच्चो से भी यही पूछते, बहनो से भी यही पूछते, नवयुवक आते तो उनसे भी यही प्रश्न कि समकित ली या नही ?

यदि कोई कहता कि—नही ली है, तो कहते—समकित ले लो। कोई कहता ले रक्खी है, तो कहते कि अरे उसे छोड दो, वोसरा दो ! हमारी अपनी नई लो।

मैं हैरान था, यह क्या गोरखधधा है, समकित कोई किराना है, कोई बाजारू चीज है, जो यो ली जाए, दी जाए। और पुरानी हो गई तो उसे वोसरा दो, नई ले लो। आजकल इधर उधर देवी देवताओ के कितने आसन जमे हुए हैं। लोग कहते हैं—वह देवी अच्छी है, उसका चमत्कार है। वह देवी पुरानी हो गई, सो गई। वह देवी नई है, जीती जागती है। कुछ ऐसा ही धधा आज गुरुओ के बारे मे और समकित के बारे मे चल रहा है। उस गुरु की समकित लो, उसकी छोड दो। उस गुरु की समकित खराब है, नरक मे ले जाएगी। उस गुरु की समकित अच्छी है, स्वर्ग मे ले जाएगी, मोक्ष मे पहुँचाएगी। पुरानी समकित बासी हो गई, उसे फेको, ताजा लो। यह सब विड-म्बना है। वस्तुत समकित आत्मा की दृष्टि है, आत्म-बुद्धि है, वह बाहर से ली नही जा सकती, दी नही जा सकती। वह बासी नही होती है, फिर ताजा का सवाल ही क्या ? हा, समकित का हेतु—निमित्त कोई हो सकता है, गुरु भी हो सकता है, ग्रन्थ भी हो सकता है, या अन्य कोई जड़ भी। पर इसका यह अर्थ नही कि हम निमित्त पर ही अटक जाएँ, उसकी दृष्टि पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित कर ले ! हमारा केन्द्र तो हमारा अपना उपादान है, और वह हमारे भीतर है।

सम्यग्दर्शन ही ब्रह्मचर्य है

•

मैंने आपसे कहा--सम्यग्दर्शन एक प्रकार का ब्रह्मचर्य है, और मिथ्यादर्शन व्यभिचार! ब्रह्मचर्य की हम जो परिभाषा करते है वह यही तो है--'ब्रह्मणि चर्या + ब्रह्मचर्य:' ब्रह्म में लीन रहना, ब्रह्म में रमण करना-ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म का अर्थ है आत्मभाव, परमात्म भाव, ईश्वर दशा! मतलब इसका यह हुआ कि आत्मनिष्ठ रहना ही ब्रह्मचर्य है।

हमारा दर्शन कहता है--तुम्हारा देव और ईश्वर कही बाहर में नही है, वह तुम्हारे भीतर ही है। जिस अनन्त परमात्म ज्योति के दर्शन तुम बाहर मे करना चाहते हो, वह तो तुम्हारे अन्त'करण के भीतर प्रदीप्त हो रही है। --'**अप्पा सो परमप्पा**'--आत्मा ही परमात्मा है। अत: उस आत्म ज्योति के दर्शन भीतर में ही करो। उस परम ज्योति का दर्शन करना, यही तो जिनत्व है, जैनत्व की साधना है। जिनत्व की साधना वही कर सकता है, जो निजत्व की साधना कर रहा है। निज स्वरूप को समझे विना जिन स्वरूप कैसे समझा जायेगा? आप यह निश्चित समझ लीजिए--'निज' को समझे बिना 'जिन' को नही समझा जा सकता। क्योंकि निश्चय दृष्टि मे जो निज है, वही जिन है, और जो जिन है वही निज है।

अभी जो अन्धकार प्रतीत होता है, वह वस्तुत. और कुछ नही, आवरण है। उस ज्योति पर आवरण छा गया है। दीपक तो जल रहा है, पर दीपक पर आवरण-ढकन रखा हुआ है, इसलिए घर मे अंधेरा छाया हुआ है, आवरण हटेगा तो प्रकाश फैल जाएगा।

आपको पता है न कि इस अधकार के लिए जैन दर्शन ने 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग नही किया है, बल्कि 'ज्ञानावरण' का प्रयोग किया है। अज्ञान और ज्ञानावरण में बहुत बडा अन्तर है। अज्ञान--ज्ञान की रिक्तता, शून्यता और अभाव का द्योतक है, जब कि ज्ञानावरण ज्ञान की सत्ता को सूचित करता है। भीतर मे जलती हुई ज्योति का बोध कराता है, और बताता है उस ज्योति पर केवल आवरण आया हुआ है। आवरण टूटा कि, बस, ज्योति प्रज्व-

लित हुई। वह हमें पुरुषार्थ और आत्मविश्वास का सदेश देता है, अपने विराट् स्वरूप का बोध कराता है।

इस दृष्टि से मैंने आपको बताया कि सम्यग्दर्शन हमे निज-स्वरूप का बोध देता है, अपनी अखण्ड अनन्त सत्ता पर अक्षुण्ण आस्था और निष्ठा देता है। बाहर से भीतर के केन्द्र पर लाता है। हमारे मन मे एक प्रकार का दिव्य भाव जगाता है, कि तुम बाहर मे कहा भटक रहे हो? तुम्हारा देव तुम्हारे अन्तर मे है, तुम्हारा गुरु भी तुम्हारे अन्तर मे है और तुम्हारा धर्म भी तुम्हारे अन्तर मे ही है। बाहर तो बाहर है। बाहर की ओर दौडना, बाहर मे देवत्त्व और गुरुत्त्व की बुद्धि करना एक निरा भ्रम है, वचना है, छलना है। निमित्त कुछ हो सकता है, पर निमित्त के पीछे भटकना, निमित्त का आग्रह करना, यह तो दृष्टि भ्रम है, दृष्टि का व्यभिचार है। उपा-दान जो अपने ही भीतर मे है, वही अपना है, उस अपने केन्द्र पर रहना यही ब्रह्मचर्य है, यही सम्यग्दर्शन है।

व्रत मात्र ब्रह्मचर्य है

●

आप लोगो ने ब्रह्मचर्य को एक पृथक् एव विशिष्ट व्रत के रूप मे समझ रखा है, एक कोने पर धर रखा है, उसे शरीर के एक विशेष वासना प्रधान व्यापार की निवृत्ति तक ही सीमित कर रखा है, यह एक अधूरी समझ है। जैनदर्शन ब्रह्मचर्य को बहुत विराट् रूप मे, व्यापक स्वरूप मे देखता है। किसी एक व्रत को ही नही, अपितु अहिंसा, सत्य आदि समस्त व्रतो को उसने ब्रह्मचर्य माना है।

आप सोचेंगे—अहिंसा और ब्रह्मचर्य का क्या सम्बन्ध है? सत्य और ब्रह्मचर्य का क्या तालमेल है? अचौर्य और अपरिग्रह के साथ ब्रह्मचर्य की क्या सगति है? यह सोचा जा सकता है, चूकि आपने समझा है, और समझाया गया है कि जो चौथे नबर का व्रत है, वही ब्रह्मचर्य है, अन्य व्रत ब्रह्मचर्य नही है। मेरा कहना है कि अब इस दृष्टिभ्रम को दूर कर देना चाहिए, मैं इसके लिए आपके समक्ष शास्त्रीय उदाहरण रख रहा हूँ।

आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम आपने सुना है? उसका नाम है—ब्रह्मचर्य। आप नाम सुनते ही कल्पना करेंगे कि

इसमे स्त्री पुरुष के सम्बन्धो की चर्चा आई होगी, विषय-भोग की विरति का उपदेश आया होगा, जैसी कि आप ब्रह्मचर्य की व्याख्या सुनते रहे है। किन्तु प्रथम श्रुतस्कन्ध की पहली चर्चा शुरू होती है—अहिंसा से। अहिंसा और हिंसा की विवेचना ही मुख्यरूप से अग्रसर होती है, आपको शायद यह लगे कि फिर इसका ब्रह्मचर्य श्रुतस्कन्ध नाम किसने रख दिया? क्या सूत्र सकलना करते समय, आज की भाषा मे गणधरदेव मूड मे नही थे? वैसे ही जो मन मे आया, नाम रख दिया?

वस्तुत. बात कुछ और है। दृष्टि स्पष्ट हो तो यह बात समझ मे आ सकती है कि अहिंसा, और ब्रह्मचर्य मे कोई अन्तर नही है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चार सूत्रो मे ब्रह्मचर्य की सपूर्ण व्याख्या आ जाती है, इनके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य कोई अलग चीज नही रहती। इतिहास आपको मालूम होना चाहिए कि ब्रह्मचर्य को चोथे नवर पर कव किसने प्रारम्भ किया? भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा तक चातुर्याम धर्म—**'चाउज्जामो य जो धम्मो'** चला आया है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह! ब्रह्मचर्य कोई स्वतन्त्र व्रत ही नही था! इसका गलत अर्थ न समझ ले कि ब्रह्मचर्य था ही नही, ब्रह्मचर्य आज के रूढ अर्थ मे भी था, पर उसका कोई अलग भेद नही था, वह इन्ही के अन्तर्गत था!

ब्रह्मचर्य का आज रूढ अर्थ—स्त्री पुरुष के दैहिक सम्बन्ध के रूप मे समझ लिया गया है। किन्तु यह तो ब्रह्मचर्य का एक स्थूल रूप है, सपूर्ण रूप नही। दृष्टि तो यह है कि सयम मात्र ब्रह्मचर्य है। व्रत मात्र ब्रह्मचर्य है। जहा सयम नही, वहाँ ब्रह्मचर्य भी नही।

संयम, स्वरूप साधना है

•

हिंसा क्या है? इस प्रश्न पर जव आप विचार करेंगे तो ब्रह्मचर्य क्या है, यह अपने आप समझ मे आजायेगा।

आत्मा जब अपने स्वभाव मे रहता है, तब वह क्रोध नही करता, घृणा नही करता, वैर नही करता। वह शान्त, निर्विकार और परम करुणामय रहता है, चैतन्य मात्र के प्रति उसकी आत्म दृष्टि रहती

है। इस प्रकार स्वभाव में रमण ही अहिंसा है। और आत्मा जब स्वभाव से हटकर पर-भाव मे चला गया, तब वह हिंसा करता है, क्रूर बनता है, घृणा करता है, वैर करता है। अब आप अहिंसा और ब्रह्मचर्य की तुलना कीजिए—स्वभाव मे रहना अहिंसा है, और स्वभाव मे रहना ब्रह्मचर्य है। परभाव मे गमन करना—हिंसा है, और परभाव में गमन करना अब्रह्मचर्य अर्थात् व्यभिचार है। यह बात मैं स्पष्ट कर ही चुका हूँ।

सत्य क्या है? सत्य का अर्थ है—'सत्' मे स्थित रहना। 'सत्' अर्थात् आत्मा, चैतन्य! जब आत्मा अपने केन्द्र पर रहता है, अपनी दृष्टि मे स्थिर रहता है, तब वह 'सत्य' है, सत्य मे स्थिर है। इस का अभिप्राय यह हुआ कि स्वरूप में रहना ही सत्य है।

वाणी का सत्य जिसे हम 'सत्य' कहते हैं, वह सत्य का एक रूप है, व्यावहारिक सत्य है। परन्तु वह पूर्ण सत्य नही है। वस्तुत. अन्तर् का सत्य तो आत्मकेन्द्र मे रहना, अपनी स्थिति से इधर उधर न हटना, यही है। और यही रूप ब्रह्मचर्य का है। बाहर मे वाणी का सत्य न हो, परन्तु अदर मे स्वभाव स्थिति का सत्य हो, तो बस वही सत्य, सत्य है, भगवान महावीर ने अनेक कल्पित कथाएं कह कर जनता को परिबोध दिया है तो क्या यह उनका असत्य था। नही, शब्द-सत्य न होते हुए भी उनके अन्तर् मे अर्थ सत्य था, भाव सत्य था। कथाए परिकल्पित भले ही थी, किन्तु उनका उद्देश्य दम्भ नही; बोधदान था।

जैनदर्शन ने इस सम्बन्ध मे बहुत सूक्ष्म चिन्तन दिया है। वहा हिंसा और अहिंसा को भी स्वतन्त्र नही, किन्तु आत्म केन्द्र के आधार पर ही स्थिर किया है। आत्मा जब अपने स्वरूप मे स्थिर रहता है, तब प्रत्यक्ष मे दीख पडने वाली हिंसा भी अहिंसा हो जाती है। आत्मा जब वीतराग भूमिका पर आरूढ होता है, तब उस अवस्था मे राग-द्वेष नही होते, पर शरीर की क्रियाएँ तो अवश्य होती हैं। वीत राग गति भी करते है, भोजन भी करते हैं, श्वासोच्छ्वास भी लेते है, विहार करते हुए बीच मे नदी आने पर नाव मे भी चढ़कर दूसरे प्रदेश मे जाते है, उस स्थिति मे यह तो नही कि कोई जीव न मरे, हवा और जल स्पर्श से जीव तो मरते ही है, किन्तु फिर भी उन्हे हिंसा नही लगती। वहा उन्हे पाप कर्म का वन्ध नही होता है। कैसे?

बात यह है कि वही आत्मा 'स्वकेन्द्र' पर स्थित है। दृष्टि विशुद्ध है और वह अपने ही ऊपर केन्द्रित है। 'स्वरूप' मे स्थिर है। स्वरूप मे स्थिर होने का अर्थ है, वह अहिंसा, सत्य एव ब्रह्मचर्य मे स्थिर है। हिंसा होते हुए भी उन्हे हिसा लगती नही। यह बात कुछ सूक्ष्म है, पर इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि हिंसा, अहिंसा-सत्य, असत्य का सम्बन्ध बाहर से नहीं, भीतर से जुडा हुआ है। आत्मा के साथ सम्बन्धित है।

चोरी के सम्वन्ध मे भी यही वात है। आत्मा जब स्वभाव मे स्थित रहता है तो शान्त एव निराकुल रहता है, किसी पर-वस्तु की कामना नही करता। चोरी तब होती है जब पर वस्तु की आकाक्षा मन मे जगती है, आकुलता और तृष्णा का उद्‌भव होता है—**"लोभाविले आययइ अदत्त"** लोभाकुल होकर ही प्राणी चोरी को प्रेरित होता है। पर वस्तु का लेना मात्र चोरी नही है, मैं आपके घर पर भिक्षा के लिए आता हूँ, आप मुझे कुछ देते है, आपकी वस्तु मैं लेता हूँ, क्या यह चोरी है ? आप कहेगे वह हमारी आज्ञा से लेते है। अच्छा, तो मैं धरती पर चलता हूँ, आकाश मे रहता हूँ, सूर्य चन्द्र का प्रकाश पाता हूँ, तो यह सब क्या है ? क्या चोरी है ? क्योकि बिना आज्ञा के उक्त सब पर पदार्थों का उपयोग कर रहा हूँ। मै सांस ले रहा हूँ, प्रतिक्षण वाहर की हवा, प्राणवायु (ओक्सीजन) भीतर खिंचता जा रहा हूँ, यह भी तो पर वस्तु है ? फिर क्या मैं चोरी कर रहा हूँ ? आप कह देंगे इन्द्र की आज्ञा से ले रहे है। तो भाई, क्या इन्द्र इस आकाश और हवा आदि का ठेकेदार है ? वास्तव मे ये सव मन को समझाने की वातें है, पर वस्तु को लेना मात्र चोरी नही है, किन्तु ममत्त्व पूर्वक लेना चोरी है। परवस्तु का उपयोग करना एक अलग वात है और दृष्टि को 'पर' मे ले जाना, स्वय का पर मे केन्द्रित हो जाना, यह अलग वात है। पर मे आसक्ति चोरी है, पर का उपयोग चोरी नही है।

परिग्रह के सम्बन्ध मे भी जैन दर्शन का यही सूक्ष्म चिन्तन है। वह वस्तु मे परिग्रह नही मानता, दृष्टि मे परिग्रह मानता है—**'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो'** मूर्च्छा अर्थात् ममत्त्व बुद्धि, पर वस्तु मे स्ववुद्धि को

परिग्रह मानता है। वस्तु तो जड है, जड अपने आप में न परिग्रह है, न अपरिग्रह। परिग्रह अपरिग्रह की व्याख्या दृष्टि करती है।

एक सत मिले। बात चीत चली तो पास से एक हस्तलिखित भगवती सूत्र दिखाया—"देखो, कवि जी! यह भगवती सूत्र मेरा पांच सौ का है।"

मैंने हँसकर कहा—"महाराज! तब तो आपने पाच सौ, का परिग्रह तो ले ही रखा है। आपका अपरिग्रह महाव्रत कहाँ है?"

बात यह है कि चाहे शास्त्र हो या और कुछ सयम साधक वस्त्र पात्र आदि। यदि उसमे यह भाव आ गया है कि यह मेरा अपना है, इतना मूल्यवान है, तो वह भी परिग्रह ही है। पर वस्तु मे मूल्य एव राग की बुद्धि है, तो वह परिग्रह हुआ न?

बात बहुत विस्तार मे चली गई है। हम इस बात पर चले थे कि प्रत्येक व्रत, नियम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—आत्मा के केन्द्र मे रहना, 'स्व-भाव' और 'स्वरूप' मे रहना, और यही व्याख्या प्रत्येक व्रत के सम्बन्ध मे लागू होती है। इस प्रकार फलितार्थ यह हुआ कि जो भी व्रत, नियम, सयम है, वह सब ब्रह्मचर्य हैं, क्योकि वह आत्म-भाव की साधना है।

ब्रह्मचर्य का रूढ अर्थ भी यही दृष्टि स्पष्ट करता है। देह और इन्द्रिया तो पर है, चाहे अपनी हो या पराई! उस देह और इन्द्रियो पर जब रागात्मक दृष्टि जगती है, वासना उत्पन्न होती है—तब वह अब्रह्मचर्य या व्यभिचार होता है। यह रागात्मक दृष्टि जब उच्छृ खल और उन्मुक्त रूप मे भ्रमण करती है, तब उन्मुक्त व्यभिचार पनपता है। इस दृष्टि को जितना नियन्त्रित किया जायेगा उतना ही व्यभिचार कम होगा। उतने अश मे ब्रह्मचर्य का विकास होगा।

विवाह भी ब्रह्मचर्य के लिए

●

समाज मे विवाह परम्परा का विकास क्यों हुआ, किन परिस्थितियो में हुआ? इस प्रश्न पर जब समाजविज्ञान की दृष्टि से सोचेंगे तो आपको कल्पना होगी कि विवाह उन्मुक्त एव उच्छृंखल व्यभिचार को रोकने के लिए नवोन प्रयोग था, और वह सफल हुआ। वस्तुत विवाह का उद्देश्य अब्रह्मचर्य का निवारण था,

ब्रह्मचर्य का सकल्प था। मनुष्य की रागात्मक वृत्ति जव कुलटा वन कर हजारो जगह घूमती थी, तव उसे पत्नी या एक पति के ऊपर केन्द्रित करने का काम विवाह परम्परा ने किया। इस दृष्टि से विवाह प्रथा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्य के विकास के लिए हुआ। दृष्टि को केन्द्रित और सयमित वनाने के लिए विवाह एक सीढी थी, उससे आगे वढकर व्यक्ति जव एक पर-देह की दृष्टि से भी मुक्त हो जाता है, स्व-देह की भावना से भी ऊपर उठकर आत्मस्थ-आत्मकेन्द्रित हो जाता है, तव वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की आराधना कर लेता है।

हा, तो मैं आप से चर्चा यह कह रहा था कि ब्रह्मचर्य वस्तुत एक दृष्टि है, और सम्यग्दर्शन भी एक दृष्टि है। वाहर मे ये दो शब्द दो किनारो पर खडे दिखाई देते है, किन्तु जव उसकी गहराई मे उतरते है तो सम्यग्दर्शन ब्रह्मचर्य है, और ब्रह्मचर्य सम्यग् दर्शन हैं। निश्चय नय से यह व्याप्ति सत्य है—कि जहा ब्रह्मचर्य है, वहा सम्यग्दर्शन है, और जहा सम्यग्दर्शन है, वही वस्तुतः ब्रह्मचर्य है। क्योकि सम्यग्दृष्टि का ब्रह्मचर्य ही ब्रह्मचर्य होता है, मिथ्या दृष्टि का नही। सम्यग् दर्शन ब्रह्मचर्य का मूल है, और शेप उसकी शाखा प्रशाखा है। जीवन की जो उर्ध्व दृष्टि है, वह सम्यग् दर्शन है, वह ब्रह्मचर्य है, और जो अधोदृष्टि है, वह मिथ्यादर्शन है, व्यभिचार है।

१-१०-६८ सपावन

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

अणथोव वणथोवं, अग्गीथोव कसायथोव च।
ण हु भे वीससियव्व, थोव पि हु ते वहुं होई॥

—आव० निर्युक्ति १२०

ऋण, व्रण (घाव) अग्नि और कपाय—यदि इनका थोडा-सा अश भी है, तो उसकी उपेक्षा नही करनी चाहिए। ये अल्प भी समय पर वहुत (विस्तृत) हो जाते है।

उपाध्याय अमर मुनि

अहंकार उतर गया

एक बार राज सभा मे महाराज भोज के समक्ष उनके दान की बही (विवरण पत्रिका) पढी जाने लगी, तो उसे सुनकर राजा का हृदय गर्व से फूल गया। अहकार के नशे मे आकर राजा ने अपने सभासदो से कहा—"मैंने वह किया है, जो आज तक किसी ने नही किया, मैंने वह दिया है, जो आज तक किसी ने नही दिया! एक तरह से असाध्य को मैंने साध लिया है, अब मेरे मन में 'कुछ नहीं किया' का कुछ भी परिताप (दु ख) नही रहा।" राजा के बार बार यो कहने पर पुराने मत्री का मन चिंता से दब गया—"कही यह अभिमान राजा के तेज को नष्ट न कर दे।"

कहा जाता है, दूसरे दिन मत्री ने महाराज विक्रमादित्य की पुरानी धर्म-बही निकालकर राजा भोज को दिखाई। उसमे सबसे पहली पक्ति मे लिखा था—राजा विक्रमादित्य ने इस काव्य (श्लोक) को सुनकर उसके पारितोषिक में निम्न दान किया—"आठ करोड स्वर्ण मुद्रा, ९३ तुला मोती, मत्त भौरो से परेशान हुए रोषारुण उद्धत पचास हाथी, दस हजार चपल घोड़े, और सौ नर्तकिया! यह सामग्री दक्षिण के पाण्डच राजा ने श्री विक्रमादित्य को दण्ड के रूप मे भेट की और राजा ने उसे ज्यो की त्यो उस काव्य पढने वाले को दान मे देदी।"

राजा भोज दातो मे अगुली दबाये दो बार, चार बार इस विवरण को पढता चला गया। उसकी आँखें फटी सी रह गई? अहकार पर ऐसी चोट पडी कि वह खण्ड खण्ड होकर बिखर गया। विक्रम के इस सुमेरु तुल्य दान के समक्ष उसे अपना दान एक मिट्टी के ढेले के बराबर प्रतीत हुआ। कुछ भी तो नही!

—प्रबन्धचिन्तामणि १ पृ० ३५

★

उपाध्याय अमरमुनि

जो समाज अतीत जीवी है, एक मात्र अतीत के ऊपर ही जीवन धारण करता है, मृत विगत पर ही आखे विछाए बैठा है, वह कभी प्रगति नही कर सकता। आखे मस्तक मे आगे की ओर लगी हैं, इसका अर्थ है—हम वर्तमान मे से भविष्य की ओर देखें, सुन्दर भविष्य के निर्माण की योजनाएँ विचारे। यदि अतीत दर्शन ही प्रकृति को अभीष्ट होता, तो आखे मस्तक के पृष्ठ भाग मे पीछे की ओर लगी होती।

किवदन्ती है कि मनुष्य के चरण आगे की ओर होते हैं, तो भूत प्रेतो के चरण पीछे की ओर मुड़े होते है। क्या है, क्या नही, यह मीमांसा यहा नही करनी है। इसका अर्थ यहा अभी इतना ही लेना है कि जिन के चिन्तन, मनन और कर्म अतीत की परिकल्पनाओं के आधार पर निश्चित होते हैं, वे आगे नही बढ सकते, पीछे की ओर ही लौटते है। उनके भाग्य मे प्रगति नही, अप्रगति एव अवगति ही होती है।

नेहरू जी ने कभी कहा था–अतीत महान् है। अतीत के गौरव से बढकर बहुमूल्य वस्तु और कुछ नही है। किन्तु जब तब केवल उसी अतीत के गौरव पर निर्भर रहने से बढकर खतरनाक चीज भी और कुछ नही है।

+ + +

आज के बालक और बालिकाएँ, आज के युवक और युवतिया किसी भी समाज एव राष्ट्र के आने वाले कल (भविष्य) के प्रतिनिधि हैं। आने वाला कल सुन्दर होगा या असुन्दर, यह उनकी योग्यता

पर निर्भर है। कल के निर्माता आज अपने को कल के योग्य बनाएँ। मन, वाणी, कर्म की प्रबुद्धता ही सृजनात्मक प्रवृत्ति का मूल तत्त्व है।

\+ + +

शक्ति ही विभूति का मूल है। कोई भी समाज तथा राष्ट्र अपनी आन्तरिक एव बाह्य शक्ति से प्रगति कर सकता है, आगे बढ सकता है। शक्तिशून्य शिव भी शव हो जाता है। शव अर्थात् निष्प्राण, निस्तेज, निश्चेष्ट!

\+ + +

भारत की सस्कृति सदा गतिशील रही है, वह कभी भी स्थितिशील नही रही। यह भारतीय सस्कृति की प्रवहणशीलता ही है, जिसने अपने मे अनेकानेक विभिन्न प्रकृति की सस्कृतियो को भी आत्मसात् कर लिया है, और फिर भी वह अपने मूल स्वरूप को ज्यो का त्यो बनाये हुए है। अपना मौलिक श्रेष्ठत्व उसका क्षीण नही हुआ है।

भारतीय सस्कृति गंगा की वेगवती निर्मल धारा है, गगा मे जो भी नदी या नाला मिला, गंगा हो गया। अनेको को एकत्व प्रदान करने की अद्भुत क्षमता है भारत की सास्कृतिक परम्परा मे।

\+ + +

जीवन का आदर्श क्षुद्र नही, विराट होता है—तलैया नही, सागर होना है। तलैया के भाग्य मे दिन-प्रतिदिन सूख-सूख कर क्षीण होना बदा है। तलैया कभी अमर नही रह सकती। सागर वस्तुत सागर है। अनन्त अतीत से वह गर्ज रहा है, कभी थक कर सोया नही है, मरा नही है। विराट न कभी थकता है, न सोता है, और न मरता ही है। क्षुद्र नही, विराट बनो—तलैया नही, सागर बनो।

\+ + +

विस्तार बड़े महत्व की वस्तु है। हर कोई विस्तार पाना चाहता है, प्रसार और प्रचार पाना चाहता है। परन्तु विस्तार की एक समस्या है, वह यह है कि विस्तार किस दशा मे हो! क्योकि प्राय वस्तुएँ दिशाहीन विस्तार प्रक्रिया मे एक निश्चित सीमा के बाद

अपने परिमाण और प्रकार दोनो ही गुणो को खो देती है। अत. विस्तार की दिशा का निर्धारण अवश्य होना चाहिए।

\+ + +

जीवन सघर्ष है, सग्राम है। जीवन को कदम कदम पर तूफानो —झझावातो का सामना करना पडता है, पर्वत जैसी बाधाओ से टक्कर लेनी पडती है, नुकीले काटो की राह पर चलना होता है। जीवन महकते कोमल पुष्पो की सेज नही है। जीवन शूली का पथ है, उस पर वही आदमी चल सकता है, जिसका दिल खिलाड़ी का-सा होता है। खेल मे हार जीत होती है, किन्तु खेल सिखलाता है कि हार मे भी जय का घोष क्षीण नही होने देना है। यदि किसी को सघर्परत ससार मे आगे बढना है, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह खिलाड़ी बने।

\+ + +

भारतीय अध्यात्म दृष्टि बाहर के आवरणो तक ही आबद्ध हो जाने वाली दृष्टि नही है। वह एक पारदर्शी दिव्य दृष्टि है, जो देश-विदेश, जातपात, स्पृश्यास्पृश्य, ऊँचनीच, पापपुण्य आदि विरोधी द्वन्द्वो के आर-पार मानव हृदय की निर्मलता के दर्शन करती है। वह रावण मे भी अन्दर गहराई मे छिपे हुए राम को देख लेती है। मानव ही क्यो, भूतमात्र मे भगवान का, एक दिव्य समानता का दर्शन अध्यात्म दृष्टि की विशेपता है, जिसकी तुलना इधर उधर अन्यत्र कही हो नही सकती।

\+ + +

भगवान् महावीर ने कहा साधक को मात्रज्ञ होना चाहिए। वह साधक ही क्या, जिसे मात्रा का, सीमा का कोई परिज्ञान न हो। तप हो, त्याग हो, आचार हो, विचार हो, कुछ भी हो, निरन्तर लक्ष्य मे रखो कि वह कितना होना चाहिए। कितना, भूले कि सर्व नाश।

वैद्य औपधि जानता है, किन्तु यदि वह ओपधि (दवा) की मात्रा नही जानता है तो वह रोगी को जीवन देगा या मरण? मात्रा से इधर या उधर दिया गया अमृत भी विप हो जाता है। और ठीक मात्रा मे दिया गया विप भी अमृत का काम करता है।

इसी सदर्भ मे साधक के लिए आचार्य उमास्वाति ने कहा है—**'शक्तितस्त्यागतपसी'** अपनी शक्ति के अनुसार ही तप और त्याग अपनाना चाहिए। शक्ति के अनुसार ठीक मात्रा मे तप और त्याग स्वीकार करने वाला तीर्थंकर होता है, अन्य नही।

+ + +

सत्कर्म के लिए, गुरुजनो की ओर से आज्ञा की अपेक्षा, आशीर्वाद की अधिक जरूरत है। आज्ञा नही मिलती है, तो अनुज्ञा तो कभी–न–कभी मिलेगी ही—आज नही तो कल! कल नही तो परसो। राम को वनवास के लिए पिता की ओर से कहा आज्ञा मिली थी? तथागत बुद्ध को महाभिनिष्क्रमण के लिए पिता का कब आदेश मिला था? आज्ञा का प्रश्न मुख्य नही है, मुख्य प्रश्न है आशीर्वाद का। हर पुत्र को और हर पुत्री को, हर शिष्य को और हर शिष्या को गुरुजनो की ओर से आशीर्वाद अवश्य मिलना चाहिए। आज्ञा परिस्थिति पर निर्भर है, कभी नही भी मिल सकती है।

और जो सत्कर्म के लिए समय पर अन्तर्हृदय से आशीर्वाद नहीं दे सकता, वह गुरुजन नही, कुछ और होगा?

सत्कर्म स्वय ही एक आशीर्वाद है।

+ + +

सेवा के सम्बन्ध मे एक प्रश्न किया जाता है कि सेवा किसकी करें और किसकी नही? मैं पूछता हूँ—पानी किसको पिलाना चाहिए? आपका उत्तर होगा प्यासे को। बस, इसी पर से सेवा का प्रश्न भी हल हो जाता है। सेवा उसकी करनी चाहिए, जिसे सेवा की जरूरत है।

शराब पीकर गन्दी नाली के कीचड मे बेहोश पड़े हुए को भी सहृदय भाव से उठाना चाहिए, यह सेवा है। पापी से पापी रोगी की भी सार सँभाल करनी चाहिए, यह सेवा है। अवैध सन्तान को जन्म देने वाली व्यभिचारणी स्त्री की भी प्रसूतिगृह आदि मे योग्य देखभाल रखनी चाहिए, यह सेवा है। सेवा पापी या पुण्यात्मा की भाषा मे नही सोचती। वह सोचती है—करुणा की भाषा मे, अन्तर की सहज करुणा सेवा का मूल स्रोत है।

+ + +

धर्म और क्रिया काण्ड मे अन्तर है, महान् अन्तर ! धर्म अन्तरग की एक पवित्र, स्थिर स्थिति है, और क्रियाकाण्ड धर्म की सामाजिक अनुभूति के लिए रखा जाने वाला सामयिक वातावरण है, जो वाहर की एक अस्थिर स्थिति है। क्रियाकाण्ड देश, काल, व्यक्ति की परिस्थिति के अनुसार वदलता रहा है, वदल रहा है, और वदलता रहेगा, परन्तु धर्म कभी नही वदलता। भगवान महावीर ने कहा है—
'एस धम्मे धुवे णिच्चे सासए.. ।'

\+ \+ \+

वैष्णव परम्परा सतसमागम को पारस मणि कहती है। 'पारसमणि लोहे को अपने स्पर्श से सोना वनाती है, तो सत अपने सदुपदेश से पापी को पुण्यात्मा और दुराचारी को सदाचारी वनाते है। यह ठीक है—निमित्त की भाषा मे। परन्तु परिवर्तन तो स्वय ही करना होता है। अन्दर मे साकल लगाकर बैठे हुए व्यक्ति के वन्द दरवाजे को वाहर मे कोई कितना ही खटखटाए, दरवाजा नही खुलेगा। दरवाजा खुलेगा तव, जव अन्दर मे व्यक्ति साकल खोलेगा।

निमित्त कैसे भी हो, कितने भी हो, आखिर सब कुछ व्यक्ति पर निर्भर है कि वह स्वय क्या करता है ?

सतत जागृति एव प्रयत्न ही साधक का अपना ध्येय होना चाहिए। पर सापेक्षता की एक सीमा है। वह कुछ दूर तक ही काम कर सकती है, आगे नही।

\+ \+ \+

आध्यात्मिक आदर्श को एक वार स्वीकारा नही कि साधक अहकार से मुक्त हो जाता है। अपनी श्रेष्ठता का अह साधना पथ का सब से वडा रोडा है, जिसकी ठोकर साधक को कही का नही छोडती।

स्वदोष-दर्शन कल्पित श्रेष्ठता के अह को तोडता है। **'मो सम कौन कुटिल खल कामी...'** के स्वर भले ही और कोई अच्छाई न करते हो, किन्तु एक अच्छाई अवश्य करते है कि साधक को साधनापथ का एक विनम्र यात्री वनाते है, दूसरो के प्रति उदार दृष्टि रखना सिखाते हैं, और अपनी भूलो का परिमार्जन करने के लिए सतत सावधान करते हैं।

●

श्रद्धेय उपाध्याय कविरत्न
श्री अमर मुनि
जन्म-दिवस समारोह

श्री अमर भारती

प
रि
शि
ष्ट
अं
क
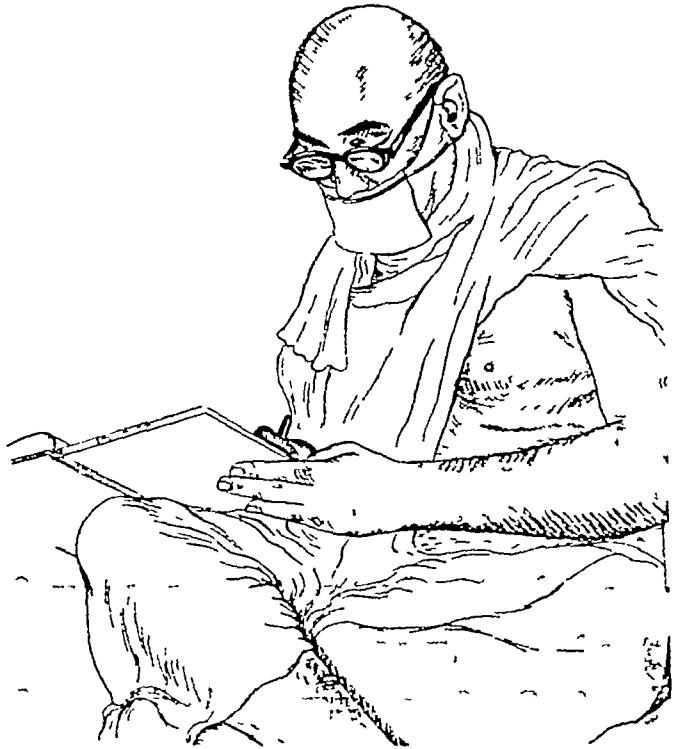
- समारोह के कार्यक्रम का आखो देखा सक्षिप्त विवरण
- सदेश व शुभकामनाए
- सूक्ति त्रिवेणी का उद्घाटन · परिचय व सम्मतियाँ

उपाध्याय कविरत्न श्री अमर चन्द जी म० का

६५ वां जन्मदिवस समारोह

आँखों देखा संक्षिप्त विवरण

पृष्ठभूमि

गत वर्ष सन् १९६७ की शरद् पूर्णिमा का पूर्व दिवस ! आश्विन शुक्ला चतुर्दशी ! मानपाडा-आगरा मे कवि श्री जी ने प्रवचन दिया । प्रवचन समाप्त होते ही एक श्रद्धालु सज्जन श्री पद्मचन्द जी दूगड उठे, और अत्यन्त भाव विभोर मुद्रा मे कवि श्री जी की जय बोलते हुए कहा—'कल कवि श्री जी का जन्मदिवस है !'

परिषद् मे एक सुखद आश्चर्य की लहर दौड गई, उत्सुकता और जिज्ञासा भरी आँखो से सब एक दूसरे के समक्ष देखने लगे, परिषद् रुक गई, और सैकडो आँखे एक साथ कवि श्री जी की शान्त, सौम्य आकृति पर भँवरे की नाई मडरा उठी, इस सूचना के सम्बन्ध मे जनता आगे कुछ जानना चाहती थी, पर कवि श्री जी मौन ! तटस्थ ! निस्पृह ! विना किसी व्यवधान के मगल पाठ के साथ उन्होने कार्यक्रम समाप्त कर दिया ।

दश-दश, बीस-बीस वर्ष से कवि श्री जी के सपर्क मे आने वाले व्यक्तियो ने कवि श्री जी के जन्म-दिवस के सम्बन्ध मे कभी कुछ सुना नही ! सुनते भी कैसे ? कवि श्री जी ने अपने सम्बन्ध मे आज तक किसी को कुछ बताया भी नही । व्यक्ति के विगत जीवन की चर्चा, परिचर्चा मे वे कभी कोई रस नही लेते । वे भविष्यद्रष्टा है, उन्होने अतीत को इतिहास-चक्षु से देखा है, पर वे समाज को अतीत के अन्तराल मे ले जाना नही चाहते । वे अतीत के अनुभव को आत्मसात् करके राष्ट्र व समाज के समक्ष भविष्य का उज्ज्वल दर्शन उपस्थित करते रहे है । स्वात्म-विज्ञप्ति की दृष्टि उनमे है ही नही, फिर उनके निकटतमसूत्र उनके सम्बन्ध मे कैसे, क्या जान सकते ? जो जानते हैं, वे उनके जीवन्त वर्तमान को जानते हैं, और उसी आधार पर उनके उज्ज्वल अतीत का आभास पा लेते हैं ।

हा, तो शरद् पूर्णिमा के प्रात काल से ही कुछ विचित्र खुशी, अजब हलचल जैन स्थानक में झलक रही थी। मानपाड़ा के स्थानीय युवको ने चुपचाप ही नगर के प्रमुख विद्वानो, पत्रकारो व सामाजिक कार्यकर्ताओ को सूचनाएँ भेज दी थी। इस प्रकार शरद्पूर्णिमा का आयोजन कवि श्री जी के ६४वें जन्मदिवस के उपलक्ष्य मे प्रारभ हुआ।

कवि श्री जी ने इस नई हलचल को पसन्द नही किया। वे स्वय आत्म-केन्द्र पर रहते है, और अपने श्रद्धालुवर्ग को भी उसी केन्द्र पर ले जाने का प्रयत्न करते है। वे आत्मा को अजन्मा और अमरणधर्मा मानते हैं, इसलिए जन्म-दिवस मनाना उनकी दृष्टि के साथ जुड नही सकता। किन्तु श्रद्धालुजनो की उमडती हुई श्रद्धा का अनादर, तथा कठोर निषेध करने के पक्ष में भी वे कभी नही रहे है, इसलिए कवि श्री जी इस दिन एक विचित्र स्थिति मे थे।

सभा मे प्रतिदिन की अपेक्षा बहुत अधिक भीड थी। नगर के अनेक वर्गो के गण्यमान्य व्यक्ति, विद्वान्, पत्रकार व राजनीतिज्ञो ने कवि श्री जी का श्रद्धापूर्ण अभिनदन किया। डा० पदमसिंह शर्मा 'कमलेश', डा० राजकुमार जैन, श्री महेन्द्र जी, सेठ अचलसिंह जी एम० पी० आदि ने प्रतिवर्ष इस प्रकार का आयोजन करने के लिए जोरदार शब्दो मे प्रस्ताव किया।

कवि श्री जी के जन्म-दिवस के उपलक्ष्य मे वह पहला समारोह था, जो नये उत्साह के साथ प्रारभ हुआ, और भविष्य के लिए एक मार्गदर्शन, एक स्फूर्ति देकर सम्पन्न हुआ।

+ + +

इस वर्ष (१९६८) उपाध्याय श्री जी लोहामण्डी आगरा मे वर्षावास हेतु अवस्थित है। विदुषी महासती श्री सुमतिकु वर जी, क्रान्तद्रष्टा साध्वी चन्दना जी आदि भी पूना से कवि श्री जी की ज्ञान ज्योति का लाभ प्राप्त करने आगरा पधारी हुई है। महासती सुमतिकुवर जी कवि श्री जी के जीवनस्पर्शी विचार व साहित्य को जन जीवन मे प्रसारित करने के लिए सकल्पशील हैं। एक दिन सहज भाव से उन्होने जनता को प्रेरणा दी, और सयोगवश जन्मदिवस की तिथि भी निकट आ गई थी। जनता मे प्रेरणा जगी कि इस वर्ष कवि श्री जी का जन्मदिवस समारोह पूर्वक मनाया जाए, तथा उनके जीवनस्पर्शी साहित्य को घर-घर मे प्रसारित करने के लिए कोई ठोस

योजना बनाई जाएँ। बस, कुछ ही क्षणों मे सहजभाव से अन्तः स्फुरित प्रेरणा ने सक्रियरूप धारण कर लिया और कार्यक्रम को सुचारु रूप से सचालित करने के लिए सेठ अचलसिंह जी एम० पी० के सयोजकत्त्व मे एक समिति गठित हुई, जिसमे आगरा के नगर प्रमुख श्री कल्याणदास जैन आदि तन मन धन से सहयोग करने के लिए जुट गए।

बस, यह सक्षिप्त-सी पृष्ठभूमि है श्रद्धेय कवि श्री जी के ६५ वे जन्म-दिवस समारोह की।

अब आइए, शरद्पूर्णिमा (१९६८) के दिन जैन गगन के निर्मल शारदीय चन्द्र, कवि कुल कलाधर उपाध्याय श्री जी के जन्म-दिवस समारोह का आँखो देखा हाल सुने।

समारोह की सफलता एव कवि श्री जी के स्वस्थ दीर्घजीवन की शुभकामिना के लिए ये पत्र, तार आ रहे है। तीन चार दिन से यही ताता लगा हुआ है। इन सदेशो मे भारत के उपराष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि, श्री के० एम० मुन्शी केन्द्रीय स्वास्थ्यमत्री श्री सत्य-नारायण सिंह आदि राज नेताओ के सदेश है, अनेक साहित्यकारो, उद्योगपतियो, सामाजिक कार्य कर्त्ताओ श्रीसघो, एव सभा सस्थाओ की शुभ कामनाए हैं। विभिन्न नगरो में स्थित मुनिवरो की श्रद्धा पूर्ण भावाञ्जलियाँ भी हैं।

आज शरदपूर्णिमा है। जन्मदिवस समारोह मे सम्मिलित होने के लिए भारत के विभिन्न स्थानो से दर्शनार्थी आ रहे हैं।

अब प्रात ८॥ बजे हैं। जन्मदिवस समारोह का कार्यक्रम प्रारभ हो गया है। लोहामण्डी स्थित जैन भवन का प्रवचन हाल रगबिरगी परिषद् से अभी भरा जा रहा है। महासती श्री सुमतिकुवर जी के मधुरस्वर से णमोक्कार मन्त्र के उच्चारण के साथ मगलाचरण हो रहा है। मगलाचरण के पश्चात् सभा के सह सयोजक श्रीचन्द सुराना जन्म-दिवस समारोह की पृष्ठभूमि बतलाते हुए सक्षिप्त परिचय दे रहे हैं। अध्यक्ष स्थान के लिए स्थानकवासी समाज के अग्रगण्य नेता बीकानेर निवासी श्री चपालालजी बाठिया का नाम प्रस्तुत किया गया है, लोहामडी जैन सघ के वयोवृद्ध श्रावक श्री बाबूलाल जी इसका

अनुमोदन कर रहे हैं और बाठिया जी से अध्यक्षता स्वीकार करने के लिए प्रेम भरा आग्रह हो रहा है।

अध्यक्ष महोदय अपने स्थान पर आसीन हो गए है। अब बालिकाओ द्वारा स्वागत गीत प्रस्तुत किया जा रहा हैं। मधुर गान के पश्चात् विदुषी महासती सरला जी उपाध्याय श्री जी के विराट् व्यक्तित्व का सारपूर्ण शब्दो मे शब्द-चित्र उपस्थित कर रही है। प्रवचन माला मे वे बीच-बीच मे कवि श्री जी के विचार सुमनो को इस प्रकार गूँथती जा रही है कि दर्शक व श्रोता भाव विभोर हुए दत्तचित्त सुन रहे हैं।

महासती जी का प्रवचन हुआ। अब रतन प्रकाशन मदिर के सचालक श्री पदमचन्द जी जैन कवि श्री जी के अभिनन्दन मे अपने भक्तिपूर्ण उद्‌गार व्यक्त कर रहे है।

इस समरोह मे भाग लेने के लिए कुरुक्षेत्र विश्व विद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष डा० पदमसिह शर्मा 'कमलेश' विशेष रूप से उपस्थित है। वे अपनी ओजपूर्ण साहित्यिक भाषा मे कवि श्री जी के गरिमामय व्यक्तित्व का सद्दर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं। कवि श्री जी के सार्वजनिक साहित्य को विश्व की अनेक भाषाओ मे अनूदित करके प्रचारित करने पर बल देते हुए कह रहे हैं—"इस प्रकाशपुज को अपने ही घट मे बन्द मत रखिए, अनन्त गगन मे उन्मुक्त कर दीजिए कि विश्व की तमसाच्छन्न जीवन दृष्टि ज्योतिदान प्राप्त कर सके।"

अव सेठ अचलसिह जी एम० पी० कवि श्री जी का हार्दिक अभिनन्दन कर रहे है—"कवि श्री जी जैन समाज के ज्योतिर्मय नक्षत्र है। आपका ज्ञान, आपका चरित्र उच्चकोटि का है। हम हृदय के कण कण से आपका अभिनन्दन करते है".

सभा मे उपस्थित होकर श्रद्धा व्यक्त करने के लिए वक्ताओ के नाम की पर्चियाँ आ रही है। श्री सुराना आने वाले वक्ताओ से निवेदन कर रहे हैं कि वे असीम श्रद्धा को अतिससीम शब्दो मे व्यक्त कर के सभी को भावाभिव्यक्ति का अवसर देने मे सहयोग करे।

अव रत्नमुनि जैन कालेज आगरा के प्राध्यापक डा० चन्दनलाल पाराशर सक्षिप्त वक्तव्य के साथ नव रचित सस्कृत श्लोको के द्वारा

कवि श्री जी का भावभीना अभिनन्दन कर रहे हैं। वे बता रहे हैं कि ससार मे नरत्व दुर्लभ है, विद्वत्त्व और भी दुर्लभ हैं, कवित्त्व उससे भी दुर्लभ है, और इन तीनो के साथ साधुत्त्व तो अत्यन्त दुर्लभ हैं। इन सब दुर्लभताओ का आधान एक साथ उपाध्याय कविरत्न श्री अमर मुनि जी मे हुआ है।"

अब आगरा कालेज मे हिन्दी के प्राध्यापक व सुप्रसिद्ध समालोचक श्री विश्वम्भर शर्मा 'अरुण' समीक्षात्मक दृष्टि से कवि श्री जी के बहुमुखी व्यक्तित्व का अकन करते हुए अभिनन्दन के साथ स्वस्थ दीर्घजीवन की कामना करते हैं। ये लीजिए श्री राजाबाबू जैन एक स्वनिर्मित गायन प्रस्तुत कर रहे हैं।

और ये हैं राजस्थान प्रान्तीय अणुव्रत समिति के मन्त्री श्री पन्ना लाल बांठिया, कवि श्री जी के समन्वयात्मक उदार दृष्टिकोण का चित्रण करते हुए कह रहे है—"समाज व राष्ट्र को युग युग तक आपका स्वस्थ चिन्तन एवं उदार मार्ग दर्शन मिलता रहे, यही शुभ कामना है।"

जे० के० सिंहानिया उद्योग कानपुर शाखा के मैनेजर श्री मदन सिह छाजेड इसी उपलक्ष मे कानपुर से आये हैं और बड़े ही भाव पूर्ण शब्दो मे कवि श्री जी का अभिनन्दन करते हुए शतायु जीवन की मगल कामना कर रहे हैं।

श्री जैन साहित्य शोध सस्थान, आगरा की ओर से श्री प्रताप चन्द्र जी बैनाडा श्रद्धा-पूर्ण तात्त्विक भाषा मे कवि श्री जी के विचार तथा दर्शन को प्रस्तुत करते हुए अपनी शुभ-कामनाए व्यक्त कर रहे हैं।

ये लीजिए श्री पदमचन्द जी दूगड जिन्होने गत वर्ष जन्मदिवस समारोह के शुभारम्भ मे पृष्ठभूमि का काम किया था। वे बहुत समय से भाव विभोर हुए ललक रहे थे। अब अत्यन्त श्रद्धाभिभूत मुद्रा मे अपनी भावनाए व्यक्त करने को उठे हैं, दर्शक गण उनकी भाव मुद्रा से अत्यन्त हर्षित हो रहे हैं।

अब आ रही है कुमारी रेखा, पुष्पा, सरोज, लता और शकुन्तला एक सवाद नाटिका प्रस्तुत करने को। इनका कुशल निर्देशन साध्वी

श्री यशा जी कर रही है। कवि श्री जी के व्यक्तित्व का आज के युवा-मानस पर प्रभाव व आकर्षण शीलता का चुस्त तथा धाराप्रवाही सवाद सुनने मे सभी दत्त चित्त है।

अब कवि श्री जी के सेवाभावी श्री जिनेशमुनि मधुर गीतिका प्रस्तुत कर रहे हैं, और लगते ही श्री चन्द्रभूषणमणि त्रिपाठी (पाथर्डी) सस्कृत कविता द्वारा कवि श्री जी की वन्दना-नन्दना कर रहे हैं।

लोहामण्डी आगरा के वयोवृद्ध श्रावक श्री बाबूलाल जी शास्त्री अब आगरा सघ की ओर से कवि श्री जी का अभिनन्दन करते हुए शुभ कामना व्यक्त कर रहे है—"युग युग तक आगरा सघ को इसी प्रकार आपकी पवित्र वाणी सुनने का अवसर मिलता रहे, शासन देव से यही हार्दिक प्रार्थना करता हूँ।"

ये आए है श्री राहत देहलवी, देहली के प्रसिद्ध शायर। जन्मदिवस समारोह के लिए देहली से अभी अभी आये हैं, आज के शुभ अवसर के उपलक्ष मे एक नजम पेश कर रहे हैं।

श्री देहवली की नजम पर जनता झूम-झूम उठी है, कवि श्री जी के प्रति उसमे कमाल की भक्ति झलक रही है।

समय बहुत अधिक हो गया है, फिर भी जनता शान्त बैठी है, सभी एक अजब आनन्द मे मग्न हो रहे हैं, अब विदुषी महासती श्री सुमति कुंवर जी जिन्होने समारोह को व्यापक रूप मे मनाने की प्रेरणा दी थी भक्ति गद्गद् हृदय से कवि श्री जी के विराट् व्यक्तित्व एव असीम कृतित्व की लोकोपकारिता का निदर्शन करते हुए अपनी हार्दिक आदराञ्जलिस प्रस्तुत कर रही है।

श्री सुभाष चन्द्र सुराना कवि श्री जी का अभिनन्दन करते हुए उनके साहित्य व श्री अमर भारती के यापक प्रचार के लिए प्रभावकारी प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहे है।

श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी से निवेदन किया गया है कि वे आज के समारोह के लिए दूर दूर से आए हुए श्रद्धालु श्रावक वर्ग-एव जिज्ञासु श्रोताओ को अपना प्रेरक सदेश प्रदान करें।

बडी गम्भीर मुद्रा के साथ अब श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी प्रेरणादायी सदेश दे रहे है—"आज की स्थिति कुछ विचित्र है, मैं अपनी आलोचना व निन्दा सुनता रहा हूँ, उसकी मुझे एक आदत हो गई है, किन्तु प्रशसा सुनने की आदत मुझे नही है। मैं चाहता हूँ कि यह प्रशसा मेरी व्यक्तिगत न होकर उन आदर्शों की हो, उन सिद्धान्तो की हो, उस ज्योति की हो, जो ज्योति मेरे भीतर भी जल रही है और आपके भीतर भी। व्यक्ति का जीवन, धर्म, सस्कृति, समाज और राष्ट्र के लिए एकज्योति बनकर जल उठे, एक फूल बनकर खिल उठे, वह फूल जो स्वय भी महके और पास मे गुजरते हर राही को अपनी मधुर महक से परितृप्त कर दे। बस आज के दिन मेरा आपको यही सन्देश है।"

कवि श्री जी का प्रेरणादायी सदेश पाकर सर्वत्र एक स्फूर्ति और प्रसन्नता छा गई है, इसी प्रसन्नता के वातावरण मे अब ग्यारह बज कर तीस मिनट हो गये है, अब अध्यक्ष महोदय उपाध्याय श्री जी के प्रति अत्यन्त भावनाशील हृदय से आदराजलि प्रस्तुत करते हुए आज के प्रात कालीन कार्यक्रम का उपसहार करते हैं। मध्यान्ह का कार्यक्रम भी ठीक दो बजकर तीस मिनट पर प्रारम्भ होगा, अत धन्यवाद ज्ञापन के साथ आज का प्रात कालीन समान्य कार्यक्रम अब समाप्त हो रहा है। जयनाद से पूरा जैन भवन गूज उठा है, बाहर से समागत अतिथियो को श्री सघ के कार्यकर्त्ता बड़े प्रेम व आग्रह से भोजन के लिए मजूमल की बगीची मे ले जा रहे है।

\+ \+ \+

लीजिए ये है आज के समाचार पत्र! दैनिक अमर उजाला, दैनिक सैनिक, दैनिक उजाला! और कई साप्ताहिक पत्र पत्रिकाएँ। सभी मे बडे-बडे अक्षरो मे आज के कार्यक्रम की सूचना है, और दो दो तीन-तीन कालमो मे कवि श्री जी का जीवन परिचय, व्यक्तित्व दर्शन प्रकाशित हुआ है—छविचित्रो के साथ! लगता है पत्रकारो मे भी आज के कार्यक्रम का अच्छा आकर्षण है, कवि श्री जी के व्यक्तित्व का चुम्बकीय प्रभाव सर्वत्र जादू की तरह छाया हुआ है।

मध्यान्होत्तर कार्यक्रम

यह है आगरा कालेज का श्री गंगाधर शास्त्री भवन। श्री पद्म चन्द जी जैन, श्री सोहनलाल जी जैन, श्रीचन्द सुराना 'सरस' एव श्री रघुनाथ प्रसाद उपाध्याय 'नीरस' आदि कार्यकर्ता बडी स्फूर्ति व सरसता साथ व्यवस्था मे सलग्न है। अब दिन के दो बजकर पच्चीस मिनट हो रहे हैं, पुरुष व महिलाएँ विशाल सख्या मे आ रहे है। हाल के बीच मे फर्श विछे हैं, एक किनारे व आखिर मे कुर्सिया लगी हैं। जनता यथास्थान जम रही है। ये आ गए हैं सभा के मुख्य सयोजक सेठ अचलसिह जी एम० पी० और ठीक ढाई बजे आज की सभा के अध्यक्ष डा० श्री पी० एन० वाही (उपकुलपति, आगरा विश्वविद्यालय) भी हाल मे पधार गए है। ये लीजिए श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी, श्री अखिलेश मुनि जी एव जिनेशमुनि जी पधार गए है। इधर से महासती सुमतिकुवर जी आदि साध्वी मडल भी अपने पट्ट पर आसीन हो चुकी है। और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री एव अ० भा० श्वे० स्था० जैन कान्फ्रेंस के अध्यक्ष डा० डी० एस० कोठारी ठीक समय पर आ गए है। हाल मे प्रविष्ट होते ही दोनो हाथ जोड़े जनता का अभिवादन कर रहे हैं, डा० कोठारी कवि श्री जी के निकट पहुँच गए है, वडी ही श्रद्धापूर्ण विनत मुद्रा मे वन्दना कर रहे हैं, और अब अपने स्थान पर आसीन हो गये है।

प्रमुख अतिथि डा० कोठारी, डा० वाही सेठ अचलसिह जी एम० पी०, आगे की तीन कुर्सियो पर है और पास ही मे बैठे ह आगरा के नगरप्रमुख श्री कल्यानदास जैन और उनके ठीक पास मे हैं भूतपूर्व नगरप्रमुख श्री शम्भुनाथ चतुर्वेदी तथा अन्य विशेष अतिथि, पत्रकार आगे कुर्सियो पर बैठे हैं और पीछे जनता। सभा भवन आखिर तक भर चुका है, जनता बाहर द्वार पर भी खड़ी है।

अब कार्यक्रम प्रारभ हो रहा है। सेठ अचलसिह जी ने सक्षिप्त में कार्यक्रम की भूमिका प्रस्तुत करके महासती सुमतिकुवर जी से मगलाचरण के लिए निवेदन किया है।
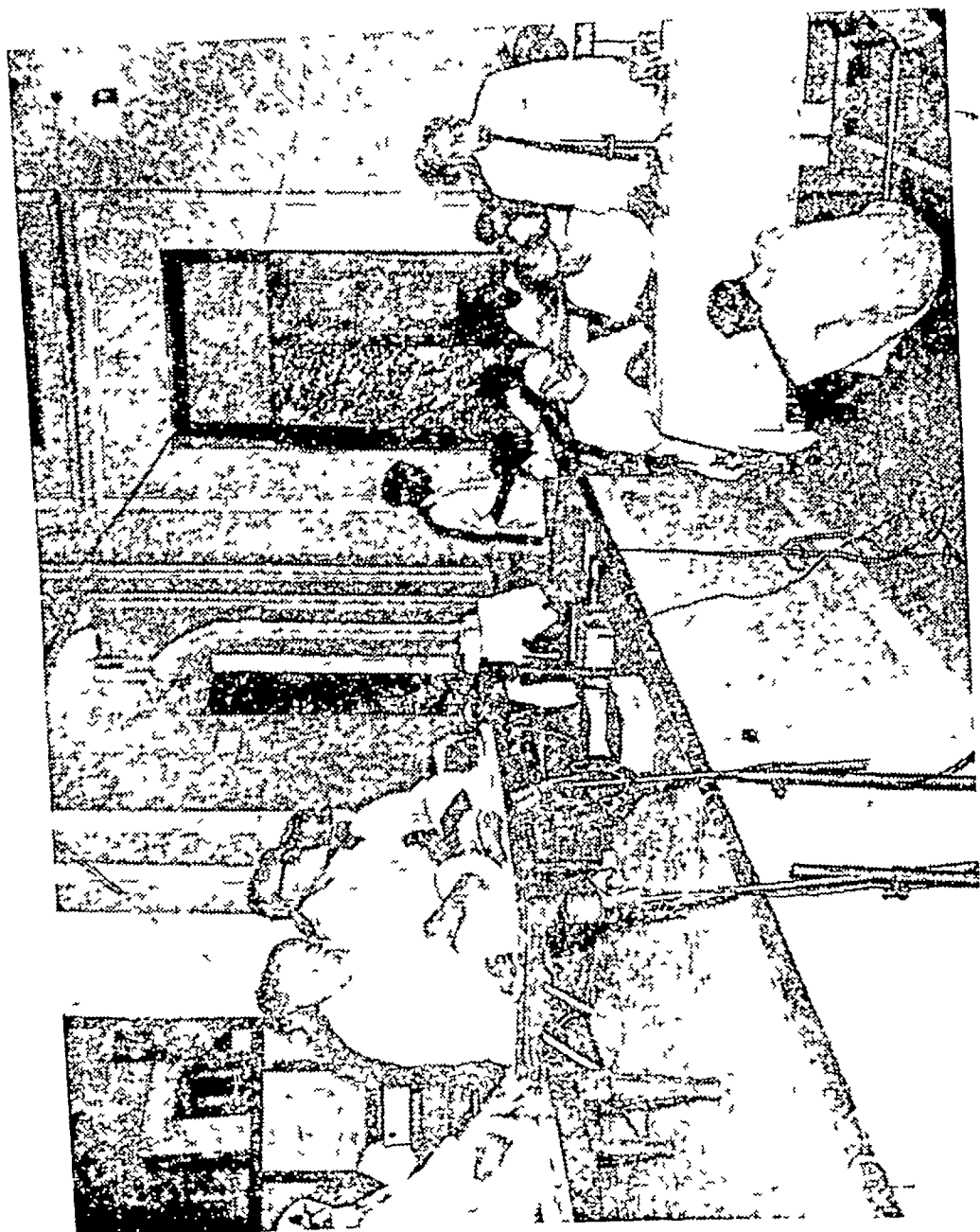
जन्म-दिवस समारोह के अवसर पर डा० दौलतसिंह कोठारी कवि श्री जी का अभिवादन कर रहे हैं। पीछे खड़े हैं 'अमर भारती' के संपादक श्रीचन्द सुराना और वीरेन्द्र कुमार सकलेचा

मंगलाचरण के पश्चात् अब कुमारी मधु, सरोज आदि छात्राएँ स्वागत गान प्रस्तुत कर रही है।

अब सेठ जी ने समागत जनता का स्वागत किया है। और अब आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति डा० वाही कार्यक्रम शुभारभ मे सर्वप्रथम 'कविसम्राट' सम्बोधन के द्वारा कवि श्री जी का भावभीना अभिनन्दन कर रहे है। साथ ही प्रमुख अतिथि डा० कोठारी का स्वागत एव उनके जीवन की दुर्लभ विशेषताओ का सक्षिप्त व सारगर्भित भी दे रहे है।

आगरा के प्रसिद्ध वकील श्री अमृतलाल चतुर्वेदी ब्रजभाषा की मधुर काव्य पक्तियो द्वारा कवि श्री जी का अभिनदन करते हैं। और अब आये हैं डा० पदमसिह शर्मा 'कमलेश'। कवि श्री जी के व्यक्तित्व के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा है, वही श्रद्धा शब्दों मे छलक रही है। ये है आगरा के प्रसिद्ध समाजसेवी श्री महेन्द्रजी, साहित्य सन्देश के सम्पादक व अनेक सस्थाओ के सचालक। कवि श्री जी को समाज का विरल व्यक्तित्व बतलाते हुए उनके मार्गदर्शन मे भारतीय धर्म व सस्कृति के अभ्युदय की कामना करते है।

श्वेताम्बर जैन के सम्पादक, वयोवृद्ध समाजसेवी श्री जवाहर लाल जी लोढा अब स्वरचित पद्यो के द्वारा कवि श्री जी के प्रेरक जीवन व चिन्तन का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत कर रहे हैं।

जन्मदिवस के अवसर पर सैकडो सदेश, पत्र व तार प्राप्त हुए हैं जिनमें कवि श्री जी के प्रति हार्दिक श्रद्धा व्यक्त करते हुए उनके स्वस्थ दीर्घ-जीवन की शुभ कामना प्रकट की गई है। सन्मति ज्ञान पीठ के मत्री श्री सोनाराम जैन प्रमुख सदेशो का वाचन करके सब की नामावली सुना रहे हैं।

अब देखिए आ रहे हैं आगरा के नगरप्रमुख श्री कल्याण दास जैन, कवि श्री जी का नागरिक अभिनन्दन करने। श्री नगर प्रमुख कह रहे है—"भारत की भूमि ऋषि भूमि है, यहाँ पर ऋषि, सत एव महापुरुषो का अवतार हुआ—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध, शकराचार्य तुलसी, दयानन्द, रामकृष्ण, विवेकानन्द और गाधी ने जन्म लिया है, और उसी पुनीत परम्परा मे उपस्थित है—महानतत्वचिंतक

उपाध्याय अमर मुनि ।"—इन शब्दो के साथ श्री नगर प्रमुख कवि श्री जी का भावभीना अभिन्दन कर रहे हैं ।

बेंगलौर से आये हुए श्री जोधराज जी सुराना अब भावपूर्ण शब्दो मे कवि श्री जी की वन्दना करके कह रहे है–जैन जगत् के ज्योतिर्धर सत उपाध्याय श्री जी की वाणी मे वह जादू है, जो समाज के आबाल वृद्ध के हृदयो को एक समान आकृष्ट किए हुए हैं । यह एक गौरव की बात है कि समूचे समाज की श्रद्धा आज कवि श्री जी पर टिकी हुई है ।"

जनता के आग्रह पर श्री राहत देहलवी की एक नजम का कार्य-क्रम फिर हो रहा है, मधुर स्वर और श्रद्धापूर्ण शब्दावली पर जनता मुग्ध हो रही हैं ।

अब साध्वी चन्दना जी, जो स्थानकवासी जैन समाज की एक क्रान्तद्रष्टा साध्वी है, कवि श्री जी के विचार व चिन्तन को प्रस्तुत करती हुई ओज पूर्ण शब्दो मे उनके जीवन का आन्तरिक विश्लेषण प्रस्तुत कर रही है ।

आज की सभा के प्रमुख अतिथि, विश्वविद्याय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डा० दौलतसिह कोठरी अब जनता को सम्बोधित करते हुए कह रहे है—हमलोग अपने को अहिसा का पुजारी मानते हैं, अहिसा मे हमारी आस्था है, किन्तु हमारा व्यवहार इस आस्था के अनुकूल नही हो रहा है । पश्चिम मे विज्ञान की गति तीव्र है, वहाँ विज्ञान का भ्रष्टाचार हो रहा है । पूर्व मे धर्म का प्रभाव अधिक है, यहाँ पर धर्म का भ्रष्टाचार चल रहा है ।"

"श्रद्धेय कवि श्री जी के विचार मैंने सुने है, आपने भी सुने हैं, इनके विचारो मे जो स्फूर्ति और प्रेरणा है, इनके जीवन मे आदर्शो का जो मूर्तिमान रूप है उसे हमे जीवन मे उतारना चाहिए । आने वाला युग हमारा अर्थात् अहिसा का युग होगा और उसके लिए हमे अभी से अपने को तैयार करना है ।"

"कवि श्री जी जैसी महान् विभूति का अभिनन्दन करते हुए मुझे अत्यधिक प्रसन्नता है । सेठ जी ने जब दिल्ली मे मुझे यहाँ आने का प्रस्ताव किया तो मैंने तुरन्त बडी प्रसन्नता के साथ मानलिया, चूकि यहाँ पर हमे विचार व आदर्श की सबल प्रेरणा मिलती है ।"

डा० कोठारी जी का महत्वपूर्ण भाषण सुनने के पश्चात् सभी के चिन्तनसूत्र चैतन्य हो उठे है। अब महासती सुमतिकुवर जी आज के उपलक्ष मे आयोजित सूक्तित्रिवेणी के उद्घाटन समारम्भ पर ग्रन्थ का सक्षिप्त परिचय दे रही हैं—"महापुरुषो एव सतो के गभीर चिन्तन, मनन से स्फुरित ये सूक्तियां हमारे जीवनपथ को आलोकित करने वाली प्रकाश रश्मिया हैं। श्रद्धेय उपाध्याय श्री जी ने अकथनीय श्रम के साथ भारतीय वाङ्मय का अवगाहन करके ये सुभाषित हमारे समक्ष प्रस्तुत किए हैं। इन सूक्तियो के रूप मे मम्पूर्ण भारतीय चिंतन का नवनीत हमे उपलब्ध हुआ है, अब यह हम सब पर निर्भर है कि इससे हम कितना लाभ उठाते है।"

अब ग्रन्थविमोचन के लिए डा० कोठारी जी से निवेदन किया गया है, वे अत्यन्त प्रसन्नता पूर्वक ग्रन्थ को जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—" 'सूक्ति त्रिवेणी' मे भारतीय चिंतन की त्रिवेणी समाहित हुई है। इसमे भारत के चिंतन, मनन का क्रमिक निदर्शन प्रस्तुत हुआ है, जो प्रत्येक जिज्ञासु के लिए उपयोगी है, मैं चाहता हूँ इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का अधिक से अधिक प्रचार-प्रसार हो।"

जिन तपोधन प्रज्ञास्कध उपाध्याय कवि श्री अमर मुनि जी के अभिनन्दनहेतु यह समारोह आयोजित हुआ है उनका दिव्य-सन्देश सुनने के लिए समस्त श्रोतागण उत्सुक हो रहें है। सयोजक महोदय कवि श्री जी से प्रार्थना कर रहे हैं कि वे उपस्थित जन-ममुदाय को अपना प्रेरक सन्देश दें।

अब कवि श्री जी मगल प्रार्थना के साथ अपना उद्बोधक सदेश दे रहे हैं—"आप लोगो ने जो यह समारोह आयोजित किया है, वह मेरे समक्ष तथा भारतीय चिंतन के समक्ष एक प्रश्न चिन्ह है।"

"भारतीय दर्शन मे 'जन्मदिवस' नाम की कोई चीज नही है, आत्मा जिसे हम चैतन्य कहते हैं, वह तो अजन्मा है, अमरणधर्मा है, जन्म एव मरण से मुक्त उसका स्वरूप है। जिसका जन्म होता है, वह देह है, वह जड है, विनाशी है। फिर 'जन्म दिवस' किसका ? आत्मा का या देह का ?"

"मै अनन्त चैतन्य हूँ। मेरा न अतीत मे कोई किनारा है, न भविष्य मे, मै दो किनारो से परे अनादि अनन्त हूँ। अनन्त का कभी जन्म नही होता। जन्म नही तो मरण भी नही। अमर मुनि तो चैतन्य के अनन्त प्रवाह की एक लहर है, जैनदर्शन की भाषा मे एक पर्याय है। पर्याय जनमती है, मरती है, अखण्ड द्रव्य नही।"

"मैं आपको इस प्रश्न पर उलझाना नही चाहता, चूंकि दर्शन का विद्यार्थी हूँ, इसलिए दर्शन की बात आ ही जाती है।"

"आज आप जिस 'अमर मुनि' का अभिनन्दन कर रहे है, वह इस देह का नही, इस एक व्यक्ति का नही, व्यक्ति की सत्ता क्या है, इस अनन्त ससार मे एक बूंद ! किंतु उस बिन्दु मे जो सिन्धु की विराट् सत्ता है, व्यक्ति मे समष्टि का बीजाश है, यह उसी का अभिनन्दन है। भारतीय सस्कृति सन्तो की, ऋषि मुनियो की, सस्कृति है। सन्तो की परपरा का प्रवाह बहा आरहा है। मै भी एक नन्ही बूंद के रूप मे उसी प्रवाह के साथ बह रहा हूँ। अत. मेरे अपने अभिनदन के माध्यम से आप उसी परपरागत सतप्रवाह का अभिनदन कर रहे है, और मैं इसी रूप मे उसे ले रहा हूँ।"

"इस अभिनन्दन की फलश्रुति शब्दो तक सीमित नही हो जानी चाहिए, वह जीवन मे प्रस्फुरित हो, यह अपेक्षा है। जन्म-दिवस सिर्फ व्यक्ति की प्रशस्ति के गीत गाने के लिए ही नही होना चाहिए, मै चाहता हूँ इस पद्धति को बदलना चाहिए, यदि आप इसे चालू रखना चाहते है तो--विचार परिषद्, या सगोष्ठी जैसा रूप दीजिए, जिसके माध्यम से वैचारिक जागृति का अवसर सुलभ हो।"

"हमारा दर्शन व्यक्ति का नही, सिद्धान्त का उपासक है। इसलिए मैं आपसे सिद्धान्त की बात कहता हूँ कि हमारा उदात्त चिन्तन, मानवीय अखण्डता, तथा विराट चेतनसृष्टि मे विश्वास करता है। वहा सम्पूर्ण चेतन सृष्टि के लिए—"**यत्र विश्वं भवत्येक नीडम्**" का उद्घोष मुखरित हुआ है, आज हमे इस जीवनदृष्टि की आवश्यकता है। मै आपसे आशा करता हूँ कि आप आज मेरे मन की इस प्रेरणा को सुने और जीवन मे चरितार्थ करे।"

कवि श्री जी का गंभीर दार्शनिक प्रवचन सुनते हुए जनता मत्र मुग्ध-सी बैठी है, कुछ विद्वान जिनमे उपकुलपति महोदय एव श्री कोठारी जी भी है, भाव विभोर हुए मस्तक हिला रहे है।

उपाध्याय श्री जी के प्रवचनोपरात अब कार्यक्रम का समारोप करते हुए सेठ अचलसिह जी उपस्थित अतिथियो एव श्रोताओ को धन्यवाद देकर कार्यक्रम की पूर्णाहुति कर रहे है।

जनता उठ कर चल पडी है, जैसे नदी का प्रवाह उमड़ चला हो, कुछ अतिथि व विद्वान 'सूक्ति त्रिवेणी' को बड़े गौर से देख रहे हैं, उसकी परिचय रेखा पढने मे व्यस्त हैं, कुछ आगे चल पड़े हैं, कुछ हाल से बाहर निकल गये हैं।

इस प्रकार श्रद्धेय उपाध्याय श्री अमर मुनि का ६५वा जन्म-दिवस समारोह एक नया उत्साह, नई हलचल के साथ प्रारभ हुआ, और अद्भुत स्फूर्ति व प्रसन्नता लिए अब सपन्न हो गया। समारोह को स्थायी व विशाल रूप देने के लिए कार्यकर्ताओ के मस्तिष्क मे अनेक परिकल्पनाए है जिन पर विचारविमर्श करने के लिए श्री पदमचन्द जी जैन की कोठी (रतन भवन), मे डा० कोठारी, डा० वाही, प्रिन्सिपल रे (आगरा कालेज), सेठ अचलसिह जी व अन्य व्यक्ति एव समागत अतिथि सम्मिलित हो रहे है। माननीय अतिथियो के सम्मान मे वहाँ जलपान का मधुर कार्यक्रम भी साथ मे रखा गया है।

कार्यक्रम की सुव्यवस्था एव समागत अतिथियो के भोजन, आवास आदि के प्रबन्ध मे नगर प्रमुख श्री कल्याण दास जी जैन, श्री प्रभु दयाल जी जैन, श्री जगन्नाथ प्रसाद जी जैन एव श्री सोहनलाल जी जैन आदि लोहामडी जैन समाज के प्रमुख व्यक्तियो ने जो परिश्रम एव सुप्रबन्ध किया वह भी इस कार्यक्रम की अपनी स्मरणीय एव आदर्श विशेषता रहेगी।
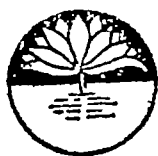
जन्मदिवस-समारोह के अवसर पर प्राप्त

संदेश व शुभ कामनाएं

उपराष्ट्रपति, भारत
शिविर काटाकल सितम्बर ३०,१९६८

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि आप उपाध्याय कवि श्री अमर मुनि जी का ६५ वा जन्मदिवस समारोह आगामी दिनाक ६ अक्टूबर, १९६८ को मनाने जा रहे है।

मैं समारोह की सफलता के लिए हार्दिक शुभकामनाए भेजता हूँ।

आपका
—वी० वी० गिरि

भारतीय विद्या भवन
चौपाटी पथ, बम्बई-७.

हम आपके समारोह की सफलता चाहते है।

परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह श्री अमर मुनि जी महाराज को शतायु प्रदान करे। —क० मा० मुशी

स्वास्थ्य, परिवार एव नगरीय-विकास मत्री,
भारत, अक्टूबर ४, १९६८

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि कवि श्री अमर मुनि जी महाराज का ६५ वा जन्म-दिवस लोहामण्डी आगरा मे मनाया जा रहा है। मैं आशा करता हूँ—ईश्वर समाज को उनकी सेवाओ का लाभ उठाने का स्वर्ण अवसर आने वाले अनेको वर्षों तक प्रदान करेगा। उनकी दीर्घायु के लिए अनेक शुभ कामनाए है।

आपका
सत्यनारायण सिह

सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली
दिनाक ३०-९-६८

श्रद्धेय अमर मुनि जी के अभिनन्दन मे आप मुझे अपने ही साथ मानिए। मुनि जी के प्रति मेरे मन मे गहरी आत्मीयता है। उनकी धर्म-निष्ठा, उनकी विद्वत्ता, उनकी लेखन शैली आदि के लिए मै उन्हे

ऊँचा स्थान देता हूँ, लेकिन सबसे बडी बात यह है कि मुनि जी की-सी स्पन्दनशीलता मैंने बहुत कम व्यक्तियो मे पाई है। उनकी दृष्टि अत्यन्त मानवीय है। यही कारण है कि उन्हे अपनी विद्वत्ता का अभिमान नही और अपने ज्ञान का गुमान नही।

मेरी हार्दिक कामना और प्रभु से प्रार्थना है कि मुनि जी शत-जीवी हो और स्वस्थ रहे और अपने प्रेरणात्मक व्यक्तित्व तथा कृतित्व से हम सब का मार्ग प्रशस्त करते रहे।

सप्रेम आपका
—यशपाल जैन

बम्बई, ११ अक्टूबर, १९६८
(आश्विन १९, १७९० शक)

शरद पूर्णिमा की धवल-ज्योत्स्ना मे, उपाध्याय श्री कविरत्न अमर मुनि के जन्म-दिवस समारोह के आयोजन की आमन्त्रिका मुझे बहुत विलम्ब से मिल पाई है। अभिवादन और अभिनन्दन की सहस्रधारा मे अर्घ-दान समर्पित करने के सौभाग्य से वचित रह जाने का पश्चात्ताप, सभवत, इस अभ्यर्थना से क्षीण हो जाये।

उपाध्याय जी, अजातशत्रु अति-मानव है और इस कारण, किसी भी काल और किसी भी स्थान पर वे वन्दनीय होते ही। स्थानक-वासी जैन समाज का यह विशेष सौभाग्य है कि वे, सम्यक्-चारित्र के मूर्तिमान प्रतीक बनकर प्रतिष्ठित हैं। श्री अमर मुनि का विशाल ज्ञान, जीव-दया की निर्झरणी से किसलय-कोमल वात्सल्य मे बदल जाता है, तत्त्व-चिन्तन का दर्शन, मानव-कल्याण के सकल्प से, सामयिक विवेक मे परिवर्द्धित हो जाता है, और जन-मगल का निश्चय, रस-सिद्ध पारस से, कविता के स्वर्ण-ससार मे आलोकित हो उठता है। इस विभूति को मेरे शतश वन्दन!

यह योग बहुत सुखद हुआ कि सद्धर्म के इस सेनानी को आदरा-जलि देने, विद्या और ज्ञान की दो विश्व-विख्यात हस्तियाँ आगरा पधारी थी। तप, त्याग और अपरिग्रह से अभिरजित विवेक, फिर एक बार, ज्ञानशीला सुविद्या से अभिषिक्त हुआ। सचमुच वे पल बरसो तक, निश्छल तपस्या के अनुराग की प्रेरणा देते रहेगे।

कृपया मेरी इस वन्दना को, प० पू० उपाध्याय जी और समारोह समित के सयोजको तक पहुँचा का देने कष्ट करें। भवदीय

जवाहरलाल मुणोत

अस्माक कल्याणवाञ्छकाना मित्रवर्याणा मुनिप्रवराणा श्रीमता धीमता तत्रभवता श्री अमरमुनीनां पञ्चषष्टितमे वर्षे प्रविशता तत्स्नेहभाजा आशीर्वादवचनानि
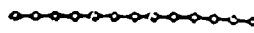
श्रीमद्दौलतसिंहाख्यो यत्र वाचांविदा वर ।
अध्यक्ष. स महो नून यशस्वी सफलो भवेत् ॥१॥
मित्र ह्यमरचन्द्रो मे निश्चित हृदयायते ।
वाग्मी साहित्यस्रष्टा च सुमना लेखकोवर. ॥२॥
संघशान्तिकर धर्म्य सारोग्य जीवन शिवम् ।
पञ्चषष्टितमे वर्षे प्रविशन् जीवताच्चिरम् ॥३॥
सरलो गुरुभक्तश्च सर्वानन्दकरो गुणी ।
उपाध्यायपदासीन: कवित्वेन सुकीर्तिमान् ॥४॥
शास्त्रसंशोधने धुर्यः [1]पृथ्वीपुत्रतया कलौ ।
गौतमायमानो ह्येष: शान्तचित्त. समन्वयो ॥५॥
गुरूणां पृथ्वीचन्द्राणां सेवको भक्तिभावत: ।
शिष्याणां विजयादीनां सदानन्दप्रद: प्रधी: ॥६॥
विभाति चन्द्रमा यावद् यावत् तपति भानुमान् ।
यशोदेहेन शुचिमान् अमरो गवि चामर:[2] ॥७॥

अहमदाबाद —अजवाली—बेचरदासौ

२९-९-६८

---

१. यथा श्री गौतमो गणधरः पृथ्वीपुत्रः पृथ्वीमातुः तनयः तथा श्री अमरचन्द्रो मुनिः पृथ्वीचन्द्र गुरूणां शिष्यतया पुत्रः ।

२. चाऽमरः

धन्य हुआ पाकर तुम्हें...

अमर यशस्वी आप हो,
अहो अमर ! मुनिराज !
धन्य हुआ पाकर तुम्हे,
सारा जैन समाज ।
अमर रहो, अविचल रहो,
बढे चलो अविराम ।
मेरी यह शुभ कामना,
स्वीकृत हो गुणधाम !

जोधपुर —मधुकर मुनि
२-१०-६८

बधाई और बधाई...

जिन के शील, सत्य की, तप की, दुनिया है शैदाई ।
जिनकी सुलझी हुई कलम ने, भारी धूम मचाई ।।
जिनके पाठक जिनकी करते, रहते सतत बडाई ।
उनके जन्म-दिवस पर देता, 'चन्दन मुनि' बधाई ।।
दया-दिवाकर, करुणाकर ये, आयु लम्बी पाए ।
नाम अमर है प्यारा-प्यारा, सब को अमर बनाए ।।

जैन सभा —चन्दन मुनि
सदर बाजार
बरनाला (पजाब)

अमर-अभिनन्दन

भारत मा के भव्य भाल के अमर तिलक, साहित्य तपस्वी, प्रखर वक्ता, सिद्धहस्त लेखक, कविरत्न उपाध्याय अमरचन्द जी महाराज

के ६५वे जन्म दिवस समारोह के उपलक्ष्य मे कुछ विचार-कण समुपस्थित करते हुए हम आनन्दातिरेक का अनुभव कर रहे हैं। कविरत्न जी जैन जगत् के एक ऐसे ज्योतिस्तम्भ हैं जिनका अमर आलोक चहुँ दिश मे प्रसारित है, जो कि भारतीय साधना के अमर साधक युगस्रष्टा सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी जनजीवन-उन्नायक सर्वहितैषी उग्रविहारी क्रान्तिकारी विचारक हैं।

आपने अपने जीवन के कण-कण को साहित्यसाधना मे लगाकर अपने चिंतन मनन निदिध्यासन के द्वारा विश्व को वह सरस भाव-मकरद प्रदान किया है, जिसका एक-एक बिंदु आज के इस भयकर सघर्ष-वैषम्य-शोषण व हिंसाप्रधान युग मे सतप्त जन मानस के लिए लहराते रस-सागर की भाति है। आपके द्वारा प्रणीत एक-एक कृति-रत्न शारदा-सदन की श्री वृद्धि करता हुआ जगतीतल को जीवन प्रदान कर रहा है। आप जैसे अमर ज्योतिर्धर व्यक्तित्व को पाकर जैन जगती कृतकृत्य है।

कविरत्न जी का मृदुल-मजुल-स्वभाव उनकी शान्त-गभीर मुद्रा, उनका उदार व्यवहार आकर्षण की ऐसी वस्तुए है जो सहज ही सामने वाले को प्रभावित करती हैं। उपाध्याय श्री जी की विश्व-विश्रुत कीर्तिकथा कर्ण कुहरो से सदैव इस हृद् प्रदेश को आप्लावित करती रहती है। उस युग पुरुष के विचार पाथेय का आश्रय लेकर चलने वाली यह जैन जगती उसी की वरद-छाया मे "यावच्चन्द्र-दिवाकरौ" विश्व मे नवस्फूर्ति व नव चेतना का सचार करती रहे, ऐसी भव्य भावना है।

२—१०—१९६८ भवदीय—
जैनस्थानक लुधियाना **मुनि फूलचन्द "श्रमण"**

मंगल कामना

उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्र जी महाराज स्थानकवासी जैन समाज के एक प्रकृष्ट प्रतिभासम्पन्न, प्रज्ञास्कध सन्तरत्न हैं। जो इनके निकट सम्पर्क मे आता है वह उनसे प्रभावित हुए बिना नही रह सकता। विरोधी भी उनका प्रशसक वन जाता है। उनकी साहित्य साधना अनूठी है। उनका साहित्य आवाल वृद्ध सभी के

लिए उपयोगी है। मैं स्थानकवासी जैन समाज के सभी मूर्धन्य सन्तो के सम्पर्क मे आया हूँ, पर कवि जी के जैसी प्रतिभा की तेजस्विता और स्वभाव की मधुरता बहुत ही कम देखने को मिली है। उनके ६५वे जन्म-दिवस के उपलक्ष मे कवि के शब्दो मे मैं यही हार्दिक कामना करता हूँ—

तुम सलामत रहो हजार वर्ष।
हर वर्ष के दिन हो पचास हजार ॥

जैन स्थानक
घोडनदी (महाराष्ट्र)

—पुष्कर मुनि

★

ऊर्जस्वल व्यक्तित्व का अभिनन्दन !

पूज्य गुरुदेव उपाध्याय श्री अमरचन्द्र जी महाराज स्थानकवासी जैन समाज के एक दीप्तिमान प्रकाश हैं, सामाजिक मच पर आज उनके जैसा सन्तुलित एव गतिशील व्यक्तित्व दृष्टिपथ पर नहीं आ रहा है, यह एक प्रत्यक्ष-प्रखर सत्य है।

उनकी जन्म-जयन्ती मनाने के लिए जो भव्य समारोह एवं आयोजन किया जा रहा है, इसका अर्थ है कि उनके ऊर्जस्वल एवं गरिमापूर्ण व्यक्तितत्व ने लोक-मानस को गहराई से स्पर्श किया है और जीवन के प्रकाशप्रदीप की प्रकाशरश्मियाँ लोकलोचनो मे प्रदीप्त हो उठी हैं; यह शुभारम्भ तथा आयोजन जन-मन की श्रद्धा-अभिव्यक्ति का एक स्थूल रूप ही तो है; जन-जन के मन-मन की इस स्थूल श्रद्धाभिव्यक्ति का हार्दिक अभिनन्दन !

किन्तु इस शुभारम्भ एव समारोह की स्वर्णिमवेला पर, हम उनके नाम एव यशोगान की तोता-रटन्त करके ही न रह जाएँ, अपने सार्वजनिक भाषणो-सम्भाषणो मे उनके उजागर व्यक्तित्व, विचार, सिद्धान्त तथा उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग की भूरि-भूरि मौखिक प्रशसा करके ही मनस्तोष न कर बैठे, प्रत्युत अपनी जीवन-पद्धति एव कार्य-प्रणाली मे उनके क्रान्त विचारो के दिव्य आलोक को आत्मसात् करे, उनके जीवन-दीप से अपना जीवनपथ आलोकित करें, यही उनके

उज्ज्वल-समुज्ज्वल-महोज्ज्वल व्यक्तित्व एव महामहिम जीवन के प्रति सच्ची अच्छी श्रद्धाञ्जलि होगी, ऐसा मन का विचार है,

—सुरेश मुनि

अमृतसर, ४–१०–६८

युगनिर्माता उपाध्याय श्री जी !

जैन स्थानक, लश्कर-ग्वालियर
दिनाक ४–१०–६८

उपाध्याय कवि श्री जी महाराज का व्यक्तित्व समाज, देश और सर्व स्थान मे आकाशमडल के दिवाकर की भाँति प्रकाशित है। आप यथानाम तथा गुण सम्पन्न, बहुश्रुत, ज्ञाननिधि, सफल साहित्यकार एव महान दार्शनिक सच्चे सन्त है। आपने अपना अक्षय ज्ञान समाज को समय समय पर अनेको बहुमूल्य ग्रन्थो के रूप मे प्रदान किया है, जिसके लिए हम ही नही, अपितु भावी पीढियाँ भी सदैव अभारी रहेगी।

उपाध्याय कवि श्री जी महाराज का व्यक्तितव आपकी अपनी कृतियो में ओत प्रोत हैं। आप भगवान महावीर स्वामी के सिद्धान्तों के संरक्षक तथा सच्चे कर्मयोगी हैं। कवि श्री के चन्द्रमुख से प्रवाहित होने वाला अमृत जीवनमृतो को भी अमरत्व प्रदान करता है। इसी से विश्व इन्हे उपाध्याय अमर मुनि के नाम से पुकारने मे बाध्य है। उपाध्याय श्री जी के पवित्र नाम मे प्रणव के निर्माता अ० उ० म० शब्दो का अद्वितीय समन्वय दृष्टिगोचर होता है। कहाँ तक कहूँ ऐसे युगनिर्माता, भविष्यद्रष्टा महापुरषो के दिव्य-गुणो की गणना करने मे, यह वाणी नितान्त असमर्थ प्रतीत होती है।

आप हिमालय के समान अपने विचारों पर सदैव दृढ़ रहते है। समुद्र की गम्भीरता, वसुंधरा की क्षमाशीलता तथा आकाश की स्वच्छता तथा निर्लेपता के सदा आप में दर्शन होते हैं। आप मनसा, वाचा, कर्मणा सन्त हैं।

अत्यन्त सौभाग्य का विषय है कि शरदपूर्णिमा के दिन आप श्री का ६५ वां जन्म-दिवस आगरा में अत्यन्त उत्साह और समारोह के साथ मना रहे है। उपाध्याय श्री जी के जन्म दिन के अवसर पर उनके पवित्र गुणो का स्मरण कर हम स्वयं को पवित्र करते हैं।

श्री अमर भारती, नवम्बर १९६८

इस शुभ अवसर पर मैं भी अपनी अत्यन्त विनम्र श्रद्धाञ्जलि शब्द-प्रसून के रूप मे उपाध्याय श्री जी महाराज के चरणारविन्दो में विनयावनत अर्पण करते हुए पूज्य सन्तप्रवर का अभिनन्दन करता हूँ तथा शासनदेव से आपके दीर्घजीवन की हार्दिक कामना करता हूँ।

—नेम मुनि

o———o

श्रद्धा - सुमन

जिस को एक बार देख लेने के बाद बार-बार देखने को जी चाहता है—जिस की चरण-छाया मे रहने के बाद अन्यत्र जाने को जी नही चाहता और बार-बार उसी शीतल छाह मे आने को मन उत्कण्ठित होता है। भले ही कोई विवशता की डोरी से बधा हुआ न आ सके! जिस की मधुर वाणी सुन लेने के बाद कोयल की आवाज कटु लगती है, बताइए वह कौन है?

जिस के मन की कोमलता के सामने फूल काँटा मालूम होता है। जिसके चिन्तन की गहराई को सागर नाप नही सकता। जिसके चरित्र की ऊँचाई का मुकाबला व्योम कर नही सकता। जिस की सकलपशक्ति के आगे हिमालय नतमस्तक होता है, जिस की स्मित-ज्योत्स्ना के सामने चान्द फीका प्रतीत होता है तथा जिसके प्रखर तप तेज के सन्मुख सूर्य मन्द पड जाता है, बताइए वह योगी कौन है?

जिस ने समस्त भारत भू को अपनी चरण-रज से परिपूत किया है। जिस ने अहिंसा तथा सत्य का मन्दाकिनी प्रवाहित कर के जिन-शासन का मस्तक ऊँचा किया है! जिस ने रूढिवाद के तमसावृत पथ पर सम्यक् दर्शन के प्रदीप प्रकाशित किये तथा युगानुकूल नवीन चिन्तन के द्वारा जन-मानस को एक नया, परन्तु सम्यक् मोड देने का महान प्रयास किया है! जो साहित्य के जगत मे आदित्य बन कर चमक रहा है—बताइए वह मुनिमुकुट कौन है?

जिस ने समाज की बिखरी मणियो को एक सूत्र मे पिरोने मे अपना महान योगदान किया है, और दे रहा है। जिस ने साम्प्रदायिकता की सकीर्ण परिधियो से ऊपर उठ कर आध्यात्मिकता के असीम गगन मे उन्मुक्त विहार किया और अभी तक कर रहा है। जिसने अपने क्षुद्र 'स्व' की आहुति दे कर 'स्व' मे पर को और 'पर' मे 'स्व' को देखा है, जो न्याय और सत्य पर दृढ रह कर प्रत्येक उस विचार को चुनौती देता है, जो सम्यक्दर्शन की निकष पर खरा नही उतरता, जो जीवन के द्वन्द्वो के बीच बैठा हुआ सदा अभय तथा अलिप्त रहता है—जिस ने अपनी साधना एक कोने मे बैठ कर ही नही, बल्कि जीवन के महान पथ पर चलते हुए अपने कर्म तथा कर्त्तव्य मे निरत रह कर की है, जिस ने अपने कर्म का फल कभी नही चाहा, जो वैर को प्रेम से ही सदा जीतता है, बताइए वह महामुनि कौन है ?

जो **जीवन के पैसठ बसन्त** गुजर जाने के बाद भी एक नये गुलाब की तरह खिला हुआ रहता है, जिस के जीवन का एक-एक क्षण विश्वहित के दीपक मे तेल बन कर जल रहा है, और प्रकाश बन कर बिखर रहा है, जो अभी तक भी कर्त्तव्य जगत मे थक कर नही बैठा। जिस ने अपने दु ख मे कभी भी उफ तक नही की और दूसरे की पीडा मे जिस की आँखे छलक पडती है, जो करुणा का भण्डार है—जो अपने पूज्यगुरु जनो के प्रति विनय तथा भक्ति की साकार मूर्ति है—जो अपने मन का राजा है, जो भारतीय सस्कृति का अग्रदूत है—जो भगवान महावीर का 'अमर' सेनानी है। बताइए भला, वह जिन शासन का शिरोभूषण कौन है ?

वे है परम श्रद्धेय वन्दनीय उपाध्याय कवि श्री अमर मुनि जी महाराज ।

और वे रहते कहाँ है ? शायद आगरा वाले कहे कि वे आगरा मे ही तो रहते है—किन्तु नही - वे तो रहते समाज के जन-जन के मानस मे और मेरे रोम-रोम मे। आप की शीतल-छाया युगो-युगो तक जिनशासन पर बनी रहे, इसी शुभ कामना के साथ ये श्रद्धा सुमन 'अमर' चरणो में अर्पण।

कानपुर

—मनोहर मुनि 'कुमुद'

कोटि कोटि अभिनन्दन !

नूतन और पुरातन के

सन्धि-देवता को !

मनुज की जगती पर मनुज के जीवन के सत्यसकल्पो को साकार करने मे, जिसने अपनी समग्र शक्ति का आधान किया और आज भी कर रहे हैं, तथा जीवन की सन्ध्या के चरमक्षणो तक करते रहने का जिसने सत्यव्रत स्वीकार किया है, उस अमर की—अमरत्व की 'अभय-ज्योति' को प्रकाशमय मस्तिष्क मे, आलोकमयी वाणी से और ज्योतिर्मय जीवन से, जन-जन के जीवन के जीवन-देवता के चरण-कमलो मे कोटि-कोटि वन्दना के साथ अभिनन्दन करता हूँ।

समाज ने जिसको सस्कृति का सस्कार करने के कारण सस्कारक माना है। धर्म ने जिसमे, स्व और पर को धारण की शक्ति देखकर धार्मिक कहने मे अपना स्वय का गौरव स्वीकार किया है। दर्शन ने जिसमे, साक्षात्कार करने का सकल्प पाकर दार्शनिक होने की सहज शक्ति को पाया। काव्य ने जिसमे, कल्पना, प्रतिभा और निसर्ग भावुकता देखकर कविपद विभूषित किया। जो कुछ पाना है, अन्दर मे अन्दर से ही पाना है, पाना भी क्या, जो कुछ अन्तर मे —सत्य, शिव सुन्दर युग-युग से है—उसी को प्रकट करना है। कवि जी की यही सस्कृति है, यही धर्म है, यही दर्शन है और यही कवि का काव्य है। सस्कृति, धर्म, दर्शन और कविकर्म—कवि जी इन चारयुगो के एक साथ युगावतार हैं—युगान्तरकारी हैं।

ब्रह्मा, विष्णु एव रुद्र—भारतीय सस्कृति की यह त्रिमूर्ति—उस की पावनता की प्रतीक रही हैं। ब्रह्मा उत्पादक, विष्णु पालक और रुद्र सहारक। कवि जी मे इन तीनों का समावेश अथवा प्रवेश एक काल मे, एक साथ ही सम्पन्न हो चुका है। क्योकि समाज और राष्ट्र के धरातल पर उन्होने उत्पादन किया है—नूतन चिन्तन की सृष्टि का, पालन किया है—धर्म की मर्यादा एव सस्कृति की सीमा का, और दर्शन की व्यापकता का, और विध्वसन किया है—जडात्मक

रुढिवाद का तथा अन्धविश्वासो की परम्परा का। जीवन के इस परिप्रेक्ष्य मे कवि जी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र सभी कुछ है।

कवि जी मे उपयोगितत्त्व का ग्रहण है, अनुपयोगितत्त्व का त्याग है और साथ ही जीवन्त-जीवन का ध्रौव्य भी है—यह जीवित अनेकान्तमयी मूर्ति अपने जीवन के ६४ वसन्तो को पार करके आज ६५ वे वसन्त मे प्रवेश कर रही है—उनके लक्ष-लक्ष अनुयायियो के लिए आज सन्तोष तथा परम आनन्द का शुभअवसर हैं।

श्रमण-सघ के उपाध्याय, कविरत्न, श्रद्धेय, अमरचन्द्र जी महाराज—एक व्यक्ति होकर भी विश्वात्मा है। क्योकि उनकी कल्पना है कि भारत को विश्वभारती बनना है और उसके विभिन्न प्रान्तो को आन्तर्भारती बनना है और अन्त मे प्रत्येक व्यक्ति को भी विश्वात्मा बनने की ओर बढना है। समाज और राष्ट्र को कवि जी का यही प्रदेय रहा है।

कवि जी क्या हैं? इस विधेयात्मक प्रश्न की अपेक्षा, कवि जी क्या नही हैं? यह निषेधात्मक प्रश्न ही वास्तविक रूप मे अधिक यथार्थवादी है। क्योकि उनका अपना झुकाव—आदर्शवाद की अपेक्षा यथार्थवाद मे ही अधिक सन्तोष पाता है।

जीवन की सुषमापूर्ण अरुण वेला से जीवन के तप्यमान प्रखर मध्यान्ह तक और आज भी जीवन की सुनहली सन्ध्या के प्रारम्भ तक कवि जी के जीवन की एक ही विशेषता रही है—समन्वयवादी दृष्टि कोण! नूतन मे पुरातन का और पुरातन मे नूतन का समवतार उन्होने सफलता के साथ मे किया है। नूतन और पुरातन के इस सन्धि-देवता को विनीत नमन के साथ कोटि-कोटि वन्दन!

विजयलक्ष्मी पर्व —विजय मुनि
१-१०-१९६८
जैन साधना-सदन, नानापेठ, पूना-२

•

बहुश्रुत विद्वान, महानतत्वचिंतक उपाध्याय कविरत्न श्री अमर मुनि जी महाराज के ६५ वें जन्मदिवस समारोह के उपलक्ष मे अनेक स्थानो से शुभकामना के तार व सदेश प्राप्त हुए। शुभकामना भेजने वाले महानुभावो को अलग से भी हमने धन्यवाद पत्र दिया है। सबके सदेश इस सक्षिप्त विवरणी में प्रकाशित होने का अवकाश न होने से हम उन सब महानुभावो की शुभनामावली प्रकट करने के साथ एक बार पुनः हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

—अचलसिंह एम० पी०

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज	मालेरकोटला
तपागच्छीय आचार्य श्री विजय समुद्र-सूरि	बीकानेर
उपराष्ट्रपति महोदय डा० वी० वी० गिरि	नई दिल्ली
श्री के० एम० मुशी, (भू० पू० राज्यपाल उत्तर प्रदेश)	बम्बई
,, सत्यनारायणसिंह, मन्त्री स्वा० प० न० भारत,	नई दिल्ली
,, मरुधरकेशरी प्रवर्तक मिश्रीमल जी महाराज	अटपडा
,, पुष्कर मुनि जी महाराज	घोडनदी
,, चन्दन मुनि जी महाराज	वरनाला
,, मधुकर मुनि जी महाराज	जोधपुर
,, प्रेमचन्द जी महाराज	फरीदकोट
,, श्रीचन्द जी महाराज	धुरी
,, प्रवर्तक फूलचन्द जी महाराज 'श्रमण'	लुधियाना
,, विजय मुनि जी महाराज	पूना
,, मनोहर मुनि जी महाराज	कानपुर
,, सुरेश मुनि जी महाराज	अमृतसर
,, नेमीचन्द जी महाराज	ग्वालियर
,, सुमन मुनि जी महाराज	रायकोट
,, रजत मुनि जी महाराज	अटपडा
,, प० बेचरदास जी दोशी	अहमदावाद
,, डा० मोहनसिंह मेहता	उदयपुर
,, रिषभदास राँका	बम्बई
,, यशपाल जैन	देहली

श्री डा० महेन्द्रसागर प्रचंडिया	अलीगढ
,, प्रिन्सिपल वैद्य	धूलिया
,, रतिलाल दीपचन्द देसाई	अहमदाबाद
,, अगरचन्द नाहटा	बीकानेर
,, प० शोभाचन्द्र भारिल्ल	ब्यावर
,, मगनलाल पी० दोशी	बम्बई
,, जवाहरलाल मुणोत	बम्बई
,, गिरधरलाल के० जवेरी	बम्बई
,, शादीलाल जैन	बम्बई
,, कनकमल मुनोत	पूना
,, सोहनलाल दूगड	कलकत्ता
,, अमरचन्द जैन	कलकत्ता
,, भवरलाल गोठी	मद्रास
,, भवरीमल चोरडिया	मद्रास
,, खेलशकर दुर्लभजी	जयपुर
,, नानाभाई वी० दुर्लभजी	जयपुर
,, सागरमल मोतीचन्द डागा	जयपुर
,, ज्ञानचन्द चोरडिया	जयपुर
,, माधोमल लोढा	जोधपुर
,, मिश्रीमल हस्तीमल	घोडनदी
,, चन्द्रभान् डाकलिया	श्रीरामपुर
,, व० सौ० पारेख	बडोदा
,, चेतना डागा	जयपुर
,, अचरदास तातेड	धुले
,, कुन्दनलाल पारख	देहली
,, सरदारमल उमरावमल ढड्ढा	जयपुर
,, गुमानमल चोरडिया	जयपुर
,, पवन कुमार जैन	कानपुर
,, बद्रीलाल जैन एडवोकेट	खाचरोद
,, जालमसिंह मेडतवाल	ब्यावर

(शेष पृष्ठ ८० पर देखें)

सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री, समाजसेवी

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष तथा
अखिल भारतीय श्वेताम्बर स्थानकवासीजैनकान्फ्रेंस के अध्यक्ष

माननीय डा० दौलतसिंह जी कोठारी द्वारा

उद्‌घाटन

सूक्ति त्रिवेणी

[जैन, बौद्ध एव वैदिक वाङ्मय के एक सौ साठ मुख्य ग्रन्थो की
चुनी हुई पाच हजार महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ]

सूक्ति त्रिवेणी : सार-परिचय

भारतीय सस्कृति का स्वरूपदर्शन करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि भारतवर्ष मे प्रचलित और प्रतिष्ठित विभिन्न सस्कृतियो का समन्वयात्मक दृष्टि से अध्ययन हो। भारतवर्ष की प्रत्येक सस्कृति की अपनी एक विशिष्ट धारा है। वह उसी सस्कृति के विशिष्ट रूप का प्रकाशक है। यह बात सत्य है, परन्तु यह बात भी मत्य है कि उन सस्कृतियो का एक समन्वयात्मक रूप भी है। जिसको उन सब विशिष्ट सस्कृतियो का समन्वित रूप माना जा सकता है, वही यथार्थ भारतीय सस्कृति हे। प्रत्येक क्षेत्र मे जो समन्वयात्मक रूप है, उसका अनुशीलन ही भारतीय सस्कृति का अनुशीलन है। गगा-जमुना तथा सरस्वती—इन तीन नदियो की पृथक् सत्ता और माहात्म्य रहने पर भी इनके परस्पर सयोग से जो त्रिवेणीसगम की अभिव्यक्ति होती है, उसका माहात्म्य और भी अधिक है।

वर्तमान ग्रन्थ के सकलनकर्ता परमश्रद्धेय उपाध्याय अमर मुनि जी श्वेताम्बर जैन परम्परा के सुविख्यात महात्मा हैं। वे जैन होने पर भी विभिन्न सास्कृतिक धाराओ के प्रति समरूपेण श्रद्धासम्पन्न हैं। वैदिक, जैन तथा बौद्ध वाङ्मय के प्राय पचास से अधिक ग्रन्थो से उन्होने चार हजार सूक्तियो का चयन किया है और साथ ही साथ उन सूक्तियो का हिन्दी अनुवाद भी सन्निविष्ट किया है।

तीन धाराओ के सम्मेलन से उद्भूत यह **सूक्ति-त्रिवेणी** सचमुच भारतीय सस्कृति के प्रेमियो के लिए एक महनीय तथा पावन तीर्थ वनेगी।

किसी देश की यथार्थ सस्कृति उसके वहिरग के ऊपर निर्भर नही करती है। अपितु व्यक्ति की सस्कृति नैतिक उच्च आदर्श, चित्तशुद्धि, सयम, जीव-सेवा, परोपकार तथा सर्वभूतहित-साधन की इच्छा, सतोष, दया, चरित्रवल, स्वधर्म मे निष्ठा, परधर्म-सहिष्णुता, मैत्री, करुणा, प्रेम, सद्विचार प्रभृति सद्गुणो का विकास और काम, क्रोधादि रिपुओ के नियन्त्रण के ऊपर निर्भर करती है। व्यक्तिगत धर्म, सामाजिक धर्म, राष्ट्रीय धर्म, जीवसेवा, विश्व-कल्याण प्रभृति गुण आदर्श सस्कृति के अग है। नैतिक, आध्यात्मिक तथा दिव्य जीवन का आदर्श ही सस्कृति का प्राण है।

"ज्ञाने मौन, क्षमा शक्तौ, त्यागे श्लाघाविपर्ययः" इत्यादि आदर्श उच्च सस्कृति के द्योतक है। जिस प्रकार व्यष्टि मे है, उसी प्रकार समष्टि मे भी समझना चाहिए।

सकलनकर्त्ता ने वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, प्रभृति ग्रन्थो से साकलन किया है। जैन धारा मे आचाराग सूत्र, सूत्रकृतागसूत्र, स्थानागसूत्र, भगवतीसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र और आचार्य भद्रबाहु के तथा आचार्य कुन्दकुन्द के वचनो से तथा भाष्यसाहित्य चूर्णिसाहित्य, से सूक्तियो का सचयन किया है। बौद्ध धारा मे सुत्तपिटक, दीर्घनिकाय, मज्झिमनिकाय, सयुक्तनिकाय, अगुत्तरनिकाय, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, थेरगाथा, जातक, विशुद्धिमग्गो प्रभृति ग्रन्थो से सग्रह किया है।

देश की वर्तमान परिस्थिति मे इस प्रकार की समन्वयात्मक दृष्टि का व्यापक प्रसार जनता के भीतर होना आवश्यक है। इससे चित्त का साकोच दूर हो जाता है। मैं आशा करता हूं कि श्रद्धेय ग्रन्थकार का महान् उद्देश्य-पूर्ण होगा और देशव्यापी क्लेशप्रद भेदभाव के भीतर अभेददृष्टिस्वरूप अमृत का साचार होगा। इस प्रकार के ग्र थो का जितना अधिक प्रचार हो, उतना ही देश का कल्याण होगा।

वाराणसी

—गोपीनाथ कविराज
महामहोपाध्याय, पद्मविभूषण

●

सहस्समपि चे वाचा अनत्थ-पद-संहिता।
एकं अत्थपद सेय्यो य सुत्वा उपसम्मति॥

—धम्मपद ८।१

व्यर्थ के पदो से-युक्त हजारो वचनो से तो एक सार्थक पद ही श्रेष्ठ है, जिसे सुनकर मन को शान्ति प्राप्त होती है।

●

सूक्ति त्रिवेणी : विद्वानों के अभिमत

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली—४

दिनाक—२६ अगस्त, १६६८

इन्सान फितरतन आजाद मनिश होता है। किसी किस्म की पावन्दी या रोक-टोक उसकी इस आजादी मे रुकावट समझी जाती है। लेकिन समाज-हित और अनुशासन के लिये यह जरूरी है कि कुछ ऐसे नियम निर्धारित हो, जो समाज को जगल के कानून का शिकार न होने दें। यही वह नियम हैं, जो दुनियाँ के भिन्न-भिन्न धर्मों की आधारशिला है, ख्वाह वह हिन्दुओ का धर्म हो या किसी और का। हकीकत तो यह है कि दुनियॉ का हर मजहव एखलाकी कदरो का एक मखजन है। **उपाध्याय अमरमुनि** की यह रचना इन्ही नियमो और उपदेशो का सग्रह है, जिसमे जैन, बौद्ध और वैदिक धर्म के चुने हुए उपदेशो का सग्रह एक पुस्तक के रूप मे जन-साधारण की भलाई के लिये प्रकाशित किया गया है। मुझे विश्वास है कि अगर लोग इस किताव को पढ़ेगे और इसमे दिये हुए इन उसूलो पर अमल करेंगे तो वह केवल अपने मजहव के लोगो के जीवन ही को नही, वल्कि अपने आस-पास के लोगो के जीवन को भी सुखमय और शान्तिपूर्ण वना सकेंगे। मैं आशा करता हूँ कि मुनि जी की रचना का लोग ध्यान से अध्ययन करेंगे और इच्छित लाभ उठा सकेंगे।

—जाकिर हुसैन

(राष्ट्रपति-भारत गणराज्य)

●

VICE PRESIDENT INDIA

NEW DELHIA Agust 26, 1968

I am glad, the publication in Hindi entitled 'Sookti Triveni' written by Shri Upadhyay Amarmuni represents an anthology of lofty thoughts and sublime ideals enshrined in the sacred scriptures of our ancient religious faiths—Buddhism, Hinduism and Jainism. Our sacred soil is renowned for the confluence of cultures and ennobling stream of precepts

and teachings conceived, enunciated and propagated by our illustrious savant-saints and seers, right from Lord Krishna to Vyasa, Manu, Lord Buddha—the Enlighted One—to Mahavir, and Mahatma Gandhi. By delving deep into this realm of spiritual knowledge and learning and culling the pearls of wisdom, Upadhyay Amarmuni has made a commendable effort for weaving them into a 'necklace of resplendent thoughts' If the gems of thoughts embodied in the 'Sookti Trivni' can serve as beacon-light to the readers and in equipping them to visualise the spiritual enlightenment, unsullied devotion and unity of mankind which all the three religious faiths rightly lay accent on, the author will have rendered a signal service to the country.

V. V Giri

(*Vice-President*)

'सूक्ति त्रिवेणी' श्री उपाध्याय अमरमुनि की कृति है, अमर मुनि जी अपनी विद्वत्ता के लिये प्रसिद्ध हैं ।

पुस्तक मे जैन, बौद्ध और वैदिक साहित्य के सर्वमान्य ग्रन्थों से सुन्दर सग्रह किया गया है ।

भारतवर्ष का यह काल निर्माण का समय है, परन्तु यह खेद की बात है कि यह निर्माण एकागी हो रहा है। हमारी दृष्टि केवल भौतिकता की ओर है । हमारे निर्माण मे जब तक आध्यात्मिकता नही आयेगी, तब तक यह निर्माण सागोपाग और पूर्ण नही हो सकता । यह ग्रन्थ इस दिशा मे अच्छी प्रेरणा देता है ।

—सेठ गोविन्ददास

ससद सदस्य

(अध्यक्ष हिन्दी साहित्य सम्मेलन)

'सनिधि' राजघाट
नई दिल्ली—१

इन दिनो मैं भारत मे सब जगह जाकर लोगो को समझाने की कोशिश कर रहा हूँ कि भारतीय सस्कृति को हमे प्राणवान वनाकर विश्व की सेवा के योग्य वनाना हो तो हमे अव समन्वय-नीति को स्वीकार करना ही होगा। समन्वय नीति ही आज का युगधर्म हे।

भारत मे तीन दर्शनो की प्रधानता हे। सनातनी सस्कृति मे तीन दर्शनो का प्रभुत्व है (१) वैदिक अथवा श्रुति-स्मृति पुराणोक्त-दर्शन (२) जैन दर्शन (३) और बौद्ध दर्शन। अिन तीनो दर्शनो ने भक्तियोग को कुछ न कुछ स्वीकार किया हे। ये सब मिलकर भारतीय जीवन-दर्शन होता है।

अिसी युगानुकूल नीति का स्वीकार जैन मुनि उपाध्याय अमर मुनि ने पूरे हृदय से किया है। और अभी-अभी उन्होने अिन तीनो दर्शनो मे से महत्व के और सुन्दर सुभाषित चुनकर **'सूक्ति त्रिवेणी'** तैयार की हे। अमर मुनि जी ने आज तक वहुत महत्व का साहित्य दिया है, उस मे यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्व की वृद्धि कर रहा है। तुलनात्मक अध्ययन से दृष्टि विशाल होती है और तत्व-निष्ठा दृढ होती हैं। 'सूक्ति त्रिवेणी' ग्रंथ यह काम पूरी योग्यता से सम्पन्न करेगा।

मैं सस्कृति उपासको को पूरे आग्रह से प्रार्थना करूँगा कि समय-समय पर अिस त्रिवेणी मे डुवकी लगाकर सास्कृतिक पुण्य का अर्जन करें।

श्री अमर मुनिजी से भी मैं प्रार्थना करूँगा कि अिस ग्रंथ के रूप मे हिन्दी विभाग को उस की भाषा सामान्यजनसुलभ वनाकर अलग ग्रंथ के रूप मे प्रकाशित करें। ताकि भारत की विशाल जनता भी अिससे पूरा लाभ उठावे। ऐसे सुलभ हिन्दी सस्करणो से पाठको को मूल सूक्ति त्रिवेणी की ओर जाने की स्वाभाविक प्रेरणा होगी। मैं फिर से अिस युगानुकूल प्रवृत्ति का और उसके प्रवर्तको का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

—काका कालेलकर

●

सूक्ति त्रिवेणी के प्रकाशन पर मुझे प्रसन्नता है, यह एक सुन्दर पुस्तक है, इससे समाज को लाभ पहुँचेगा और राष्ट्र की सास्कृतिक एकता को वढावा मिलेगा, इस दिशा मे आपका कार्य सराहनीय हे, आप मेरी ओर से वधाई स्वीकार कीजिए।

—दौलतसिह कोठारी

(अध्यक्ष—विश्वविद्यालय-अनुदान आयोग, नई दिल्ली)

●

कवि श्री जी महाराज ने सतत परिश्रम एव विशाल अध्ययन के आधार पर 'सूक्ति त्रिवेणी' का जो सुन्दर तथा महत्वपूर्ण सकलन प्रस्तुत किया है, वह वर्तमान समय का अद्वितीय ग्रन्थ कहा जा सकता है।

इससे लेखक, प्रवक्ता, सशोधक, जिज्ञासु, स्वाध्याय प्रेमी आदि सभी को लाभ प्राप्त होगा। इस ग्रन्थरत्न का हार्दिक अभिनन्दन।

—आचार्य श्री आनद ऋषि जी महाराज

उपाध्याय कवि अमर मुनि के वहिरग से ही नही, अन्तरग से भी मैं परिचित हूँ। उनकी दृष्टि उदार है और वे समन्वय के समर्थक है। 'सूक्ति त्रिवेणी' उनके उदार और समन्वयात्मक दृष्टिकोण का मूर्तरूप है। इसमे भारतीय धर्म दर्शन की त्रिवेणी का तटस्थ प्रवाह है। यह देखकर मुझे प्रसन्नता हुई कि इसमे हर युग की चितनधारा का अविरल समावेश है। यह सत्-प्रयत्न भूरि-भूरि अनुमोदनीय है।

—आचार्य तुलसी

तेरापथी भवन,

मद्रास

सत्य असीम है। जो असीम होता है, वह किसी भी सीमा मे आबद्ध नही होता। सत्य न तो भाषा की सीमा मे आबद्ध है और न सम्प्रदाय की सीमा मे। वह देश, काल की सीमा मे भी आबद्ध नही है। इस अनाबद्धता को अभिव्यक्ति देना अनुसन्धित्सु का काम है।

उपाध्याय कवि अमर मुनि सत्य के अनुसन्धित्सु हैं। उन्होने भाषा और सम्प्रदाय की सीमा से परे भी सत्य को देखा है - उनकी दिदृक्षा इस 'सूक्ति त्रिवेणी' मे प्रतिबिम्बित हुई है।

कवि श्री ने सूक्ष्म के प्रति समदृष्टि का वरण कर अनाग्रहभाव से भारत के तीनो प्रमुख धर्म-दर्शनो (जैन, बौद्ध और वैदिक) के हृदय का एकीकरण किया है। कवि श्री जैसे मेधावी लेखक हैं, वैसे ही मेधावी चयनकार भी हैं। सत्य-जिज्ञासा की सम्पूर्ति, समन्वय और भारतीय आत्मा का सबोध इन तीनो दृष्टियो से प्रस्तुत ग्रथ पठनीय बना है। आचार्य श्री ने भी उक्त दृष्टियो से इसे बहुत पसन्द किया है। मैं आशा करता हूँ कि कवि श्री की प्रवुद्ध लेखनी से और भी अनेक विन्यास प्रस्तुत होते रहेगे।

—मुनि नथमल

तेरापथी भवन,

मद्रास

'सूक्ति त्रिवेणी' देखकर प्रसन्नता हुई। हमारे देश मे प्राचीन भाषाओ का अध्ययन धर्म के साथ लगा हुआ है, इससे उसके अध्ययन के विभाग अलग-अलग रखे गये हैं और विद्यार्थियो को तुलनात्मक अध्ययन का अवकाश मिलता नही। आपने मागधी, पालि और सस्कृत सबको साथ करके यह सग्रह किया है, वह बहुत अच्छा हुआ। इससे तुलनात्मक अध्ययन के लिये सुविधा होगी।

—प्रबोध बेचरदास पडित
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

हमारे देश मे प्राचीन काल से ही सर्वधर्म समभाव की परम्परा रही है। अपने अपने धर्म मे आस्था और विश्वास रखते हुए भी दूसरे धर्मों के प्रति पूज्य भाव रखने को ही आज धर्मनिरपेक्षता कहा जाता है। पूज्य उपाध्याय अमर मुनि ने जैन, बौद्ध और वैदिक धाराओ के सुभाषितो को एक ग्रथ मे सग्रहीत करके उस महान परम्परा को आगे बढाया है। सूक्ति त्रिवेणी ग्रथ के प्रकाशन का मैं स्वागत करता हूं और आशा करता हूं कि बुद्धिजीवियो और अध्यात्म जिज्ञासुओ को यह प्रेरणा प्रदान करेगा।

—अक्षयकुमार जैन
सपादक नवभारत टाइम्स, दिल्ली—बम्बई

●

(पृष्ठ ७२ का शेष)

श्री सौभाग्यमल जैन	शुजालपुर
,, अमरनाथ जैन	अम्बाला
,, दुलेहचन्द जैन	जोधपुर
,, मानक सचेती	जोधपुर
,, भोगीलाल रामचन्द तुरखिया	बम्बई
,, व० स्था० जैन श्रावक सघ	मद्रास
,, व० स्था० जैन श्रावक सघ	जोधपुर
,, व० स्था० जैन श्रावक सघ	अटपडा
,, व० स्था० जैन श्रावक सघ	ग्वालियर
,, व० स्था० जैन श्रावक सघ	कानपुर
,, जैन सभा	धुरी
,, व० स्था० जैन श्रावक सघ	अम्बाला
,, व० स्था० जैन श्रावक सघ	जयपुर

सूक्ति साहित्य का अपूर्वग्रन्थ

सूक्ति त्रिवेणी

सपादक **उपाध्याय श्री अमर मुनि**

प्रकाशक **सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२**

विद्वान, लेखक, प्रवक्ता तथा स्वाध्याय प्रेमी सज्जनो के लिए
अत्यत उपयोगी तथा सग्रहणीय
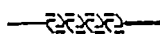
दिनाक ६ अक्टूबर (शरद्पूर्णिमा) के अवसर पर डा० डी० एस० कोठारी (अध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग) द्वारा ग्रन्थ विमोचन के उपलक्ष मे विशेप सुविधा की घोषणा की जाती है। **३० दिसम्बर १९६८ तक प्रत्येक ग्राहक को सूक्ति त्रिवेणी पर १५% कमीशन दिया जायेगा।**

इस ग्रन्थ मे जैन, बौद्ध एव वैदिक परम्परा के १६० से भी अधिक मूल ग्रन्थो की लगभग ५ हजार सूक्तियाँ मूल तथा सरल भावानुलक्षी अनुवाद के साथ सकलित की गई हैं।

आज तक जितने भी सूक्ति सग्रह प्रकाशित हुए है, वे प्राय एक धर्म व एक परम्परा से सम्बन्धित रहे हैं और वे भी कुछ खास ग्रन्थो की सूक्तियो तक ही। किन्तु भारतीय दर्शन के बहुश्रुत विद्वान उपाध्याय श्री अमर मुनि जी ने अपने गभीर अध्ययन तथा अनुशीलन के आधार पर भारत के तीनो जैन, बौद्ध एव वैदिक धर्म परम्पराओ के विभिन्न ग्रन्थो का पारायण करके यथाक्रम से वहुत ही व्यापक दृष्टि से इन सूक्तियो का सचयन किया है।

तीन धाराओ मे विभक्त इस महाग्रन्थ मे जिन मुख्य-मुख्य ग्रन्थो के सुभाषित सकलित हुए हैं, वे इस प्रकार है

जैन धारा—आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, भगवती, प्रश्नव्याकरण, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचार्य भद्रवाहु की निर्युक्तियाँ, आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार,

Reg. No. L. 2043

प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय, अष्टपाहुड आदिग्रथ तथा भाष्य ग्रन्थ, चूर्णि साहित्य, सन्मतितर्क एव अन्य अनेकानेक स्फुट ग्रन्थो की सूक्तियाँ।

बौद्ध धारा—दीघनिकाय, मज्झिम निकाय, सयुक्त निकाय, अगुत्तर निकाय, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, थेर गाथा, जातक, विसुद्धिमग्गो आदि ग्रन्थो की सूक्तियाँ।

वैदिक धारा—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शतपथ, तैत्तिरीय, ताण्ड्य, गोपथ, ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थ, शाख्यायन, तैत्तिरीय, मैत्रायणी, ऐतरेय आदि आरण्यक ग्रन्थ, ईशा, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छादोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर आदि उपनिषद, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, भगवद् गीता, मनुस्मृति तथा अन्य स्मृतियाँ, योगवासिष्ठ षड्दर्शन ग्रन्थ, गृह्यसूत्र, शकराचार्य के प्रमुख ग्रन्थ, भाष्य आदि अनेक ग्रन्थो की सूक्तिया।

भावग्राही स्पष्ट हिन्दी अनुवाद, विशेष टिप्पण एव प्रत्येक धारा की विषयानुक्रमणिका के साथ सूक्तित्रिवेणी का यह अपूर्व ग्रन्थ सूक्तिसाहित्य मे अपूर्व, अद्वितीय एव सग्रहणीय है।

जिन विद्वानो ने इस ग्रन्थ को देखा है वे इस पर मुग्ध हो उठे, और मुक्त कठ से प्रशसा करने लगे है।

पुस्तक विक्रेताओ एव पुस्तकालयो के लिए मगाने पर अन्य सुविधाए दी जा सकेगी।

२२×३६/१६ साइज के लगभग ८०० पृष्ठ, पक्की जिल्द, सुन्दर आकर्षक आवरण। फिर भी प्रचार की दृष्टि से मूल्य बहुत कम है।

साधारण सस्करण १२)   पुस्तकालय सस्करण १६)

सन्मति ज्ञान पीठ, लोहामडी, आगरा-२

o

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा- मे [illegible] जैन द्वारा प्रकाशित
एव प्रेस [illegible] [illegible]।

मासिक प्रकाशन

हँसाता जाए

रोता आया मानव जग में,
अच्छा हो, अब हँसता जाए।
और दूसरे रोतों को भी,
जैसे बने हँसाता जाए ।।

★

—उपाध्याय अमर मुनि

दिसम्बर १९६८

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

लोगस्स सारं धम्मो, धम्मं पि य नाणसारियं विंति
नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं ॥

—आचा० निर्युक्ति २४४

लोक का सारभूत तत्त्व है—धर्म ! धर्म का सार
सम्यग् बोध) है। ज्ञान का सार संयम है, और
सार निर्वाण—शाश्वत आनंद की उपलब्धि है।

मइल वत्थं सुज्झइ उदगादिएहिं दव्वेहिं।
झाणेण सुज्झए कम्ममट्ठविहं ॥

—आचा० निर्युक्ति २८२

न आदि द्रव्यो के द्वारा मैला वस्त्र धुल
हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा तप
ा ज्ञानावरणादि अष्टकर्म मल से
दशा को प्राप्त हो जाता है।

श्री अमर भारती

वर्ष ५ दिसम्बर, १९६८ अंक १२

क्या... कहाँ...

★

★

प्रेरणा

श्री अखिलेश मुनि

मुनि समदर्शी 'प्रभाकर'

★

दिशा निर्देशक :

श्री विजय मुनि 'शास्त्री'

★

संपादक :

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

वीरेन्द्र कुमार सकलेचा, एम० ए०

★

व्यवस्था :

रामधन बी० ए०, 'साहित्यरत्न'

★

प्रकाशक :

सोनाराम जैन

मंत्री

सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा-२

★

मूल्य :

जीवन : एक सौ एक रुपया

वार्षिक : आठ रुपया

एक प्रति : पचहत्तर पैसे

मुद्रक :

प्रेम प्रिंटिंग प्रेस, राजामण्डी, आगरा

आवरण :

प्रेम इलेक्ट्रिक प्रेस, आगरा-२

श्रमण-संस्कृति का मासिक-प्रकाशन

श्री अमर भारती

सन्मति ज्ञान-पीठ, आगरा

लोगस्स सारं धम्मो, धम्मं पि य नाणसारियं बिंति
नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं ॥

—आचा० निर्युक्ति २४४

लोक का सारभूत तत्त्व है—धर्म। धर्म का सार ज्ञान (सम्यग् बोध) है। ज्ञान का सार सयम है, और सयम का सार निर्वाण—शाश्वत आनंद की उपलब्धि है।

जह खलु मइल वत्थं सुज्झइ उदगादिएहिं दव्वेहिं ।
एवं भावुवहाणेण सुज्झए कम्ममट्ठविहं ॥

—आचा० निर्युक्ति २८२

जिस प्रकार जल आदि द्रव्यो के द्वारा मैला वस्त्र धुल कर साफ एव निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा तप आदि साधनाओ के द्वारा ज्ञानावरणादि अष्टकर्म मल से मुक्त होकर परम विशुद्ध दशा को प्राप्त हो जाता है ।

पूर्णता की ओर

उपाध्याय अमर मुनि

इस चराचर जगत मे जितने भी प्राणी दिखाई दे रहे है, चैतन्य का जितना भी विस्तार हमारी आँखो के सामने झलक रहा है, उस का यदि वर्गीकरण किया जाये तो उसे हम तीन भागो मे वाट सकते है। समस्त प्राणियो की जीवन-दृष्टि के आधार पर उनके तीन वर्ग करके हम उनका आन्तर-विश्लेषण कर सकते है।

पहली श्रेणी मे वे प्राणी आते है, जो अन्दर से वाहर की ओर जा रहे है। चिन्तन की धारा उनमे वह तो रही है, पर उसका प्रवाह वाहर की ओर मुडा हुआ है। ज्ञान की धारा चैतन्य के अन्तर मे सतत वहती रहती है, कभी उसका प्रवाह अन्तर्मुखी होता है, और कभी वहिर्मुखी। जो ज्ञानधारा, विचार-सरिता वाहर की ओर विपयो की तलाश मे बहती है, इन्द्रियो की ओर उन्मुख होकर दौडती है, इससे भी बाहर मे जाएँ तो धन सपत्ति, प्रतिष्ठा आदि के भौतिक धरातल पर बहती रहती है, वह भौतिकताप्रधान धारा है। जब हमारी चेतना भौतिक रूप की तलाश कर रही है, तो भौतिक के सिवाय उसे और मिलेगा ही क्या? ससार के बाह्य रूपो को आधार वनाकर चलने वाला सिवाय वाह्य रूप के और क्या पा सकता है? प्रकृति की खोज करने वाला दृष्टिकोण प्रकृति तक ही तो सीमित रहता है।

बाहरी दृष्टि ने विनाश किया है

मनुष्य ने जब वाहर मे देखा, प्रकृति को परखा तो विज्ञान का जन्म हुआ। प्रकृति की शोध, खोज ही आगे चलकर विज्ञान की पगडडियाँ वनी है। विज्ञान भी एक शक्ति है, चैतन्य का एक रूप है। पर वह चैतन्य जब वहिर्मुखी होकर ब्रह्माण्ड के कण-कण को छानने लगता है और उन सब का उपयोग अपनी शारीरिक एव मानसिक वासनाओ की परितृप्ति के लिए करने लगता है, तब वह शक्ति शुभ और शिव नही होकर अशुभ और अशिव हो जाती है। मनुष्य सत्य

को खोजने का प्रयत्न करता है, मगर सत्य दूर एक किनारे रह जाता है और जीवन मे भौतिक सुख सुविधाएँ ही प्रमुख बन जाती हैं।

मनुष्य ने जब प्रकृति के रहस्यो का पता लगाया तो नये-नये परिणाम सामने आए। आज ही नही, प्राचीन काल मे भी जब जब मनुष्य ने प्रकृति के रहस्यो को जाना है, उस पर अधिकार किया है, तब तब उसका उपयोग अपनी आकाक्षापूर्ति के लिए ही किया है। रामायण काल मे मनुष्य ने विज्ञान की खोज की। अनेक प्रकार के शस्त्र बनाए, पुष्पक विमान का निर्माण किया, समुद्र पर पुल बाधा, अपनी सुख सुविधाओ के अनेक साधन जुटाए, पर हुआ क्या ? उनसे आखिर सर्वनाश ही फूटा ! मौत बरसने लगी। जिसने अपने सुख-भोग के लिए उनका निर्माण किया था, वे उसीका सर्वनाश कर बैठे। जो निर्माता था, वही उनका बलि बन गया।

आप पूछेगे ऐसा क्यो हुआ ? क्या कारण ? कारण और कुछ नही, एक ही था और वह यह है कि उन आविष्कारो के पीछे दृष्टि-कोण बहिर्मुखी था। वहाँ वैभव की खोज थी, शक्ति की होड़ थी। स्पर्धा और प्रतिस्पर्धा की लडाई थी। जब तक हमारी यह बहिर्मुखी दृष्टि नही बदलती, तब तक सुख शान्ति नही मिल सकती। विकास विनाश को रोक नही सकता, और यह प्रगति अवनति के निमत्रण को ठुकरा नही सकती।

कस्तूरिया मृग

●

मनुष्य सुख और शान्ति की खोज कर रहा है, पर बाहर मे ही तो ! हमारे साहित्य मे एक ही उदाहरण सेकडो जगह बार-बार दुहराया गया है, चाहे आप प्राचीन सस्कृत ग्रन्थ महाभारत आदि मे पढ लीजिए या तुलसी, सूरदास, कबीर तथा आनदघन की रच-नाओ को उठाकर देख लीजिए, वह यह है कि 'मनुष्य कस्तूरिया मृग बना हुआ है।'

कस्तूरिया मृग कस्तूरी की सुगध मे पागल होकर भटकता रहता है। जगल के हर वृक्ष और पत्ते पत्ते को सूघता फिरता है, कस्तूरी की सुगन्ध की खोज मे वह व्याकुल हो जाता है। मादक सुगन्ध उसे आ रही है, पर वह कहा से आ रही है, कहा छिपी है, यह जह नही

जान पाता। और इसी अज्ञानवश दौडता भागता वह आखिर प्राण त्याग देता है। पर, यह नही जान पाता कि कस्तूरी तो उसी की नाभि मे छिपी हुई है। जो प्राण वायु के साथ अपने ही नाक से बाहर आकर फैलती है, और फिर उसी अपने नाक से सुगन्ध की अनुभूति मन मस्तिष्क को पहुँचती है।

भारत का दर्शन कहता है—मनुष्य कस्तूरिया मृग की तरह बाहर मे कुछ पाने को भटक रहा है, जन्म जन्म से भटक रहा है, पर अभी तक समाधान नही पा रहा है। बाहर मे समाधान होता तो लका निवासियो को कष्ट क्यो उठाने पडते ? द्वारिका वालो को परेशानी मोल नही लेनी पडती। जरासध कौरवो का समाधान हो गया होता ? पर नही हुआ ! वे जीवन भर भटकते रहे। निर्माण भी करते रहे और फिर अपने ही हाथो उसका विनाश भी करते चले गये।

चक्रवर्ती जैसे सम्राटो का सिंहासन भी इस आत्मा को मिला है। देवताओ का स्वामी भी बन गया है, पर फिर भी वह सुख और आनन्द नही मिल सका, जिसकी वह खोज कर रहा है। मतलब यह है कि जिस सत्य और शक्ति का पता लगाने के लिए वह दौड रहा है, उसकी दिशा ठीक नही है। गलत दिशा मे चल रहा है। वह अन्दर से बाहर की ओर चला जा रहा है। व्यक्ति हो, चाहे समाज हो, चाहे कोई राष्ट्र हो, जो बाहर मे अटका रहता है, वह बाहर मे ही अटका रह जाता है। बाहर मे दौड लगाता हुआ भले ही वह चन्द्र-लोक तक पहुँच जाए, पर वहाँ भी उसे शीतलता और शान्ति नही मिल सकती, बल्कि सुलगते ज्वालामुखी मिलेगे, तूफान ही मचलते दिखाई देगे। आप आज कल अखबारो मे पढते है कि मनुष्य चन्द्र-लोक की यात्रा की तैयारी कर रहा है। पर, धरती पर उसने ऐसा कौन सा काम कर लिया है कि वह इससे आगे बढने का साहस कर रहा है। इस धरती को तो उसने नरक बना डाला है, इधर उधर द्वेष, ईर्ष्या और कलह के विषैले अकुर पैदा किये है, पडौसी के साथ मानव रूप मे अभी रहना भी नही सीखा है, तब चन्द्रलोक मे जाकर वह शान्ति और शीतलता कहाँ से प्राप्त कर सकेगा ? आपके पास क्या उत्तर है इसका ?

स्वयं को बदलिए

एक विज्ञान के विद्यार्थी से बात चली तो कहा उसने कि—"आप के पुराने ऋषि मुनि चन्द्रलोक पर देवताओ का राज्य बतलाते थे, शीतलता और शान्ति का वातावरण बताया करते थे। पर, अब तो वहा ऐसा कुछ नही मिला है, अपितु ज्वाला मुखी मिले है।"

मैंने कहा—"जिनकी मनोवृत्ति जैसी होती है वे वैसा ही दर्शन करते हैं। देवात्माओ को देवो के ही तो दर्शन होगे। पहले जिन्होने शीतलता का वर्णन किया है, जरूर उनके हृदय और कल्पनाओ मे शीतलता का वातावरण रहा होगा। पर, अब जाने वालो के हृदय मे ही जब ज्वाला मुखी धधक रहा है, तो उन्हे वहाँ अमृत कुण्ड कहा से मिलेगा? जैसी दृष्टि होगी, वैसा ही तो मिलेगा।"

यह एक मनोरजक समाधान की बात हुई। पर वास्तविकता भी यही है कि मनुष्य चाहे चन्द्रलोक मे पहुँच जाए या स्वर्ग मे भी, पर यदि वह अपने आपको बदल नही पाता तो कही भी आनन्द और सुख नही मिल सकता। आनन्द और शान्ति के लिए स्वय को बदलना पडेगा। जो अपने आप को नही बदल सकता, वह दूसरो से सुख और सम्मान की अपेक्षा रखे, यह गलत बात है।

एक पुरानी कहानी मुझे याद आती है कि एक कौआ वडी तेजी से उडा चला जा रहा था। कोयल ने उसके चेहरे पर कुछ रोप और कुछ गमगीनी देखी, तो पूछा—"चाचा, आज किधर को चल पडे?"

कौओ ने आँखे तरेरते हुए कहा—'इस देश को छोडकर जा रहा हूँ।'

"क्यो, क्या बात हुई?"—कोयल ने पूछा।

कौओ ने बताया—"इस देश के लोग बड़े असभ्य है, जब मैं गाता हूँ तो ककर पत्थर फेककर मुझे परेशान करते हैं। मेरा गाना, और तो क्या, बोलना भी उन्हे पसन्द नही। इसलिए ऐसे अभद्र देश मे रह कर क्या करूँ?"

कोयल ने मुस्करा कर कहा—"चाचा! पूर्व के लोग भी तो तुम्हारे साथ यही बर्ताव करेंगे। कही भी चले जाओ, जब तक तुम

अपना कर्ण-कटु स्वर नही बदलोगे, तब तक पूरब और पश्चिम सर्वत्र लोग तुम्हारा अनादर ही करेगे।"

बात यह है कि मनुष्य दुनियाँ को बुरा देखता है, पर अपने आप को नही समझ पाता है, वह सर्वत्र यो ही भटकता रहता है। कुछ लोग इसी तरह सुख की तलाश करते है। और कुछ लोग इसी तरह धर्म की तलाश भी करते रहते है। धर्म यहाँ तो नही मिला, चलो गगा जी पर मिल जाएगा, कुछ लोग हरिद्वार वद्रीनाथ मे जाकर धर्म खोजते है, तो कुछ सम्मेद शिखर आदि पर जाकर धर्म की तलाश करते है। यो भटकने से उन्हे धर्म तो नही मिला, पर सम्प्रदाय अवश्य मिल गया, पथ अवश्य मिल गए। और दुर्भाग्यवश वह उन्हे ही धर्म समझ वैठा। इस प्रकार किसी का धर्म हरिद्वार मे रहता है तो किसी का वाराणसी मे। किसी का धर्म बुद्ध गया मे विराजमान है तो किसी का सम्मेद शिखर और शत्रुजय पर। धर्म के जो ये वाहर मे अनेक रूप है, वे पन्थ और सप्रदाय के रूप है। वाहर का महत्त्व अमुक सीमा तक है, एक प्रेरणा का रूप है, परन्तु वह स्वय सब कुछ नही है। अन्दर का धर्म और है, वाहर का पथ और है। धर्म साधक के अन्तर मे रहता है और पथ वाहर मे रहता है। खेद है मानवबुद्धि पर। उसने वाहर मे देखते-देखते पथ को तो दृढता से पकड लिया, परन्तु अन्दर मे से धर्म छूट गया।

झगड़ा धर्म में नहीं, पंथ में है

•

यदि मनुष्य ने अपने अन्दर मे देखने का प्रयत्न किया होता तो आज उसे यह परेशानी और कष्ट नही उठाने पडते। जब-जब भी व्यक्ति, धर्म और समाज वाहर मे भटके है, तब-तब सघर्ष हुए है, लडाइयाँ हुई है और खून वहा है। इतिहास साक्षी है, मानव जाति का जितना खून धर्म के नाम पर वहा है, उतना अन्य किसी कारण से नही वहा।

धर्म मे जब पथ का आग्रह आ जाता है तो व्यक्ति भटक जाता है। उसके अन्दर मे धर्म का उन्माद जग उठता है। पथ का व्यामोह

उसे अधा बना डालता है। आचार्य सिद्धसेन, जो कि हमारे दार्शनिक क्षितिज के सूर्य माने जाते है, कहते हैं—

—"दो अलग-अलग गांवो से आये हुए कुत्तो मे तो सभव है, कभी प्रेम हो भी जाए, पर दो सहोदर भाई, यदि वे भिन्न-भिन्न सप्रदाय के मानने वाले है, तो उनमे प्रेम होना बहुत ही कठिन है।"

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है कि मनुष्य मे धर्म, पथ और सप्रदाय का मोह जितना प्रबल है उतना प्रवल अन्य कोई मोह नही है।

कामरागस्नेहरागावीषत्कर — निवारणौ।
दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेद्यः सतामपि॥'

कामराग और स्नेहराग का छोडना उतना कठिन नही है, जितना कि दृष्टि राग का, पथ का मोह छोडना कठिन है। पथ का राग एक उग्र वासना है। इसके साथ अधविश्वास और अहकार जुडा रहता है। साधारण आदमी तो क्या, पर जिन्हे शास्त्र की आखे मिली है, वे भी पथ-राग मे अधे हो जाते है। तुलसी दास जी ने भी अपनी अनुभूति व्यक्त करते हुए यही कुछ कहा है—

सुत–दारा–अरु लक्ष्मी झगड़े की जड़ तीन।
तुलसीदास सब तें कठिन मन की बात महीन॥

हाँ तो ऐसा क्यो होता है, और कब होता है? जब मनुष्य बाहर मे देखता है। विज्ञान ने आज इतनी प्रगति की है, किन्तु फिर भी उसके हाथ क्या लगा है, मौत! रूस और अमेरिका आज ससार को क्या बॉट रहे हैं? मौत! एक दूसरे की मौत का सौदा कर रहे हैं। भयकर से भयकर शस्त्र निर्माण कर रहे हैं और एक दूसरे को धोखा दे रहे हैं। देने के लिए आज उनके पास सद्भावना नही, प्रेम नही, विश्वास नही, सिर्फ सघर्ष; शस्त्र और धोखा है।

बाहर से अन्दर चलो

●

पहली श्रेणी के लोग अन्दर से बाहर की ओर जाते है। और ससार मे आज उनका ही आधिक्य है। पर दूसरी श्रेणी मे कुछ वे लोग भी है, जो बाहर से अन्दर की ओर आरहे हैं। मनुष्य अनन्त अनन्त काल से बाहर मे ही भटकता रहा है, और नये नये सघर्ष

तथा द्वन्द्व खड़े करता रहा हैं। यदि वह बाहर से अन्दर की ओर आया होता, तो यह विषम स्थिति कभी नही हुई होती ?

अनादि काल से यह प्राणी विश्व की यात्रा करता चला आ रहा है। स्वर्ग मे भी गया, आनन्द और भोग का मन चाहा अवसर पाया और फिर—'**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्ति**' के अनुसार ऊपर से गिर कर नीचे आ गया। ससार के अनन्त प्रवाह मे कभी ऊपर तो कभी नीचे भटकता ही रहा है, भटकता ही रहेगा। जब तक वह अपने मे ही अन्दर की ओर प्रवेश नही करता, तब तक भटकना मिट नही सकता।

मनुष्य जहाँ भी गया, बस, उसे ही अपना घर समझ कर बैठ गया, और अपने असली घर को भूल गया। जब अपने घर मे आएगा, तभी उसे शान्ति और आनन्द मिल सकेगा। भगवान् भी तो अन्दर मे ही हैं। जो बाहर मे भगवान् को देखना चाहता है उसे मूर्ति के दर्शन तो हो सकते हैं, पर भगवान के दर्शन नही हो सकते। भगवान तो अन्दर मे हैं, अन्दर की ओर झाके बिना उसके दर्शन कैसे हो सकते हैं ? बाहर मे मूर्ति मिल सकती है, पर भगवान नही मिल सकते। बाहर मे भौतिक ऐश्वर्य अवश्य मिल सकता है, पर आत्मा का अनन्त अक्षय ऐश्वर्य नही मिल सकता।

जब मनुष्य अन्दर मे प्रवेश करेगा तो उसे लगेगा कि जिस सुगध के लिए वह बाहर मे भटक रहा था, वह सुगन्ध तो भीतर मे ही है। अन्दर की आँख खोलकर जब वह सत्य की तलाश करने लगता है, तो वहाँ सत्य का साक्षात्कार होता है, बस यही धर्म है। धर्म और क्या है ? मनुष्य के अन्दर का दर्शन ही तो धर्म है। परम सत्य और परम चैतन्य का दर्शन जब हो जाता है, तो धर्म और अहिंसा अपने आप प्रकट हो उठते हैं। मैं पूछता हूँ—धर्म क्या है ? अहिसा और प्रेम क्या है ? यह सब चैतन्य की सत्ता के दर्शन होने पर ही तो जागृत होते है। जहाँ अन्तर मे प्रविष्ट होकर चैतन्य के दर्शन किए, वहाँ धर्म के दर्शन भी हो गए, प्रेम भी प्रकट हो गया, अहिंसा और सत्य भी जागृत हो उठे।

मोती कहाँ मिलता है ? यदि कोई गाँव की गन्दी तलैया मे मोती खोजने लगे तो क्या मोती मिलेगा ? वह तो महासागर मे

डुबकी लगाने से मिला करता है। अन्दर के महासागर मे जब डुबकी लगाई जाएगी तब धर्म और प्रेम के मोती मिलेंगे। जो पूर्णता है वह अन्दर मे है। बाहर-बाहर रहने से पूर्णता के दर्शन नही हो सकते। एक आचार्य ने कहा है—

अन्तः शून्यो बहिःशून्यः शून्यकुभ इवाबरे।
अन्त.पूर्णो बहि.पूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥

घडा जब आकाश मे रहता है, तो भीतर मे भी शून्य है, खाली है। बाहर मे भी शून्य है। उसे कही भी ले जाइये और कही भी रख लीजिए, वह खाली है। पर जब उसे जल के भीतर सागर मे छोड देते है तो भीतर मे भी जल ही जल भर जाता है, बाहर मे भी सब ओर जल ही जल फैला रहता है। बाहर भीतर चारो ओर जल की पूर्णता झलक उठती है। इसी प्रकार हमे बाहर के शून्य भौतिक आकाश मे नही रहना है, अन्दर के चैतन्य महासागर मे उतरना है, वहाँ ही पूर्णता के दर्शन होगे। जब तक आत्मा बाहर मे भटकता है, तब तक वह खाली का खाली ही रहता है। वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, सघर्ष, क्रोध आदि के सिवाय और क्या मिलेगा ? जब वह भीतर मे प्रविष्ट होता है, तो सुख, आनन्द एव विवेक की पूर्णता झलकने लगती हैं।

मीरा को अधेरीकोठरी मे बन्द कर दिया गया था। जहाँ प्रकाश की एक किरण भी प्रवेश नही कर सकती थी, वहाँ उसे सर्वत्र श्याम की मोहक छवि दिखाई देने लगी। अधकार के रूप मे ही वह प्रभु की छवि के दर्शन करके पुलकित हो उठी, अग अग नाचने लग गया।

मतलब यह हुआ कि जब बाहर की दृष्टि अन्दर की ओर घूम गई तो सर्वत्र दिव्य प्रकाश की किरणे चमक उठी। उस परम चैतन्य ज्योति का प्रकाश अन्दर मे जब जगता है, तो बाहर का अधकार स्वत समाप्त हो जाता है। इसलिए दूसरी श्रेणी के व्यक्ति जब बाहर से अन्दर प्रवेश करते हैं, तो वे अशान्ति से शान्ति की ओर, दु ख से सुख की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर आते हैं।

स्थित पुरुष

•

तीसरी श्रेणी मे वे आत्माएँ आती है, जो स्थित है। पहले अन्दर से बाहर की ओर आते है तो दूसरे बाहर से अन्दर की ओर जाते है

और जब अन्दर की ओर चले गये तो बस उसी शुद्ध स्वरूप मे स्थिर हो गए। साधक के जीवन मे सत्य की खोज चलती रहती है, पर वह पूर्णता को नही प्राप्त होती, इसलिए स्थित नही हो सकती। तीसरी अवस्था सिद्ध अवस्था है। वहाँ जाकर पूर्ण विराम मिल जाता है।

साधना के क्षेत्र मे चलने वाले साधक के जीवन मे कभी-कभी क्रोध, मान आदि कषायो की जागृति हो जाती है और उसे साधक आत्म-ज्ञान से शान्त कर लेता है। पर, तीसरी स्थिति मे तो पूर्ण शुद्धि प्राप्त हो जाती है, स्थिरता आ जाती है। पूर्ण आत्मा अपने स्वभाव मे स्थिर हो जाता है—यही धर्म की परिपूर्णता है। यही हमारी पूर्णता है। हमारी पूर्णता चक्रवर्ती का सिंहासन प्राप्त करने या देवराज का वैभव उपलब्ध करने मे नही है, बल्कि अपने आप मे स्थित होने मे ही हमारी पूर्णता है। जब यह पूर्णता की उपलब्धि हो जाती है, तो धर्म का समस्त रूप स्वत प्रकट हो जाता है।

भारत का आध्यात्मिक दर्शन, आत्मा की इसी परिपूर्णता का दर्शन है। यह पूर्णता ही ईश्वर या परमात्मा का रूप है और यह प्रत्येक आत्मा के भीतर छुपा हुआ है। हम आज पहली स्थिति से दूसरी स्थिति मे आ रहे है, किन्तु यह स्थिति वस्तुतः स्थिति नही, गति है, मजिल नही, मार्ग है। तीसरी स्थिति ही वस्तुत स्थिति है। जहाँ पहुँचने पर न आगे की कोई गति है, और न पीछे की कोई अवगति। न आगे कही बढना है, न पीछे कही लौटना है। इसी को पूर्णता कहते हैं। पूर्णता का अर्थ है—कृतकृत्य। अर्थात् पूर्णता होने पर फिर पाने जैसा अन्य कुछ नही रहता है।

रटा रटाया आत्म-बोध

उपाध्याय अमर मुनि

मध्य काल की बात है, राजस्थान मे विक्रमजूदेव नामक एक विद्या प्रेमी राजा हो गए हैं। उनकी राज-सभा मे दूर-दूर से बड़े बड़े विद्वान् धर्म गुरु और दर्शनशास्त्री आते, धर्म चर्चा करते, प्रवचन सुनाते। राजा विक्रमजूदेव उन सबका बडा आदर करते थे।

एक बार गाव का रहने वाला एक कबीरपथी सत घूमता-घामता राजसभा मे आ पहुँचा। राजा ने सत का स्वागत करके पूछा—"सन्त जी का आश्रम कहाँ है?"

"कायापुरी मे"—सत ने गर्व के साथ कहा।

'महात्मा जी को लोग किस नाम से पुकारते हैं?'

'आत्मासम!'—सत ने बडी अल्हडता से उत्तर दिया।

राजा ने मुक्त कठ से साधु की प्रशसा की और कहा—'महाराज! कृपया अपने इस गूढ सिद्धान्त की व्याख्या करके हमे स्पष्ट बोध दीजिए।'

साधु की देह भगिमा दर्प से धनुष की तरह तिरछी झुक गई, बोले—"इसका आशय है कि 'मैं' शरीर, बुद्धि, मन आदि कुछ भी नही हूँ। विशुद्ध आत्मा हूँ, सर्व व्यापक हूँ। सुख-दु ख, हर्ष-विषाद, जन्म-मृत्यु, भूख-प्यास आदि से निर्लिप्त और अजर अमर अविनाशी हूँ।"

आत्मा की गूढ व्याख्या सुनकर राजपरिषद् वाह वाह कर उठी। सन्त भावावेश मे बोलता चला गया—"राजन्! प्रत्यक्षरूप मे आप गद्दी पर बैठे हैं, पर सत्य यह है कि मेरी सर्वव्यापी आतमा ही आपके शरीररूपी व्यूह मे राजा का रूप धारण किए विलास कर रही है। वस्तुत मैं ही इस समय महाराजा हूँ।"

साधु के आत्म-बोध मे झलकता हुआ सूक्ष्म दर्प देखकर राजा होठो से मुस्करा उठा। राजा ने सन्त जी को समझाने के लिए महलो मे भोजन का कार्यक्रम आयोजित किया।

साधु को स्नानादि के बाद चन्दन की चौकी पर बिठाया गया। सामने दोनो ओर सभासद, सामन्त और नगर के अन्य नागरिको की पक्ति बैठी। नगाड़े पर चोट लगी कि थालो मे तरह-तरह के मिष्टान्न, व्यजन लाकर सब के सामने सजा दिए गए। किन्तु चौकी पर बैठे साधु के सामने कुछ भी नही रखा गया।

राजा ने पहला कौर मुह मे डालकर राजभोग की रस्म पूरी की। सब लोगो ने खाना शुरू किया। साधु ने अपने चारो ओर नजर फेर कर देखा और फिर ध्यानमग्न हो गया।

लोगो ने महाराज के सामने भोजन की प्रशसा शुरू की। मिष्टान्न के स्वाद की चर्चा सुनकर सन्त जी के मुह मे पानी छूट रहा था। तीन दिन की भूख से वह पीडित था। उसका दर्शन और आत्मबोध भूख की ज्वाला मे भस्म हो गया। अध्यात्म की उडान शिथिल हो गई। वह भोजन करते व्यक्तियो का मुह ताक कर होठो पर जीभ फिरा रहा था।

राजा ने अवसर देखकर कहा—"महात्मन्! आपने कहा था कि प्रत्येक शरीर मे मैं ही विलास कर रहा हूँ, तो क्या इन सब लोगो की भोजनतृप्ति से आप तृप्त नही हो रहे हैं?"

साधु को भूख असह्य हो रही थी, वह बोला—"महाराज! मेरा नाम तो 'घुरहुआ' है, मैं गाव का रहने वाला साधारण कबीरपन्थी साधु हूँ। सिद्धान्त की रटी रटाई बात मैंने आपको कह दी। पर अब तो भूख की ज्वाला मे वह समूचा आत्मज्ञान राख हो गया है, महाराज! कलेजा मुह को आ रहा है"

दर्शक सन्त जी के रटे रटाए आत्मबोध की महिमा का अता पता पा चुके थे। राजा ने आदेश दिया, साधु के सामने थाल परोसा गया, और आत्मज्ञानी जी कुछ ही क्षणो मे पूरा-का-पूरा थाल चट कर गए..

दीपमालिका : परंपरा और फलश्रुति

उपाध्याय अमर मुनि

मेरे इतिहासचक्षु आज भारत के एक प्राचीन गणतन्त्र राष्ट्र वैशाली के विशाल साम्राज्य का दर्शन कर रहे है। वैशाली भारतीय गणतन्त्र का वह मेरुदण्ड है, जो कभी विश्व के निरकुश एकतन्त्र की प्रतिक्रिया के रूप मे जनतन्त्र का एक महान् उद्घोष था। जनता की समृद्धि और कल्याण का सकल्प लिए वैशाली का गणतन्त्र प्रगति के अपने सुदृढ चरण बढाये जा रहा था। तत्कालीन वैशाली के नागरिको की सम्पन्नता का दर्शन तथागत बुद्ध के इस वचन से होता है, जो उन्होने भिक्षुओ को सम्बोधित करके कहा था—"भिक्षुओ, यदि तुम स्वर्ग के देवताओ की समृद्धि और सम्पन्नता के दर्शन करना चाहते हो तो वैशाली के नागरिको को देखो।"

-- इतिहास के तथ्यो और घटनाओ से यह विश्वास किया जाता है कि वैशाली भारतवर्ष का प्राचीनतम नगर था। उसके वैभव और साम्राज्य की चर्चा राम युग मै भी थी, जिसकी प्रतिध्वनि वाल्मीकि रामायण मे मिलती है। पहले वह एकतन्त्रराज्य के रूप मे विकसित हुआ होगा, किन्तु धीरे धीरे उसने गणतन्त्र का रूप ले लिया। पच्चीस–सौ तीन हजार वर्ष पूर्व का समय विश्व की राजनीति मे बहुत बडे हलचल का समय था। उस समय ग्रीक और यूनान जैसे राष्ट्रो मे भी गणतन्त्र के प्रयोग किए जा रहे थे, जिसकी प्रतिध्वनि एशिया के अन्य राष्ट्रो भी ध्वनित हो रही थी। किस गणतन्त्र का किस गणतन्त्र पर कब और कितना प्रभाव पडा, इसकी चर्चा का अभी प्रसग नही है। किन्तु मैं इतना तो स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि वैशाली का गणराज्य अपने समय मे एक दीप्तिमान जीवित गण-राज्य था, उसमें प्राणवत्ता थी, तेजस्विता थी और स्फूर्ति थी। वहाँ के शासको मे समष्टि के प्रति एक सहज स्पन्दनशीलता थी। यही

कारण था कि वे जनता के सुख व कल्याण के लिए सतत चिंतित रहते थे। राष्ट्र के अभ्युदय के लिए शासनपद्धति के नये नये प्रयोग अपनाते थे और समय के अनुकूल परिवर्तित होने के लिए सदैव तैयार रहते थे। घटनाओ के मर्म को उद्घाटित करने से ऐसा लगता है कि वहाँ के लिच्छवी, मल्ली, वृज्जि और शाक्य आदि राजवशो मे राजशाही की जडता और अकर्मण्यता नही थी, उनमे एक सचेतन मानवीय आस्था, गतिशीलता एव नैतिक उत्क्राति की तडप थी, जिसका सजीवरूप श्रमण भगवान महावीर और तथागत गौतम बुद्ध के रूप मे विश्वक्षितिज पर उदित हुआ।

महावीर अवतार नही, उत्तार

●

कार्तिक अमावस्या भगवान् महावीर के परिनिर्वाण का दिन है, उनकी दिव्य स्मृतियो के क्षीर सागर मे डुबकी लगाने का दिन है, इसलिए मैं ज्यादा इधर उधर न जाकर मूल तथ्य पर ही आ जाना चाहता हूँ।

भगवान महावीर वैशाली के राजकुमार थे। 'राजा' शब्द उस युग के राष्ट्रनायक व गणनायक के लिए बोला जाता था। वैशाली गणतन्त्र के आठ गणनायको मे सिद्धार्थ भी एक प्रमुख गणनायक थे। सिद्धार्थ ज्ञातृ गण के नेता थे, जिसकी आभिजात्यता का सर्वत्र आदर था, जिसकी ख्याति और गौरव भारत के दूर दूर तक के प्रदेशो मे था। ज्ञातृवश के गौरव की सूचना इस घटना से भी मिलती है कि वैशाली गणतन्त्र के राष्ट्राध्यक्ष चेटक ने अपनी बहन त्रिशला का पाणिग्रहण ज्ञातृवशीय सिद्धार्थ के साथ किया था। दिगम्बर ग्रन्थो ने त्रिशला को चेटक की पुत्री के रूप मे उल्लिखित किया है। किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि ज्ञातृवश की समृद्धि और तेजस्विता के प्रतीक सिद्धार्थ का व्यक्तित्व अपने युग मे काफी ऊँचा था।

भारतवर्ष की धर्मपरम्परा का यह एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है कि विदेह मे अध्यात्म और त्याग वैराग्य की बागडोर ब्राह्मण वर्ग

के हाथ से निकल कर क्षत्रियो के हाथ मे आ चुकी थी ।[1] ब्राह्मण वर्ग श्राद्ध, यज्ञ, स्तोत्रपाठ, एव सामाजिक विधिविधानो व क्रियाकाण्डो की सम्पन्नता कराने मे ही जुटा हुआ था। धर्मसत्ता बहुत समय से उसके पास केन्द्रित थी, राजगुरु का अधिकार उसे प्राप्त था, इसलिए एक स्वाभाविक उच्छृ खलता, अनियमितता और अहमन्यता उसके जीवन मे छा गई थी ।[2] उसकी श्रेष्ठता के दर्प ने स्त्रियो के अधिकारो का हनन किया, शूद्रो के मानवीय अधिकारों को छीन लिया ।[3] ज्ञान का अहकार सीमाए तोड चुका था, स्त्री और शूद्र को वेद पाठ तो दूर, उसे सुनने का और उच्चारण करने तक का अधिकार भी समाप्त कर दिया गया । यदि कोई शूद्र वेद मत्र का उच्चारण कर लेता है तो उसकी जीभ खीच ली जाए, वेद मत्र सुन लेता है तो उसके कानो मे खौलता हुआ शीशा डाल दिया जाए—यह थी उनके धर्मराज्य की आज्ञा ।

अपनी उद्दण्ड अहमन्यता, भौतिक आकाक्षा और उद्दाम लोलुपता के कारण ब्राह्मण वर्ग—क्षत्रिय, वैश्य एव शूद्र तीनो वर्णों की दृष्टि मे आक्रोश एव विद्रोह का पात्र बन रहा था। इसी का बीज हम देखते हैं धर्मक्रान्ति की एक नवीन भूमिका क्षात्रतेज के भीतर तैयार होने लगी थी । तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने इस क्रान्ति का एक

---

१. (क) महाराज जनक वेद एव उपनिषद् के गूढतम रहस्यों के पारगामी थे । —बृह० उप० ४।२।१

(ख) काशी नरेश अजातशत्रु के पास बालाकिगार्ग्य (ब्राह्मण) ने विद्याध्ययन किया था । —कौषी० उप० ४

(ग) केकयनरेश अश्वपति ब्राह्मणो को ब्रह्मविद्या का अध्ययन कराते थे । —छान्दो० उप० ५,११

२. तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग के उच्छृ खल जीवन का चित्र बौद्ध ग्रन्थ जातक में देखिये । —जातक ३ पृ० २१५, जातक ४ पृ० ३७३ जातक ५ पृ० ५७ आदि

३ (क) शूद्र का जन्म तो ब्राह्मण की दासता (सेवा) के लिए ही हुआ हैं—"दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयभुवा", —मनु० ८, ४१३

उद्घोष किया था, जिसे हम जैन एव बौद्ध वाड्मय मे आज भी सुन सकते है। उनके परिनिर्वाण के पश्चात् क्रान्ति के ये स्वर कुछ मंद पड गए थे, किंतु उसकी ध्वनि तरगे वातावरण मे अवश्य ही आदोलित हो रही थी। भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ क्षत्रिय[४] पार्श्वनाथपरम्परा के अनुयायी थे, भगवान पार्श्वनाथ धर्मक्राति के एक सबल प्रहरी थे। अत. भगवान महावीर को धर्मक्रान्ति के ये बीज विरासत मे भी प्राप्त हुए—ऐसा कहा जा सकता है।

ई० पू० छठी शताब्दी के उस सघर्षमय युग मे प्रविष्ट होते ही हम सर्वत्र क्राति एव परिवर्तन की एक हलचल देखते है। राजनैतिक, धार्मिक एव सामाजिक क्षेत्र उस क्राति की लहर से आप्लावित होते से लगते है, एक ऐसा प्रभजन उठता हुआ दीखता है, जो राजमहल से लेकर साधारण झोपडी तक को आन्दोलित कर जाता है, भगवान महावीर के उस युग को हम एक युगारभ भी कह सकते है और एक सुखद परिणति भी। युग की आदि यद्यपि भगवान महावीर से पूर्व ही हो चुकी थी, किंतु उसने स्पष्ट दिशा भगवान के समय मे ही प्राप्त की। और अब रही सुखद परिणति। उसके दर्शन के लिए किसी समर्थ और तेजस्वी व्यक्तित्व की अपेक्षा थी और वह व्यक्तित्व तीर्थंकर वर्धमान महावीर के रूप मे युग-क्षितिज पर उदित हुआ। 'अवतरित' शब्द मे इसलिए नही कहना चाहता कि वह हमारी दार्शनिक भूमिका से दूर चला जाता है।

जैन परम्परा महापुरुष का अवतार नही मानती। अवतार का अर्थ है—नीचे उतरना। यह वैदिक परम्परा का शब्द है, जिसके साथ उसके दर्शन का पुट है। वैदिक परम्परा ईश्वर को अवतार के रूप मे नीचे उतरा हुआ मानती है। किंतु जैनदर्शन इस बात मे

(ख) शूद्र उच्चवर्ण के परित्यक्त पदत्राण (जूते) आतपत्र (छत्र) वस्त्र एवं आसन का प्रयोग करें। —गौतम धर्मसूत्र १०, ५८

(ग) शूद्र और श्मशान एक समान हैं। —वशिष्ठ धर्मसूत्र ४, ३

४ क्षत्रिय शब्द का उस समय व्यापक अर्थ था, जिसके अन्तर्गत राजा, राजवशीय, सामन्त तथा सेना के उच्च अधिकारी भी आते थे।

—मज्झिमनिकाय १ पृ० १६३

विश्वास नही करता। वह सदा से मनुष्य के अभ्युदय और उत्थान का दर्शन रहा है, इसलिए वह अपने को 'अवतारवादी' नही, किंतु 'उत्तारवादी' मानता है। उत्तार का अर्थ है—मनुष्य के (आत्मा के) उत्थान व ऊर्ध्वगमन की अनन्त सम्भावना। ईश्वर को अवतार मानने से विश्व की श्रेष्ठता एव शक्ति का केन्द्र एक व्यक्ति बन जाता है, बाकी सब उस शक्ति के उपासक होते हैं। जबकि उत्तार मानने का फलित होता है कि प्रत्येक आत्मा उस श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकती है, उपासना के माध्यम से स्वय उपास्य बन सकती है।

जैन दर्शन कहता है— जो ज्योति ईश्वर कहे जाने वाले व्यक्तित्व मे जल रही है, वही ज्योति अनन्त आत्माओ के भीतर जल रही है, कोई भी आत्मा उस ज्योति से शून्य नही है, श्रेष्ठता से रिक्त नही है। सिर्फ ज्योति को जागृत करने भर की देर है। हर कोई आत्मा अपनी साधना के बल से कर्म बन्धनो को तोड कर मुक्त हो सकती है, ईश्वर बन सकती है। इस दृष्टि से जैन परम्परा ने श्रेष्ठता के एकाधिकार को चुनौती दी है, और विश्व की अनन्त आत्माओ को वह श्रेष्ठता, पवित्रता एव उच्चता का अधिकार दे दिया है। जैन दर्शन की दृष्टि मे मनुष्य मनुष्य ही नही, ईश्वर है। इस प्रकार मनुष्य को भगवान कहने वाला दर्शन, जैन दर्शन है। अस्तु महापुरुष ऊपर से नीचे नही आते, बल्कि नीचे से ऊपर जाते हैं। पुरुष से महा-पुरुष, नर से नारायण, एव जन से जिन बनते है। वे अपनी साधना एव क्षमता के बल पर अनन्त आत्मशक्तियो का विकास करते है, सुप्त ज्योति को प्रज्वलित करते है। पहले स्वय ज्योतिर्मय बनते हैं, और फिर विश्व को आलोक देने के लिए अखण्ड देवदीप की तरह समर्पित हो जाते है। इसलिए मैं जैन दर्शन की भाषा मे भगवान महावीर को अवतार नही, बल्कि 'उत्तार' कहता हूँ।

जीवन की दिव्यदृष्टि

●

भगवान महावीर का जीवन प्रारम्भ से ही एक फूल की तरह महकता हुआ, कमल की तरह निर्लेप, स्फटिक की तरह उज्ज्वल एव देवदीप की तरह दिव्य आलोक से सम्पन्न था। महाभारत की भाषा मे कहूँ तो उन्हे सजय की तरह दिव्य दृष्टि प्राप्त थी, हाँ वह

किसी वाहर के वरदान स्वरूप नही, किन्तु अन्तर आत्मा के वरदान रूप मे ही थी। वैराग्य की स्फुरणा एव अध्यात्म जागृति का यह बीज उनके जीवन मे पिछले अनेक जन्मो की साधना के वल पर प्रस्फुरित हुआ, यह जैन आगम ग्रन्थो एव उत्तरवर्ती चरित्र ग्रन्थो के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है। इसका अर्थ है कि कोई भी आत्मा एक ही छलाग में अनन्त ऊँचाई को नही छू सकता, इसके लिए क्रमिक आरोहण की आवश्यकता होती है। हवा व पानी के एक ही स्पर्श से कोई बीज वटरूप मे पल्लवित-पुष्पित नही हो सकता, उसके लिए समय के परिपाक की अपेक्षा रहती है। आत्मा का चरम विकास साधनाकाल की एक ही रात्रि मे सपन्न नही हो पाता, उसके लिए दीर्घ जागरण की जरूरत होती है, सतत साधनारत रहना होता है।

भगवान महावीर का जीवन पिछले सत्ताईस जन्मो के झूले पर झूलता, हिलता डुलता, उतरता-चढता हुआ रहा है। साधना की ज्योति जलती है, बुझ जाती है—और फिर जल उठती है। उत्थान पतन की इस लबी यात्रा के वाद वह ज्योति अखण्ड ज्योति शिखा का रूप ले लेती है। भगवान महावीर ने अपने उस विगत जीवन की साधना का चित्र कितने मुक्त मन से उद्घाटित किया है। उसका निर्मल और मलिन पक्ष, भला और बुरा रूप स्वय अपनी वाणी से अपने शिष्यो के समक्ष खोल के रखा और वताया कि प्रत्येक आत्मा ससार मे इसी प्रकार आरोहण-अवरोहण करता हुआ चलता है। लक्ष्य विन्दु तक पहुँचने मे इसी प्रकार उत्थान पतन देखने होते है। किन्तु लक्ष्य पर पहुँचने के बाद वह भटकता नही, केन्द्रीय शिखर पर आरोहण कर लेने के पश्चात् उसे नीचे उतरने की जरूरत नही। भगवान महावीर के पूर्व जीवन की साधना का चित्रण हमारी इस दृष्टि को भी पुष्ट करता है कि, ईश्वर अवतार नही लेता, किन्तु मनुष्य ही ईश्वरत्व की ओर 'उत्तार' करता है, ऊपर बढता है।

हाँ, तो मैं आपसे कह रहा था कि भगवान महावीर एक राजकुमार के रूप मे जन्म लेते हैं, ऐश्वर्य, वैभव एव सत्ता सहज ही उन के चरणो मे झुके हुए है। ससारी भोग विलास की सामग्री उनके ऊपर निछावर हो रही है, किन्तु उनका अन्तर्मन इन सव को एक वधन, दासता और अधकार के रूप मे देखता है। उनके भीतर एक

विरक्ति जग रही है, सत्य की जिज्ञासा जागृत हो रही है, प्रकाश प्राप्त करने की उत्कठा प्रबल हो रही है, और बस इसी प्रेरणा प्रवाह से वे राज वैभव को ठुकरा कर निकल पडते है, अनन्त सत्य की खोज मे। वन, उपवन, जगल और जनपद मे वे घूमते है, आत्मसाधना मे एकनिष्ठ भाव से, विकल्पो से मुक्त हुए।

एकनिष्ठ साधना

महावीर के जागृत मन की एक सबसे बडी विशेषता हम देखते है कि प्रारम्भ से ही उनकी दृष्टि स्पष्ट और सुलझी हुई है। विकल्पो के आवर्त मे उनके चिंतन की नौका डगमगाती नही है, लक्ष्य से भटकती नही है, किंतु लगता है सीधी तट की ओर बढती जा रही है। बुद्ध के चरित्रलेखको ने उनके मन की उलझनो, विकल्पो और दृष्टि भ्रमो का ऐसा चित्र उपस्थित किया है कि लगता है वह साधक कही भटक रहा है, खोज खोजकर हार रहा है, पर कुछ पा नही रहा है। कभी कभी निराश होता है, खिन्न होता है। अलग-अलग केन्द्रो पर सत्य की कल्पना लेकर खडा होता है और कुछ समय बाद वह केन्द्र ही लडखडा जाता है। महावीर के जीवन मे इस प्रकार की अनिश्चितता, विकल्पदशा नही है। वहाँ तो वह साधक एक ही लक्ष्य की ओर बढता चला जाता है, जैसे मजिल सामने दिखाई दे रही है, सिर्फ बीच का रास्ता तय करना है। यद्यपि उनका यह रास्ता बहुत विकट था, उनकी यात्रा बहुत ही कठिनता मे गुजरी, भीषण यत्रणा और पीडाओ ने तन के कण-कण को बीध डालने का प्रयत्न किया। आर्य सुधर्मा जो महावीर को अत्यधिक निकटता से देखते है, उनके साधना काल की घटनाओ को सर्वप्रथम शब्दो मे अकित करते है। आचाराग सूत्र मे उसका रोमाचक वर्णन उन्होने किया है—कि लोगो ने उन पर शिकारी कुत्ते छोड दिए, नोच डालने के लिए! मिट्टी और पत्थर के ढेलो की बौछार कर डाली उन पर। किसी ने गाली दी, किसी ने पीट भी दिया, किन्तु भय, क्षोभ व आक्रोश के इन भीषण झझावातो मे भी उनकी साधना का दीप अविचल, स्थिर जलता रहा है!

साधना की इस अखण्ड लौ को बुझा डालने के लिए मोह और क्षोभ के तूफान भी उठते हैं। अप्सराए आती हैं, अपने नग्न सौन्दर्य

का प्रदर्शन करके उनकी चेतना को चचल बनाने के लक्षाधिक प्रयत्न होते है। देवता उनके समक्ष हजारो हजार भौतिक आकर्षण उपस्थित करते है, किन्तु काम एव स्नेह के इन प्रभजनो से महावीर का अडिग वीरासन प्रकषित होना तो दूर रहा, उनकी चेतना पर कोई स्पर्श भी नही होता है। कालिदास ने पर्यकासनबद्ध शिव की तपस्या का **'निवातनिष्कंप दीपशिखा'** के रूप मे जो चित्रण किया है, भगवान महावीर की साधनाकाल की इस स्थिति मे उसकी सहज स्मृति हो आती है।

मैंने आपसे बताया कि भगवान महावीर की जीवन दृष्टि प्रारम्भ से ही स्पष्ट और केन्द्र पर टिकी हुई थी। वे बाहर मे कभी नही भटके, जब जब उनके सामने क्षोभ एव मोह के विकट प्रसग आये, दु ख एव सुख के प्रभजन आये, तब तब हम देखते है कि उनकी दृष्टि आत्मा की अनन्त गहराई मे उतर जाती है, उनकी अनुभूतियाँ आत्म-केन्द्रित हो जाती है, उनकी प्रबुद्ध चेतना न दु ख से विकम्पित होती है, न सुख से। प्रारम्भ मे उन्होने चिन्तन किया होगा कि "यह सब कुछ जो हो रहा है, उसका मूल मेरे भीतर ही है। जो कर्म मैंने किए है, उनका परिणाम भी मुझे ही भुगतना है,इस दृष्टि से मेरे सुख दु ख का दायित्त्व स्वय मेरे पर है, फिर वाह्य निमित्त पर मोह और आक्रोश क्यो किया जाय।"

साधना की भूमिका पर यह प्रथम विचारणा हर आत्मनिष्ठ साधक मे स्फुरित होती है, किन्तु आगे चलकर यह विचारणा एक सहज दृष्टि वन जाती है। कष्टों को सहन करने के लिए उसे तितिक्षा जगानी नही पडती, अनुभूति को केन्द्रित करने की आवश्यकता नही होती, किन्तु उसकी अनुभूति इतनी गहरी होती जाती है कि ये बाह्य वात-प्रत्याघात सहजतया उसे स्पर्श भी नही कर पाते। ये विकल्प ज्ञान चेतना को प्रभावित भी नही कर सकते। वहाँ सहज आत्मानुभूति का प्रवाह वहता चला जाता है, जिसमें साधक पुण्य पाप, सुख दु ख के विकल्प से ऊपर उठकर वीतराग भूमिका पर पहुँच जाता है।

भगवान महावीर की साधना का यह ऊर्ध्वमुखी प्रवाह भी हमे वीतरागता के इसी केन्द्र की ओर वहता दिखाई देता है। उनके जीवन मन्दिर मे ध्यान की अकण्ड लौ 'निवात निष्कम्प दीप शिखा'

की भांति सतत जलती हुई दिखाई देती है। हम देखते है कि वह महान् साधक एक दिन ऋजुबालुका नदी के तट पर बैठा है, शाल वृक्ष की छाया मे अवस्थित है। दो दिन का उपवास-बेला है। निर्विकल्पध्यान मे लीन है, उसकी सम्पूर्ण चेतना अन्तर्मुखी हो रही है, बाह्य वातावरण का स्पर्श देह को अवश्य हो रहा है, किन्तु उस की चेतना मे उसकी अनुभूति कही भी अकित नही हो रही है। जैन योग, जिसे शुक्ल ध्यान कहता है, उसी ध्यान की पवित्र भूमिका पर पहुच रहा है। वैशाख शुक्ला दशमी का दिन है, सूर्य पश्चिम की ओर ढला जा रहा है, दिशाचल कुछ आरक्त, स्वर्णिम आभा से दीप्त हो रहा है, उस समय मे वह साधक चार घाती कर्मो को क्षय करता है, और अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन की कैवल्य ज्योति को प्राप्त करता है। अनन्त सत्य की साक्षात् अनुभूति के लिए जिसने साढे बारह वर्ष तक तप, त्याग एवं ध्यान किया था, वह साधक आज अनन्त सत्य का द्रष्टा बन जाता है, भीतर का अनन्त प्रकाश स्फुरित हो उठता है।

सत्य का प्रथम उपदेश

●

अनुभूति अभिव्यक्ति चाहती है, प्रकाश विस्तार चाहता है, यह प्रकृति का नियम है। भगवान महावीर ने जब तक अनन्त सत्य की अनुभूति नही की, वे मौन साधक रहे। जब तक ज्ञान के अनन्त द्वार उद्घाटित नही हुए, प्रकाश भीतर ही भीतर सिमटता रहा। पर आज जब अनन्त सत्य की अनुभूति प्राप्त की है, तमस् को परतो को तोड कर अनन्त आलोक का दर्शन किया है, तब अनुभूति स्वत ही स्फुट होकर बाहर आ रही है, प्रकाश जैसे सब ओर विकीर्ण हो रहा है।

भगवान् महावीर की यह अनुभूति जब सर्वप्रथम अभिव्यक्त हुई तो उनके समक्ष कौन थे? ग्रीष्म ऋतु की उस शीतल सान्ध्यवेला मे ऋजुवालुका नदी के किनारे एक किसान के खेत मे महावीर ने अपना प्रथम प्रवचन किया तो उसे सुनने वाले कौन थे? कथाकार कहते है कि स्वर्ग के देव प्रवचन सभा मे थे, मनुष्य नही थे, और

देव चारित्र ग्रहण नही कर सकते, अतः महावीर की प्रथम देशना निष्फल होगई। पर, मेरे विचार मे जब पास मे गाँव था, और देवो की इतनी बडी हलचल थी तो वे कैसे नही आए होगे ? अवश्य ही आए होगे। उनके समक्ष भ० महावीर ने अपना प्रथम प्रवचन किया, उस सत्य को व्यक्त किया, जो युग के स्वार्थों और अधविश्वसो के लौह आवरणो के भीतर छिपा पडा था। उस सत्य का उद्घाटन और अभिव्यक्ति एक क्राति थी, एक भूकम्प का झटका था जिसे झेल लेने की क्षमता सभवत उस दिन किसी ने नही की। उस अमृत को पचा लेने की वात तो दूर, किंतु उसे अमृत समझ कर ग्रहण करने वाला भी उस दिन कोई न मिला। मैं समझता हूँ कि यही कारण है कि जैन इतिहासकार भगवान महावीर की प्रथम देशना को निष्फल मानते हैं।

मेरा अपना विश्वास है कि सत्य के क्षीर सागर की कोई भी पहली लहर कभी निष्फल नही जाती, पुष्करावर्त मेघ की कोई भी पहली वार की बूद भी धरती पर व्यर्थ नही होती, उसका प्रभाव होता है शुष्क भूमि का हृदय उस धार से आप्लावित होता है, अवश्य होता है, हा उस लहर की परिणति कभी व्यक्त होती है, कभी नही भी ! कभी कभी उस अव्यक्त परिणति को हम निष्फलता के रूप मे देखने लगते है।

भगवान महावीर ने जिस सत्य का उद्घाटन किया, उसने श्रोताओ के जड विश्वासों को झकझोर दिया होगा, रूढि और श्रद्धा से जकडे हृदय और मस्तिष्क को आन्दोलित किया होगा और अवश्य किया होगा, किन्तु तीर्थ स्थापना के रूप मे उस प्रकम्पन की परिणति स्पष्ट नही हो सकी, इसलिए कथाकारो ने उस अव्यक्त परिणति को निष्फलता की कोटि मे रख दिया।

इतिहास का विद्यार्थी होने से मेरे मन मे एक कल्पना इस सबध मे और भी उठती है, और वह यह है कि वह युग (ई० पू० छठी शताब्दी) भारत के मानचित्र मे धार्मिक, सास्कृतिक एव सामाजिक क्रान्ति का, परिवर्तन का युग भले ही चित्रित किया गया हो, किन्तु तब तक उस क्रान्ति का प्रभाव समाज के शिक्षित उच्च वर्ग एव नगर के एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित था। भारत के छोटे छोटे ग्रामा-

चलों मे, सामान्य जनता मे धार्मिक चेतना व क्राति की कोई लहर तब तक नही पहुँची थी। ग्रामाचलो मे व मध्यम एव निम्न वर्ग मे इस क्राति के अलमबरदार महावीर और बुद्ध ही होते है। महावीर की प्रथम देशना मे यदि मनुष्य उपस्थित होते है तो वे नगर के नही; किन्तु ग्रामाचलो मे बसे, तथा खेतो पर काम करने वाले सामान्य कृषक व श्रमिक ही हो सकते है, और वे इस सत्य की प्रथम लहर से स्पृष्ट भले ही हुए हो, पर उसमे डूब नही सके। धर्म क्रान्ति एव परिवर्तन की बात, विद्रोह के स्वर मे उनके गले नही उतरी हो। वे चौके अवश्य होगे, चेतना झकृत अवश्य हुई होगी, किन्तु कोई विशिष्ट स्फुरणा व्यक्त नही हो पाई। इसलिए हो सकता है—इस देशना को निष्फल उट्टकित करके ही समाधान कर दिया गया हो। अस्तु।

धर्मचक्र प्रवर्तन

●

इतिहास बताता है कि भगवान महावीर उसी रात को विहार करके पावापुरी मे आते है। दिन-रात का प्रश्न आपके और हमारे लिए है। जहाँ अनन्त प्रकाश जगमगा रहा है—'**आइच्चेसु अहियं पयासयरा**'—हजार हजार सूर्य के प्रकाश से भी अधिक प्रकाश जहाँ फैला है, वहाँ दिन रात की कोई कल्पना ही नही है। वहाँ हमेशा ही दिन है। तो हमारी अपनी भाषा मे उस रात मे ही भगवान पावापुरी में पधारते है।

पावापुरी मे मगध का धनाढ्य ब्राह्मण सोमिलार्य एक बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन कर रहा है। जहाँ सैकडो मूक पशु पक्षियो की बलि दी जायेगी, हजारो मन दूध, दही, घी का होम किया जायेगा, हजारो हजार ब्राह्मणो को भोजन कराया जायेगा। इस यज्ञ मे भाग लेने के लिए भारत के शीर्षस्थ विद्वान् आ रहे हैं। इन्द्रभूति गौतम जैसे प्रसिद्ध याज्ञिक और उद्भट विद्वान् उस यज्ञ के प्रमुख होता है, पुरोहित है। और साथ मे उनके सगे भाई है—अग्निभूति, वायुभूति। हर एक के पीछे सैकडो छात्रो की टोली है। मडित, मौर्यपुत्र, व सुधर्मा जैसे अन्य भी प्रकाण्ड पडित उस यज्ञ मे उपस्थित हुए है। पूरे मगध मे इस यज्ञ की हलचल है। युग की परिस्थितियो से पता

चलता है कि यज्ञवाद के क्षीण होते प्रभाव को पुनरुज्जीवित करने के लिए इस प्रकार के आयोजन का अपना एक महत्त्व था। श्रमण परम्परा के अनुयायी क्षत्रिय यज्ञवाद और पुरोहितवाद को चुनौती देते आ रहे थे। उपनिषद् काल के क्षत्रियो ने भी इसके विरुद्ध झडा उठा लिया था। मगध के क्षत्रियो मे तो लगभग यज्ञ विरोधी वातावरण वन चुका था, और वैश्य एव शूद्र वर्ग भी यज्ञ एव पुरोहितवाद के विरुद्ध क्षत्रियो के साथ हो गया था। इस मिटते हुए प्रभाव को स्थिर रखने के लिए इधर कुछ धनाढ्य ब्राह्मण और प्रमुख याज्ञिक पुरोहितो मे साठगाठ चल रही थी और सभवत उसी का यह एक रूप पावापुरी मे प्रकट हो रहा था।

भगवान महावीर ने अपना पहला सफल धर्म सदेश इसी पावापुरी मे दिया। और आपको पता है वहाँ सव से पहला जिज्ञासु कौन आया ? वही याज्ञिक शिरोमणि, प्रकाण्ड पडित इन्द्रभूति गौतम !

हमारे कथाकार कहते है कि हजारो मनुष्यो और करोडो देवताओ को अपने यज्ञ-मडप के सामने से जाते देखकर इन्द्रभूति ईर्ष्या-अमर्ष से उद्वेलित हो उठे। उन्हे विश्वास था कि यह देवगण और यह मानव समूह हमारे विशाल यज्ञ को देखने आ रहे हैं, पर जव वे सीधे ही आगे निकल गए तो उनका अहकार तिलमिला उठा। और जव यह पता चला कि कोई क्षत्रिय महाश्रमण आया है, पास मे ही उसका प्रवचन हो रहा है, और उसी प्रवचन सभा मे ये हजारो मनुष्य चले जा रहे हैं तो उनका अहंकार चूर चूर हो गया। स्वय उनके मन मे एक प्रवल जिज्ञासा का वेग उठा—"ऐसा क्या है इस महाश्रमण के पास ? जो देवताओ को भी अपनी ओर इस प्रकार आकृष्ट कर रहा है ? कोरा मायाजाल है ? या कुछ नई वात है ? नया सत्य है ?"

सत्य का जिज्ञासु इन्द्रभूति

●

इन्द्रभूति गौतम की विद्वत्ता मे एक विलक्षणता यह है कि वह सत्य का वहुत वडा जिज्ञासु है। विद्वत्ता के साथ प्राय एक दोष रहता है कि मनुष्य अपने आप को पूर्ण समझने लग जाता है। अपने भीतर नये ज्ञान का अवकाश नही देखता, किसी नये सत्य को स्वीकार

करने की तैयारी नही रखता। किन्तु इन्द्रभूति के भीतर हम जिज्ञासा की प्रबल लौ जलती हुई देखते है। वह अपने युग का प्रकाड पडित है, विश्वविश्रुत ब्राह्मण परपरा का विशिष्ट प्रतिनिधि है, फिर भी नये सत्य को देखने परखने की ज्वलत जिज्ञासा उसमे है। आगम साहित्य मे तो हम उनकी जिज्ञासा के सहस्रो रूप **"कहमेयं भंते ? कहमेयं भते ?"** की मधुर प्रश्नावली से प्रारम्भ होते देखते ही है। किन्तु उस जिज्ञासा का प्रथम दर्शन गौतम मे तब होता है, जब वे इस नई हलचल को देखकर कुतूहल व जिज्ञासा से चचल हो उठते हैं, वे यज्ञ मडप से उठ खड़े होते हैं। लोग कहते है महावीर को विजय करने के लिए गए थे, यही सही, पर यह भी सही है कि उनके भीतर सत्य की एक अमित उत्कठा भी उछाले मार रही थी, अपने समस्त ज्ञान और क्रियाकाड के प्रति उनके मन मे एक प्रश्न चिन्ह खडा था। वे एक अव्यक्त अवस्था, एक गुप्त सशय से कसमसा रहे थे, और उस पर बात यह थी कि वे अपने सशय को किसी के समक्ष न तो प्रगट कर पा रहे थे और न कही उन्हे उसका ठीक समाधान ही मिल रहा था। सशय सत्य का उद्घाटक है—यह बात गौतम के चरित्र से स्पष्ट लक्षित होती है। इसी सशय एव जिज्ञासा ने उन्हे यज्ञमडप से उठा कर महावीर के समवसरण तक पहुँचा दिया।

इन्द्रभूति के साथी विद्वान सभवत इसी दृष्टि से सोच रहे होगे कि यह क्षत्रिय कुमार जो यज्ञविरोधी प्रचार करने यहा आया है, इन्द्रभूति के प्रचण्ड तर्कों के समक्ष परास्त हो जायेगा और फिर समस्त देव और मानव इधर यज्ञमडप की ओर ही बढ आयेंगे। किंतु इन्द्र-भूति भले ही प्रतिवादी बनकर गये हो, पर प्रतिद्वन्द्वी बन कर नही, विजिगीषा से अधिक जिज्ञासा का भाव उसमे प्रबल है और यही कारण है कि जब श्रमण महावीर द्वारा वे 'इन्द्रभूति !' नाम से पुकारे जाते हैं तो वही वह आश्चर्यचकित और कुतूहलग्रस्त से खड़े रह जाते हैं। महावीर ने उनकी मनोग्रन्थि को पकडा, जो उन्हे उत्पीडित और उद्वेलित कर रही थी, और उसी का बौद्धिक एव भावात्मक-उभय स्तर पर उपचार किया–गौतम के गुप्त सशय का उद्घाटन करके।

इन्द्रभूति जब भगवान महावीर के द्वारा अपना अव्यक्त संशय प्रकट हुआ सुनते हैं कि "इन्द्रभूति ! तुम्हे अभी तक आत्मा के

अस्तित्त्व पर सदेह है न ?" तो वे स्तब्ध रह जाते है। बहुत लम्बा प्रसग है, और समय कम है, मैं सक्षेप मे इतना ही कह देना चाहता हूँ कि भ० महावीर के प्रथम वार्तालाप ने ही इन्द्रभूति के मन को गाठे खोल दी। उसके अज्ञान व सशय की परते टूट गईं और एक दिव्य ज्ञानालोक भीतर मे स्फुरित हो उठा! उपनिषद् के शब्दो मे जहाँ **"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया"**[1]—गौतम वहाँ पहुँच गए।

लौटकर नहीं गये

●

इन्द्रभूति के इस उत्क्रमण को मैं सत्य का पहला 'प्रव्रजन' कहना चाहता हूँ। इस घटना मे एक विलक्षणता है, जो वरबस हमे उनकी उत्कट जिज्ञासा के दर्शन करा देती है। जैन आगमो मे बहुत सारे प्रसग आते है, जहाँ साधक भगवान का उपदेश सुनता है, प्रतिबुद्ध होता है, और कहता है कि भते! मुझे आपका उपदेश अच्छा लगा है, अत. मैं आपका शिष्य वनना चाहता हूँ, किन्तु घर जाकर अपने माता पिता आदि तथा अन्य प्रियजनो गुरुजनो की आज्ञा लेकर फिर दीक्षा लूगा।"

इसके विपरीत इन्द्रभूति के चरित्र मे यह विलक्षणता है कि जब वह सत्य को पा लेता है, प्रकाश जगमगा जाता है, नो फिर पीछे लौटकर नही देखता है। उसका जीवन किसी खूटे से बधा नही है कि लौटकर माँ वाप से पूछें, भाई से पूछे कि 'क्या करू ?' यह विकल्प ही नही जगता। वहाँ तो सत्य की इतनी प्रबल उत्कठा है कि सत्य का दर्शन मिला तो बस वही सर्वस्व निछावर कर दिया। पतगा ज्योति को देखकर फिर लौटता नही, उसी पर स्वाहा हो जाता है। जो ज्योति पाकर भी लौट जाये वह पतगा नही, परवाना नही, कोई और होगा।

एक कहानी है कि पतगो की टोली मे एक कोई वैसा ही पतगे का मुखौटा लिए नया खिलाडी आकर घुस गया, जो वास्तव मे पतगा नही था। पतगो के अध्यक्ष ने उस वहुरूपिये का पता लगाने के लिए एक सभा की। सब पतगे आये, अध्यक्ष ने कहा—'देखो,

---

1 मुण्डक उप० २। २। ८

सध्या हो रही है, गांव मे दीपक जले या नही, जरा इसका पता लगाकर कोई आये।"

जो नकली पतगा था, वह बोला—"मैं अभी जाता हूँ और पता लगाकर आता हूँ कि दीपक जले या नही ? नकली पतगा गया और जल्दी ही लौट कर आया, खबर दी कि दीपक जल उठे हैं।"

अध्यक्ष ने कडक कर कहा—"मूर्ख, यदि ज्योति को देख कर भी तू लौट कर आ गया तो फिर तू पतगा नही, कुछ और है, नकली है तू ! निकल हमारी सभा से !"

गौतम सच्चा पतगा था, जो ज्योति को देखकर पीछे लौटा नही, वही समर्पित हो गया !

तत्त्वज्ञान और आचार-दर्शन

●

सत्य की जिज्ञासा जब प्रबल होती है, तो सत्य का अनुसधान होता है। अनुसधान जब सही दिशा मे होता है तो सत्य की प्रतीति भी होने लगती है। गौतम के मन मे जब जिज्ञासा जगी तो उसने दार्शनिक गवेषणा के द्वारा सत्य की खोज की। भ० महावीर से आत्मा के सम्बन्ध मे अनेक प्रश्न पूछे, तर्क किए और जब वे प्रश्न व तर्क समाधान पा चुके तो उन्हे स्पष्टतया आत्म-प्रतीति हो गई। और हम देखते हैं कि इस प्रकार भ० महावीर अपने पहले प्रवचन मे ही गौतम को अपना सपूर्ण तत्त्वज्ञान एव आचार दर्शन का परिबोध दे देते हैं। उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य की त्रिपदी के परिज्ञान के साथ जहाँ सत्य को समझने की अनेकान्त दृष्टि उन्हे प्राप्त होती है, वहा सामायिक आदि समता का आचार दर्शन भी उनके ज्ञान प्रवाह को साधना की ओर उन्मुख कर देता है।

गौतम के पास विद्वत्ता की कमी नही थी, पर उस विद्वत्ता को जिस दृष्टि की अपेक्षा थी, वह दृष्टि उन्हे पहली बार भ० महावीर से प्राप्त हुई। गौतम और महावीर के प्रथम सवाद के रूप मे जिस विशाल गणधरवाद की सृष्टि आचार्यों ने की है, उसका सारसूत्र इतना ही है कि गौतम की दृष्टि जो बाहर मे भटक रही थी, बाहरी क्रियाकाण्डो मे वह उलझी हुई थी और थोथे तत्त्वज्ञान से दबी जा

रही थी, वह दृष्टि उन्मुक्त हो गई। ज्ञान को आचार से जोड दिया और इस प्रकार आचार मे ज्ञान का आलोक भर दिया। इस के सिवाय भ० महावीर ने और क्या किया? मेरे विचार मे उस युग की यही सबसे बडी समस्या थी, और इस समस्या का सही समाधान भ० महावीर ने प्रस्तुत किया! इन्द्रभूति को सबसे पहला समाधान मिला।

इन्द्रभूति के साथ जो दश अन्य विद्वान भी उस यज्ञमडप मे थे, वे भी क्रमश भगवान महावीर के पास आते है, हृदय के गुप्त सशयो को खोलते हैं, समाधान पाते है। सबसे बडी विलक्षण बात यह है कि सत्य की ज्योति का दर्शन पाकर कोई भी वापस लौटता नही है, सब के सब वही समर्पित हो जाते हैं, सत्य की साधना मे सर्वात्मभाव से जुट जाते है।

क्रान्ति की उपलब्धियां

●

मैं आपको बता रहा था कि भगवान महावीर ने जिस अखण्ड सत्य का स्वय साक्षात्कार किया, उसे निर्भय एव निर्विकल्प भाव से सर्व साधारण जनता के समक्ष उद्घाटित करके रख दिया। युग की परम्पराएँ उस सत्य को आवृत करके चल रही थी, उससे प्रतिकूल जा रही थी, इसलिए भगवान महावीर की वाणी मे उन्हे विद्रोह और क्रान्ति के स्वर सुनाई दिए। सत्य को अभिव्यक्ति और परिणति देने का साहसमय सकल्प मेरे विचार से सबसे बडी क्रान्ति है, इस मे अपने और पराये का विकल्प नही होता, केवल सत्य का सकल्प होता है। यही कारण है कि भगवान महावीर ने जिन प्राचीन परपराओ का विरोध किया और अपने सशोधन प्रस्तुत किए, उसमे न केवल वैदिक परम्परा ही थी, बल्कि श्रमण परम्परा भी थी। इस पर से यह बात गलत प्रमाणित हो जाती है कि भ० महावीर ब्राह्मण परपरा के विरोधी थे। भगवान का विरोध न ब्राह्मण से था और न किसी अन्य से था। उनका विरोध केवल असत्य से था, विवेकशून्य जड एव अर्थहीन क्रियाकाण्ड से था। यही कारण है कि जहाँ उन्होने वैदिक परपरा मे परिवर्तन लाने के लिए अभियान शुरू किया, वहाँ प्राचीन श्रमण परपरा एव जैन परपरा मे भी

परिवर्तन की घोषणा की। और उनकी इस वर्ग विशेष के द्वेष से रहित शुद्ध सत्य-निष्ठा का ही प्रभाव है कि सर्व प्रथम गौतम जैसे वैदिक ब्राह्मण चार हजार चार सौ की सख्या मे उनके शिष्य हुए।

तत्कालीन वैदिक परम्परा के जिस पक्ष पर भ० महावीर ने प्रहार किया, उसके मुख्यत तीन रूप थे—ज्ञानवाद, भाषावाद और जातिवाद।

ज्ञान का आधार सिर्फ वेद माने जाते थे और वेद पढने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही था। यह भी मान लिया गया था कि वेद को जो नही मानता है, वह नास्तिक है। और वेद का अध्ययन करने वाला चाहे कैसा भी दुराचारी हो वह ज्ञानी है, महान है, स्वर्ग-गामी है। वेदो की इस अहमन्यता क भ० महावीर ने चुनोती दी। उन्होने स्पष्ट कहा—"**वेया अहीया न हवंति ताणं**" वेद किसी की दुर्गति से रक्षा नही कर सकते। सिर्फ ज्ञान से किसी का कल्याण नही हो सकता और फिर ज्ञान को किसी जाति विशेष के साथ बाधा भी कैसे जा सकता है? ज्ञान आत्मा का सहज गुण है, कोई भी आत्मा जो जागृत होता है, ज्ञानी बन सकता है। उसके साथ यह शर्त कैसी कि ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार सिर्फ एक वर्ण विशेष को ही है। हिंसामूलक वैदिक क्रियाकाण्डो के विरोध मे भगवान महावीर से पहले ही विरोधी स्वर फूटने लग गए थे, किन्तु भगवान महावीर ने उनका स्पष्ट भाषा मे खुलकर विरोध किया, उनकी सत्ता को चुनौती दी और इसलिए दी कि अहिंसा की प्रतिष्ठा मे सबसे बडी बाधा यज्ञ, बलि आदि ही थे और वे सब वेदो की आड में धडल्ले से चल रहे थे। यद्यपि वैदिक परम्परा मे भी आत्मज्ञान के सूक्ष्म बीज थे। हमारे कथाकारो के अनुसार स्वय भगवान महावीर ने भी इन्द्रभूति के समक्ष औपनिषदिक तत्वज्ञान के माध्यम से भी उद्घाटित करके उन्हे आत्मा के प्रति आस्थावान बनाने की भूमिका स्थापित की थी, किन्तु इतने मात्र से वे यह नही मानते थे कि बस, वेदो को पढ लिया कि सद्गति हो गई, ज्ञानी हो गया, भगवान महावीर का वेदविरोध और कुछ नही, बस यही था, कि वे ज्ञान के साथ सदाचार की प्रतिष्ठा को महत्व देते थे। सत्य के साथ सयम, करुणा और अहिंसा का समन्वय उन्हे अभीष्ट था।

लित होते है, चन्दना, जयन्ती, काली, महाकाली जैसी राजकुमारियाँ और राजरानियाँ आती हैं, मेघकुमार अतिमुक्तक जैसे राजकुमार प्रव्रजित होते है, धन्य और शालिभद्र जैसे श्रेष्ठी कुमार साधनाव्रत स्वीकार करते हैं, इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा जैसे ब्राह्मण विद्वान भगवान के गणधर बनते हैं, स्कन्दक और अम्बड जैसे परिव्राजक श्रमण परम्परा के प्रहरी के रूप मे उपस्थित होते है, गाथापति, आनन्द, कामदेव (कृषक व्यवसायी) और शकडाल (कुम्भकार) जैसे कृषि एव उद्योगजीवी वर्ग भी इस धर्मसंघ के प्रमुख उपासक बनते है तो, अर्जुन, रौहिणेय, हरिकेशबल और मैतार्य जैसे निम्न वर्ण मे जन्म लेकर भी महावीर के राजमार्ग पर उन राजकुमारो से भी आगे बढते हुए प्रतीत होते हैं।

भगवान महावीर की सघ व्यवस्था का यदि विश्लेषण किया जाये तो पता चलेगा कि वह आदर्श गणतन्त्र का जीता जागता चित्र था। समता और समानता के आधार पर वहाँ सबको आत्म-विकास का समान व यथेष्ट अवसर प्राप्त था।

परम्परा के परिष्कारक

●

भगवान महावीर के जीवन के जिस चित्र को भी उठाकर हम देखते है, उसमे एक अद्‌भुत विलक्षणता, तेजस्विता इस रूप मे झलकती है कि वह परम्परा की पृष्ठभूमि पर निर्मित होकर भी सर्वथा स्वतन्त्र व नवीन प्रतीत होना है।

उन्होने चली आती समाज व्यवस्था मे परिवर्तन किया, शासन व्यवस्था मे सशोधन किया, धार्मिक परम्परा मे परिष्कार किया, फिर भले ही वह श्रमण परम्परा रही हो या श्रमणेतर। श्रमणेतर (वैदिक) परम्परा मे आये हुए विकारो का परिमार्जन व सशोधन जिस रूप मे हुआ वह कुछ कुछ मैं आपको बता चुका हूँ। श्रमण परम्परा में भी जो कुछ विकृतिया आ गई थी, कुछ वासीपन व शैथिल्य छा गया था, उसका भी परिष्कार भगवान महावीर ने उतने ही साहस और दृढता के साथ किया। भगवान पार्श्वनाथ की परपरा मे भी उन्होने युगानुकूल परिवर्तन किए, परिष्कार किए और उसको नये रूप में, प्रस्तुत किया। उनकी दृष्टि मे परम्परा का मोह नही

था, सत्य की प्रतिष्ठा थी। निष्प्राण एव जडपरम्पराओ को ढोते रहना, उन्हे स्वीकार नही था। वे केवल सत्य, और सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित तेजस्वी एव जीवत परम्परा के पक्षपाती थे, यह आगमों मे वर्णित तथ्यो से स्पष्ट प्रतिध्वनित हो जाता है।

अन्तिम उपदेश

भगवान महावीर के धर्मप्रचार का समय काल की दृष्टि से बहुत ही अल्प है। कैवल्य प्राप्त कर के वे तीस वर्ष तक धर्म प्रचार करते है, इस अल्प अवधि मे जिस स्फूर्ति और वेग के साथ उनकी वाणी पूर्व भारत के अचलो मे प्रतिध्वनित हुई, वह अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

भगवान महावीर का विहारक्षेत्र विशेष कर पूर्व भारत ही रहा, किन्तु भारत के दक्षिण पश्चिम अचल तक उनके दिव्य घोष ध्वनित हुए, प्रतिध्वनित हुए, और हजारो लाखो मनुष्यो मे जागृति की लहर फैली, यह भी इतिहास का सत्य है। मेरा तो विश्वास है कि भारत के पूर्वांचल से जो समता, करुणा और दया की एक लहर उठी थी, उसने सपूर्ण भारतीय चितन को आलोडित किया है, भारत के समस्त अचलो को स्पर्श किया है। आज भी हम उस चिन्तन का स्पदन भारतीय आत्मा मे देख रहे हैं। यह उत्तराध्ययन सूत्र जो अभी अभी मैंने आपके समक्ष पढा, उसमे आज भी भगवान महावीर की आत्मा की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। पढते पढते ऐसा लगता है कि पावापुरी की हस्तिपाल राजा की रज्जुकसभा मे भगवान विराजमान है, लाखो करोडो देवता और हजारो मनुष्य समवसरण मे बैठे हैं, और भगवान दिव्यघोष से अपना अन्तिम सदेश दे रहे हैं। वह दृश्य जैसे आज भी आँखो के समक्ष छविमान हो रहा है, ऐसा लगता है।

आप लोग भी आज के दिन उत्तराध्ययन सुनते है, यह एक सास्कृतिक स्मृति का दिवस है। भगवान महावीर का निर्वाण और गौतम का केवलज्ञान दो महान घटनाए दीपावली के दिन के साथ जुडी हैं, और उस स्मृति की साकार कल्पना के लिए आज भगवान

भापावाद भी उस युग मे एक उन्माद बन गया था, जैसा कि आजकल भी कही कही भाषा का उन्माद छाया हुआ है। सस्कृत भाषा को देववाणी माना जाता था, उसे पढने का अधिकार न स्त्रियो को था, न वैश्यो और न शूद्रो को। सस्कृत भाषा का पाडित्य, जन साधारण से अपने को उच्च एव विशिष्ट विद्वान मानने का आधार बन गया था, भगवान महावीर से इस भाषावाद के बधनो को तोडा।[1] उन्होने जनभाषा को अपनाया, अत प्राकृत भाषा मे अपना उपदेश दिया। अपने आप को किसी से उच्च व विशिष्ट प्रदर्शित करना और वह भी भाषा के आधार पर–यह तो मिथ्या अहकार है। भाषा तो सिर्फ भावाभिव्यक्ति का माध्यम है। जिस किसी भी भाषा के माध्यम से तत्व ज्ञान और सदाचार की बातें जन साधारण समझ सके, वस्तुत. तो वही भापा उपयोगी हो सकती है। इसी आधार पर भगवान महावीर ने सस्कृत के स्थान पर मगध आदि की जन भापा अर्धमागधी प्राकृत को अपनाया, और धर्मशास्त्र के लिए सस्कृतभाषा का, जो बधन खडा किया गया था, उसे समाप्त कर दिया।

भगवान महावीर की क्रान्ति की जो सबसे मुख्य उपलब्धि मानी जाती है, वह है जातिवाद का परिहार! जातिवाद—वर्णवाद उस युग मे क्या, प्रत्येक युग मे भारत की सबसे बडी बीमारी रही है। इस व्यवस्था ने भारतीय जनजीवन को कभी एक दूसरे के निकट नही आने दिया, स्नेह सौहार्द के सूत्र मे बधने नही दिया। अखण्ड मानव जाति के टुकडे-टुकड़े करके एक दूसरे के प्रति घृणा, अपमान और तिरस्कार का विपैला वातावरण पैदा करके सदा एक दूसरे को दूर रखा है। न केवल आध्यात्मिक तथा सामाजिक उन्नति के क्षेत्र मे ही रुकावटे आई है, वल्कि राष्ट्रीय एकता व राष्ट्रीय समृद्धि के स्वप्न भी इस व्यवस्था के कोलाहल से टूटते रहे है।

भगवान महावीर ने जातिवाद की इस अवाछनीय व्यवस्था पर कडा प्रहार किया। उन्होने कहा—मनुष्य जाति से श्रेष्ठ नही होता, कर्म और सदाचार से श्रेष्ठ होता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये जाति से नही, कर्म से होते है।

---

१. न चित्ता तायए भासा—उत्तरा० ६।११

"कम्मुणा बंभणो होई कम्मुणा होई खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होई सुद्दो हवइ कम्मुणा।"

जिसका कर्म श्रेष्ठ है, वह चडाल और शूद्र होकर भी पूज्य हो सकता है।

आध्यात्म साधना के पथ मे लिंग, रग और वर्ण के भेद खड़े करना, साधना का उपहास करना है। साधना का ध्येय है मुक्ति! और मुक्ति किसको होती है? न स्त्री की, न पुरुष की, न ब्राह्मण की और न शूद्र की। न काले की और न गोरे की। मुक्ति होती है, आत्मा की! आत्मा न कभी स्त्री है, न पुरुप! न ब्राह्मण है और न शूद्र! न काला है और न गोरा! फिर लिंग और रग असत्य की परिकल्पनाए आत्मा के साथ जोडना एक निरी अज्ञानता नही तो और क्या है?" भगवान महावीर ने जातिवाद के विरुद्ध आत्मवाद का यह महान् उद्घोष किया। मनुष्य की श्रेष्ठता का मानदड वदला, जन्म एव जाति की जगह कर्म को प्रतिष्ठा मिली।

समानता प्रधान संघव्यवस्था

●

इस प्रकार हम देखते है कि भगवान महावीर ने युग को नया चिन्तन, नया सदेश दिया। धार्मिक और सामाजिक प्रवाह को नई दिशा दी, नया मोड दिया। वे स्वय पूर्व भारत के कोने कोने मे जागृति का शखनाद करते हुए घूमते है, मगध, विहार, बगाल, उडीसा और सिन्ध तक के जनपद उनकी क्रान्ति से आन्दोलित हो उठते हैं। उनकी वाणी सम्राटो के राजमहलो मे गूजी तो गरीबो के झोपडो और खण्डहरो मे भी जागृति का सदेश लेकर पहुँची। गरोब, अमीर, स्त्री और पुरुष, वैश्य और क्षत्रिय, शूद्र और ब्राह्मण सव को एकरूप से प्रभावित करती हुई उनकी वाणी जहाँ अर्जुन माली जैसे हत्यारो, रौहिणेय जैसे दस्युओ का जीवन वदल देती है, वहां अनेको राजकुमारो, राजरानियो, श्रेष्ठी कुमारो और ब्राह्मण विद्वानो को भी साधना के पथ पर अग्रसर कर देती है। उनका धर्म-मघ समता और समानता का तीर्थ बन जाता है, जिसमे महाराज चेटक, श्रेणिक, उद्रायन, अजातशत्रु कूणिक जैसे महान राजा सम्मि-

लित होते है, चन्दना, जयन्ती, काली, महाकाली जैसी राजकुमारियाँ और राजरानियाँ आती हैं, मेघकुमार अतिमुक्तक जैसे राजकुमार प्रव्रजित होते है, धन्य और शालिभद्र जैसे श्रेष्ठी कुमार साधनाव्रत स्वीकार करते है, इन्द्रभूति गौतम, सुधर्मा जैसे ब्राह्मण विद्वान भगवान के गणधर वनते है, स्कन्दक और अम्बड जैसे परिव्राजक श्रमण परम्परा के प्रहरी के रूप मे उपस्थित होते है, गाथापति, आनन्द, कामदेव (कृपक व्यवसायी) और शकडाल (कुम्भकार) जैसे कृषि एव उद्योगजीवी वर्ग भी इस धर्मसंघ के प्रमुख उपासक वनते हैं तो, अर्जुन, रौहिणेय, हरिकेशवल और मैतार्य जैसे निम्न वर्ण में जन्म लेकर भी महावीर के राजमार्ग पर उन राजकुमारो से भी आगे बढते हुए प्रतीत होते है।

भगवान महावीर की सघ व्यवस्था का यदि विश्लेषण किया जाये तो पता चलेगा कि वह आदर्श गणतन्त्र का जीता जागता चित्र था। समता और समानता के आधार पर वहाँ सबको आत्म-विकास का समान व यथेष्ट अवसर प्राप्त था।

परम्परा के परिष्कारक

●

भगवान महावीर के जीवन के जिस चित्र को भी उठाकर हम देखते है, उसमे एक अद्‌भुत विलक्षणता, तेजस्विता इस रूप मे झलकती है कि वह परम्परा की पृष्ठभूमि पर निर्मित होकर भी सर्वथा स्वतन्त्र व नवीन प्रतीत होना है।

उन्होने चली आती समाज व्यवस्था मे परिवर्तन किया, शासन व्यवस्था मे सशोधन किया, धार्मिक परम्परा मे परिष्कार किया, फिर भले ही वह श्रमण परम्परा रही हो या श्रमणेतर। श्रमणेतर (वैदिक) परम्परा मे आये हुए विकारो का परिमार्जन व सशोधन जिस रूप मे हुआ वह कुछ कुछ मैं आपको वता चुका हूँ। श्रमण परम्परा में भी जो कुछ विकृतिया आ गई थी, कुछ वासीपन व शैथिल्य छा गया था, उसका भी परिष्कार भगवान महावीर ने उतने ही साहस और दृढता के साथ किया। भगवान पार्श्वनाथ की परपरा में भी उन्होंने युगानुकूल परिवर्तन किए, परिष्कार किए और उसको नये रूप मे, प्रस्तुत किया। उनकी दृष्टि मे परम्परा का मोह नही

था, सत्य की प्रतिष्ठा थी। निष्प्राण एव जडपरम्पराओ को ढोते रहना, उन्हे स्वीकार नही था। वे केवल सत्य, और सत्य के आधार पर प्रतिष्ठित तेजस्वी एव जीवत परम्परा के पक्षपाती थे, यह आगमों मे वर्णित तथ्यो से स्पष्ट प्रतिध्वनित हो जाता है।

अन्तिम उपदेश

भगवान महावीर के धर्मप्रचार का समय काल की दृष्टि से बहुत ही अल्प है। कैवल्य प्राप्त कर के वे तीस वर्ष तक धर्म प्रचार करते है, इस अल्प अवधि मे जिस स्फूर्ति और वेग के साथ उनकी वाणी पूर्व भारत के अचलो मे प्रतिध्वनित हुई, वह अपने आप मे एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

भगवान महावीर का विहारक्षेत्र विशेष कर पूर्व भारत ही रहा, किन्तु भारत के दक्षिण पश्चिम अचल तक उनके दिव्य घोष ध्वनित हुए, प्रतिध्वनित हुए, और हजारो लाखो मनुष्यो मे जागृति की लहर फैली, यह भी इतिहास का सत्य है। मेरा तो विश्वास है कि भारत के पूर्वांचल से जो समता, करुणा और दया की एक लहर उठी थी, उसने सपूर्ण भारतीय चिंतन को आलोडित किया है, भारत के समस्त अचलो को स्पर्श किया है। आज भी हम उस चिन्तन का स्पदन भारतीय आत्मा मे देख रहे हैं। यह उत्तराध्ययन सूत्र जो अभी अभी मैंने आपके समक्ष पढा, उसमे आज भी भगवान महावीर की आत्मा की प्रतिध्वनि सुनाई देती है। पढते पढते ऐसा लगता है कि पावापुरी की हस्तिपाल राजा की रज्जुकसभा मे भगवान विराजमान है, लाखो करोडो देवता और हजारो मनुष्य समवसरण मे बैठे हैं, और भगवान दिव्यघोष से अपना अन्तिम सदेश दे रहे हैं। वह दृश्य जैसे आज भी आँखो के समक्ष छविमान हो रहा है, ऐसा लगता है।

आप लोग भी आज के दिन उत्तराध्ययन सुनते है, यह एक सास्कृतिक स्मृति का दिवस है। भगवान महावीर का निर्वाण और गौतम का केवलज्ञान दो महान घटनाए दीपावली के दिन के साथ जुडी हैं, और उस स्मृति की साकार कल्पना के लिए आज भगवान

महावीर का स्मरण कर रहे है, उनके प्रवचन का पाठ कर रहे है और इसके साथ लगा गणधर गौतम के कैवल्य का रोमाचक वर्णन भी सुन रहे है।

गौतम को कैवल्य

●

आज के दिन का जितना सम्बन्ध भगवान महावीर से है, उतना ही, वल्कि उससे कुछ अधिक गणधर गौतम के साथ है। गौतम का भगवान के प्रति एक सुदृढ सात्त्विक अनुराग था। यह अनुराग वहुत पुराना जन्म-जन्म से चला आ रहा था। गौतम जब अपने से पीछे दीक्षित मुनियो को, अपने शिष्यो को केवली होते देखते है तो कभी कभी वे चिन्तित हो उठते हैं कि क्या बात है, मुझे अभी तक कैवल्य नही हो रहा है। कभी कभी वे खिन्न हो जाते है, प्रभु उनकी इस खिन्नता को तोडते है, आशा की नवस्फुरणा देते है कि गौतम खिन्न न हो, तुम भी एक दिन मेरे जैसे सिद्ध मुक्त बन जाओगे। मै समझता हूँ भारतीय चिन्तन मे जैन दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जिसने भक्त को भगवान वनने का अधिकार दिया है, और उसका भगवान यह आश्वासन देता है कि तुम भी मेरे समान ही सिद्ध बुद्ध परम ज्योतिस्वरूप परमात्मा वन जाओगे।[1]

भगवान का यह आश्वासन पाकर गौतम का हृदय पुलक उठता है। इतना महान साधक और कितना निर्मल, सरल हृदय!

गौतम के मन में जव झाकता हूँ तो लगता है उनका हृदय कितना विशाल, कितना स्वच्छ और कितना उदार है। सामाजिक चेतना और व्यावहारिक पटुता उनकी कितनी विलक्षण है। जव स्कन्दक मन्यासी भगवान की धर्मसभा मे आता है और गौतम को पता चलता है तो उसके सन्मुख जाते हैं, उसका स्वागत करते है—**सागय खंदया! सुसागय खदया!**[2]—स्कन्दक! आओ! स्वागत! सुस्वागत! कितना उदार चितन है! एक अन्य परम्परा का परि-

---

१ भगवती सूत्र

२. भगवती सूत्र २।१

व्राजक आता है तो उसके साथ कितना स्नेह, सद्भाव एव सत्कार पूर्ण व्यवहार करते हैं। इस घटना की प्रतिछाया मे जव मैं हमारे आज के श्रमणवर्ग की सकीर्ण मनोवृत्ति को देखता हूँ तो दु ख के साथ आश्चर्य होता है कि कहाँ वह और कहाँ हम! गौतम प्रमुख गणधर हैं, जो एक अन्य परम्परा के परिव्राजक का स्वागत कर रहे हैं और एक हम हैं, जो एक ही निर्ग्रन्थ परम्परा के श्रमण होकर भी परस्पर एक दूसरी सप्रदाय के साथ बैठने, उठने, वोलने जैसे तुच्छ प्रश्नो पर सघर्ष खड़ा करते है।

आगमो मे गौतम के मधुर व्यवहार और सरल निश्छल हृदय को उद्घाटित करने वाली अनेक घटनाए अकित हुई है। लगता है कि व्यावहारिक मधुरता और सद्भाव के समक्ष कभी कभी वे परम्परागत विधि-निषेधो को भी नगण्य कर देते हैं।

अतकृतदशा से हम पढते है कि जव गौतम पोतनपुर के राज मार्ग पर भिक्षा के लिए घूमते है, और राजकुमार अतिमुक्तक उनकी अगुली पकड कर कहता है--आप हमारे घर पर चलिए, मेरी माता आपको भिक्षा देगी! तो गौतम उस सरल सुकुमार बालक के साथ साथ चले जा रहे हैं, वे न अगुली छुडाने का प्रयत्न करते हैं, न अगल बगल ही झाकते है कि राजमार्ग पर बालक अगुली पकडे लिवाए जा रहा है, कोई क्या समझेगा? उनके आचार-व्यवहार मे सहज स्पष्टता और निष्कपटता की यह झलक है कि जैसा जो चाहते, वह स्पष्ट रूप से करते थे। 'कोई क्या समझेगा'-- यह लोकदृष्टि उस साधक मे नही थी।

आज का दिन गौतम प्रतिपदा का दिन है, गणधर गौतम के जीवन की एक एक घटना मेरी स्मृतियो मे तैर रही है। सव घटनाएं सुना सकू, इतना अवकाश नही है। स्मृतियो मे सकेत उभर रहे हैं, देखता हूँ गौतम कभी गाथापति आनद के द्वार पर जाते है, और भल से कही गई एक छोटी-सी बात के लिए उससे क्षमा मांग रहे है। आनन्द गद्गद् हो जाता है, सत्य का इतना उदार साधक! छोटी-सी बात के लिए भूल अनुभव होते ही विना भोजन किए पहले आकर खमाता है। आज छोटी-सी भूल हम लोगो के लिए प्रतिष्ठा का प्रश्न वन जाती है, जो कह दिया सो कह दिया--सच या झूठ!

अब उस पर सोचना क्या ? अब तो झूठ को भी सच ही कहना होगा," एक ओर सामान्य साधको मे प्रतिष्ठा का यह अह ! एक और उसी परम्परा के पूर्वांचल पर खडा महान साधक गौतम का यह सरल, विनम्र जीवन प्रसग !

मेरे मन मे एक प्रभजन-सा उठ रहा है कि—हम जीवन भर—"गौतम ! गौतम ! की रट लगाकर भी उस महान् व्यक्तित्व से क्या सीख पाए है ?" गौतम के एक-एक जीवन प्रसग मे सत्य का तेज निखर रहा है, विनम्रता और सरलता की सुवास महक रही है। किंतु हमारे जीवन मे वह क्यो नही आई है ?

गौतम की ज्ञानगारिमा का वर्णन करते हुए भगवती सूत्र बताता है—वह साधक **'सव्वक्खरसन्निवाइ'** समस्त अक्षरो के सन्निपात का ज्ञाता था। अक्षरो के सयोग व सरचना का कोई रहस्य उससे छिपा नही था। समस्त विद्याएँ, समस्त ज्ञान उसके स्मृतिकोष मे भरा था, समस्त लब्धि ऋद्धि-सिद्धि का वह अक्षय भण्डार था। जिसके लिए हम आज भी कहते है—

अगूठे अमृत बसे लब्धि तणा भण्डार।

वह महान ज्ञानी और तपस्वी साधक इतना सरल, इतना मधुर, इतना विनम्र और इतना व्यवहारिक ! ढाई हजार वर्ष के इतिहास मे गौतम जैसा कोई दूसरा साधक नही मिल सकता !

पावापुरी के अतिम वर्षावास और जीवन के अतिम दिन भगवान गौतम को अपने से दूर भेजते है। "गौतम ! तुम जाओ ! आर्य सोमिल, जो यज्ञो की परम्परा को पुन: जीवित कर रहा है, हिंसा और अज्ञान की काली चादर फैला रहा है, उसे समझाओ।" तो गौतम अत्यन्त विनम्रता के साथ भगवान का आदेश शिरोधार्य कर के चले जाते है। उन्हे मालूम था, भगवान का निर्वाण आज होने वाला है, और मैं दूर जा रहा हूँ, किन्तु उन्होने कोई ननुनच नही किया। यह है उनका विनयधर्मी-शिष्यत्व ! आज्ञा पालन की तत्परता !

गौतम और सोमिल की तत्त्वचर्चा चलती है, मध्य रात्रि तक चलती ही जाती है, जब सहसा अधकार घनीभूत हो उठता है, कोलाहल से दिशाए कॉप उठती है तो गौतम को पता चलता है—भगवान का निर्वाण हो गया। वह महान् साधक सहसा विचलित हो

जाता है, राग के अन्धकार मे डूब जाता है, कथाकार की भाषा मैं कहूँ तो विलाप करने लग जाता है। उसे लगता है कि जीवन का आधार टूट गया, ससार का महाप्रकाश लुप्त हो गया। वह स्नेह एव राग से अभिभूत होकर मूर्छित-सा हो जाता है। किन्तु कुछ ही क्षणो मे वह साधक अन्धकार से निकल कर प्रकाश मे आ जाता है। उसकी चिन्ता, चिन्तन मे वदल जाती है, विलाप आत्मदर्शन की ओर मुड जाता है, जन्म-जन्म के राग और स्नेह की कडियाँ टूटने लगती हैं, और प्रबुद्ध गौतम मोह के पाश को तोड कर कैवल्य प्राप्त कर लेते है।

अंधकार और प्रकाश

●

कार्तिक अमावस्या की रात्रि! कितनी विचित्र! कितनी उथल-पुथल से भरी रात्रि है! ससार की एक दिव्य आत्मा, एक महान ज्योतिपुज इस रात्रि के मध्योत्तर मे निर्वाण को प्राप्त होता है। समूचा ससार, आकाश, पाताल अधकार मे डूब जाता है, लाखो करोडो क्या, असख्य-असख्य आत्माए विचित्र सिहरन से काप उठती हैं। किन्तु प्राप्त होते होते एक ज्योति पुन. प्रज्वलित हो उठती है। एक आलोक स्तम्भ क्षितिज पर उभर आता है, गौतम कैवल्य ज्योति प्राप्त कर लेते हैं। भगवान महावीर का भावात्मक उत्तराधिकार उन्हे मिल जाता है।

आज की गौतम प्रतिपदा इस बात की साक्षी है कि एक ज्योति बुझती है तो दूसरी प्रज्वलित हो जाती है, अन्धकार चिरस्थायी नही है, प्रकाश- की सभावना प्रतिक्षण प्रति आत्मा मे विद्यमान है। अन्धकार से सघर्ष करने के लिए कोई-न-कोई ज्योति प्रज्वलित हो उठती है। इस प्रकार यह नया वर्ष, एक नये मंगल प्रभात, एक नये प्रकाश और एक नये उल्लास की अनन्त सम्भावनाए प्रकट करता है, और इस प्रकार नव वर्ष जन मन को मगल और उत्साह की स्फुरणा देता हुआ आ रहा है।

दीपमाला राष्ट्रीयता की लौ

●

भगवान के परिनिर्वाण के पश्चात् ससार अधकार से आकुल हो उठा तो उसने रत्नदीप जलाकर प्रकाश किया। अमावस्या की

रहा है कि "हाय मै मरा ! मेरा कोइ सहारा नही । मै अशरण हूँ, अनाथ हूँ ।" अशरण भावना का अर्थ है—साधक तू स्वय अपना शरण है । दूसरे किसी बाह्य शरण की तुझे क्या अपेक्षा है ? तू क्यो कातर-दृष्टि से किसी अन्य से शरण मागता है । जो कुछ करना है वह स्वय कर ! तू स्वय अपना निर्माता है, तुझे दूसरा कौन उठाएगा ? तू खुद उठ, दौड लगा, और अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर !

जैनदर्शन को तो ईश्वर की भी दीनता पूर्ण परमुखापेक्षिता सह्य नही है ।

\+ + +

राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अर्थ सब की अन्ध-समानता नही है, अपितु अपनी-अपनी उन्नति एव प्रगति के लिए समान सुविधा का होना है, प्रगतिपथ की बाधाओ का दूर होना है । स्वतन्त्र राष्ट्र मे प्रत्येक व्यक्ति अभ्युदय के लिए स्वतन्त्र है, बन्धन मुक्त है । जो जैसा जितना करना चाहे, कर सकता है, कोई बन्धन नही । बन्धन ही नही, वैसा करने के लिए उसे उचित सहयोग एव सुविधा भी मिलती है । आवश्यकता अन्तर् को जगाने की, कर्मशक्ति को क्रियाशील करने की है ।

\+ + +

मनुष्य को जो भी बुद्धि, शरीरशक्ति एव सपत्ति मिली है, वह केवल अपने लिए ही नही है । उसमे आस-पास की सर्वसाधारण जनता का भी अपना एक भाग है । अत वह भाग जन समाज को मिलना चाहिए । जो निजी सम्पत्ति मानकर उक्त सब शक्तियो को केवल अपने लिए ही दबाए बैठा है, वह समाज का चोर है । महर्षि नारद ने उसी के लिए कहा है—**'सस्तेनो दण्डमर्हति ।'**

सहृदयभाव से सुख-दु ख का परस्पर बँटवारा बिखरे हुए विश्व सामूहिक कुटुम्ब की दिशा मे प्रगति देता है ।

एक परिवार अर्थात् एक सुख, एक दु ख । एक हसे तो सब हसे, एक रोये तो सब रोये । अखण्डता, अभिन्नता ही परिवार की परिभाषा है ।

★

श्री अमर भारती प्रचार योजना

श्री अमर भारती उपाध्याय कविरत्न श्री अमर मुनि जी के विचारो का प्रतिनिधि पत्र हैं। उपाध्याय श्री जी भारतीय दर्शन एव संस्कृति के महान् तत्त्वद्रष्टा सत है। उनके विचारो मे जीवन की समग्रता के दर्शन होते है। दर्शन और आध्यात्म के गम्भीर तत्त्व-ज्ञान एव चिन्तन से लेकर धर्म, सस्कृति, साहित्य, इतिहास, कला, राजनीति, लोकनीति, राष्ट्रीय एव सामाजिक समस्याएं जीवन की पारिवारिक एव व्यक्तिगत उलझने, तथा राष्ट्र के वर्तमान जन-जीवन को प्रकम्पित करने वाले घेराव, हडताल, आन्दोलन, सघर्ष आदि प्रत्येक विषय पर उनका चिन्तन उदार, सर्वग्राही तथा तटस्थ समाधान प्रस्तुत करने मे अत्यन्त सक्षम है—यह एक निर्विवाद सत्य है। उनके चिन्तन मे जो तेजस्विता और मौलिक क्षमता है—उसकी वर्तमान के दिग्भ्रात एव आस्थाहीन मानस को अत्यन्त आवश्यकता है। इस राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति हेतु श्री अमर भारती का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। हमे प्रसन्नता है कि श्री अमर भारती निरन्तर अपने उदात्त ध्येय की ओर सफलता के साथ बढ रही है। हजारो पाठको को इससे मार्गदर्शन मिल रहा है, चितन एव विचारो की नई सामग्री प्राप्त हो रही है।

यह खेद के साथ स्वीकार करना पडता है, कि हम विचार व चितन की भूख का जितना कोलाहल करते है उतनी मात्रा मे उसकी पूर्ति का प्रयत्न नही करते, अन्यथा कोई कारण नही है कि श्री अमर भारती जैसी विचार-पत्रिकाओ को प्रचार के लिए आग्रह और निवेदन करना पड़े। यह सही है कि इसे एक बार पढने वाला पाठक

रात्रि के निविड अधकार को दीपदान करके विजित किया गया—और वह रात्रि एक ज्योतिपर्व, दीपमालिका के रूप मे सास्कृतिक रात्रि वन गई।

दीपमालिका का पर्व भारत की सस्कृति का प्रतीक पर्व बन गया है। स्वच्छता और प्रकाश का पर्व बन गया है। राष्ट्रीय उल्लास का पर्व वन गया है।

स्वच्छता भारतीय सस्कृति का मूल आधार है। बाह्य स्वच्छता जितनी काम्य है, उतनी ही आन्तरिक स्वच्छता भी। मन की पवित्रता और ज्ञान का आलोक यही हमारे जीवन का चरम ध्येय है, सस्कृति का अन्तिम निष्कर्ष है। आज का पर्व 'दीपावली' का पर्व है, जिसका अर्थ है—एक दीप नही, किन्तु हजारो लाखो दीपक जले, एक घर मे नही, किन्तु प्रत्येक घर मे प्रकाश हो, प्रत्येक परिवार मे खुशियाँ हो। एक ही घर मे दीपक जलने से दीपावली नही हो सकता। समाज मे, राष्ट्र मे जव सामूहिक प्रकाश और उल्लास लहरायेगा तभी दीपावली कही जायेगी। इस का अर्थ है दीपावली का पर्व राष्ट्रीय चेतना का पर्व है, राष्ट्रीय उल्लास का पर्व है। हमे सामूहिक आनन्द एव सुख की प्रेरणा देता है।

गण : सामूहिक चेतना का प्रतीक

●

जैन परम्परा मे कही कही दीपावली से भी अधिक प्रतिपदा का महत्त्व है। इस प्रतिपदा को गौतम गणधर का प्रतीक दे दिया गया है। मैं मानता हूँ यह भी हमारी सामूहिक चेतना की प्रतिध्वनि है। गणधर का अर्थ है -गण का स्वामी, गणपति या गणेश, कुछ भी कहे। मूलत हमारा विश्वास 'गण' अर्थात् समूह मे है। हम सिर्फ व्यक्ति की सुख समृद्धि की कामना मे नही अटके, बल्कि समष्टि की सुख-समृद्धि की कामना तक पहुँचे हैं। सृष्टि का प्रत्येक मानव ही क्या, प्रत्येक प्राणी आनन्द, कल्याण सुख एव समृद्धि प्राप्त करे—यह उदात्त भावना की प्रतिध्वनि ही हमारी गणधर पूजा या गणधर वन्दना (गणपति पूजा, या 'दीपावली पूजन' कुछ भी कहे) की फल-श्रुति है।

नव वर्ष

२२–१०–६८

उपाध्याय अमरमुनि

आध्यात्मिकता भूलो को पहचानने की और पहचान कर उन्हे साफ करने की एक अद्‌भुत युक्ति है, शक्ति है।

+ + +

सपूर्णता अर्थात् पूर्ण पवित्रता साधनापथ का ध्रुवतारा है। दूर तक, बहुत दूर तक चलने पर भी वह दूर ही दूर दिखाई देता है। परन्तु इससे क्लान्त, निराश या हताश होकर बैठ जाना ठीक नही है। पूर्ण पवित्रता का ध्येय रख कर सतत चलते रहना ही साधक का परम कर्त्तव्य है। जो चलता है, वह एक-न-एक दिन मजिल पर पहुँचता ही है। देर सबेर का प्रश्न मुख्य नही, मुख्य प्रश्न है—पहुँचने का। **'मार्गस्थो नावसीदति।'**

+ + +

एक दूसरे की उन्नति मे, प्रगति मे सहयोग देने के लिए अपने को होम देना ही, भारतीय सस्कृति का प्रमुख सन्देश है। जो परस्पर एक दूसरे को भावित करते हैं, सम्मानित करते है, सहयोग प्रदान करते है, वे देव है, वे ही परम श्रेय को प्राप्त होते है। **'परस्परं भावयन्त श्रेय परमवाप्स्यथ ।'**

+ + +

पराधीनता की मनोदशा हर स्त्री पुरुष के लिए त्याज्य है। पराधीनता की मन स्थिति मानव को भिखारी बना सकती है। सम्राट नही; प्रेरित कर्त्ता बना सकती है, स्वतन्त्र कर्त्ता नही। भगवान महावीर ने साधक के लिए प्रतिदिन अशरण भावना भाने का उपदेश दिया है। उसका यह अर्थ नही, जैसा कि समझा जा

रहा है कि "हाय मै मरा ! मेरा कोइ सहारा नही। मैं अशरण हूँ, अनाथ हूँ।" अशरण भावना का अर्थ है—साधक तू स्वय अपना शरण है। दूसरे किसी बाह्य शरण की तुझे क्या अपेक्षा है? तू क्यो कातर-दृष्टि से किसी अन्य से शरण मागता है। जो कुछ करना है वह स्वय कर ! तू स्वय अपना निर्माता है, तुझे दूसरा कौन उठाएगा? तू खुद उठ, दौड लगा, और अपने निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त कर !

जैनदर्शन को तो ईश्वर की भी दीनता पूर्ण परमुखापेक्षिता सह्य नही है।

\+ + +

राष्ट्र की स्वतन्त्रता का अर्थ सब की अन्ध-समानता नही है, अपितु अपनी-अपनी उन्नति एव प्रगति के लिए समान सुविधा का होना है, प्रगतिपथ की बाधाओ का दूर होना है। स्वतन्त्र राष्ट्र मे प्रत्येक व्यक्ति अभ्युदय के लिए स्वतन्त्र है, बन्धन मुक्त है। जो जैसा जितना करना चाहे, कर सकता है, कोई बन्धन नही। बन्धन ही नही, वैसा करने के लिए उसे उचित सहयोग एव सुविधा भी मिलती है। आवश्यकता अन्तर् को जगाने की, कर्मशक्ति को क्रियाशील करने की है।

\+ + +

मनुष्य को जो भी बुद्धि, शरीरशक्ति एव सपत्ति मिली है, वह केवल अपने लिए ही नही है। उसमे आस-पास की सर्वसाधारण जनता का भी अपना एक भाग है। अत वह भाग जन समाज को मिलना चाहिए। जो निजी सम्पत्ति मानकर उक्त सब शक्तियो को केवल अपने लिए ही दबाए बैठा है, वह समाज का चोर है। महर्षि नारद ने उसी के लिए कहा है—**'सस्तेनो दण्डमर्हति।'**

सहृदयभाव से सुख-दु ख का परस्पर बँटवारा बिखरे हुए विश्व सामूहिक कुटुम्ब की दिशा मे प्रगति देता है।

एक परिवार अर्थात् एक सुख, एक दु ख। एक हसे तो सब हंसे, एक रोये तो सब रोये। अखण्डता, अभिन्नता ही परिवार की परिभाषा है।

★

सन् १९६९ के नये वर्ष के लिए

श्री अमर भारती प्रचार योजना

श्री अमर भारती उपाध्याय कविरत्न श्री अमर मुनि जी के विचारो का प्रतिनिधि पत्र हैं। उपाध्याय श्री जी भारतीय दर्शन एव संस्कृति के महान् तत्त्वद्रष्टा सत हैं। उनके विचारो मे जीवन की समग्रता के दर्शन होते हैं। दर्शन और आध्यात्म के गम्भीर तत्त्व-ज्ञान एव चिन्तन से लेकर धर्म, सस्कृति, साहित्य, इतिहास, कला, राजनीति, लोकनीति, राष्ट्रीय एव सामाजिक समस्याए जीवन की पारिवारिक एव व्यक्तिगत उलझने, तथा राष्ट्र के वर्तमान जन-जीवन को प्रकम्पित करने वाले घेराव, हडताल, आन्दोलन, सघर्ष आदि प्रत्येक विषय पर उनका चिन्तन उदार, सर्वग्राही तथा तटस्थ समाधान प्रस्तुत करने मे अत्यन्त सक्षम है—यह एक निर्विवाद सत्य है। उनके चिन्तन मे जो तेजस्विता और मौलिक क्षमता है—उसकी वर्तमान के दिग्भ्रात एव आस्थाहीन मानस को अत्यन्त आवश्यकता है। इस राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति हेतु श्री अमर भारती का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। हमे प्रसन्नता है कि श्री अमर भारती निरन्तर अपने उदात्त ध्येय की ओर सफलता के साथ वढ रही है। हजारो पाठको को इससे मार्गदर्शन मिल रहा है, चिंतन एव विचारो की नई सामग्री प्राप्त हो रही है।

यह खेद के साथ स्वीकार करना पडता है, कि हम विचार व चिंतन की भूख का जितना कोलाहल करते है उतनी मात्रा मे उसकी पूर्ति का प्रयत्न नही करते, अन्यथा कोई कारण नही है कि श्री अमर भारती जैसी विचार-पत्रिकाओं को प्रचार के लिए आग्रह और निवेदन करना पड़े। यह सही है कि इसे एक बार पढने वाला पाठक

सहज ही इसके प्रति आकृष्ट होता है, और अगले अक की प्रतीक्षा भी करता है। किन्तु समस्या तो अच्छे पाठको, व जिज्ञासुओ तक पहुँचाने की है। हमारा विचार है कि यह पत्रिका भारत के प्रत्येक प्रमुख सार्वजनिक पुस्तकालय, व वाचनालय मे पहुँचे, स्कूल एव कालेज के पुस्तकालयो तक इसकी गति हो, जिज्ञासु पाठक, एव विचार तथा चिन्तन के सच्चे पिपासुओ के हाथो मे एक वार पत्रिका का चिन्तन स्पर्श हो जाए। फिर तो अपने आप उनमे बुभुक्षा जगेगी, माग वढेगी और प्रतीक्षा होगी।

इस दृष्टि को ध्यान में रखकर कई वार विचार चर्चाए चली, कुछ जिज्ञासु सज्जनो के सुझाव आए और कुछ उदार सहयोगियो के सहयोग भी प्राप्त हुए, पर प्रचार का वातावरण नही वना, उस क्रम मे गति नही आई। इस वर्ष १९६८, २६ अक्टूवर (ज्ञान पचमी) को विदुषी महासती श्री सुमति कुवर जी ने एक सहज स्फुरित प्रेरणा दी, उनके सच्चे अन्त करण से एक पुकार उठी कि कवि श्री जी के उदात्त एव जीवन-स्पर्शी विचारो का व्यापक प्रचार हो, राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक के हृदय में उनके चिन्तन का, (जो कि समग्र भारतीय चितन का प्रतीक है) स्वर गूज उठे।

महासती जी की प्रेरणा से वातावरण मे एक सजीवता पैदा हुई। जनता मे भावना का प्रवाह उमडा और श्री अमर भारती के व्यापक प्रचार की योजना प्रस्तुत की गई। प्रवचन सभा मे ही सन् १९६९ के वर्ष मे श्री अमर भारती को पाच सौ विभिन्न पुस्तकालयो आदि मे भेजने के लिए तत्काल सहयोग प्राप्त हो गया और इन योजना को अनेक रूपो मे विस्तार देने का निश्चय किया गया।

श्री अमर भारती के प्रचार के लिए जहा भी चर्चा हुई, आशा एव सहयोग भरा स्वागत हुआ, सक्रिय एव आर्थिक सहयोग देने वालो ने वडे ही उत्साह व आग्रह के साथ इस योजना को आगे वढाया। आगरा क्षेत्र के वाहर अभी योजना के प्रचार का प्रयत्न नही हुआ है। व्यापक प्रचार की अपेक्षाएँ तो है ही, किन्तु उसका रूप सिर्फ यही नही है कि कार्यालय का प्रचारक या प्रतिनिधि जाकर ही प्रचार करे। श्री अमर भारती का प्रत्येक हित चिंतक पाठक एव कवि श्री जी के विचारो का प्रत्येक जागरूक समर्थक हमारा

प्रतिनिधि हो सकता है, और उनका यह नैतिक दायित्व होता है कि वे जहाँ भी, जिस क्षेत्र मे है, जितना जिस किसी रूप मे कर सके श्री अमर भारती के व्यापक प्रचार मे अपना तन-मन-धन से सहयोग करे।

श्री अमर भारती के व्यापक प्रचार की दृष्टि से हम दो प्रकार की योजनाए अपने सहयोगी पाठको के समक्ष प्रस्तुत कर रहे है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई व्यावहारिक योजना भी हमारे हित-चिंतक प्रस्तुत करेंगे तो उस पर भी विचार किया जायेगा।

श्री अमर भारती : ग्राहक विस्तार योजना

●

वर्तमान मे श्री अमर भारती के लगभग दो हजार ग्राहक है। जहाँ तक हमारा विश्वास है कम से कम एक हजार से अधिक ग्राहक ऐसे है जो स्वत. की प्रेरणा से ही ग्राहक बने हैं, और बराबर प्रति-वर्ष स्वत ही चन्दा भेज देते है। ऐसे निष्ठावान और सहयोगी ग्राहकों से यह अपेक्षा की जा सकती है कि इस की विचार सामग्री से स्वय लाभ उठा रहे हैं तो दूसरो को भी लाभ उठाने की प्रेरणा अवश्य देंगे। उनकी नैतिक जिम्मेदारी है कि वे अपने सम्बन्धी, मित्र व परिचितो तक सद् विचारो की खुराक पहुचाये और उनके जीवन को आलोकित करने वाली एक ज्योति उन्हे प्रदान करें। सद् विचारो से किसी के जीवन को उपकृत करना सब से महान् उपकार है, सब से बडा कर्त्तव्य है, धर्म है। इसलिए उन विचारशील सज्जनो से हमारा निवेदन है कि वे निम्न तरीको से हमारी ग्राहक योजना सफल बनाए।

(१) आप स्वय यदि एक वर्ष के सदस्य हैं, तो अपनी सदस्यता को स्थायी या दीर्घकालीन बनाइये।

आजीवन सदस्यता शुल्क	,,	१०१)
पाच वर्ष की सदस्यता	,,	५)
तीन वर्ष की सदस्यता	,,	२१)

आजीवन सदस्य बनने से आपको फिर कभी शुल्क देना नही पडेगा। बराबर अमर भारती आपकी सेवा मे पहुँचेगी और

आप श्री अमर भारती की कार्यसमिति के अधिकारी सदस्य कहला सकेंगे।

दीर्घकालीन सदस्यता से आप को विना किसी व्यवधान के श्री अमर भारती वरावर (अवधि तक) पहुँचती रहेगी। वीच मे बद होने की सभावना नही रहेगी।

(२) अपने सपर्क मे आने वाले जिज्ञासु व्यक्तियो को प्रेरणा देकर, या उनमे जिज्ञासा जगा कर उन्हे ग्राहक बनाइये। एक वर्ष मे कम से कम ५ पाच नये ग्राहक बनाकर भेजने का सकल्प कीजिए। इस कार्य मे सहयोग के लिए इसी पत्र मे एक कूपन सलग्न है, आप उसे भर कर हमारे कार्यालय मे डाक द्वारा भेज दीजिए और ग्राहको का शुल्क कूपन का नबर लिखकर मनी आर्डर द्वारा हमे भेजने का कष्ट कीजिए।

पाच ग्राहक बनाकर भेजने वाले सज्जन का नाम श्री अमर भारती प्रचार योजना के अन्तर्गत अमर भारती मे प्रकाशित किया जायेगा।

(३) एक वर्ष मे १० या उससे अधिक ग्राहक वनाकर भेजने वाले सज्जन यदि चाहे तो इस उपलक्ष्य मे एक वर्ष तक नि शुल्क श्री अमर भारती प्राप्त कर सकते है अर्थात १० ग्राहको का चदा देने पर १ ग्राहक फ्री। उनका भी नाम श्री अमर भारती मे प्रकाशित किया जायेगा।

हम आपसे आशा करते है कि यह **श्री अमर भारती ग्राहक विस्तार योजना** आपको पसद आयेगी और निश्चय ही आपका सहयोग प्राप्त होगा।

श्री अमर भारती : उपहार योजना

●

इस वर्ष ज्ञानपचमी के दिन हमने एक सकल्प रखा था कि १६६६ के वर्ष मे कम मे कम एक हजार ऐसे क्षेत्रो मे श्री अमर भारती भेजी जाये जहाँ अभी तक पहुँचती नही है, और वहा पर पहुँचने से वहुत ही अच्छे परिणाम निकल सकते हैं।

इस योजना के अतर्गत भारत के विभिन्न सार्वजनिक पुस्तकालय, वाचनालय, स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटी के पुस्तकालय, विकास खण्ड,

ग्राम पचायत कार्यालय व कारागृह पुस्तकालय तथा प्रसिद्ध विद्वान, पत्रकार व सामाजिक कार्यकर्ताओ के पास एक वर्ष तक श्री अमर भारती भेजी जायेगी। यह पत्रिका उन व्यक्तियो के द्वारा उपहार स्वरूप भेजी जायेगी जो श्री अमर भारती के व्यापक प्रचार मे विशेष रस लेते है और इसकी विचार सामग्री को जीवनोपयोगी मानते हैं। इस योजना मे आप निम्न प्रकार से सहयोग कर सकते है।

(१) कम से कम दो और अधिक से अधिक जितने भी आप चाहे उतने केन्द्रो पर एक वर्ष तक श्री अमर भारती अपनी तर्फ से भेजने का सहयोग करे। जितनी जगह आप भेजना चाहे उसका चन्दा उपहार योजना का उल्लेख करके मनीआर्डर द्वारा अमर भारती कार्यालय मे भेज दे।

यदि आप चाहे कि अमुक-अमुक जगह आपकी तर्फ से श्री अमर भारती जाए तो आप इसी पत्रिका मे सलग्न— 'उपहार योजना कूपन' पर उनके नाम व पते लिखकर भेजदे। और म० ओ० मे कूपन के नम्बर का उल्लेख कर दे। आपकी सूचनानुसार श्री अमर भारती उन्हे प्रारभ कर दी जायेगी।

(२) दश स्थानो पर या उससे अधिक स्थानो पर अपनी ओर से उपहार स्वरूप भेजने वाले सज्जन चाहे तो उन्हे भी एक वर्ष के लिए एक प्रति नि शुल्क भेजी जा सकती है, या उनके द्वारा सूचित स्थान पर १० के बदले ११ स्थानो पर भेजने की व्यवस्था भी की जा सकती है।

(३) श्री अमर भारती के प्रचार-प्रसार के लिए तथा उपहार के लिए अन्य रूप मे भी सहयोग करना चाहे तो जितनी अर्थराशि भेजना चाहे, २१), ५१), १०१), २५०) या अधिक वह हमे सादर स्वीकार होगी, और उसका उपयोग इसी योजना के अन्तर्गत उपहार स्वरूप, या प्रचारार्थ जाने वाले हिसाब मे किया जा सकेगा।

(४) यदि आपके ध्यान में ऐसे कुछ क्षेत्र व व्यक्ति है जहाँ पर श्री अमर भारती नही पहुँचती है और पहुँचने से लाभ की सभावना

है तो आप निःसकोच उनका पूरा पता हमे भेजिए, हम व्यवस्थानुसार वहाँ भेजने का प्रयत्न करेगे।

हम पूर्ण विश्वास के साथ आपको यह निवेदन करते है कि इस योजना के अनुसार हमारे और आपके यह स्वप्न कि देश के जन-जीवन मे नैतिक चेतना, धार्मिक उदात्त सस्कार व राष्ट्र प्रेम जागृत हो—साकार होने का प्रयत्न प्रारभ हो जायेगा। इस कार्यक्रम को हमें सपूर्ण योजना, निष्ठा एव शक्ति के साथ प्रारंभ करना है, और इसमें आपका सहयोग नितात अपेक्षित है। जनवरी १६६६ से यह योजना प्रारम्भ करनी है, तवतक अवश्य ही आपका सक्रिय सहयोग प्राप्त हो जायेगा इसी विश्वास के साथ..............

—श्रीचन्द सुराना
सपादक

सेवा का मार्ग—

समाज, धर्म, देश व राष्ट्र की सेवा वातो का नाटक रचने से नही हो सकती। इसके लिए त्याग व बलिदान करना पडता है। जिसने अपने तन, मन, धन, स्वार्थ व इच्छा का बलिदान किया, उसने सच्ची सेवा की है।

कूपन सख्या 1459 दिनाक

श्री अमर भारती : ग्राहक विस्तार योजना

महोदय,

मैं श्री अमर भारती का पुराना पाठक हूँ, इसकी विचार सामग्री बहुत ही जीवनस्पर्शी व प्रेरणादायी है। मैं आपकी **श्री अमर भारती · ग्राहक विस्तार योजना** मे सक्रिय सहयोग का आश्वासन देता हूँ। निम्न ग्राहक बनाकर भेज रहा हूँ, पत्रिका चालू कर दें। इनका वार्षिक शुल्क रु० .. मनीआर्डर/चैक / ड्राफ्ट द्वारा भेज रहा हूँ।

१ श्री ....

२ श्री ....

३ श्री

४ श्री

५ श्री

प्रेषक —

1459

कूपन सख्या दिनाक

श्री अमर भारती : उपहार योजना

महोदय,

मैं श्री अमर भारती की उच्चकोटि की विचार सामग्री का सदा से प्रशसक रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि इसका अधिकाधिक प्रचार हो। आपकी **श्री अमर भारती . उपहार योजना** को मैं पसन्द करता हूँ। एतदर्थ मैं एक वर्ष के लिए....... ग्राहको को मेरी ओर से अमर भारती भेजने के लिए रु०........मनीआर्डर / चैक / ड्राफ्ट द्वारा भेज रहा हूँ।

(यदि आप अपनी ओर से कोई पता देना चाहे तो नीचे लिख दे)

१ श्री ....

२. श्री.........

३. श्री.........

४. श्री.........

५. श्री.........

प्रेषक :—

१९६८

सन्मति ज्ञान पीठ के अभिनव प्रकाशन

१. सूक्ति त्रिवेणी

सपादक **उपाध्याय श्री अमर मुनि**

पृष्ठ ८०० मूल्य साधारण सस्करण १२-००

आकार २२×३६/१६ फुलरेग्जीन जिल्द प्लास्टिक कवरयुक्त १६-००

डाक खर्च अतिरिक्त

जैन, बौद्ध एव वैदिक साहित्य के एक सौ साठ से अधिक ग्रन्थो के चुने हुए लगभग पाँच हजार सुभाषित इस पुस्तक मे सकलित किये गये है। एक ओर मूल तथा साथ मे सुबोध हिन्दी भाषानुवाद।

सूक्ति साहित्य मे यह पुस्तक अद्वितीय है। लेखक, वक्ता, स्वाध्याय प्रेमी प्रत्येक व्यक्ति के लिये सग्रहणीय है। एक ही पुस्तक मे भारत के सपूर्ण शास्त्रो और उपदेशो का सार प्राप्त करने के लिए यह पुस्तक आपके पास अवश्य ही रहनी चाहिए।

प्रचार-प्रसार की दृष्टि से मूल्य केवल लागत मात्र रखा गया है। ३० दिसम्बर १९६८ तक इस पुस्तक पर १५% कमीशन की घोषणा की हुई हैं।

२ अहिंसा की बोलती मीनारें

लेखक **श्री गणेश मुनि शास्त्री**

पृष्ठ २५६ आकार २२×३६/१६ मूल्य चार रुपया

प्रस्तुत पुस्तक मे अहिंसा का ऐतिहासिक पर्यालोचन है।

पुस्तक के विभिन्न सात अध्यायो मे अहिंसा का विकास, अपरिग्रह, अनेकात शाकाहार, विश्वशाति और विज्ञान आदि अहिंसा के अनेकानेक पहलुओ पर बडी सुबोध व हृदयस्पर्शी शैली मे विचार किया गया है।

सुप्रसिद्ध गाधीवादी विचारक श्री यशपाल जैन की महत्त्वपूर्ण भूमिका भी पठनीय है।

३ गुलजारे - शायरी

सपादक **श्री सुरेश मुनि, शास्त्री**

पृष्ठ ३२४ आकार २०×३०/१६ मूल्य ३-००

श्री सुरेश मुनि शास्त्री ने उर्दू शायरी का गहन अनुशीलन करके सुन्दर, मनोहर, दिलचस्प और शिक्षाप्रद सकलन प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर दिया है कि उर्दू शायरी

Reg. No. L. 2043

केवल प्रेम और रोमास की ही शायरी नही है, वल्कि उसमे जीवन के उदात्त आदर्श ईश्वर प्रेम, भक्ति, नैतिक प्रेरणा, राष्ट्रीय भावना तथा उत्साह और आशा क नवजीवन सचार करने वाली शायरी की भी कमी नही है। उर्दू शायरी का दृष्टि कोण फिराक गोरखपुरी के शब्दो मे वहुत ही स्पष्ट हो गया है—

जो जहर हलाहल है, अमृत भी वही, लेकिन।
मालूम नही तुझको, अन्दाज ही पीने के ॥

घर मे, यात्रा मे, हर जगह साथ मे रखने जैसी पुस्तक है। अत्यत उपयोगी और दिलचस्प।

४. प्रत्येक बुद्धो की जीवन कथाएँ

लेखक **उपाध्याय श्री अमर मुनि**

पृष्ठ १२० — आकार २० × ३०/१६ — मूल्य १-००

जैन साहित्य कथामाला का यह पाचवा पुष्प है। इसमे जैनसाहित्य (उत्तराध्ययन सूत्र आदि) मे वर्णित चार प्रत्येक बुद्धो की जीवन कथा वहुत ही सुन्दर व रोचक शली मे प्रस्तुत की गई है।

कथा व इतिहास प्रेमी पाठको के लिए विशेष उपयोगी है।

५ प्रेरणा प्रदीप

लेखक **श्री विनोद मुनि**

पृष्ठ १०० — आकार २० × ३०/१६ — मूल्य १-००

श्री विनोद मुनि ने छोटे छोटे कथानको के माध्यम से सेवा, विनम्रता, सदाचार आदि के सुन्दर संस्कारो का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। वालक वालिकाओ के लिए विशेप पठनीय है।

विशेष जानकारी के लिए सूचीपत्र मँगाएँ।

सन्मति ज्ञान पीठ

लोहामंडी, आगरा-२